मानव शरीर के सम्पूर्ण वात दोषज विकारों के लक्षण, निदान, सापेक्ष-निदान एवं चिकित्सा विषयक विस्तृत साङ्गोपाङ्ग; सचित्र विवेचन

लेखक एवं संकलन कर्ता:-

वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक गोपेश भिषगाचार्य

साहित्य-रत्न, काव्यतीर्थ, आयु० बृह०

पचार (सीकर) राजस्थान

प्रकाशक:-

निर्मल आयुर्वेद संस्थान

अलीगढ़

प्रकाशकीय
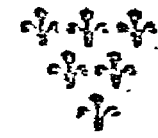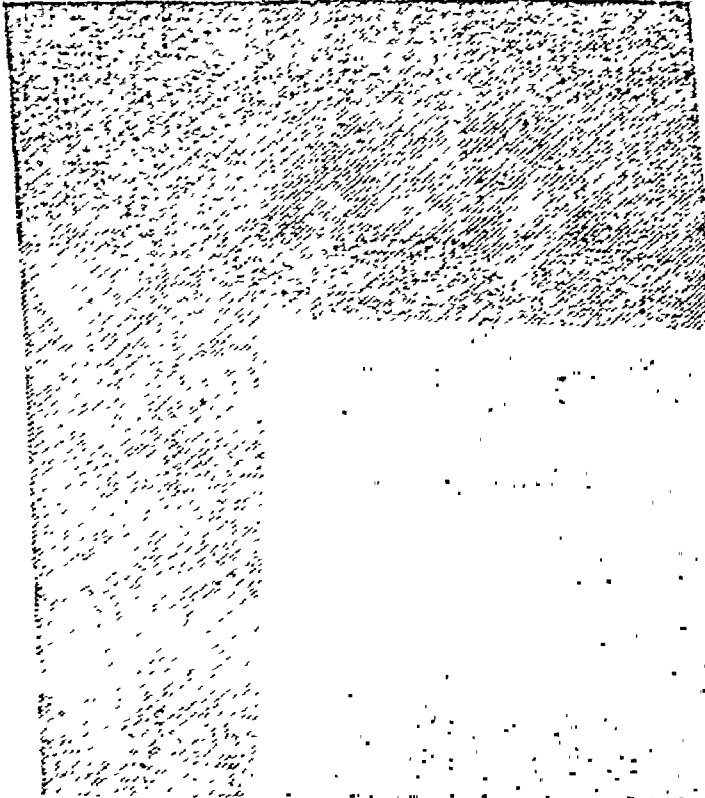
चिर प्रतीक्षित यह ग्रन्थ रत्न 'वात-व्याधि चिकित्सा' अपने कृपालु पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। मानव शरीर के सभी रोग वात, पित्त एवं कफ द्वारा धातु एवं मलों को दूषित करने के कारण होते हैं। इनमें से पित्त एवं कफ तो पंगु हैं, स्वयं किसी स्थान पर पहुँच नहीं सकते लेकिन वात या वायु रजोगुण भूयिष्ठता के कारण चलत्व गुण सम्पन्न है और किसी भी दोष को लेकर या अकेले ही गमन कर मल एवं धातुओं को दूषित कर स्वयं रोगोत्पन्न करता है या अन्य दोष, पित्त एवं कफ से रोगोत्पत्ति कराता है। वायु द्वारा उत्पन्न रोग भी सर्वाधिक (किन्हीं के मत से ८० तथा किन्हीं किन्ही के मत से इससे भी अधिक) हैं। वृद्धावस्था में तो प्रायः प्राणी वायु रोगों से ही जकड़ा रहता है। अन्य अनेक [illegible] रोगों में भी वायु का यदाकदा प्रकोप हो जाता है। इन्हीं सब कारणों से तीनों दोषों में वायु की प्रधानता है। आयुर्वेदोक्त अन्य चिकित्सा पद्धतियों में वात-व्याधियों की चिकित्सा हेतु कोई निश्चित चिकित्सा सिद्धान्त नहीं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के पास तो रोगी को वेदनाशामक औषधियाँ, उसकी वेदनाशमन करना तथा विटामिन बी$_1$, बी$_6$, बी$_{12}$ देने के अतिरिक्त और कोई चिकित्सा [illegible] नहीं। शोथशामक एमिडोपायरिन आदि का भी प्रयोग व्यापक रूप में होता है। यद्यपि वेदना से पीड़ित रोगी की वेदना का शमन करना चिकित्सक का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है लेकिन केवल वेदना शमन ही तो पूर्ण चिकित्सा नहीं। वेदना शमन के अनन्तर रोग के मूल निदान को दृष्टिगत कर तथा दोषों की अंशांश कल्पना पर विचार कर मूल व्याधि के शमन हेतु भी तो प्रयास होना चाहिये जोकि मात्र आयुर्वेद द्वारा ही सम्भव है क्योंकि आयुर्वेद में सभी व्याधियों की चिकित्सा के लिये चिकित्सा-सूत्र निश्चित किये गये हैं। जैसे कि वात व्याधियों के उपचार हेतु बस्ति चिकित्सा, स्नेहन, स्वेदन, शिरावेध, शिरोबस्ति आदि का प्रावधान है। इन उपचारों के साथ-साथ वात व्याधिनाशक औषधियों का प्रयोग भी अभीष्ट है लेकिन इनमें दोषों की विकृति को दृष्टिगत कर ही औषधि की योजना करनी चाहिये। आयुर्वेद की वृहद्त्रयी में वात व्याधियों के विषय में व्यापक विचार किया गया है लेकिन वह यत्रतत्र विकीर्ण (बिखरी हुई) अवस्था में है। आज के व्यस्त युग में [illegible] इतने ग्रन्थों का अध्ययन कर सके इतना अवकाश उसके पास नहीं है। इन्हीं सब कारणों से 'वात

व्याधि चिकित्सा' पर एक पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित करने का संकल्प किया गया । इस हेतु हमें वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य सर्वाधिक योग्य लेखक प्रतीत हुए तथा आपको जब हमने अपने विचार से अवगत कराया तो आपने सहर्ष अपनी स्वीकृति प्रदान कर यह कार्य भार अपने ऊपर ले लिया । आप अपने प्रयास में कहां तक सफल हुए है यह निर्णय तो पाठक ही कर सकेंगे लेकिन इतना अवश्य है कि इसके अध्ययन से चिकित्सक वात-व्याधियों की आयुर्वेद द्वारा चिकित्सा करने को प्रोत्साहित होंगे । वात-व्याधियों की चिकित्सा में सभी चिकित्सा-पद्धतियों में से आयुर्वेद ही सर्वाधिक समर्थ है इस कारण इस कृति द्वारा एतद् विषयक सुविस्तृत ज्ञान प्राप्त कर रोगी को अवश्य ही स्वास्थ्य लाभ प्रदान कर यश एवं धन की प्राप्ति के साथ-साथ आयुर्वेद की भी मानवृद्धि में सहायक होंगे ।

श्री 'गोपेश' जी ने 'वात-व्याधि चिकित्सा' के अधिकतर लेख हमे नवम्बर एवं दिसम्बर १९८३ ही भेज दिये थे तथा उनके अनुसार डिजायन एवं ब्लाक बनवाकर मुद्रण कार्य जनवरी ८४ में प्रारम्भ कर दिया गया था । जिन व्याधियों या विषयों पर अन्य लेखकों के लेख प्राप्त नहीं हुये थे उनकी पूर्ति आपने ही स्व लिखकर की है जोकि आपकी विद्वता एवं लेखन-कर्मठता का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है । आशा है कि पाठक [illegible] सम्पादनकला, लेखन शैली, विद्वत्ता एवं चिकित्सानुभवों से लाभान्वित होंगे और आपके प्रयासों की प्रशंसा क[illegible]

इस 'वात-व्याधि चिकित्सा' के प्रकाशन में जिनसे भी सहयोग मिला है उनका अत्यन्त आभारी हूँ वैद्य श्री गोपीनाथ जी 'गोपेश' का तो अत्यन्त ही आभारी हू जिन्होंने अल्पकाल मे ही एक महत्वपूर्ण एवं [illegible] विशाल कार्य को सम्पन्न किया है । इस 'वात-व्याधि चिकित्सा' के लेखन मे अन्य जिन विद्वान लेखकों का योग मिला है उनका हृदय से आभारी हू । इसके चित्रकार श्री सुरेश मोहन सक्सेना का भी सुन्दर [illegible] बनाने हेतु आभारी हूं । मेरा ज्येष्ठ पुत्र चि. नवीन कुमार गर्ग एस. एन. मेडीकल कालेज आगरा म तृतीय वर्ष [illegible] अध्ययनरत है । इस ''वात-व्याधि चिकित्सा'' के शरीर रचना सम्बन्धी चित्रों के डिजायन उसी के द्वारा बन गये हैं । चि नवीन अपना ही बच्चा है और आशा है कि 'धन्वन्तरि' के प्रकाशन म पर्याप्त सहयोग मिलेगा कम्पोजीटर श्री पं० मनोखेलाल शर्मा 'प्याज वाले', श्री पन्नालाल, अपने कर्मचारी सर्वश्री [illegible] [illegible] लाल शर्मा, कुंमरजीलाल, रामकुमार शर्मा का आभारी हू जिनका कुमार शर्मा, राजेशकुमार शर्मा, [illegible] णकमार शर्मा का इस वर्ष ४ मई को विवाह सम्पन्न होने हेतु पग-पग पर सम्पूर्ण सहयोग मिला है । श्री राक० बधाई प्रदान करता हूं ।

१५-५-८४ (बुद्ध पूर्णिमा)
गुलनार नगर, रामघाट रोड,
अलीगढ़ ।

निर्मल आयुर्वेद संस्थान,
डी-७८ औद्योगिक नगर, अलीगढ़ ।

⁂

शुभ कामनायें

भरतपुर
३०-११-८३

"वात व्याधि चिकित्सा" का विशेष सम्पादक बनाये जाने का समाचार जानकर प्रसन्नता हुई। स्वाध्यायरत वैद्य को यह सम्मान मिलना उचित ही है। भगवान धन्वन्तरि आपको पूर्ण सफलता दें।

दौलतराम चतुर्वेदी
निवर्तमान निदेशक- आयुर्वेद विभाग, राजस्थान

राजस्थान सरकार, निदेशालय—आयुर्वेद विभाग, अजमेर।

क्रमांक नि० स०/निदे०/जन/८३/१६११८ दिनांक १८—८—८३

वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'
राजकीय आयुर्वेदिक औषधालय, छावा जिला नागौर (राजस्थान)

आपका पत्र दिनाङ्क १५—८—८३ के संदर्भ में आपको 'वात व्याधि चिकित्सा' के विशेष सम्पादक नियुक्त होने के लिए बधाई। आपकी सफलता की शुभ कामनाओं के साथ—

प्रहलादराय देराश्री
निदेशक आयुर्वेद—राजस्थान।

धन्वन्तरि मार्ग, इज्जतनगर, बरेली।

पत्राङ्क ११५/८३—८४ दिनाङ्क २३—७—१९८३

आपका पत्र मिला, धन्यवाद। यह जानकर प्रसन्नता है कि निर्मल आयुर्वेद संस्थान के आगामी प्रकाशन 'वात व्याधि चिकित्सा' का सम्पादन का उत्तरदायित्व आपने संभाल लिया है। प्रभु से प्रार्थना है कि आप इसके सम्पादन में सफल हों। शुभ कामनाओं सहित।

– धर्मदत्त वैद्य (भूतपूर्व स्वास्थ्य मंत्री, उत्तर प्रदेश)

मकराना मोहल्ला, जोधपुर (राजस्थान)

आदरणीय गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'

कृपापत्र प्राप्त हुआ। आपके द्वारा सम्पादित वृहद् 'वात व्याधि चिकित्सा" अपने ढंग का प्रथम होगी आशा है। आपके लेखों को पढ़ता रहता हूं। इसी विश्वास पर आपको योग्यतम समझ कर ऐसी

सद्भावनान्वित—वैद्य अम्बालाल जोशी

शिवशक्ति सदन, टी/१०४ विष्णु गार्डन, नई दिल्ली—१८

श्री दाऊदयाल गर्ग जी,

'वात व्याधि चिकित्सा' के लिए आपकी विज्ञप्ति मिली। श्री गोपीनाथ जी 'गोपेश' आयुर्वेद जगत के जाने पहचाने विद्वान लेखक एवं सिद्धहस्त यशस्वी चिकित्सक हैं। भगवान धन्वन्तरि से इसकी सफलता हेतु प्रार्थना है।

—शिवकुमार व्यास बी०आई०एम०एस०, भिषगाचार्य, आयु०

ई २१ आनन्द निकेतन, नई दिल्ली—२१
दिनाङ्क ३०—६—८३

बहुमानास्पद विशेष सम्पादक

'वात व्याधि चिकित्सा' के सम्पादन का गुरुतर भार आपने ग्रहण कर वैद्य जगत पर बड़ा उपकार किया है। निर्मल आयु० संस्थान के पूर्व प्रकाशनों की स्पृहणीय श्रेष्ठता को यथापूर्वक चालू रखने के लिए डा० दाऊदयाल गर्ग प्रधान सम्पादक 'धन्वन्तरि' ने श्रेष्ठ प्रयास किया है। अतः आप दोनों धन्यवाद के पात्र है।

'वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः' की आधुनिक व्याख्या इस समय अपेक्षित है। इस आशा की पूर्ति आप जैसे उभयविषयज्ञ निष्णात लेखक ही कर सकते है।

मुझे आशा है कि इस "वात व्याधि चिकित्सा" में आयुर्वेद द्वारा प्रतिपादित स्वयंभू नाम से सम्बधित वायु और तज्जन्य रोगों की शान्ति के लिए पाठकों को भरपूर सामग्री प्राप्त होगी।

भव शुभः—हरदयाल वैद्य

एम० हास्पीटल, मङ्गलगढ़

आपकी विज्ञप्ति मिली कि आप निर्मल आयु० संस्थान के आगामी प्रकाशन 'वात व्याधि 'कित्सा' निकालने जा रहे है। यह सुखद समाचार पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता हुई। इसके प्रकाशन वस्तुतः आयुर्वेद बहुमूल्य निधि सिद्ध होते है। 'निर्मल आयु० संस्थान' का यह भी एक उत्कृष्ट प्रकाशन होगा। इस पुनीत कार्य में ईश्वर आपको अभूतपूर्व सफलता प्रदान करे—यही मेरी शुभकामना है। सद्भावनाओं के साथ ··· ···

—डा० महेश्वर प्रसाद
चीफ सर्जन, एम० हास्पीटल, महेश्वर विज्ञान भवन, मङ्गलगढ़ (समस्तीपुर)

पिलानी (राजस्थान)
१ सितम्बर १९८३

श्रीमान् जी,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप 'वात व्याधि चिकित्सा' का सम्पादन कर रहे है। मेरी शुभ कामनायें स्वीकार करें।

—आचार्य नित्यानन्द

आपका पत्र मिला। यह जानकर प्रसन्नता है कि आपके निर्देशन में 'निर्मल आयुर्वेद संस्थान' द्वारा 'वात व्याधि चिकित्सा' का प्रकाशन किया जा रहा है। भगवान 'धन्वन्तरि' आपको सफलता प्रदान करें।

—डा० गजेन्द्र सिंह छौकर ए., एम.बी.एस.
ॐ आयुवर्धक आयु० फ़ार्मेसी, सादाबाद (मथुरा)

वैद्य श्री गोपीनाथ 'गोपेश' भिष०

का

संक्षिप्त जीवन परिचय
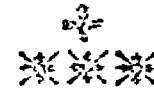
राजस्थान प्रान्त में सीकर जिलान्तर्गत तहसील दातारामगढ़ का एक प्राचीन कस्बा है पचार। यहां पारीक परिवार में माता सरस्वती की कोख से ग्यारह जनवरी उन्नीस सौ पैंतालीस को इस सरस्वती पुत्र का जन्म हुआ। करुणामय प्रख्यात चिकित्सक एवं जन-सेवक पिता श्री रघुनाथप्रसाद ने अपनी इस चौथी संतान को पाकर प्रभु का आभार मानते हुए गोपीनाथ नाम दिया। तथा शैशवकाल से ही निजगुण गरिमा युक्त आकांक्षाओं के अनुसार ज्ञान विज्ञान में पारंगत करने का प्रयास किया। आप स्वयं काशी के स्नातक रहे हैं अतः निश्चित ही कवि की प्रेरणा, चिकित्सक की करुणा एव ईश्वर की आराधना की त्रयी 'गोपेश' जी को जन्म से ही विरासत में मिली है।

अल्प आयु से ही चिकित्सक बन कर आरत्तजनों को निरामय करने की सत्प्रेरणा मानस में रखकर उच्चप्राथमिक शिक्षा जन्मस्थली पचार की पाठशाला में पूरी करते हुए एक वर्ष दादू महाविद्यालय जयपुर में संस्कृत एवं संस्कृति का प्राथमिक दर्शन लाभ किया। फिर परम् पूज्य प्रातः स्मरणीय श्री चन्द्रशेखर जी द्विवेदी (सम्प्रति जगद् गुरु शंकराचार्य स्वामी श्री निरंजन देव तीर्थ आचार्य) के चरणों में संस्कृत महाविद्यालय जयपुर में शिक्षण पाया। तदनन्तर आयुर्वेदिक उच्च शिक्षा के लिए राजकीय आयुर्वेदिक महाविद्यालय, जयपुर में रहकर भिषगाचार्य की उपाधि प्राप्त की। अपने इसी अध्ययन काल में आपको महाविद्यालय के श्रेष्ठ कवि के रूप में पुरस्कृत किया गया। शीघ्र ही आपने साहित्य रत्न, काव्यतीर्थ, आयुर्वेद रत्न, आयुर्वेद बृहस्पति आदि अनेक उपाधियां प्राप्त कीं। भिषगाचार्य का शिक्षण पूरा होते ही १९६५ के अगस्त माह में राजस्थान सरकार के आयुर्वेद विभाग द्वारा चिकित्सक पद पर नियुक्ति मिलने पर कार्य क्षेत्र में पदार्पण किया तथा समयान्तर से डूंगरपुर, अजमेर, जयपुर और नागौर आदि जिलों में क्रमशः सेवा का मौका प्राप्त किया। वर्तमान में आप टावा ग्राम जिला नागौर में आयुर्वेद चिकित्सालय के चिकित्सक प्रभारी हैं।

'गोपेश' जी के व्यक्तित्व से एक बार संसर्ग होने पर प्रत्येक व्यक्ति इनके सहज सुलभ हास परिहास एवं निश्छल स्नेह को भुलायें नहीं भूल पाता। आप बाल मण्डल में भोले बाल सखा, युवकों के बीच सरल चित्त प्रेरणामूर्ति, आशावादी, सौम्य तरुण एवं प्रौढ़ समूह के सान्निध्य में समन्वयवादी, परदुःख कातर धीर-गम्भीर,

गई है।

करुणहृदय पुरुष । चरित्र की इस सर्व प्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जब आप शासकीय सेवा मुख्यालय से घर जाते हैं तो द्वार पर आरत आबाल वृद्ध नर नारियों का तांता लग जाता है ।

गोपेश जी के जीवन से अर्थ का आग्रह नहीं अपितु अध्ययन और आरोग्यदान ही अभीष्ट है । अर्थ साधन मात्र है पर साध्य तो सेवा है । चाहे वह साहित्य की या फिर आयुर्वेद की । आयुर्वेदिक ज्ञान परिचय पाठकों को इनकी विभिन्न रचनाओं से प्राप्य है तथा रोगी को अपना दुःख दर्द हरने से वस्तुतः आपके हाथ को भगवान धन्वन्तरि का यश उपलब्ध है ।

आयुर्वेद जगत में भाई गोपेश जी की रचनाओं का विशिष्ट स्थान है । आपकी सैद्धान्तिक और प्रायोगिक चिकित्सा पद्धति पूर्णतः भारतीय संस्कृति का प्रतिबिम्ब है । मांस मदिरा व जीव हत्या को चिकित्सा में आपने त्याज्य माना है । आपका जितना अनुराग आयुर्वेद से है उतना ही स्नेह परमात्मा की वन्दना, संगीत-साधना तथा साहित्य-रचना से भी है । प्रातः संध्या परम पिता परमेश्वर के चरण कमलों में अपने को अर्पित कर जब स्तुति वाचन करते हैं तो आपके सुमधुर संगीत से श्रोता अभिभूत हो उठते है । भगवान की स्तुति हेतु रचित आपका भक्ति परक काव्य भावों से ओत प्रोत है ।

गोपेश जी का व्यक्तित्व बहुमुखी है । आप एक प्रबुद्ध कवि, समाज चिन्तक कहानीकार एवं यथार्थ के पक्षधर लेखक हैं । आपका राष्ट्रभाषा हिन्दी एवं देववाणी संस्कृत पर समान अधिकार है । हिन्दी जगत को आपसे बहुत कुछ आशायें हैं । आपकी सप्तवर्षीय कन्या स्वर्गीय भारती की स्मृति में लिखित आपका खण्ड काव्य "करुण–भारती" असीम करुणा का आगार है और महाकवि निराला के सरोज स्मृति की याद दिलाता है । आपकी विभिन्न रचनायें श्रुति, राष्ट्रदूत, जाह्नवी, शब्द, संबोधन, धन्वन्तरि, सुधानिधि, आयुर्वेद विकास आदि पत्रिकाओं में कविता कहानी एवं लेख के रूप में प्रकाशित होती रहती हैं । आपके कवित्त एवं सवैया मनोहारी एवं मार्मिक हैं । कहानियों में सामाजिक उत्पीडन शोषण के प्रति आक्रोश तथा समाज जीवन की ज्वलन्त परिस्थितियों का खुला चिट्ठा होता है । आप केवल लिखने के लिये ही नहीं लिखते अपितु समस्याओं का व्यावहारिक, सकारात्मक समाधान प्रतिपादित करते हैं । हिन्दी भाषा में कथा को माध्यम बनाकर लिखा जा रहा "पुण्य-प्रयास" गद्य-ग्रन्थ आयुर्वेद साहित्य में सर्वप्रथम मौलिक रचना होगी । इसमें आयुर्वेद यूनानी एलोपैथी होम्योपैथी और प्राकृतिक चिकित्सा की उत्पत्ति, विकास की कथा के साथ साथ सभी पद्धतियों में पारस्परिक समन्वय द्वारा सामाजिक सुरक्षा की संकल्पना की गई है । सभी चिकित्सा पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन एवं लालित्यपूर्ण विवेचन किया गया है । आज के इस राजनीतिग्रस्त समय में भी आप स्वार्थपूर्ति हेतु छोटे बड़े राजनेताओं को ही आराध्य मान भौतिक सुख साधनों की खोज में नहीं भटकते । आलोचना आपके मुख से सुनते नहीं परन्तु यथासमय समालोचना से आप चूकते भी नहीं । स्वाभिमान के साथ अपने पावन व्यवहार से सेवारत हैं ।

इतना सब होते हुए भी आत्मश्लाघा से दूर स्वान्तः सुखाय, सर्वजन हिताय, आयुर्वेद, साहित्य व सृष्टि-कर्त्ता का यह साधक अपने जीवन में अहं की गन्ध भी नहीं आने देता । बचपन से ही साथ रह कर इन्हें देखने परखने का सौभाग्य मिला है अतः जीवन की प्रत्येक घटना से मेरा सीधा सम्पर्क रहा है ।

भाई गोपेश जी सुश्रुत, चरक महर्षियों के ज्ञान व पद्धति को जीवित रखकर संवर्द्धित करने वाले प्राणाचार्यों की श्रृंखला में एक कड़ी बन सकें ऐसी हमारी प्रभु से कामना है ।

—सत्यनारायण पारीक

एम० ए०, बी० एड० (प्रधानाध्यापक) पचार, सीकर (राज०)

वर्तमान पद स्थापित स्थान—लालपुर (झुन्झुनूं) राजस्थान

आयुर्वेदात्मकं ज्योतिः शाश्वतं नः प्रकाशताम्

जान गया यह तत्व मैं सुखायतन योगेश। राधावल्लभचरण की शरण गहे गोपेश ।।

विशुद्ध आयुर्वेदिक मौलिक सिद्धान्तों को सम्यक्तया समझने के लिये दर्शन (Philosophy) की नितान्त आवश्यकता पड़ती है। इस दर्शन शास्त्र का मूल उद्‌गम उपनिषद् है जहां से तत्व चिन्तन की अजस्रधारा प्रवाहित होकर आध्यात्मिकता को परिप्लावित करती आ रही है। बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार एवं शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सम्पूर्ण जगत् के मूल ब्रह्म से दो स्रोत प्रारम्भ होते हैं—पर एवं अवर। अवर स्रोत को पंच महाभूत एवं सत्य कहा जाता है। आकाश, वायु, तेज, अप् और अन्न की समष्टि को सत्य कहा जाता है। कार्य-रूप महाभूत सत्तात्मक स्थिति में तभी आते हैं जब ये परस्पर अनुप्रविष्ट होते हैं—"अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्"। आयुर्वेद ने दर्शनों के वाग्जाल से हटकर पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश तथा आत्मा के समवाय को पुरुष कहा है। यह पुरुष आरोग्य, रोग तथा चिकित्सा का अधिष्ठान है—

अस्मिन् शास्त्रे पञ्च महाभूत शरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया, सोधिष्ठानम्। —सु. सू. १।२०

आयुर्वेद के मतानुसार शरीर की रचना, क्रिया और उनका प्राकृत स्थिति में रहना या उनमें कुछ विकृति होना वातपित्त-कफ इन तीन दोषों, रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र इन सप्त धातुओं तथा पुरीष मूत्र स्वेद आदि मलों के अधीन है।

महामति मुनि सत्तम भरद्वाज ने जिस आयुर्वेद को दत्तचित्त होकर देवराज इन्द्र से प्राप्त किया था वह आयुर्वेद अनन्त एवं त्रिस्कन्ध था। सुतरां आयुर्वेद को त्रिस्कन्ध कहा गया है। हेतु, लिंग और औषध ये तीनों चिकित्सा के स्कन्ध होने से त्रिस्कन्ध कहलाते हैं। उक्त स्कन्धत्रय त्रिदोष की भित्ति पर ही स्थित है अतः त्रिदोष की महत्ता सर्वोपरि है। प्राणी-शरीर के मूल घटक एवं समवायी कारण कहे जाने वाले ये त्रिदोष पंचमहाभूतों से परे नहीं हैं। वातदोष में वायु आकाश भूत की प्रधानता, पित्तदोष में अग्नि की प्रधानता एवं श्लेष्मा में जल, पृथ्वी की प्रधानता होती है।

क्रियात्मक, नैदानिक तथा चिकित्सात्मक दृष्टियों से त्रिदोष में भी वायु का महत्व अधिक है। वायु के प्रमुख तीन गुणों में प्राण की प्राथमिकता है—"प्राणश्चेष्टा तथा स्पर्श एते वायुगुणास्त्रयः" (महाभारत शांति पर्व २४७/६)। उपनिषदों ने चेतना को वायु रूप ही कहा है "स वायुरिवात्मानं कृत्वाभ्यन्तरं प्राविशत" प्राण-शक्ति को वायु रूप कहा जाने से इस शक्ति की कामना वायु से ही की गई है—

पृथिवी बलयादध्याच्छिवं चापो दिशन्तु मे।
अग्निर्ददातु मे तेजो वायुः प्राणं ददातु मे।। —महाभारत सभा० ३१

सौन्दर्य लहरी में आचार्य शंकर ने भगवती महाशक्ति के हृदय में वायु का उल्लेख कर इस प्राणशक्ति की ओर ही इंगित किया है—**महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।**

सुतरां आचार्य भेल कहते हैं—**"यावत् तिष्ठति वातो हि देही तावत् जीवति"।**

वात विषयक सर्वाधिक विशद वर्णन चरक संहिता में, पित्त विषयक विशद वर्णन सुश्रुत संहिता में एवं कफ विषयक विशद वर्णन अष्टांग संग्रह किंवा अष्टांग हृदय में हुआ है। चरक ने स्पष्टतया उच्चारित किया है—

महर्षीणां मतिर्या या पुनर्वसुमतिश्च या ।
कलाकलीये वातस्य तत् सर्वं संप्रकाशितम् ॥ —चरक सू. १२।१७

प्राणेश्वरः प्राणभृतां करोति क्रिया च तेषामखिला निरुक्ता ।
तां देशसात्म्यर्तुबलान्यवेक्ष्य प्रयोजयेच्छास्त्रमतानुसारी ॥ —च. चि. २८।२४९

जिस वायु की शक्ति के चिन्तन में महर्षियो ने अचिन्त्य वीर्य (अचिन्त्यवीर्योऽचिन्त्यशक्तिः, सा चास्य शक्तिः शरीरे दोष मूत्रपुरीषादिविभागोऽवयवादिसंस्थान कारणं दोषधातुमलसंवाहनादिश्च, शरीराद्बहिस्तु संचरतो धारणादिः—डल्हण) कह इसकी अपार महत्ता प्रदर्शित की है। उस वायु का वर्णन मुझ अकिंचन द्वारा हो रहा है—

कहां रत्नाकर अपार अकूपार वह कहां पंक भारी न्यून वारि सरि म्हारी है।

ऐसी स्थिति में मेरी दशा कवि कुलगुरु के कथनानुसार होगी—

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्। प्रांशुलभ्ये फले मोहादुद्बाहुरिव वामनः॥

अस्तु उस वातस्वरूप पुरुष ने अपने पांच विभाग किये हैं—स पञ्चधात्मानं विभज्योच्यते यः प्राणोऽपान समानः उदानो व्यान इति। पञ्चविध वायु में पञ्चमहाभूत की विशिष्टता पाई जाती है—इसका प्रतिपादन आयुर्वेद गगन के देदीप्यमान नक्षत्र श्री एच० एस० कस्तुरे ने इस प्रकार किया है—"विचार करने पर प्राण में नाभस सूक्ष्म गुण का सूक्ष्म इन्द्रिय धारण करने के कारण उदान में बलवर्णादि होने से शीत आप्य गुण का व्यान में गति चेष्टादि के कारण वायव्य चल गुण का, समान ने पचान शोषण कारक तैजस रूक्ष गुण का तथा अपान में पार्थिव खर गुण का अनुमान होता है।

दोषों की विषमता जो दूष्यों को भी दूषित कर देती है वह जब अङ्ग किंवा सर्वाङ्ग के स्रोतों की दुष्टि का सहकार प्राप्त करती है तो रोगोत्पत्ति का क्रम सम्पूर्ण होकर रोग उत्पन्न होता है। उन रोगों में वात-व्याधि की प्राथमिकता है क्योंकि यह दुश्चिकित्स्य तथा अधिक कष्टप्रद है। इसीलिए इसका समूह निर्दिष्ट है जिसे "वात व्याधि" कहा जाता है। वात व्याधि से विकृत वात जनित असाधारण व्याधि अभिप्रेत है।

महर्षि सुश्रुत के अनुसार सुयोग्य चिकित्सक के लिये रोग सम्प्राप्ति (Pathogenesis) किंवा दोषों की विविध अवस्थाओं यथा संचय (Summation), प्रकोप(Provocation),प्रसर (Diffusion), स्थान संश्रय (Localisation), व्यक्ति (Manifestation)और भेद (Termination) को भली भांति जानना अत्यावश्यक है। साथ ही चिकित्सा से पूर्व इनकी अतिसूक्ष्म जानकारी करना भी आवश्यक है।

दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वय.। सत्वं सात्म्यं तथाहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः॥
सूक्ष्मसूक्ष्माः समीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे। यो वर्तते चिकित्सायां न स्खलति जातुचित॥

एवं विध आमूल परीक्षा कर रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव के आधार पर रोग की निदान-परिवर्जन, शोधन एवं शमन चिकित्सा के मार्ग का निर्धारण करना चाहिए।

इस विशेष ग्रंथ में वात विषयक रोगों का यथाशक्य वर्णन किया गया है। इस वर्णन में जिन लेखक महोदयों ने सहयोग दिया है उनका मैं हृदय से आभारी हूं। सर्वाधिक सहयोग मुझे अनुज श्री बनवारीलाल गौड़ ने दिया है। यद्यपि विशेषाङ्क सम्पादन का यह कार्य मुझ जैसे अल्पज्ञ के लिये कठिन था किन्तु गुरुजनों का आशीर्वादात्मक मार्गदर्शन मेरे लिये सम्बल सिद्ध हुआ। स्वर्गस्थ गुरुवर्य श्री कल्याण प्रसाद जी महाराज की संप्रति परोक्ष में भी कृपा साथ रही। गुरुवर्य श्रीराम प्रकाश जी स्वामी जी महाराज एवं पुण्यश्लोक आचार्य श्री नारायण लाल जी काङ्कर के शुभाशीर्वाद ने ही मुझे इस योग्य बनाया है। पिता श्री वैद्य रघुनाथ प्रसाद जी की पावन प्रेरणा तो पल पल पर मिलती ही रही। लेखन कार्य में मुझे श्री रणजित राय जी देसाई, श्री विश्वनाथ द्विवेदी, श्री रामरक्ष जी पाठक, श्री रघुवीर प्रसाद जी त्रिवेदी, श्री हर्षुल जी मिश्र, श्री एच. एस. कस्तूरे, श्री सुदर्शन जी शास्त्री एवं श्री दौलतराम जी सोनी आदि महानुभावों की कृतियों से अत्यधिक सहायता मिली है।

इन्हें भी गुरुजन स्तुति प्रसंग में श्रद्धासुमन अर्पित करता हूं। आयुर्वेद विभाग राजस्थान के निवर्तमान एवं वर्तमान निदेशक महोदय श्री दौलतराम जी चतुर्वेदी एवं श्री प्रहलादराय देराश्री महाभाग ने अपनी शुभ सम्मति से मुझे उद्बोधित कर साहस बढ़ाया है एतदर्थ मैं कृतकृत्य हूं। दोनों ही का शिष्य रहने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है—

जन दरिया गुरुदेव जी, ऐसे किया निहाल।
जैसे सूखी बेलड़ी, बरस बरस किया हरियाल॥

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ —२।७१

इन चतुर्विध उपायों के यत् किंचित् निर्वाह से यत् किंचित शान्ति उपलब्ध हो जाय—यही एक अभीष्ट है। अन्त में परिमार्जन भिक्षा का भिक्षुक बन कर विज्ञजनों से प्रार्थना करता निवेदन करता हूं कि—

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।

बुधजन सदैव हंसवत् सार ही ग्रहण करते हैं—

मात्सर्यमुत्सार्य विवेकशीलैर्यत् सारभूतं तदिह प्रचेयम्।
गृह्णन्ति हंसा पय एव सारं दोषेषु दृष्टिं न बुधाः क्षिपन्ति॥

सम्पादन प्रक्रिया के सफलतापूर्वक सम्पन्न होने के लिये ये पूर्वापेक्षायें हैं—निर्णय शक्ति, अध्ययनशीलता, मननशीलता, स्मरणशक्ति, प्रतिभा (सहज किंवा अर्जित) और विवेक युक्ति। मुझमें अंशतः भी उक्त विशेषतायें न होते हुए भी डा० श्री दारुदयाल जी गर्ग ने जो यह श्रेय प्रदान किया तो मुझे सहसा महाकवि तुलसी के ये शब्द कहने हैं— हौं तो सदा खर को असवार तुम्हारो ही नाम गयन्द चढ़ायो।

मित्रजनों से अन्त में मानस के ये उद्‌गार व्यक्त करना उपयुक्त समझता हूं कि केवलमात्र सस्ती लोकप्रियता या अर्थोपार्जन ही हमारा लक्ष्य नहीं होना चाहिए। सर्व प्रजाजन के पितृवच्छरण्य महर्षियों ने "अथ भूतदयां प्रति" की उदात्त भावना से आयुर्वेद को प्रवर्तित किया था। किन्तु आज स्थिति कुछ ओर ही दृष्टिगोचर हो रही है।

सुतरां हमें आत्म प्रधान श्रेष्ठ परिणति रूप विकास की ओर अग्रसर होना होगा। इस आदर्श से श्रेष्ठ समाज बनाना होगा। देखिये तो भगवती श्रुति अनादि काल से उद्बोधित कर रही है—

"उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः" —ऋग्वेद १०।१०१।१

यह आदर्शवादी सन्वेदनाओं की समस्त परिधि धर्मक्षेत्र के नाम से जानी जाती है। इसी की उमंगें कर्म क्षेत्र पर छाती रहें और प्रातः स्मरणीय आयुर्वेद मार्तण्ड परम पूज्य श्री लक्ष्मीराम जी महाराज की गौरव गिरा के अनुसार आयुर्वेद की उज्ज्वल ज्योति से हम सदैव प्रकाशित होते रहें—

यत्प्रभा पटलोद्भासि भासतेऽद्यापि भारतम्। आयुर्वेदात्मकं ज्योतिः शाश्वतं नः प्रकाशताम्॥

विदुषामनुचरः
गोपीनाथ पारीक "गोपेश"
महा शिवरात्रि सं० २०४१

वात व्याधि चिकित्सा

की

विषयानुक्रमणिका

१. आर्ष खण्ड (वात महाभूत-एक दार्शनिक विचार, वात दोष मीमांसा)

२. वात व्याधि चिकित्सा के सामान्योपक्रम

३. वात व्याधियों का निदान, पूर्वरूप, रूप एवं विशद चिकित्सा

४. प्रकीर्ण खण्ड (उपद्रव चिकित्सा, रस चिकित्सा, होमियो-एलोपैथिक एवं प्राकृतिक चिकित्सा)

समर्पणम्

प्राचीन संस्कृति, संस्कार एवं संस्कृत के परम अभिमानी तथा स्वयं भी इनके पारदृश्वा परमादरणीय पूज्य आचार्य डा० श्रीमान् नारायण जी शास्त्री कांकर महाभाग संस्कृत प्राध्यापक राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान जयपुर (राजस्थान) के चरणोंमें सादर समर्पित—

गुरुवर्य श्रीमन् मान्यवर महनीयमहिममहामते ।
काङ्कराभिधद्विजकुलोद्भव नयलवुधजनसन्तते ॥
साहित्यभूषण संस्कृतज्ञ मर्त्यपुङ्गव सद्गते ।
अनुपमचरित सौहार्दधन कर्तव्यपरिपालनरते ॥
भवदीयां कृपां प्राप्य कृतं सम्पादनं मया ।
सोऽयं वात विशेषाङ्कः सादरं हि समर्प्यते ॥

चारुचरणाम्बुजचञ्चरीकः—
वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश', पचार (सीकर) राजस्थान ।

वेदों में वायु वर्णन

वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य, साहित्यायुर्वेद रत्न

परम ब्रह्म में 'एकोऽहम् बहु स्याम्' की स्वतः स्फूर्त इच्छा शक्ति के प्रादुर्भाव होते ही निर्गुण ब्रह्म में सगुण सृष्टि की भावना से सृष्टिसृजन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। ब्रह्म का सत्वगुण में लीन होने से अपौरुषेय ज्ञान के रूप में वेद का आविर्भाव हुआ। सत्त्वमिश्र रजोगुण से परिदृश्यमान जगत का तथा तमोमिश्र रजोगुण से जीव-सृष्टि का प्रारम्भ हुआ। भगवान चरक ने जन्म के समय जीवों पर तमोगुण (महामोह) छाया रहने का निर्देश कर (चरक नि० १) जीवसृष्टि में तमोगुण की कारणता प्रदर्शित की है।

प्रारम्भ में वेद को अपौरुषेय किंवा गुणातीत ज्ञान का आधार ही समझा जाता था सुतरां इसे ज्ञान का अक्षयकोष कहा जाता है। महाराज मनु ने स्वीकार किया है कि—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाः चत्वारश्चाश्रयाः पृथक्ः।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी 'सवासां सत्यविधानां [मूलं वेदः' ऐसा मुक्त कण्ठ से कहा है। उनमें आध्यात्मिक, दैविक और प्राकृतिक ज्ञान का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। वेदों में गृहस्थ, राजधर्म और आयुर्वेद सम्बन्धी अनेक मन्त्र हैं। आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा गया है। कुछ आचार्य ऋग्वेद को ही आयुर्वेद का मूल मानते हैं। भगवान चरक ने 'आत्मनोऽथर्ववेदे भवितरादेश्या' कहकर अथर्व वेद को मूल माना है। वैदिक साहित्य के चार प्रविभाग किये गये हैं। १. मन्त्र भाग २. ब्राह्मण ३. आरण्यक और ४. उपनिषद। ऋग्वेद के मन्त्र भाग में कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड एवं उपासना काण्ड के साथ अनेक ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं चिकित्सा सम्बन्धी वर्णन मिलता है। इसी प्रकार अथर्ववेद के मन्त्रभाग में मन्त्र तंत्र मोहनादि क्रियाओं के साथ आयुर्वेद विषयक वर्णन भी उपलब्ध होता है।

वेदों में मरुत के नाम से अत्यधिक वर्णन मिलता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मरुत् का अर्थ मनुष्य भी किया है जो मरुत् की प्राणशक्ति का द्योतक है। मरुत् मृ धातु और उत् प्रत्यय से बना है जिसका अर्थ मरने वाला, मारने वाला और वेग वाला होता हे। कई मन्त्रों में मरुत् ईश्वरवाचक भी है। वायु को मरुतों का रथी कहा गया है—ऋग्वेद ५–८०–७। कई मन्त्रों में इसकी उपमा योद्धाओं से की गई है—ऋग्वेद १–८५–८, ५–५७–६।

वैदिक साहित्य में प्राण का भी विस्तारपूर्वक वर्णन है। सबका जीवनमूल होने से प्राण ईश्वर का वाचक है। अथर्ववेद ११।४।१० में "प्राणो ह सर्वस्येश्वरो" कहा गया है। अथर्ववेद के एकादश काण्ड में चौथा सूक्त प्राण सूक्त है। इसमें प्राण की बड़ी महिमा गाई गई है। इस सूक्त में २६ मन्त्र हैं। इनमें प्राण ईश्वर का वाचक है और कहीं वर्षा का, कहीं प्राणवायु का तो कहीं सूर्य का। उपनिषदों में भी प्राण की अनन्त महिमा है। प्राण ही वेद का स्रोत है। यह सामवेद का साम है और यह यजु है क्योंकि यह सब अङ्गों को जोड़े रहता है प्राण ही वीर भाव है। प्राण द्वारा ही जीव गर्भ में जाता है और प्राण से ही पलता है। जब तक जीव मुक्त नहीं होता तब तक

प्राण जीव के साथ रहता है और जब आत्मा मुक्त हो जाता है तब उसका प्राण प्राण में मिल जाता है—इसका वर्णन वेद में है। वेद में श्वास निःश्वास की प्रक्रिया का वर्णन बड़े ही सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया है। जिसमें वायु से प्रार्थना की गई है कि "वायु ! तू रक्त में जो मल है उसे बाहर निकाल क्योंकि तू सब रोगों का भेषज है, तू देवों का दूत होकर विचरता है"—

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः ।
दक्षं ते अन्य आ वायु परान्यो वातु यद्रपः ।।
आ वात वाहि भेषजं विवात वाहि यद् रपः ।
त्वं हि विश्व भेषजो देवानां दूत ईयसे ।।

—ऋग्वेद १०।१३७।२-३, अथर्व. ४.१३.२-३

विनाशशील पिंड में जीवात्मा आयुष्मान होकर कैसे स्वस्थ रह सकता है इस चिन्तन धारा से ही प्रभु ने आयुर्वेद की रचना की। आयुर्वेद का आधार त्रिदोष सिद्धान्त है जिसका वर्णन वेदों में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद १।३४। ६ में "सूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती" के भाष्य में सायणाचार्य लिखते हैं—"हे शुभस्पती हे शोभनस्य जगतः पालकौ अश्विनीकुमारौ युवां त्रिधातुप्रशमनं वातपित्त श्लेष्मशाम् प्रशमनं शर्म सुखेन सम्यक् वहतम् कुरुतम् ।।" इसी प्रकार ऋग्वेद १।८५।१२ में वर्णित "त्रिधातूनि" की व्याख्या दयानन्द सरस्वती ने भी इसी प्रकार से की है—"त्रिधातुनि, त्रयोवातपित्तकफाः येषु शरीरेषु तानि शरीराणि" ।

महर्षि सुश्रुत के वायुः पालयति प्रजाः" का इस मन्त्र में वर्णन किया गया है—

ओ३म् शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभिचक्षसे रयिम् । ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुह्रते दक्षिणां सप्त मातरम् ।

—अथर्व १८।४।२

दीर्घ जीवन के लिए अमृतमय औषध भंडार से अंश प्राप्ति की प्रार्थना वायु से ही की गई है, क्योंकि वायु ही "विश्वभेषज" किंवा "देवदूत" के नाम से व्यवहृत किया गया है—

यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः ।
ततो नो देहि जीवसे ।।

—ऋग्वेद १०।१८६।३

ऋतुसंन्धियों में व्यापकरूप से फैलने वाली महामारियों को रोकने के लिए "भैषज्य यज्ञ" किये जाते थे जिनका वर्णन वेदों में उपलब्ध होता है। इनसे वातावरण सुरभिगन्धमय बनने से रोग दूर होते थे। भगवान चरक ने भी इस कार्य को वेदविहित कहा है तथा इस ओर इंगित कर वायु की महत्ता प्रदर्शित की है—

य या प्रयुक्तया चेष्ट्या राजयक्ष्मा पुराजितः ।
तां वेदविहितामिष्टिम् आरोग्यार्थी प्रयोजयेद् ।।

—चरक चि० ८।१८९

—वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिष०
विशेष सम्पादक—"वातव्याधि चिकित्सा"
पो० पचार (सीकर) राज०
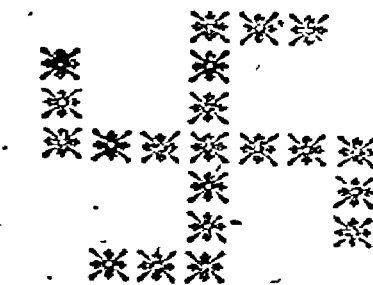
वात महाभूत एक दार्शनिक विवेचन

कवि० डा० अयोध्याप्रसाद 'अचल' आयु० बृह०, पी एच० डी०

कविराज श्री डा० अयोध्या प्रसाद जी 'अचल' आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान पर अच्छा अधिकार रखते हैं। इस लेख में आपने वात महाभूत का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है जो अपने विषय का उत्तम लेख है। आप मानस विज्ञान के भी मनीषी हैं। आपके लेख आयुर्वेदीय पत्रों को सुशोभित करते रहते हैं।

विशुद्ध आयुर्वेदिक मौलिक सिद्धान्तों को समझने के लिये दर्शन शास्त्र की नितान्त आवश्यकता पड़ती है। आयुर्वेद जीवन विज्ञान तो है ही जीवनदर्शन भी है। भारतीय ज्ञान परंपरा में प्रायः सर्वत्र विज्ञान और दर्शन का सामञ्जस्य उपलब्ध होता है। अतः वात की अन्य विवेचना से पूर्व दर्शन विषयक ज्ञान भी आवश्यक समझा गया है। इस मन्तव्य के प्रस्तुतीकरण में कविराज जी सफल हुए हैं।

—वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'

भारतीय दर्शनों के अनुसार महाभूत भौतिकी सृष्टि के मूलाधार हैं। ये वे सूक्ष्मतम इकाइयां हैं जिनसे प्राणियों की देह सहित समस्त भौतिक पदार्थों की रचना होती है।

महाभूतों की संख्या—भारतीय दार्शनिक संप्रदायों ने मात्र चार्वाक को छोड़कर, इनकी संख्या पांच मानी है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। चार्वाक ने आकाश को महाभूत नहीं माना है। उसके अनुसार शेष चार महाभूतों से ही सृष्टि की रचना हुई है। आयुर्वेद में भी महाभूतों की संख्या पांच ही मानी गई है। चरक के शब्दों में—महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।

महाभूतों के गुण—इन महाभूतों को इनके गुणों के द्वारा पहचाना जाता है। ये गुण दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य गुण अधिकांश महाभूतों में समान रूप से पाये जाते हैं—यथा संख्या, परिणाम, संयोग, वियोग आदि। विशेष गुण प्रत्येक महाभूत में अलग-अलग पाया जाता है। वह उस महाभूत का विशेष गुण होता है और मात्र उसी में पाया जाता है। उसी के आधार पर उस महाभूत की पहिचान होती है। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द क्रमशः तेज, जल, पृथ्वी, वायु और आकाश महाभूत के विशेष गुण हैं। इन्हें स्वाभाविक या नैसर्गिक गुण भी कहा जाता है। सृष्टि विकास क्रम में कार्यरूप महाभूत में अन्य द्रव्यों के संसर्ग से अन्य औपाधिक गुण भी विकसित होते हैं। नैसर्गिक गुण समवाय संबन्ध से और औपाधिक गुण संयोग संबन्ध से महाभूत में वर्तमान रहते हैं।

महाभूतों की उत्पत्ति—महाभूतों की उत्पत्ति के संबन्ध में भारतीय दर्शन में दो प्रकार की विचारधारायें पाई जाती हैं। कुछ तो इन्हें विकास या दृष्टि के क्रम में उत्पन्न मानते हैं और कुछ मूलतत्व के रूप में अनादि और अनन्त।

सांख्य पंच तन्मात्रा से पंच महाभूतों की उत्पत्ति मानता है। वेदान्त भी व्यवहारिक दृष्टि से पंचीकरण की क्रिया द्वारा पंच महाभूतों की उत्पत्ति का प्रतिपादन करता है। इन दोनों के अनुसार पंच महाभूत मूलतत्व नहीं है। ठीक इनके विपरीत वैशेषिक दर्शन ने भाव-पदार्थों में द्रव्य के आधीन नौ प्रकार के द्रव्यों की कल्पना की है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल, आत्मा और मन। उसके अनुसार ये सभी द्रव्य नित्य हैं, अनादि और अनन्त हैं। सृष्टिकार्य में इन्हीं से सृष्टि की रचना होती है। सृष्टि का नानात्व उभर कर सामने आता

है और प्रलयकाल में उल्टे क्रम से सारा का सारा नानात्व इन्हीं में विलीन हो जाता है और पुनः ये ही नौ द्रव्य शेष रह जाते हैं। वैशेषिक के अनुसार ये ही सृष्टि के मूलतत्व हैं। सृष्टिकर्ता दिक्काल के आयामों में पंच महाभूतों से समस्त भौतिकी और आत्मा तथा मन के सहयोग से चेतन सृष्टि की रचना करता है। आयुर्वेद ने भी अपने चिकित्स्य पुरुष को षट्धातुज माना है जो पंच महाभूत और आत्मा के संयोग से उत्पन्न होता है।

महाभूतों के रूप—वैशेषिक दर्शन ने प्रत्येक महाभूत के दो रूप माने हैं—कारण-रूप और कार्य। कारण रूप वह रूप है जो सृष्टि के आदि काल में पाया जाता है। इसी को अणुरूप कहते हैं। सृष्टि के आदि में प्रत्येक महाभूत अणु रूप में पाया जाता है। महाभूत का यह रूप मात्र अनुमानगम्य है। इसका प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं है। महाभूत का कार्यरूप वह रूप है जो सृष्टिविकास क्रम में वह धारण करता है। यह उसका अपेक्षाकृत स्थूल रूप होता है। इसी का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव होता है। महाभूत कारण रूप में नित्य तथा कार्य रूप में अनित्य है।

इस संदर्भ में एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की है। आयुर्वेद एक व्यवहारिक शास्त्र है। इसका सीधा संबन्ध भौतिकी सृष्टि और भौतिक शरीर से है। रोग, रोगी औषधि—सभी भौतिकी सृष्टि के अङ्ग हैं। इसलिए सुश्रुत ने स्पष्ट कहा है कि आयुर्वेद को भौतिकी सृष्टि के मूलाधार महाभूतों की विवेचना तक ही सीमित रहना चाहिये। इससे परे जाने को कोशिश नहीं करनी चाहिए। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते।[1]

वात महाभूत का स्वरूप—

तर्कसंग्रहकार अन्नमभट्ट ने वात के स्वरूप का वर्णन करते हुये कहा है—रूपरहितः स्पर्शवान वायुः। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि वात वह रूपरहित अथवा अदृश्य द्रव्य है जिसमें मात्र स्पर्श की विशेषता पाई जाती है। स्पर्श की विशेषता वायु का विभेदक गुण है। इसी के आधार पर इसे पहचाना जाता है। इन्द्रियगोचरता की दृष्टि से मात्र स्पर्श के द्वारा ही इसे जाना जा सकता है।

वात रजोबहुल—

सुश्रुत ने वात को रजोबहुल कहा है—रजोबहुलो वायुः। प्रकृति त्रिगुणात्मक है अतः प्रकृति से प्रसूत प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक है। वात भी प्रकृति से प्रसूत है अतः वात भी त्रिगुणात्मक है। यद्यपि सभी वस्तुएं त्रिगुणात्मक हैं फिर भी उनमें वर्तमान गुणों की मात्रा में अन्तर है। इसी मात्रा भेद से व्यक्तित्व-भेद बनता है। प्रत्येक वस्तु को उसका अपना विशिष्ट स्वरूप प्राप्त होता है। वात में रजोगुण का बाहुल्य है। रजोगुण चंचलता का, गतिशीलता का प्रतीक है, प्रतिनिधि है। रजोबहुल होने के कारण वात के संबन्ध में यही बात कही जा सकती है। भौतिकी सृष्टि में वात रज का प्रतिनिधि है, उसका स्थूल रूप है। इसलिए यह कहना अनुचित या अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि संसार में जहां कहीं भी गति है, परिवर्तन है, चेष्टा है, स्पन्दन है, कंपन है—सब गत्यात्मक वात महाभूत के कारण ही है। प्राणियों के शरीर में इसी को प्राण की संज्ञा दी गई है। इसीलिए चरक एवं सुश्रुत दोनों ने ही इसे सर्वात्मा, विश्वकर्मा, विश्वरूप, सर्वतन्त्र, विधाता आदि नामों से पुकारा है। शरीरस्थ वात की गत्यात्मकता के महत्व को दर्शाते हुए शारङ्गधर ने कहा है—

> पित्तं पंगु कफः पंगु पंगवो मलधातवः।
> वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥

स्पर्श की विशेषता—वायु के स्पर्श की अपनी विशेषता होती है। इसे पकड़ा या छुआ नहीं जा सकता, मात्र शरीर पर अनुभव किया जा सकता है। पार्थिव वस्तुओं का स्पर्श कोमल, कठोर, नुकीला, खुरदरा आदि, आग्नेय का उष्ण तथा जलीय का शीतल होता है। पर वायु का स्पर्श इन सबसे भिन्न एक अलग प्रकार का ही होता है। उसके लिए कोमल, कठोर, शीत, उष्ण आदि विशेषणों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। यहां पर यह शंका उठ सकती है कि व्यवहार में वायु जाड़ों में ठण्डी और गर्मियों में गरम होती है, सुगन्धित होती है, दुर्ग-

[1] महाभूतों की विस्तृत चर्चा के लिए देखें, लेखक की प्रारंभिक पदार्थ विज्ञान और आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान।

न्धित है, फिर कैसे उसे अनुष्णाशीत तथा सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि से रहित कहा जा रहा है। गर्मियों में वायु उष्णता के संयोग से गरम और जाड़ों में शीत के संयोग से ठण्डी हो जाती है, अपने आप में न वह ठण्डी है न गरम। इसी प्रकार सुगन्ध के गन्धकणों से युक्त वायु सुगन्धित और दुर्गन्ध के कणों से युक्त वायु दुर्गन्धित मालूम होती है। अपने आप में वायु न सुगन्धित है और न दुर्गन्धित। शीत, उष्ण, सुगन्धित, दुर्गन्धित, मन्द, तीव्र आदि वायु के औपाधिक गुण हैं। ये दूसरे महाभूतों के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं। इन्हें वायु के स्वाभाविक या नैसर्गिक गुण नहीं माना जा सकता।

वायु के सामान्य गुण—

वायु के विशेष गुण के अलावा उसमें कुछ सामान्य गुण भी पाए जाते हैं—यथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेग।

आयुर्वेद में गुण शब्द का व्यवहार द्रव्य की शरीर पर होने वाली प्रतिक्रिया के अर्थ में किया गया है। उसमें शरीरस्थ वात के निम्न गुण बतलाये गए हैं—रूक्षता, लघुता, शैत्य, खरता, सूक्ष्मता, चंचलता तथा विशदता।

गति की विशेषता—इसी प्रकार वायु की अपनी गति या चाल की भी एक अलग विशेषता होती है। यह तिर्यकगामी अर्थात् सदा तिरछा या टेढ़ा चलने वाली होती है।

वात के भेद—वात के दो भेद हैं—नित्य और अनित्य। परमाणु रूप वात नित्य होता है और कार्यरूप वात अनित्य होता है। सृष्टिविकासक्रम में जब वात महाभूत के परमाणु अन्य महाभूतों के परमाणुओं के साथ मिलकर नानात्व के सृजन में संलग्न हो जाते हैं तब उनका वह रूप कार्यरूप कहलाता है।

कार्यरूप वात के पुनः तीन भेद किये गए हैं—शरीर, इन्द्रिय और विषय।

पार्थिव, जलीय एवं आग्नेय शरीरों की भांति ही वायव्य शरीरों की भी कल्पना की गई है। ये भी अयोनिज होते हैं और पार्थिव परमाणुओं के संयोग से ही विषयभोग में संलग्न होते हैं।

शुद्ध वात के परमाणुओं अथवा उनकी प्रधानता से निर्मित इन्द्रिय स्पर्शेन्द्रिय कहलाती है। यह समस्त बाह्य एवं आन्तरिक त्वचा में स्थित रहकर स्पर्श को ग्रहण करती है। स्पर्श ज्ञान मात्र इसी के द्वारा होता है।

विषय की दृष्टि से वात के दो भेद हैं—शरीरगत और लोकगत। शरीरगत वात को ही प्राणवायु कहते हैं। यह पांच प्रकार की मानी गई है—प्राण, उदान, व्यान, समान और अपान। इसका विस्तृत विवरण आप अन्यत्र पढ़ेंगे। लौकिक वायु के भी दो भेद किये गए हैं—प्रकृतिभूत और कुपित। वात के भेदों को संक्षेप में निम्न तालिका में देखा जा सकता है—
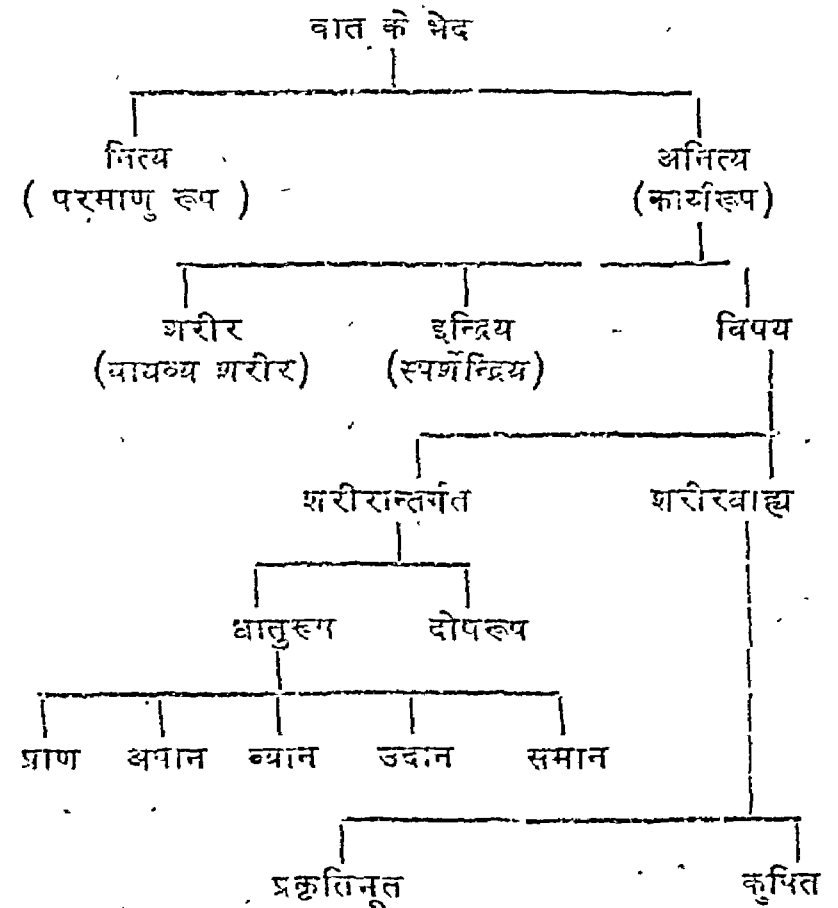
वात महाभूत के कार्य—शरीर में निम्न भावों-क्रियाओं को वात महाभूत की उपज माना गया है—स्पर्श, त्वचा, सम्पूर्ण चेष्टायें, शरीरगत स्पन्दन, श्वास-प्रश्वास तथा हल्कापन। ये प्राकृत अथवा धातुरूप वात के कार्य हैं यही जब कुपित होकर दोष का रूप धारण करता है तो शरीर में ८० प्रकार के विकारों को उत्पन्न करता

—शेषांश पृष्ठ ३७ पर देखें।

वात महाभूत—एक सिंहावलोकन

आचार्य डा० महेश्वर प्रसाद आयु० बृह०, प्राणाचार्य

सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी शल्यकोविद आचार्य डा० श्री महेश्वर प्रसाद जी को कौन आयुर्वेदानुरागी नही जानता ? वातमहाभूत विषयक एवं वात संस्थान विषयक आपने दो लेख इस विशेषांक हेतु प्रेषित किये जिनमें आचार्य महोदय की ज्ञानगरिमा परिलक्षित होती है । आयुर्वेद विज्ञान के प्रमुख मूल तत्वों में पंचमहाभूत एवं त्रिदोष विशेष स्थान रखते हैं । त्रिदोष में वातदोष हमारा वर्ण्य विषय है । पञ्चमहाभूत जो भौतिक एवं रासायनिक संगठन से सम्बन्ध रखते हैं—विवेचन भी आवश्यक है । वात महाभूत पर आपने संक्षिप्त किन्तु सारमय आवश्यक वर्णन प्रस्तुत किया है । इसके साथ ही "इन्द्रियाणां मनोनाथः मनोनाथस्तु मारुतः" के आधार पर योग की ओर भी इंगित किया है । पाठक जिज्ञासु पाठक सद्गुरु के सान्निध्य में पवनयोग द्वारा अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करने में सफलीभूत हो सकते हैं । —वैद्य गोपीनाथ पारीक भिष०

विश्व के सभी द्रव्य पांचभौतिक हैं। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' अर्थात् जो-जो वस्तु या क्रियायें इस शरीर में परिलक्षित होती हैं वे सब ही ब्रह्माण्ड में भी हैं। यही कारण है कि अपने गौरवशाली राष्ट्र भारत के त्रिकाल दर्शी ऋषि मुनियों ने पिण्ड अर्थात् मानव शरीर के पंच मूल तत्व यथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु (वात) और आकाश और उनके विविध महत्वपूर्ण क्रिया—कलापों के आधार पर तथा कुछ प्रत्यक्ष अनुभव के अनुसार एक अनोखे ब्रह्माण्ड की परिकल्पना की थी। उन्होंने देखा कि दीर्घकालीन प्रत्यक्ष क्रियात्मक अनुभवों के आधार पर कल्पना किया कि विश्व ही नहीं ब्रह्माण्ड का प्रत्येक कार्य उसी प्रकार वात द्वारा सञ्चालित होता है जिस प्रकार कि पिण्ड या मानव शरीर में होता है। वात शरीर में समस्त अंग-प्रत्यङ्गों का संचालन ही नहीं करता वरन् पाचन क्रिया, रक्त संचालन, श्वसन क्रिया, मूत्र-प्रजनन क्रिया, मलोत्सर्जन, संवेदना की अनुभूति को सम्पादित भी करता है।

वायु जिसे आयुर्वेद की भाषा में वात कहते हैं, प्राणिमात्र के जन्म, पालन-पोषण, स्थिति और मृत्यु का कारण है। समस्त अङ्ग प्रत्यङ्गों तथा सर्व अवयवों और चेष्टाओं का कारणभूत होने से वात विश्वरूप है, आयु है, प्राण है, हर्ष और उल्लास है, शक्ति है, दोषों का प्रेरक नियामक और योगवाही है; इतना ही नहीं वह आशुफलदायक, धाता, प्रभु और सर्वलोक महेश्वर है।

वायु के स्वतन्त्र और परतन्त्र दो प्रकार के कर्म हैं किन्तु वात स्वयं स्वतन्त्र है तथा उसका प्रभाव अचिन्त्य है, स्वयं अव्यक्त है किन्तु अपने कार्यो द्वारा व्यक्त है।

वायु बहिश्चर (अन्तरिक्षगत) और अन्तश्चर (शरीर गत) दो प्रकार के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु दोनों एक और अभिन्न हैं। बहिश्चर वात प्रशान्त रूप में पृथ्वी का धारण, अग्नि का प्रज्वलन, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र एवं ग्रहों की गति की नियमितता, मेघों का उत्पादन आदि विभिन्न कर्मों से विश्व का धारण करता है किन्तु जब वह प्रकुपित हो जाता है तो पर्वतों का धूलिसात्करण, वृक्षों को उखाड़ फेंकना, समुद्रों का उद्वेलन आदि उपद्रवों को उत्पन्न करता है। इतना ही नहीं वात महाभूत सूर्य और चन्द्रमा

के प्रभाव को लेकर प्राणियों को क्षीण और आप्यायित करता रहता है। अन्तश्चर वात भी शरीर में सूर्य और चन्द्रमा के प्रतिनिधिस्वरूप पित्त और श्लेष्मा का संयोग होने पर उनकी यथोचित क्रियाएं करता हुआ शरीर में शुभ या अशुभ कर्म करता है।

वैशेषिक दर्शन में ऐसा उल्लेख है कि वात महाभूत ही प्राणी के मन को उसके इष्ट विषयों में नियोजित करता है, अनिष्ट विषयों में प्रवृत्त हुए मन को नियन्त्रित करता है और इसी की प्रेरणा से सभी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय अपने-अपने कर्म में लगी हुई रहती हैं, इस प्रकार हम देखते है कि वात ही वाणी का प्रवर्तक है, स्पर्श की अनुभूति है तथा शब्द ज्ञान की तरंगें हैं। पाचन संस्थान में वात ही पाचकाग्नि (जठराग्नि सहित) और धात्वग्नियों का प्रदीपक है, अवशिष्ट मलों को निर्धारित स्थान पर रखता है तथा उन्हें बाहर निष्कासित होने को प्रवृत्त करता है। अधिक क्या कहा जाय वात के बिना पित्त और कफ दोनों पंगु है। मनुष्य के गुदा मार्ग और मूत्र-प्रजनन अङ्ग के मध्य में कुण्डलिनी तन्त्रिका (नाड़ी) अवस्थित रहती है जो सर्प की तरह शिवलिंग सदृश अवयव पर तीन फेरा डाले हुए सुपुप्त अवस्था में पड़ी रहती है, योगी जब हठयोग द्वारा या योग साधना की अन्य जटिल प्रक्रिया द्वारा उसे जगाते है तो वह कुण्डलिनी नाड़ी सुषुम्ना मार्ग से ऊपर की ओर चढ़ती हुई सहस्रार तक पहुँचती है तो सिद्धि मिलती है। ये सब वात महाभूत की ही विशेषताएं हैं।

—आचार्य डा० महेश्वरप्रसाद आयु० वृह० प्राणाचार्य
महेश्वर विज्ञान मन्दिर,
मंगलगढ़ (समस्तीपुर) बिहार

वात महाभूत एक दार्शनिक विवेचन — पृष्ठ ३५ का शेषांश

हैं। इसका विस्तृत विवरण आप आगे पढ़ेंगे।

इसी प्रकार शरीर-बाह्य लौकिक वात के भी प्राकृत और कुपित दोनों ही अवस्थाओं के कार्यों का वर्णन चरक ने निम्न शब्दों में किया है—

प्रकृतिभूत अवस्था में संचार करता हुआ वात निम्न कर्मों का सम्पादन करता है—पृथ्वी का धारण, अग्नि का ऊर्ध्वदिशा में ज्वालन, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों और ग्रहों की निरन्तर गति, मेघों की उत्पत्ति, जल का बरसना, नदियों का बहना, फूलों और फलों का प्रादुर्भाव, वृक्ष-वनस्पतियों का भेद कर बाहर निकलना, बढ़ना, ऋतुओं का विभाजन, पृथ्वी आदि धातुओं-महाभूतों का विभाग या अपने स्वरूप से अलग अवस्थिति, पृथ्वी आदि भूतों के कार्य द्रव्यभूत पाषाण आदि के परिमाण और आकृति का अभिव्यञ्जन, शालि धान आदि अन्नों के बीजों का अंकुरण, उनका अभिवर्धन, पकने से पहले उनको क्लिन्न होने या सड़ने से बचाना तथा पाक होने के बाद उनका शोषण, इनके अतिरिक्त सृष्टि के शेष सभी अवैकारिक विकारों (प्रक्रियाओं-परिवर्तनों) की उत्पत्ति।

यही प्रकृतिभूत वात जब कुपित होता है तब निम्न कार्यों को करता है—पर्वतों के शिखरों को हिलाना, उन्हें तोड़-फोड़ देना, वृक्षों को उखाड़ फेंकना, सागरों में हलचल पैदा करना, सरोवरों को उद्वेलित करना, नदियों को विपरीत दिशा में बहाना, भूकम्प, मेघों को इधर-उधर छितराना, कुहासा, मेघों के बिना गर्जन-धूल, सिकता, मत्स्य, मण्डूक, सर्प, क्षार, रुधिर, पाषाण आदि का बरसाना, वज्रपात, ऋतुओं के स्वभाव में परिवर्तन, शस्यों का उत्पन्न न होना, भूतों में मरण आदि का प्रादुर्भाव, भावरूप पदार्थों का विनाश और चारों युगों का संहार करने वाले मेघों, सूर्यों, अग्नियों और वायुओं की उत्पत्ति।

वात महाभूत के कार्यों के वर्णन के संहारस्वरूप उसके महत्व को दर्शाते हुए चरक ने कहा है—वही भगवान, कारण और अक्षय है। वह सब पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश का कारण है। वह सुख और असुख का, आरोग्य और रोग का कर्ता है। वही मृत्यु और यम है। वही नियन्ता है। वही प्रजापति और अदिति है। वही विश्वकर्मा और विश्वरूप है। सर्वगामी है। सभी कर्मों का विधाता है। सब भावों में अणु है, विभु है। सर्व लोकों का अतिक्रमण करके अवस्थित है। संक्षेप में वायुरेव भगवान वायु ही भगवान है।

—कविराज डा० अयोध्या प्रसाद 'अचल'
आयु० बृह०, पी-एच०डी०
धर्मशाला रोड, रमना (गया) बिहार

पवनयोग एवं योगजदृष्टि

वैद्य श्री प्रमोद आनन्द तिवारी एवं श्री सहजानन्द तिवारी

"रसश्च पवनश्चेति कर्म योगो द्विधा मतः" में कर्म योग पवन का तात्पर्य शरीरस्थ वायु से है। मोक्ष के अनेक हेतुओं में योग उत्कृष्ट हेतु कहा गया है—

मोक्षे निवृत्तिनिः शेषा योगो मोक्ष प्रवर्तकः। —चरक शा० १

इस दुरूह विषय को तिवारी महानुभावों ने स्पष्ट किया है। वातवह संस्थान विषयक विवेचना में मस्तिष्क विवेचन अत्यावश्यक है। आपने साथ में ही इसका भी विवेचन कर पाठकों को समुचित सामग्री प्रदान की है। —विशेष सम्पादक

दृष्टि दो प्रकार की होती है। १—वाह्य २—आभ्यन्तर। वाह्य चक्षुओं से जो देखा जाता है वह सीमित है। किन्तु इस दृष्टि को बढ़ाने के लिए दूरवीक्षण यन्त्र का प्रयोग करते हैं। उसके वाद भी वह सीमित है। किन्तु दूसरी दृष्टि जिसे आभ्यन्तर दृष्टि कहते हैं वह असीमित है। इसके द्वारा इस पृथ्वी लोक पर बैठे अरबों नक्षत्रों को प्रत्यक्ष किया जा सकता है। यह आभ्यन्तर दृष्टि महात्माओं में देखी जाती है। यह निश्चित है कि हम इस दृष्टि को प्राप्त करने के बाद ग्रह नक्षत्र के अतिरिक्त बैठे हुए व्यक्ति की मानसिक स्थिति को भी जान लेते हैं। इसका कारण मस्तिष्क संयम एवं साधना है। यह निश्चित है कि यह दृष्टि चर्म चक्षु के कार्यो को नहीं कर सकती। आकृति एवं रंग आदि नहीं देख सकती, इसके लिए चर्म चक्षु ही चाहिए। आभ्यन्तर दृष्टि का कार्य आज्ञाचक्र से होता है। आज्ञाचक्र भ्रू-मध्य में तथा नासिका के ऊपरी स्थित है। योगी इस आभ्यन्तर नेत्र को खोल लेता है। एक प्रकार से यह तृतीय नेत्र हुआ। शंकर के चित्रों में तृतीय नेत्र देखा जाता है। यह वही रहस्य है एवं इस रहस्य का कारण मस्तिष्क है। यदि मस्तिष्क की बनावट की ओर ध्यान दिया जाय तो यह देखा जाता है कि ईश्वर ने इस मानव मस्तिष्क में इतनी महत्वपूर्ण सामग्री सजोकर रखी है जो एक ज्वलन्त विद्युत भण्डार जैसा है जिसमें चल रही हलचलें ठीक वैसी ही हैं जैसी किसी शक्तिशाली विजलीघर की होती हैं। यह मस्तिष्क दो भागों में विभक्त है। १—सोचने, विचारने, तर्क विश्लेषण, एवं निर्णय करने की क्षमता प्रथम भाग में होती है। २—द्वितीय भाग में आदतें एवं शारीरिक क्रिया-कलापों का निर्देश निवारण किया गया है। सिरा एवं धमनियों द्वारा रक्त प्रवाह का होना, हृदय में गति का होना, आकुंचन एवं प्रसारण, सोना, जागना, खाना, पीना, मल-मूत्र त्याग, आदि क्रम-अपने आप सुचालित ढंग से चलता रहता है। यह क्रम अनायास नहीं होता, किन्तु इसके पीछे निरन्तर सक्रिय मन नाम की शक्ति काम करती रहती है जिसे अचेतन मस्तिष्क कहते हैं। इस मानव शरीर में विभिन्न यंत्र अवयव अपना काम करते रहते हैं। इस काम को संचालित करने की शक्ति मस्तिष्क के इस अचेतन मन से मिलती है। मस्तिष्कीय क्रिया कलाप जिन नर्वसेलस (तांत्रिक कोशिकायें) से मिलकर संचालित रहता है उनकी संख्या १० अरब होती है। इन्हें आपस में जोड़ने वाले नर्व फाइबर और इनके इनसुलेशन मस्तिष्क के भीतर असंख्य भरे पड़े हैं। सौत्रिक तंतुओं से होकर बिजली के

जो इधर-उधर दौड़ते हैं वही ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से आवश्यक सूचनायें केन्द्र तक पहुँचाते हैं। संसार में इन दिनों मनुष्यों की आबादी प्रायः ३ अरब के करीब है। इस प्रकार समस्त संसार के मनुष्यों की तुलना में हमारे मस्तिष्क में बैठे हुये ये कोष २।। गुने अधिक हैं। छोटे होते हुये भी इनकी क्षमता अपनी दक्षता के अनुरूप किसी परिपूर्ण मनुष्यों से कम नहीं है। इस प्रकार मस्तिष्क रूपी संसार में सम्पूर्ण विश्व के मनुष्यों से कई गुनी अधिक आबादी बसी हुई है। मनुष्य लापरवाह ढीले पोले हो सकते हैं पर स्नायुकोष अपने क्रिया कलाप में तनिक भी शिथिलता नहीं बरतते। इन १० अरब कोषों को अद्भुत विशेषताओं से सम्पन्न देव-दानव कहा जा सकता है। इनमें से कुछ में तो माइक्रोफिल्मों की तरह न जाने कब-कब की स्मृतियां सुरक्षित रहती हैं। डाक्टर पैन फेल्ड ने मस्तिष्क की खोज करके बताया है कि मस्तिष्क में ऐसे तत्व विद्यमान हैं जो किसी भी पुस्तक के २० हजार पृष्ठों से भी अधिक ज्ञान भण्डार सुरक्षित रख सकते हैं। एक व्यक्ति एक दिन में प्रायः चार लाख चित्र देखता है। इन चित्रों के साथ ही वह उनकी बनावट, रंग, रूप, ध्वनि, सुगन्ध एवं मनोभावों का भी आकलन करता है। मनुष्य का देखा या पढ़ा हुआ कुछ ही दिन में विस्मृत हो गया ऐसा जान पड़ता केवल इसलिए होता है कि हमारा बौद्धिक संस्थान मलिनताओं से घिर जाता है। उसे तीक्ष्ण करने के लिए जिस पूर्ण स्वास्थ्य और स्वाध्याय की आवश्यकता होती है वह हम कर नहीं पाते। फलस्वरूप वह दैवी तत्व देवता और अगम्य विभूतियों से मनुष्य को वंचित करता चला जाता है।

मस्तिष्क नियन्त्रण प्रयोगों द्वारा डाक्टर जी० जे० जेल्गार्डो ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि मस्तिष्क के १० अरब न्यूरोन्स के विस्तृत अध्ययन और नियन्त्रण से न केवल प्राणधारी के भूख-प्यास कामवासना आदि पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है वरन किसी के मन की बात अज्ञातरूप से जान लेना बिना बेतार के तार की तरह सन्देश और प्रेरणायें भेजकर कोई भी कार्य करा लेना भी सम्भव है। मस्तिष्क से शरीर और शरीर से मस्तिष्क में सन्देश लाने ले जाने वाले बहुत से सूक्ष्मकोषों (सैलों) को न्यूरोन कहते हैं। इनमें से अतिसूक्ष्म पतले श्वेत धागे से निकले होते हैं। इन धागों से ही इन कोषों का परस्पर सम्बन्ध और मस्तिष्क में जाल सा बिछा हुआ है। यह कोष जहां शरीर के अङ्गों से सम्बन्ध रखते हैं वहां उन्हें ऊर्ध्वगामी बना लेने से प्रत्येक कोषाणु सृष्टि के १० अरब नक्षत्रों के प्रतिदिन का काम कर लेते हैं। इस प्रकार मस्तिष्क को गृह नक्षत्रों का जगमगाता हुआ एक यंत्र कहते हैं। योगी इन्हीं क्रिया कलापों से नक्षत्रों को प्रत्यक्ष कर लेता है। इसी शिरो गुहा में उपासना द्वारा आज्ञाचक्र में सूर्य को बैठाया जाता है। यह एक साधारण सी विधि है जो प्रारम्भिक है। जब तुला नक्षत्रमें सूर्य रहते हैं न अधिक गर्मी होती है और न अधिक शीत होता है। ऐसा कार्तिक पूर्णिमा के बाद होता है। किसी समय में भारतवर्ष भर में यह उत्सव का दिन माना जाता था। अभी भी विशेषकर के बिहार तथा आसपास के प्रांतों में स्त्रियां सूर्य षष्ठी व्रत बड़ी पवित्रता से मनाती हैं। आज भी यह व्रत किया जाता है। अब केवल व्रतमात्र ही रह गया। किसी समय भारतवर्ष में आज्ञाचक्र की सिद्धि के निमित्त ही यह प्रारम्भ किया गया होगा। प्रतिपदा से लेकर सप्तमी पर्यन्त सूर्योदय से पहले पूर्वाभिमुख सूर्य उदय होने की प्रतीक्षा में योगी को बैठ जाना चाहिए। ऐसा नित्य सात दिन तक करना चाहिए। यदि कार्य न हो तो निरन्तर कुछ दिन और चलता रहे, प्रायः कार्य हो ही जाता है। पूर्वाभिमुख बैठा हुआ योगी उदीयमान सूर्य को चर्मचक्षु द्वारा देखे। बाद में उसी सूर्य को चर्मचक्षु बन्द कर आज्ञाचक्र में देखने का प्रयास करे। ऐसा ५-१० मिनट नित्य करना चाहिए। लेखक को तो सात दिन में आज्ञाचक्र में सूर्य के दर्शन हो गये थे। बाद में क्रमशः अन्य वस्तुओं का भी दर्शन होता रहता है। इस प्रकार तृतीय नेत्र खुल जाता है। यह कार्य संयम एवं चित्तवृत्तियों को ठीक करके ही करना चाहिए।

चींटियों, मक्खियों, पशुओं और मनुष्यों सभी की अपनी-अपनी आखें होती हैं। सभी अपनी आखों से ही देखते हैं एवं सबों को अपनी अपनी आखें ही प्रमाण हैं।

★ वैद्य प्रमोद आनन्द तिवारी एवं श्री सहजानन्द तिवारी ★

इनमें से कोई भी दूसरे की आंखों को प्रकृति के नियमानुसार प्रमाण मानने के लिए तैयार नहीं हैं। फिर भी इन सबकी दृष्टि में बड़ा भारी अन्तर है। चींटी जितना जगत देखती है और जिस प्रकार से देखती है वह बहुत सीमित है। शेष जगत उसके लिए होते हुए भी अदृश्य है। मक्खी की दृष्टि निःसंदेह चींटी की दृष्टि की अपेक्षा उदार है। उसकी दृष्टि से भी अधिक उदार पशु की दृष्टि है। फिर भी वे सभी दृष्टियां सीमित हैं। चींटी की अपेक्षा जगत का अधिक भाग देखने पर भी और दृष्टि प्रकार अधिक उदार होने पर भी उसका दृश्य जगत बहुत सीमित है। शेष जगत उसके लिए अदृश्य है। स्थूल देहधारी प्राणियों में मनुष्य की दृष्टि सबसे अधिक उदार है एवं मनुष्य अन्य स्थूल देहधारी प्राणियों से जगत का अधिक भाग देख सकता है और उसकी दृष्टि का प्रकार भी अधिक उदार है। फिर भी उसकी दृष्टि शास्त्र दृष्टि की अपेक्षा बहुत ही सीमित है। जितना वह देख सकता है उतना ही उसका दृश्य जगत है। शेष जगत उसके लिए भी अदृश्य है। अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य की दृष्टि ही पूर्ण है। मनुष्य जो देखता है उसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र तथा दूरवीक्षण यन्त्र द्वारा उसे बहुत सी ऐसी वस्तुओं का ज्ञान होता है जिसे उसकी स्वाभाविक दृष्टि नहीं देख सकती थी और जिनसे वह पूर्णतया अपरिचित था। जितना ही अधिक शक्तिशाली सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र अथवा दूरवीक्षण यन्त्र होता है उतना ही उसे सूक्ष्म जगत और जगत के विस्तार का ज्ञान अधिक होता है। अतः प्रेक्षावान के यह मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि जितना भाग जगत का हम स्वाभाविक दृष्टि से देखते हैं उससे कहीं अधिक जगत को हम स्वाभाविक दृष्टि से देखते हैं, उससे कहीं अधिक जगत् का विस्तार है। एक बहुत बड़ा सूक्ष्म जगत हम लोगों के चारों ओर विद्यमान है जिससे हम लोग बहुत ही अपरिचित हैं और वही हमारे लिए अदृश्य जगत है। वेदादि शास्त्रों के देखने से मालूम होता है कि जगत की सूक्ष्मता का तार-तम्य इतना अधिक है कि उसे भौतिक दृष्टि, चाहे वह जितनी बड़ी शक्तिशाली दूरवीक्षण और सूक्ष्मवीक्षण यन्त्रों से अर्जित क्यों न हो, किन्तु जगत के सूक्ष्मतम भाग को नहीं देख सकती। उसके लिए उसे योगज दृष्टि की आवश्यकता पड़ती है। यह योगज दृष्टि किस प्रकार से उत्पन्न होती है इसके विधान योगशास्त्र में दिये गये हैं। जिन्हें इन बातों की सच्ची लगन हो, वे स्वयं अनुभव कर सकते हैं। अपरिचित स्थान में प्रवेश करने के लिए उसकी जानकारी के निमित्त उस स्थान के मानचित्र की आवश्यकता होती है। अतः योगशास्त्र में इन विषयों का संक्षिप्त मानचित्र भी दिया गया है जिसका विस्तार पुराणों में मिलता है। जब योगी को तदनुसार सब कुछ दिखाई पड़ने लगे तब उसे समझना चाहिए कि ठीक योगज दृष्टि प्राप्त हो गयी। ध्यान, धारणा और समाधि को संयम कहते हैं। चन्द्र में संयम करने से तारा व्यूह का ज्ञान होता है। ध्रुव में संयम करने से उसकी गति का ज्ञान होता है। सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है। अतः जो भुवन ज्ञान शास्त्रों में लिखा है उसे सूर्य में संयम करने वाला ही प्रत्यक्ष कर सकता है। शास्त्रों में वर्णित तथ्यों को पढ़कर यदि हम उसे असम्भव कह दें, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। कैलाश पर्वत की ऊंचाई यदि चींटी के मन में न आये और वह उसे महान असम्भव बतलाये तो कैलाश पर्वत के अस्तित्व में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता है। अतः यह बात सुनिर्विवाद है कि मनुष्य के दृश्य जगत से अदृश्य जगत अत्यन्त विस्तीर्ण है और इन दोनों में मेरु-सर्षप सा अन्तर है।

अतः योग के बारे में जानने के लिए योग सम्बन्धी ग्रन्थों के अलावा पुराण का भी अध्ययन आवश्यक है और विज्ञ योगियों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान तथा योगज दृष्टि का होना नितान्त आवश्यक है तब ही योगी सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष कर सकता है।

—वैद्य श्री प्रमोद आनन्द तिवारी एवं
श्री सहजानन्द तिवारी
जी०ए०एम०एस०, एम०ए०एम०एस० पीएच०डी०
सांख्ययोगाचार्य, व्याख्याता, रसशास्त्र एवं भै० क०,
आयुर्वेद महाविद्यालय, सं. सं. वि. वि., वाराणसी।

वातदोष मीमांसा

वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिष०

वात-पित्त और कफ शरीर की उत्पत्ति और स्थिति के कारण हैं। ये तीनों शरीर के आधार-स्तम्भ हैं। जैसे कोई गृह तीन स्थूलों पर अवलम्बित रहता है, उसी प्रकार शरीर इन तीनों के सहारे टिका हुआ है। पंच-महाभूत निर्मित जगत में पाञ्चभौतिक वायु, सूर्य एवं चन्द्रमा विशेष प्रभावशाली हैं। इसी प्रकार शारीर सृष्टि में भी पाञ्चभौतिक वात-पित्त-कफ शरीर का संचालन करते हैं। सुतरां सजीव देह के कार्यकारी मौलिक तत्त्व त्रिदोष कहे जाते हैं। ये सूक्ष्म नियामक तत्त्व अपनी सूक्ष्मता के कारण प्राकृत स्थिति में शरीर से पृथक् नहीं किये जा सकते हैं और न उनका प्रत्यक्ष ही हो सकता है।

आयुर्वेद प्रासाद जिन चार सिद्धान्त-भित्तियों से बना है वे हैं—

१. त्रिगुण सिद्धान्त २. पंचभूत सिद्धान्त

३. त्रिदोष सिद्धान्त ४. षड्रस सिद्धान्त

इनमें त्रिदोष सिद्धान्त को प्राधान्य प्राप्त है। त्रिदोष के साथ भूतों का और भूतों के साथ त्रिगुण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्'—कहा गया है। आयुर्वेदीय समस्त प्रकृति विकृति विज्ञान का मूल दोष धातु मल ही है। दोष प्रेरक तथा धातु मल प्रेरणा-माध्यम हैं। धातु एवं मल रूपता का भी दोष, निर्वाह करने पर इनकी प्रधानता है। अथवा यह कहा जा सकता है कि शरीर की सर्वविध क्रिया इन दोषों द्वारा ही संपादित होती हैं।

१. शरीर की उत्पत्ति, पुष्टि और सर्वदा होने वाली क्षति की पूर्ति का कार्य कफ द्वारा संपादित होता है।

२. उक्त सामग्री को शरीर के अनुकूल बनाने के लिये उसमें यथायोग्य परिवर्तन का कार्य पित्त द्वारा संपादित होता है।

३. उक्त दोनों दोषों के प्रमाण तथा उनके कार्य का नियन्त्रण एवं संचालन वात द्वारा संपादित होता है।

> चेष्टा चेतनायोस्तनो तनु भृतां धाता तु वायुः स्मृतः।
> यत्तापं परितो दधात्यविरतं देहे हि पित्तं तु तत्॥
> यश्चाश्लिष्य वपुः सदा रमयति प्रीणनि सो यः कफ।
> चेत्येते प्रकृति स्थितैरविरताः देहं हि सन्धार्यते॥
> —चिकित्सा कलिका १६

निदान प्रकरण में भी इन दोषों को रोगों का प्रत्यासन्न हेतु कहा गया है। स्वयं दूषित होकर तथा धातुओं और मलों को दूषित कर रोगोत्पत्ति ये दोष ही करते हैं। सुतरां इनकी दोष संज्ञा की गई है।

> प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्।
> —विजय रक्षित

तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणो दुष्टा दूषयितारो भवन्ति, दोषस्वभावात्। —चरक सं.शा.स्था. ६:१८

तेषामिति पुरीषादीनां रसादीनां च। दुष्टा इति स्वहेतूपचिताः, क्षीणास्तु नात्यर्थदुष्टिं दोषाः कुर्वन्तीति प्रतिपादितमेव। —चक्रपाणि दत्त।

> इन तीन दोषों में वायु की प्रधानता है क्योंकि—
> वायु से ही प्रेरित होकर घन ज्यों जल बरसाते हैं।
> दोष धातु मल सदा प्रेरणा वायु से यों पाते हैं॥
> पंगु सदृश रहते हैं माने वायु इन्हें गति देता है।
> इसीलिए 'गोपेश' वायु ही प्रभु है इनका नेता है॥

'वा' गति गन्धनयोः धातु में से वात या वायु शब्द की निष्पत्ति होती है। शरीर को गति, ज्ञान, प्रवृत्ति तथा उत्साह को सम्पन्न करने वाला द्रव्य वात है। शरीर में

इसकी स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण होने से ही इसे ईश्वर, नाथ, प्रभु नेता आदि शब्दों से अलंकृत किया गया है। इस विशेषांक का किंवा इस लेख का वर्णनीय विषय भी वातदोष ही है। सुतरां इस का विस्तृत विवेचन अपेक्षित है। इस दोष की प्रधानता में निम्नांकित कारण हैं—

१. विभुत्वात्—शरीर के यावन्मात्र सूक्ष्म स्रोतों में भी वायु की गति होने से यह विभु कहा गया है। चलन प्रधान होने से सर्वत्र गति कर सकने के कारण ही तो 'सर्वा हि चेष्टा वातेन' कहा गया है।

२. आशुकारित्वात्—महर्षि सुश्रुत ने संचय प्रकोपादि ६ क्रियाकाल निर्दिष्ट किये हैं। अन्य दोषों की अपेक्षा वायु शीघ्र ही उत्तर अवस्था को प्राप्त कर रोगाभिव्यक्ति में समर्थ होता है।

३. बलित्वात्—तन्त्रयन्त्रधरः, नानाविध चेष्टा प्रवर्तक और आयुषो अनुवृत्ति प्रत्ययभूत आदि महत्वपूर्ण कार्यों के करने के कारण ही वायु को अचिन्त्यवीर्य कहा गया है। किसी भी दोष को उसके प्राकृत या विकृत स्थान पर ले जाने का कार्य भी इस बली वायु द्वारा ही सम्पादित होता है।

४. अन्यकोपनात्—अपने लघुत्व, सूक्ष्मत्व एवं आशुकारी गुणों से वायु अन्य पंगु तुल्य दोषों को भी प्रकुपित करने में प्रेरणा देता है। लीन हुए दोषों को भी अपना पूर्ण समर्थन देकर उन्हें रोगोत्पत्ति हेतु तैयार करता है। अन्य दोषों के आवरण निर्माण में भी वायु अपना योगदान देता रहता है। सुतरां प्रायः सभी रोगों में प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से वायु ही उत्तरदायी बनता है—'दोषत्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः'।

५. स्वातन्त्र्यात्—वायु अन्य दोषादि को अभिभूत करता ही है अन्य किसी से अभिभूत होता नहीं है। यह नेता एवं नियन्ता होने से मानस पर भी प्रभाव डालता है 'मनोनायस्तु मारुतः' कहकर इसकी महत्ता प्रकट की गई है।

६. बहुरोगत्वात्—शाखागत, कोष्ठगत, मर्मगत, सर्वांगत तथा सम्पूर्ण अवयव-अङ्गों में होने वाले रोगों का कारण वायु ही है। तभी तो कहा है—'तेनैव रोगा जायन्ते।' इन रोगों की गणना करना अशक्य है। जो ८० प्रकार के वात रोग कहे गये हैं वे तो मुख्य प्रसिद्ध रोग हैं। इन नानात्मज वात विकारों के विषय में भगवान् चरक ने कहा है—

इत्यशीतिर्वातविकारा वातविकाराणाम परिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः। —चरक सू० २०।११

चिकित्सा में भी वायु को प्राथमिकता देना अनिवार्य है—'तेनैव रोगाः जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते'। सुतरां वातशमनात्मक प्रमुख उपक्रम बस्ति को चिकित्सार्ध किंवा सर्व चिकित्सा कहना वायु को प्राथमिकता देने का द्योतक है। इसी तथ्य को गुल्म प्रकरण में भगवान् चरक ने स्पष्टतया व्यक्त किया है—

यथोल्बणस्य दोषस्य तत्र कार्यं भिषग्जितम्।
आदावन्ते च मध्ये च मारुतं परिरक्षता॥
—चरक चि० ५।२८

सान्निपातिक विकारों में उल्बणता को ध्यान में रख कर उपचार किया जाता है फिर भी प्रायः सभी व्याधियों में वायु को ही पूर्व में जीतने की चेष्टा करने का उद्बोधन आचार्यों ने किया है।

जीवित शरीर का सर्व प्रथम लक्षण चेष्टा है। चेष्टा का ही नाम प्राण है। यह गति वायु द्वारा ही संपादित होने से वायु को ही 'स प्राणः प्राणिनामतः' कहकर इसका महत्त्व प्रकट किया गया है।

वायु का स्वरूप—

तत्र रौक्ष्यं शैत्यं लाघवं वैशद्यं गतिरमूर्तत्वमनवस्थितत्वं चेति वायोरात्मरूपाणि। —चरक सू० २

वायोरिदमात्मरूपं स्वरूपम्। —चक्रपाणिदत्त

वायु के रूप का ज्ञान उक्त शरीरस्थ भावों से हमें हो सकता है। वात अपने आप उक्त गुणयुक्त होने से गुण-गुणी का अभेद रूप होता है सुतरां यह तद्रूप है। व्याख्याकार शिवदास सेन ने यहां पर पूर्व पक्ष स्थापित किया है कि—'ननु वायुरदृश्यत्वेन तत्र रौक्ष्यादयो गुणास्तथा वक्ष्यमाणस्रंसादीनि च कर्माणि प्रत्यक्षेण नोपलभ्यते, तत् कथमेतानि वायोरात्मरूपाणि?'। इसके उत्तर में कहा गया है कि—यद्यपि वायु व्यक्त

नहीं होता किन्तु व्यक्तकर्मा है। तज्जन्य विकृतियों के आधार पर वायु के स्वरूप का निर्धारण किया गया है। 'अव्यक्तो व्यक्तकर्मा' का अर्थ मात्र प्रत्यक्ष के अयोग्य ही नहीं अपितु सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतों में जाने योग्य भी अभिप्रेत है। जो द्रव्य सूक्ष्म होने से प्रत्यक्ष नहीं होता तो उसका अभाव सिद्ध नहीं होता है। वैशेषिक और न्याय दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष के लिए द्रव्य का रूपवान होना भी आवश्यक कहा गया है और वायु रूपवान् नहीं है, सुतरां इसका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। 'त्रिदोषविज्ञानम्' नामक ग्रन्थ के लेखक सांख्य सागर कविराज श्री उपेन्द्र नाथ दास भिषगाचार्य ने जो मन्तव्य प्रकट किया है वह भी उल्लेखनीय है कि—'दोष यदि परमाणुवत् अति सूक्ष्म कहे गये तो उनके गुणों का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता अतः वायु महत् परिमाण है। यहां महत् का अभिप्राय: आत्मादिवत् परममहत्परिमाण नहीं है किन्तु अणुत्व का अभाव ही महत् शब्द से समझना चाहिए क्योंकि जन्य (उत्पत्तिशील) पदार्थ व्यापक कभी नहीं हो सकता। अतएव वात परमाणु और द्व्यणुक के समान अणु परिमाण भी नहीं है और आत्मादिवत् सर्व व्यापक भी नहीं है किन्तु मध्यम परिमाण विशिष्ट है।'

वायु के गुण—

आयुर्वेद में ४१ गुणों का वर्णन है। अध्यात्म गुण—५, आत्म गुण—६, शारीरिक गुण—२०, परादि गुण—१० = ४१। इनमें २० शारीरिक गुणों के आधार पर त्रिदोष, रस आदि का वर्णन किया गया है।

तीनों दोष पांचभौतिक होते हुए भी इनमें किसी *महाभूत की प्रधानता होती है। वायु दोष में वात तथा* आकाश महाभूत की प्रधानता होने से शब्द तथा स्पर्श वायु के नैसर्गिक गुण कहे गये हैं। अतएव महर्षि सुश्रुत ने वायु को 'द्विगुण' (शब्दस्पर्शगुणः) कहा है। यह त्रिगुणात्मक होते हुए भी रजो बहुल है। महामहोपाध्याय स्व० श्री गणनाथ सेन जी ने सुश्रुत के 'द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च' की व्याख्या में कहा है—

द्विगुण इति सत्त्वतमः सम्पृक्तः, तेन तेजसस्य सत्त्वगुणस्य सम्पर्काद्रूक्षणः, सौम्यस्य तमोगुणस्य सम्पर्काच्छीतश्च, स्वयं तु स्वभावाद्रजोगुण भूयिष्ठ इत्यभिप्रायः। तत्र सत्त्व बहुलमाकाशम् रजो बहुलो वायुः' के आधार पर उपर्युक्त तथ्य प्रकट किया गया है। उक्त महाभूत दोष के उपादान कारण हैं।

प्रकृति का प्रकृतिजनक या प्रेरक अंश, नित्यगतिमय एवं संयोगकारक भाव रज है। वायु में क्रियाशीलता इस रज द्वारा ही आती है। कर्मण्यता, वाग्मिता, स्फूर्ति, प्राणशक्ति आदि इस क्रियाशीलता के द्योतक हैं। भगवान बादरायण ने वायु के निम्नाङ्कित गुण व्यक्त किये हैं—

वायोरनियतस्पर्शो वादस्थानं स्वतन्त्रता।
बलं शैघ्र्यं च मोक्षं च कर्म चेष्टाऽऽत्मकताभवः॥
—महाभारत शान्ति २५५।६

पंच महाभूतों के गुण निम्नाङ्कित व्यक्त किये गये हैं—

वायु	आकाश	जल	अग्नि	पृथ्वी
१. रूक्ष	१. श्लक्ष्ण	१ द्रव	१. उष्ण	१. गुरु
२. लघु	२. विभक्त	२. स्निग्ध	२. तीक्ष्ण	२. कठिन
३. शीत		३. पिच्छिल	३. रूक्ष	३. सान्द्र
४. खर		४. स्तिमित		४. स्थूल
५. सूक्ष्म		५. सर		
६. चल				
७. विशद				

उपर्युक्त वायु के भौतिक गुण ही भगवान चरक ने व्यक्त किये हैं—

रूक्ष शीतो लघु सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः। —चरक सू० १।५९

★ वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' ★

रूक्षादीनां ज्यायस्त्वादभिधानं, तेन दारुणादयोऽपि गुणाः बोद्धव्या । —चक्रपाणिदत्त

१. रूक्ष—स्निग्ध के विपरीत गुण को रूक्ष कहा गया है । हेमाद्रि के अनुसार जिससे अवयवों में शोष होता है वह रूक्ष गुण है । स्निग्ध-गुण के ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय से होता है । स्पर्श से जो रूखापन मालूम होता है वह रूक्ष गुण है । वायु में यह रूक्षता स्निग्धता-कारक जल की अल्पता के कारण है । भगवान चरक ने "द्रव्यानि-रूक्ष गुण बहुलानि अग्नि यानि वायव्यानि" कह कर रूक्षगुण को वायु एवं अग्नि का माना है । जहां रूक्ष गुण शीत गुण के साथ हो उसे वायव्य तथा जहां रूक्ष गुण उष्ण गुण के साथ हो वहां आग्नेय मानना चाहिए ।

२. शीत—वैशेषिक दर्शनानुसार शीत स्पर्शानुमेय है । दर्शन में यद्यपि वायु को अनुष्णाशीत कहा गया है किन्तु शीत से वायु की वृद्धि और उष्ण से वायु की शांति को प्रत्यक्ष देख कर इसमे शीत गुण माना गया है । ताप को कम कर शरीर में शीतता क्रिया संपादित करने के कारण इसे शीत कहा गया है । इस गुण से निम्नाङ्कित कार्मुक परिणाम होते है—आल्हादन, स्तम्भन, मूर्च्छा-तृषा स्वेद-दाह शमन । हेमाद्रि ने 'स्तम्भने हिमः' कहा है । स्तम्भन का लौकिक अर्थ जकडाहट है । वातज्वरादि में उष्ण सेवन की इच्छा से भी यह सिद्ध होता है कि वायु शीत है । वायु का यह शीत गुण स्वाभाविक होते हुये भी नियत नही है क्योंकि वायु योगवाही है । यह पित्त के संयोग से दाहकृत तथा कफ के संयोग से शीतकृत होने के कारण परं योगवाह: कहा गया है । "शीत इति असंयुक्तस्य वायोर्गुणोऽयम्" । —डल्हण

३. लघु—गुरु के विपरीत गुण को लघु कहा गया है । गुरु पदार्थों के सेवन से वायु के लघु गुण में न्यूनता आने से यह जाना जाता है कि वायु में लघु गुण है । व्याख्याकार हेमाद्रि ने "लंघने लघुः" कहा है अर्थात् जो शरीर मे हल्कापन उत्पन्न करे । उत्साह-स्फूर्ति आदि वायु के कार्मुक परिणाम इस लघु गुण के कारण ही प्रकट होते है ।

४. सूक्ष्म—सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतों में पहुँच जाने के कारण वायु को सूक्ष्म कहा गया है । शरीरस्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतों में पोषक तत्व वायु के ही द्वारा पहुँचता है । भगवान चरक ने यह सूक्ष्म गुण आकाश तत्व के द्वारा माना है किन्तु महर्षि सुश्रुत ने इस गुण को तैजस कहा है । सूक्ष्म गुण युक्त विष किंवा मद्य से शरीर में वात वृद्धि होती है सुतरां वायु में भी सूक्ष्म गुण सिद्ध होता है । दोषों के प्रसाद और मल भेद से दो भेद किये गये हैं । पुनश्च प्रसाद के सूक्ष्म-स्थूल दो भेद किये गये हैं । पित्त एवं कफ सूक्ष्म एवं स्थूल भेद से द्विविध है किन्तु वायु सदैव सूक्ष्म है—"तत्र वायुः सदा सूक्ष्मः" । श्रीयुत महामहोपाध्याय जी ने स्पष्ट किया है—

"तत्र तेषां मध्ये वायुः सदा सर्वावस्थासु सूक्ष्मः, अप्रत्यक्षतो विद्युत् प्रवाहवद् अचिन्त्यातीन्द्रियशक्तिकः क्रियामात्रानुमेयश्च ।"

५. चल—'वा' गति गन्धनयोः धातु से बना वात शब्द स्वतः प्रवर्तक वाचक है । यह गत्यर्थक चल गुण वायु का सर्वाधिक महत्वयुक्त गुण है । हेमाद्रि ने "प्रेरणे चलः" कहा है । इस प्रेरणा के कारण ही इस गुण को प्रमुख गुण कहा गया है—

अयमेव गुणो वायोः प्रधानः परिगण्यते ।

इस गुण के कारण ही शरीर के बहुविधि क्रिया कलापों का प्रवर्तक वायु बनता है ।

६. विशद—यह आकाशीय गुण है । पिच्छिल के विपरीत गुण को विशद कहा जाता है । पिच्छिलता जल का गुण है और वायु में जल की न्यूनता से पिच्छिलता का अभाव होता है अर्थात् विशद गुण विद्यमान रहता है ।

अन्य दर्शनों में विशद को गुण नहीं माना गया है । हेमाद्रि ने क्षालने विशदः कहा है । इस गुण के कारण ही वायु मलों को बाहर निकाल कर शरीर को शुद्ध बनाता है ।

७. खर—पाञ्चभौतिक वायु में जल की अल्पता से खर गुण रहता है । रूक्षगुण के अतिरेक को ही खर कहा जाता है । यह स्पर्श ग्राह्य है जिसे लोक में खुरदरा कहा

जाता है। हेमाद्रि ने 'लेखने खरः' कहा है। महर्षि सुश्रुत ने खर के स्थान पर कार्कश का प्रयोग किया है जो प्रायः समान अर्थ रखता है। भगवान चरक ने यह खर पार्थिव माना है जबकि महर्षि सुश्रुत ने आग्नेय। खर गुण भी क्लेदाचूषक अवश्य है। खरस्पर्शः, कर्कोटकफलवत्"

—डल्हण।

८. दारुण—वात कलाकलीय अध्याय में कुश सांस्कृत्यायन ने सूक्ष्म-जल के स्थान पर दारुण को वातगुण कहा है। इस पर चक्रपाणिदत्त ने कहा है कि दारुणत्वं चलत्वं चलत्वात ×× यदि वा, दारुणत्वं शोषणत्वात् काठिन्यं करोतीति। यद्यपि दारूण पृथक गुण से उत्पन्न कर्म है किन्तु कभी भी यह प्रमुखता को प्राप्त कर लेता है सुतरां इसका उल्लेख किया गया है।

इनके अतिरिक्त तिर्यग्ग (तिर्यक् गति वाला) आशुकारी, मुहुश्चारी, असंधात, दोषों का नेता, रोग समूहराट् तथा अचिन्त्यवीर्य वायु को कहा गया है। शीघ्र विकार करने के कारण आशुकारी, प्रकृतिभूत रहता हुआ बार बार विचरण करने के कारण मुहुश्चारी, दोष धातु मल का प्रेरक होने से नेता, रोग समूह कारणों में प्रमुख होने से रोग समूहराट् तथा अचिन्त्य शक्ति वाला होने से अचिन्त्यवीर्य कहा गया है।

वायु के कर्म—

१. तन्त्रयन्त्र धारणम्—जिन संचालक वातसूत्रों से हस्तपादादि अवयव तन्त्रित (संचालित) होते हैं, इस प्रकार इन तन्त्र यन्त्र को धारण करने का कार्य वायु द्वारा होता है। इन्हें कार्य क्षम करने में वायु ही कारण बनता है।

२. नानाविधचेष्टा प्रवर्तनम्—"सर्वा हि चेष्टा वातेन" के अनुसार शरीर की सम्पूर्ण कियाओंका प्रवर्तक यह वायु ही है। संचालक वातसूत्रों का प्रवर्तन वायु द्वारा ही संपादित होता है।

३. मनोनियमनम्, मनःप्रेरणम्—शरीर एवं मन का एक दूसरे पर प्रभाव होता रहता है। इसे "अन्योन्यानुविधान" कहा जाता है सुतरां मानसिक व्यापारों में भी शरीरस्थ दोष उत्तरदायी है। जो वायु मन का प्रेरण करता है वही नियमन भी करता है। अतएव योग को स्वीकार करने वाले मन को वायु से भिन्न नहीं मानते हैं। गीता में अर्जुन भी भगवान कृष्ण को "मन वायु की भांति दुष्कर है" कहकर समाधान चाहता है।

इन्द्रियों का नाथ मन को एवं मन का नाथ वायु को कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर चेष्टाओं की भांति मानस चेष्टाओं में भी वायु ही कारण भूत है। इसी प्रकार योग साधना द्वारा मन वशीकरण के प्रयास इस वायु के निग्रह द्वारा ही सम्पन्न होते हैं।

इस प्रकार केवल मन का ही नहीं अपितु सर्व इन्द्रियों का प्रेरण भी वायु द्वारा ही संभव है।

४. सर्वेन्द्रियार्थाभिवहनम्—जब श्रोत्रादि इन्द्रियों के साथ उनके विषय शब्दादि का सन्निकर्ष होता है तब उन विषयों को ज्ञानकेन्द्र तक वहन करके ले जाने वाला वायु ही है।

५. सर्वधातुव्यूहनम्—सम्पूर्ण शरीरस्थ धातुओं की यथास्थान स्थिति बनाने में वायु ही कारण बनता है। वायु द्वारा यथायोग्य स्थान में अवस्थापित होकर अति मृदु धातु भी आघात को सहन करने योग्य बन जाते हैं जीवन की पञ्च भूतात्मकता को प्रकट करते हुए का[illegible] संहिताकार ने भी कहा है—

'स्पर्शश्च प्रेरणं च धातुव्यूहनं च वाय्वात्मकानि।'

६. शरीर संधानम्—एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य संयोग को सन्धान कहा गया है। यद्यपि सन्धान रूप का[illegible] कफ का है किन्तु वायु ही संयोग में प्रेरक बनता है। [illegible] स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचता है। यहां तक [illegible] भोजन को भी आगे की ओर बढ़ाने में वायु ही का[illegible] बनता है।

७. वाक्प्रवर्तनम्—वायु उरःस्थल में घूमता हुआ ऊर्ध्वगति से मूर्धा स्थान में टकराकर मुख में आता है एवं वाक् के स्थानों के सम्पर्क में आकर वाक् प्रकट करता है। वायु की दुष्टि से स्वरयन्त्र भी विकृति-ग्रस्त हो जाता है तब वाक् की स्वाभाविकता में भी परिवर्तन हो जाता है।

८. हर्षोत्साहजननम्—हर्ष एवं उत्साह का कार[illegible]

वात सूत्रों की उत्तेजना है अतः इनका उत्पत्ति कारण वायु ही है। हर्षः उत्सेकः, निर्निमित्तमनसः दोषोत्पादनेनात्मनः प्रीति जननं वा हर्षः। उत्साहः—कर्मारम्भप्रदो रजोगुण प्रभवो मानस व्यापारः।

९. अग्निसंधुक्षणम्—शरीर के सभी तापोत्पादक हेतुओं, प्रणाली विहीन ग्रन्थियों के स्रावों तथा आहार पर अन्य प्रभाव डालने वाले स्रावों का प्रेरक वायु ही होने से अग्निसंधुक्षणात्मक कार्य वायु द्वारा ही सम्पादित होता है। वायु का प्रेरण ही अग्नि के कार्यों को सम या विषम रूप में व्यक्त करता है। वायु केवल जठराग्नि संधुक्षण ही नहीं करता, अपितु धात्वाग्नि एवं भौतिकाग्नि को भी प्रभावित करता है। 'समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य' (कुमारसम्भव)।

१०. शरीर क्लेद शोषणम्—जैसे गीले कपड़ों से जलीय कणों को हटाकर वायु कपड़ों को सुखा देता है उसी प्रकार दोषों में स्थित किंवा शरीरस्थ क्लेद को भी वायु सुखा देता है।

११. मल क्षेपणम्—महर्षि सुश्रुत ने विक्षेप वायु का प्रधान कर्म कहा है। विसर्गादानविक्षेपैः × × कफपित्तानिलास्तथा (सू० २१।८) में कफ पित्त एवं वायु के प्रमुख कार्य विसर्ग (देना), आदान (लेना) तथा विक्षेप (फेंकना) कहा है।

वायु ही शरीर में उत्पन्न हुए अनावश्यक पदार्थों को बाहर फेंकने में कारण बनता है। अर्थात् वायु सर्वविध मलों को बाहर फेंकता है। मल शब्द यहां उपलक्षण मात्र है। इससे गर्भ एवं शुक्र आदि भी वायु द्वारा ही बाहर फेंके जाते हैं।

१२. स्थूलाणु स्रोतो भेदनम्—स्थूल-सूक्ष्म स्रोतों का भेदन वायु द्वारा ही होता है। वायु के प्रधमन द्वारा ही स्रोतस बनते हैं। यह महर्षि सुश्रुत ने व्यक्त किया है—

उष्मणा संहितश्चापि दारयत्यस्य मारुतः।
ऊर्ध्वं तिर्यगधस्ताच्च स्रोतांस्यपि यथा तथा॥

—सुश्रुत शा० ४।५८

१३. गर्भाकृति निर्माणम्—यद्यपि गर्भ की परिवृद्धि मारुताध्मान निमित्ता तथा रसनिमित्ता भेद से द्विविध होती है किन्तु गर्भाकृति निर्माण तो मुख्यतः वात द्वारा ही होता है।

१४. आयुषोऽनुवर्तनम्—शरीरस्थ सब अवयवों का सम्यक् रूपेण संचालन होने से तथा प्रत्येक कोषाणु को उसका आहार पहुँचाने से आयु का अनुवर्तन (लगातार जीवन) होता रहता है और इस अनुवृत्ति में वायु ही कारण होता है तब ही तो 'स प्राणः प्राणिनामनः' कहा गया है।

वायु को बहुकर्मा कहा गया है अतः समासतः वातकृत चेष्टाओं को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

उत्साहोच्छ्वासनिःश्वास चेष्टा धातुगतिः समा।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम्॥

—च०सू० १८।४९

उत्साह—कार्य आरम्भ करने की उमङ्ग, उच्छ्वास—बाह्य वायु को ग्रहण करना, निःश्वास—गृहीत श्वास वायु को छोड़ना, चेष्टा—भाषणादानगमनादि आक्रुत चेष्टा, समधातुगति—रसादि का यथायथा स्थान पर पहुँचाना, गतिमतां समो मोक्ष—बाहर निकलने वाले पुरीषादि का स्वभावानुकूल त्याग आदि रजो गुणात्मक प्रवृत्तिधर्म वाले वायु के प्राकृत कर्म संक्षेप में कहे गये हैं।

भगवान् धन्वन्तरि ने भी शिष्य श्री सुश्रुत को उपदेश दिया—

देहे विचरयस्त लक्षणानि निबोधम्।
दोषधात्वग्निसततां संप्राप्ति विषयेषु च।
क्रियाणामानुलोम्यं च करोत्य कुपितोऽनिलः॥

वात के प्रकार—आयुर्वेद में वात के पांच भेद किये गये हैं। १. प्राण, २. उदान, ३. समान, ४. व्यान, ५. अपान। इसके अतिरिक्त योगियों ने नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय आदि पांच भेद और किये हैं। यहां पर पूर्व के पांच भेद ही मान्यता के आधार पर वर्णित हैं—

१. प्राण—विष्णुपदामृत (आक्सीजन) नामक बाहरी वायु नासिका मुख द्वारा शरीर में प्रविष्ट होकर फुफ्फुसों में जाता है फिर वहां से रक्त के साथ हृदय में एवं सम्पूर्ण शरीर में सञ्चार करता है। प्रत्येक कोषाणु को जीवित रहने के लिये इस प्राणवायु की आवश्यकता होती है। यह

रक्त के माध्यम से प्रत्येक कोषाणु के पास पहुँचती है इसलिए इसे 'देहधृक्' कहा गया है। इस वायु की सहायता से ही अन्न निगला जाता है। उक्त विष्णुपदामृत हृदय के अन्दर विशिष्ट रूपेण प्राणों का अनिलम्बन करने के कारण इसके लिए 'प्राणांश्चाप्यनलम्बते' कहा गया है। 'प्राणांश्चाप्यनलम्बत इति प्राणानग्यादीन् अवलम्बते स्वक्रियासु योजयति'—ऐसा डल्हण ने स्पष्ट किया है जिसका तात्पर्य वही होता है। अमरकोषकार एवं वृद्ध वाग्भट ने इसका मुख्य स्थान वक्त्र के स्थान पर हृदय माना है। इसी आधार पर प्राण का मुख्य कार्य आचार्य रामरक्ष पाठक ने 'प्रस्पन्दन' माना है। हृदय फुफ्फुस का प्रस्पन्दन (आकुंचन-प्रसारण) इसी प्राण द्वारा संपादित होता है इसलिए इसका प्रधान कार्य प्रस्पन्दन को माना गया है। इसकी विकृति होने पर भी प्रायः हृदय फुफ्फुसगत व्याधियों का प्रादुर्भाव होता है। व्याख्याकार डल्हण ने इस प्राण का मुख्य कार्य पूरण माना है जो आचार्य पाठक जी ने व्यान का माना है।

'प्राणोद्धः सर्वान् वायूनुत्पाद्य प्रयाणकाले भवति' इस श्रुति वचन के अनुसार प्राणों को धारण करने के कारण ही यह प्राणवायु कहलाता है : लोक में भी प्राणी उस ही कहा जाता है जो प्राण वायु से समायुक्त है और प्राणहीन को जड़ या मृत कहा जाता है। अतः जीवन को बनाये रखने (आयुषोऽनुवर्तन) के कारण ही इसे सब वात भेदों में श्रेष्ठ कहा गया है—'तस्मात् सर्वेषु वातेषु प्राणः श्रेष्ठ इति स्थितिः' (त्रिदोष विज्ञान)।

वैसे सर्वविध वायु सूक्ष्म कही गई है किन्तु सूक्ष्म स्रोतों में पहुँचकर उन्हें पोषण पहुँचाने के कारण इस प्राण वायु में सूक्ष्म गुण विशेष होता है।

महर्षि सुश्रुत ने इसे वक्त्र-संचारी कहा है जिसकी व्याख्या में डल्हण कहते हैं—'यस्य संचारित्वस्योपलक्षणं, तेन मूर्धोरःकण्ठ नासिका अपि प्राणस्य स्थानम्।' जिसे पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है।

२. उदान—उपनिषद में उदान को ही उत्प्राण कहा गया है। उर्ध्वगमनशील होने से इसे उदान कहा जाता है। उदान वायु अपान का ही भेद कहा जा सकता है क्योंकि यह भी अपान की भांति बाहर विक्षेप का काम करता है। इसका मुख्य स्थान उर कहा गया है। आचार्य शार्ङ्गधर ने तो स्पष्टरूपेण उदान वायु का [illegible] फुफ्फुस को कहा है। उदान वायु उर्ध्वक्षेपण का काम करता है। तब ही तो इससे वाणी और संगीत की उत्पत्ति होती है। वाक्प्रवृत्ति के अतिरिक्त प्रयत्न, ओज, बल, वर्ण, स्मृति तथा श्वास-प्रश्वास की समुचित प्रवृत्ति इस उदान के द्वारा ही संपादित होती है। बल, उर्जा [illegible] कर्म उदानवायु अपनी शीत गुण विशिष्टता से करता है।

इसकी विकृति से शिरोरोग, कर्णरोग, दन्तरोग, मुखरोग आदि तथा कासादि रोग उत्पन्न होते हैं।

३. समान—इसे आमपक्वाशय चर कहा गया है वहां यह वायु अग्नि को संधुक्षित करता है। समान वायु का मुख्य कार्य विवेक कहा गया है। विवेक रासायनिक पृथक्करण को कहते हैं। यह अन्नरस के किट्ट अंश को पृथक करता है। यह अन्नपाचन में भी सहायता पहुँचाता है। यह कार्य यह अपने उष्ण विशेष गुण से [illegible] करता है। आयुर्वेदाचार्य श्री सुदर्शन शास्त्री ने संज्ञावाही एवं आज्ञावाही नाड़ियों मे सामञ्जस्य स्थापित करने कारण इसे समन्वयोपादक नाड़ीसूत्र (Coordinati fibres) भी कहा है।

इसकी विकृति से गुल्म, अग्निमांद्य, अतिसार आदि रोग होते हैं।

४. व्यान—व्यान वायु सर्वशरीर व्यापी है अतः इसे परिसरीय वात नाड़ी (Peripheral Nerves) कहा गया हैं। इसका मुख्य स्थान हृदय है किन्तु सर्व शरीर व्यापी होने से सम्पूर्ण क्रिया व्यापार इसके द्वारा ही होता है "प्रायः सर्वाः क्रियास्तस्मिन् प्रतिबद्धा शरीरिणाम्" गति सम्बन्धी सभी क्रिया तथा—प्रसारण, आकुञ्चन, [illegible] मन, उन्नमन, तिर्यगमन, स्पर्श-श्रवणादि पञ्चविध [illegible] वातसूत्र, पेशी घटकाणुओं का संचालन आदि इस [illegible] द्वारा ही होती है।

रस ही रक्त के साथ मिश्रित होकर सारे शरीर में भ्रमण करता है जिसे आधुनिक रक्तपरिभ्रमण कहते हैं, उसे सूक्ष्मदर्शी आयुर्वेद आचार्य रस परिभ्रमण कहते हैं। इस रस परिभ्रमण में रस संवहनकर्त्ता के रूप

व्यान वायु ही कार्य करता है तथा स्रोतोगत स्वेद श्रुति भी इसी व्यान द्वारा होती है।

इसका मुख्य कार्य महर्षि सुश्रुत ने पूरण ही निर्दिष्ट किया है। इस पूरण (दबाव) के द्वारा ही समस्त शरीर में रस संवहन होता है। व्यान वायु ये समस्त कार्य अपने चल गुण के द्वारा करता रहता है। इसके सूक्ष्म संचरण क्षेत्र में किसी प्रकार की रुकावट आने से ही समस्त वात-विकार प्रायः प्रकट होते हैं। सुतरां कहा गया है—

क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्व देहगान्

५. अपान—वस्तुतः वायु एक ही है। स्थान, कर्म आदि के भेद से उसके पांच भेद किये गये हैं। मधुकोश व्याख्या में विदेह, ईशान के उद्धरण इसी ओर इंगित करते हैं। पुनरपि इस वायु के भेदों का वर्णन अत्यन्त प्राचीनकाल से ही होने लग गया था। पूर्व में वैदिक साहित्यकारों ने इस वायु के मुख्यतया दो ही भेद किये, प्राण एवं अपान। अतएव 'प्राणापानौ समौ कृत्वा' कहकर भगवान् कृष्ण ने भी दो वात भेदों का वर्णन किया है तथा 'नासाभ्यन्तर चारिणौ' कहकर नासिका में दोनों वात प्रकारों की सत्ता स्वीकार की गई है। वस्तुतः दोनों ये वात सर्वशरीर व्यापी हैं। प्राण और अपान के विपरीत कार्य हैं। 'प्रकर्षेण आनयति इति प्राणः' तथा 'अपनयति दूरी करोति इति अपान' इस व्युत्पत्ति से भी यही अभिप्राय सिद्ध होता है। सुतरां प्राण से संज्ञावाही नाडियों (Sensory Nerves) का तथा अपान से आज्ञावाही नाडियों (Motor Nerves) का ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार मस्तिष्क केन्द्र को सूचना पहुँचाने वाली तथा किसी वस्तु को शरीर के भीतर पहुँचाने में सहायता करने वाली नाडियों को प्राणवायु का अधिष्ठान समझना चाहिए। इसी प्रकार केन्द्र से सूचना लाने वाली व शरीर से किसी वस्तु को बाहर निकालने वाली नाडियों को अपान वायु का अधिष्ठान समझना चाहिए। ये उभय वात सर्व शरीर में होने से इनके क्रिया कलाप सर्वदा होते रहते हैं। किन्तु हृदय के समीप में श्वास-प्रश्वास, अन्न ग्रहण आदि आदानरूप कार्य अधिक होने से प्राण का मुख्य स्थान हृदय को स्वीकार किया गया है, इसी प्रकार मल-निःसरण का कार्य अधिक करने के कारण अपान का मुख्य स्थान गुदा को स्वीकार किया गया है। महर्षि सुश्रुत ने कहा है—

पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम्।
समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्तवान्यधः॥

यहां पक्वाधान से उण्डुक से अधःगुद तक का भाग मूत्र—शुक्र—आर्तवादि के अवयवों का ग्रहण है।

इन मूत्र—मल—शुक्र—गर्भ आदि को निकालने के साथ धारण का कार्य भी अपान ही करता है अन्यथा समय-असमय पर भी ये शरीर से निकलते रह सकते हैं इसलिए अपान के प्रधान कार्य में महर्षि सुश्रुत ने 'धारण' को ही कहा है।

यद्यपि सर्वविध वात में वायु एवं आकाश महाभूत की अधिकता होती है किन्तु अपान वायु में पृथ्वी महाभूत की भी अधिकता होने से यह वायु गन्धबहुल है। हेमाद्रि ने लेखने खरः कहा है। अतः अपान वायु अपने खर गुण की अधिकता से ही अपना कार्य करती है।

धातून मलान् वा देहस्य विशोष्योल्लेखयेच्चयत्।
लेखनं तद्यथा क्षौद्रं नीरमुष्णं वचा यवाः॥
—शार्ङ्गधर प्र.ख.४

भगवान् चरक ने खरगुण को पार्थिव वायव्य बहुल कहा है। इसकी विकृति से वस्तिगुदाश्रित रोग यथा अश्मरीभगन्दरादि होते हैं।

कई आचार्यों ने इसका मुख्य स्थान गुदा को ही माना है, महर्षि सुश्रुत कथित पक्वाशय अपान का अधिक व्यापक क्षेत्र है। इसके अतिरिक्त वृषण, वस्ति, शिश्न, स्त्रियों की योनि, उरु, वंक्षण आदि भी अपान के स्थान मानने चाहिए। इस अपान वायु की विशिष्ट कार्मुकता के कारण ही तो वात मात्र का मुख्य स्थान अपान वायु का स्थान माना गया है—

ते व्यापनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः।
—अ०हृ०सू० १-८

ते दोषा वातादयो व्यापिनोऽपि सकलशरीरगोचरा अपि सन्तो नियतदेशस्था विज्ञेयाः। हृच्च नाभिश्च

हृन्नाभी तयोः हृन्नाभ्योः अधश्च मध्यं च ऊर्ध्वं च एतानि संश्रयो येषां ते तथोक्ताः। अस्यायमर्थः। हृन्नाभ्योरधो वायोः स्थानम्। तयोर्मध्ये पित्तस्य। तयोरुर्ध्वं कफस्य स्थानम्। —चन्द्रनन्दन

उक्त प्रकार से वायु के पञ्चविध प्रकारों स्थान कर्म आदि भिन्न-भिन्न होने पर भी इनका परस्पर सन्निकट सम्बन्ध है। एक की दुष्टि का प्रभाव दूसरे पर भी स्वाभाविक रूपेण पड़ता है। इसे सदा स्मरण रखना चाहिये।

वात प्रकार	स्थान	सम्बन्धित संस्थान	प्रमुख गुण	प्रमुख कर्म	अन्य कर्म	विकृत कर्म
१. प्राण	मूर्धा या मस्तिष्क हृदय उर कंठ जिह्वा आस्य नासिका	वात संस्थान, श्वास संस्थान, रक्तवह संस्थान	सूक्ष्म	प्रस्पन्दन	सर्वेन्द्रियद्योजन मनः प्रेरण मनोनियमन श्वासोच्छवास अन्न प्रवेशन उद्गार ष्ठीवन क्षवथु आयुषोऽनुवर्तन उत्साह	हिक्का, श्वास, प्रतिश्याय, स्वर, भेद, कास आदि
२. उदान	उर नाभि कंठ नासा	वाणी-प्रवर्तक-संस्थान	शीत	उद्वहन	ऊर्जा, बल, वाक् प्रवृत्ति, प्रयत्न, वर्ण, स्मृति	शिरोरोग, कर्णरोग आदि उर्ध्वजत्रुगत रोग, मन्यास्तम्भ, कास आदि
३. व्यान	हृदय सम्पूर्ण शरीर	रस रक्त-वह संस्थान (सामान्य) मांसपेशी संस्थान	चल	पूरण	कायचेष्टाव्यापार प्रसारण, विक्षेप निमेष, उन्मेष, जृंभण, हृत्स्पन्दन, धमनीप्रधमन, अन्नास्वादन	ज्वर, अतिसार, रक्तपित्त, हृदय रोग आदि सर्व शरीरगत रोग
४. समान	पच्यमाना-हाराशय (आमाशय पक्वाशय) नाभि (जठराग्नेः पार्श्वम्)	स्वेदवह दोषवह अम्बुवह मलवह शुक्रवह आर्तववह स्रोत (जहां जहां अग्नि है)	उष्ण	विवेक	अग्निसंधुक्षण अन्न पाचन अन्न धारण रसमलादि वि-वेचन, स्रोतोऽव-लम्बन	गुल्म, अग्निमांद्य, अतिसार, ग्रहणी, आध्मान आटोप आदि
५. अपान	पक्वाशय गुद, वृषण, वस्ति, शिश्न, योनि, उरु वंक्षण अन्त्र	मल मूत्र विसर्ग संस्थान	खर	धारण	शुक्र, मूत्र, आर्तव, गर्भ, पुरीष आदि का उत्सर्ग	मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, अर्श, भगन्दर आदि वस्ति गुदाश्रित रोग

वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य ★

यह सदैव स्मरण रखने की आवश्यकता है कि वात-पित्त-कफ विरुद्ध गुणवाले होने पर भी एक दूसरे का विनाश नहीं करते अपितु शरीर का सम्यक्तया धारण करते हैं। यथा सर्पविष अन्य जीवों के लिये प्राणहर होता हुआ भी सर्प को कोई क्षति नहीं पहुँचाता है। प्रकृतिस्थ दोष प्रसाद या धातु तथा विकृत मल या दोष कहे जाते हैं। स्वाभाविक प्राकृत दोष प्रसादन कर्म करने के कारण प्रसाद संज्ञा वाले कहे जाते हैं। और इन प्रसाद संज्ञक वातादि से ही पुरुष प्रसन्नात्मेन्द्रियमन रहकर स्वस्थ कहा जाता है। ये शरीर के धारक ही विकृतिस्थ होकर शरीर का मलिनीकरण करने लगते हैं तब इनकी संज्ञा मल होजाती है। आचार्य शार्ङ्गधर ने यह ही तथ्य प्रकटित किया है—

शरीरदूषणाद्दोषो धातवो देहधारणात् ।
वातपित्त कफा ज्ञेया मलिनीकरणान्मलाः ॥

दोषों की यह विकृति दो प्रकार की होती है—१. क्षयजन्यविकृति २. वृद्धिजन्यविकृति। वृद्धिजन्य विकृति को ही प्रकोप भी कहा जाता है। दोषों का उन्मार्गगमन वृद्धि का ही प्रकार भेद समझना चाहिये। वात के क्षय एवं वृद्धि के कारण शरीर में निम्नाङ्कित लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

वात क्षय लक्षण	वातवृद्धि लक्षण
१. मन्द चेष्टता	१. कृशता (मांसक्षीणता) परसंवेद्य लक्षण
२. अनुत्साह	२. दौर्बल्य—स्वसंवेद्य लक्षण
३. स्वल्पवचनता	३. कृष्णता (विण्मूत्र नखचर्मणाम्)
४. विषाद प्रवणता	४. परुषता (त्वचा की रुक्षता)
५. प्रमोह (बुद्धिमोह न तु मूर्च्छा)	५. अङ्गमर्द
६. शीताधिक्य	६. उष्णकामिता (उष्ण आहार वस्त्र आदि की आकांक्षा)
७. मल मूत्र नेत्र चर्म में श्वेताभासता	७. शकृत ग्रह (कठिनमलप्रवृत्ति)
८. गात्र गौरव	८. अल्पनिद्रता
९. तन्द्रा	९. कंप
१०. अङ्ग शिथिलता	१०. आनाह
११. स्तैमित्य	११. इन्द्रिय भ्रंश (संवेदनाओं की क्रियात्मक हानि)
१२. प्रसेक (लालाधिक्य)	१२. प्रलाप
१३. तृप्ति	१३. भ्रम
१४. कण्डू	१४. दीनता (ग्लानि)
१५. निद्राधिक्य	१५. तमप्रवेश
१६. अग्निमांद्य	१६. कर्णनाद
१७. श्वास	१७. जृम्भण
१८. कास	१८. रोमहर्ष
	१९. कण्ठध्वंस
	२०. कषायास्यता
	२१. मल-मूत्र-स्वेदावरोध
	२२. अङ्गस्फुरण
	२३. मज्जाशोथ
	२४. भय

प्रवृद्ध वायु जन्य लक्षणों में कई सामता जन्य एवं कई निरामता जन्य होते हैं। चिकित्सा में साम-निराम का ज्ञान अत्यावश्यक है। कायाग्नि के दौर्बल्य से सम्यक् अपरिणत विकृत रस जो आमाशय से उत्थित होता है आम कहलाता है। इसका विशद विवेचन अन्यत्र किया जायेगा। इससे युक्त दोषादि साम कहे जाते हैं। यहाँ साम एवं निराम वायु के कुछ लक्षण लिखे जा रहे हैं—

साम वायु लक्षण	निराम वायु लक्षण
१. स्रोतोरोध (विवन्ध)	१. कंठ मुखादि में रूखापन
२. अग्निमांद्य	२. त्वचा में भी रूखापन
३. तन्द्रा	३. विवन्धता
४. अन्त्रकूजन (पेट में गुड़गुड़ाहट)	४. अल्पवेदना
५. कटि-पार्श्वादि पीड़ा	जो विपरीत गुण वाले स्निग्ध उपचारों से शांत होती है।
६. सन्धिशोथ	
७. तोद (सूचीवेध जैसी व्यथा)	
८. तीव्र अङ्गपीड़ा— कालान्तर में पीड़ा अत्यन्त बढ़ जाती है जो अङ्गों को जकड़ देती है तथा यह पीड़ा स्नेह प्रयोग से बढ़ती है तथा सूर्योदय, मेघोदय एवं रात्रि में भी अत्यन्त बढ़ जाती है।	

वात दोष के सम्बन्ध में निम्नांकित बातें भी सदैव स्मरण रखने योग्य हैं—

वात दोष चक्र

प्रकृति	अग्नि	कोष्ठ	संचय	प्रकोप	प्रशमन	प्रकोप के अन्य काल: आयु	दिन	रात	आहार
हीन	विषम	क्रूर	ग्रीष्म	प्रावृट्	शरद्	वृद्धावस्था	सायंकाल	अन्तिम प्रहर	आहार पच जाने पर

विकृत दोष जिन अशुभ कर्मों को करता है वे विकार कहे गये हैं। ये विकार दो प्रकार के होते हैं—सामान्यज और नानात्मज। जो विकार वात, पित्त, कफ जन्य, सान्निपातिक या आगन्तुक कारणजन्य भी हो सकते हैं—सामान्यज कहलाते हैं (वातादिभिः प्रत्येकं मिलतैश्च ये जन्यन्ते) जैसे ज्वर, उदररोग आदि वातजन्य पित्तजन्य कफजन्य होते हैं। जो स्वतन्त्र वात आदि दोष से ही उत्पन्न होते हैं और वहु-व्याधि रूप होते हैं जैसे नख भेद विपादिका आदि केवल वात से ही उत्पन्न होते हैं न पित्त से, न कफ से (ये वातादित्रिर्दोपान्तरासंपृक्तैर्जन्यन्ते)।

नानात्मज वातविकारों का प्रथक्-प्रथक् विषद वर्णन किया जायेगा। यहां पर उन विकारों का उल्लेख करना समीचीन होगा जो सभी वात विकारों में प्रायः एकाधिकरूपेण उपलब्ध होते हैं। भगवान् चरक ने भी इन विकारों का नानात्मज विकारों के पश्चात् उल्लेख किया है।

वात विकार	वात भेद विकृति	विवेचन	उदाहरण
१. स्रंस	प्रधानतया व्यान विकृतिजन्य	अपने स्थान से कुछ हट जाना स्रंस कहलाता है।	प्रस्ताङ्ग, ओजःस्रंस
२. भ्रंस	,,	दूर तक हट जाना भ्रंस कहा जाता है।	गुदभ्रंश, हनुभ्रंश, बलभ्रंश
३. व्यास	,,	दूर तक फैल जाना, किंवा विस्तृत होना व्यास कहलाता है।	जृम्भा, अक्षिपाक में अवयव फैलते हैं।

वात विकार	वात भेद विकृति	विवेचन	उदाहरण
४. सङ्ग	समान-व्यान विकृतिजन्य	अवरोध (रुकावट)	अङ्ग चेष्टा संग, गति सङ्ग, मल सङ्ग
५. भेद	समान विकृति-जन्य प्रायः	दरार पड़ जाने, किंवा फटने जाने के समान पीड़ा को भेद कहा है।	त्वचो भेद, नख भेद, विपादिका
६. साद	प्राण-व्यानविकृति। वात क्षयजन्य	अपने कार्य में असामर्थ्य	हृदयावसाद, अग्निसाद, अङ्गसाद
७. हर्ष	व्यान-विकृति कफावृत समान विकृति	भयादि के कारण रोंगटे खड़े होना। यह वायु के अनवस्थितत्व के प्रभाव से होता है।	रोमहर्ष, दन्तहर्ष, अङ्गहर्ष
८. तर्ष	समान विकृति	प्यास लगना	तृषाधिक्यम्
९. कम्प	व्यान विकृति, वात वृद्धिजन्य	काँपना कम्प कहा जाता है।	हृद्द्रव, वेपथु
१०. वर्त	व्यानावृत्त अपान	पुरीषादि का पिंडीकरण	उदावर्त
११. चाल (स्पन्दन)	व्यान वायु विकृति	किंचित् चलन (फड़कना)	शरीरस्पन्दन
१२. तोद	समान विकृति सामवातजन्य	तीक्ष्ण शस्त्र भोंकने जैसी पीड़ा। विच्छिन्न शूल	त्वचस्तोद, अङ्गतोद, वक्षतोद
१३. व्यथा	समान विकृति व्यानावृतापान विकृति	अङ्गों में पीड़ा होना व्यथा कही जाती है।	गुदार्ति, परिकर्तिका
१४. चेष्टा	उदान-व्यानवायु विकृति	मन्द चेष्टा, यहां चेष्टा का अभिप्राय है।	मन्दचेष्टा, चेष्टाहानि
१५. खरत्व	समान एवं अपान विकृति	खुरदरापन व दुःखद स्पर्श का होना, खरत्व कहा जाता है।	कण्ठखरत्व
१६. परुषत्व	समान एवं अपान विकृति	शरीर में खरखराहट पैदा होना	त्वक्पारुष्य, वाक्पारुष्य
१७. विशदत्व	समान व्यान विकृति, निराम वात विकृतिजन्य	द्रव का शोषण होकर जीवन तत्वों की कमी होना विशदत्व है।	देहविशदत्व (निर्मलत्व)
१८. सुषिरत्व	समानवायु विकृति	अस्थियों में सुषिरता होने को सुषिरत्व कहा जाता है।	अन्तः शून्यम् अस्थिसौषिर्य
१९. अरुण-वर्णता	समान व्यान विकृति	ईषद् रक्तवर्ण को अरुण कहा जाता है।	त्वचोऽरुण वर्णता, नखारुणवर्णता
२०. कषाय मुखत्व	प्राण विकृति	मुख में कषाय रस ही बना रहना किंवा अन्य रस वाले पदार्थ भी कषाय रस वाले ही लगें।	कषायास्यता

वात विकार	वात भेद विकृति	विवेचन	उदाहरण
२१. विरस मुखत्व	प्राण विकृति	किसी भी रस का स्वाद न आना	मुखवैरस्य, अरसज्ञता
२२. शोष	समान विकृति वात वृद्धिजन्ज	अङ्ग का सूखना शोष कहा जाता है।	वाहु शोष, मुखशोष, मज्जा शोष
२३. शूल	समान विकृति, पित्तावृत, कफावृत्ति वातजन्य	शूलवत् पीड़ा, शूल के आघात के समान पीड़ा	सन्धिशूल, अङ्गशूल
२४. सुप्ति	प्राण-व्यान विकृति तथा रक्त विकृति	स्पर्श का ज्ञान न होना। कर्म में अचेतनता	पादसुप्ति, सिरासुप्ति, गात्रसुप्ति
२५. संकोच	समानवायु विकृति, उदान-वायु विकृति	अवयव का सिकुड़ जाना संकोच कहा जाता है।	वर्त्मसंकोच, पर्वसंकोच
२६. स्तम्भ	उदान-व्यान, विकृतिजन्य, कफावृतजन्य	अवयव की आधिक्येन जकड़ाहट	मन्यास्तम्भ, उरुस्तम्भ, जिह्वास्तम्भ, धनुस्तम्भ
२७. खञ्जता	व्यानविकृति प्राणविकृति	पैर की कर्महीनता या विचेष्टता को खञ्जता कहा जाता है।	कलायखञ्जता
२८. व्यध	समान विकृति वातवृद्धिजन्य	मुद्गर आदि तीक्ष्णधार रहित स्थूल शस्त्र से मारने के समान पीड़ा	मांसगत वात में, मेदोगत वात में ऐसी पीड़ा होती है।
२९. वेष्टन	समान विकृति,	अंगों में ऐंठन होकर जो प्रसत्र पीड़ा होती है वह वेष्टन है।	पिंडिकोद्वेष्टन खल्ली में ऐसी पीड़ा होती है।
३०. रुजा	समान विकृति, प्राण	अरुणदत्त ने सततशूल को रुक् कहा है। वस्तुतः भेद, व्यध, तोद, व्यथा, वेष्टन आदि सब रुजायें ही हैं।	शिरोरुक्, कर्णरुक्, गृध्रसी, पार्श्वरुक्

इन वातविकारों के अतिरिक्त कश्यपसंहिताकार ने कार्श्य, दर्शन, विमथन, क्षोभ, श्रमक, विलपन, कर्णनाद, दृष्टि प्रमोह, विस्पन्दन, उद्घट्टन, ग्लपन, निद्रानाश, ताडन पीडन, नाम, उन्नाम, विपाद, भ्रम, परिपतन, जृंभण, विक्षेप, आक्षेप, छेदन, विश्लेप आदि वातविकारों का भी वर्णन किया है।

उपर्युक्त वात विकारों में से रुक्, तोद, भेद, संकोच, शोष एवं वेष्टनस्वरूप विकृतियां वहुतायत से होती हैं अतः इन पर विशेष विचार अपेक्षित हैं—

रुक्	तोद	भेद	संकोच	शोष	वेष्टन
१. शिरोरुक् (का. सं. पृ. २९)	१. निस्तोद (सु. नि. १)	१. त्वचोभेद (सु० नि० १)	१. वर्त्म संकोच (च०सू० २०)	१. अस्थि शोष (सु० नि० १)	१, उद्वेष्टन (का.सं.पृ.७२)
	२. त्वचस्तोद (चि. चि. २८)	२. नखभेद (च० सू०२०)	२. पर्वसंकोच (च० चि० २८)	२. मुख शोष (च० सू० २०)	२. परिवेष्टन (मज्जावृते

रुक्	तोद	भेद	संकोच	शोष	वेष्टन
	३. वक्षस्तोद (च. सू. २०) ४. कोष्ठतोद (सु. सू. २१) ५. शंखयोर्निस्तोद (च० नि० १)	३. जानुभेद (च.सू.२०) ४. श्रोणिभेद(,,) ५. विडभेद (,,) ६. हनुभेद (,,) ७. ओष्ठभेद (,,) ८. तालुभेद (,,) ९. अस्थिभेद (,,) १०. अस्थि पर्व भेद (च. चि.२८)	३. अङ्ग संकोच (शा० प्र० ७) ४. पाद संकोच) (च० चि० २८) ५. हस्त संकोच (च० चि० २८)	३. वाहुशोष (च. सू. २०) ४. तालुशोष (च० नि० १) ५. मज्जाशोष (अ.सं.सू.१९)	वाते) च० चि० २८ २. पिण्डिकोद्वेष्टन (मरोड सदृश तीव्रशूल) च० सू० २०

जैसा कि कहा भी गया है—

अशीतिर्वातरोगाश्च जायन्ते वातकोपतः ।
रुक्तोदन भेदसंकोच शोषवेष्टन लक्षणाः ॥

१. रुक्—वात विकारों में तोद, भेद, व्यध, वेष्टन, शूल, व्यथा आदि वेदना (पीड़ा) के विविध प्रकार बतलाये गये हैं। इनमें हेमाद्रि ने रुक् को शूल कहा है। शूल (एक शस्त्र विशेष) के आघात के समान वेदना को शूल कहा जाता है किन्तु लगातार यह वेदना रहना रुक् है क्योंकि अरुणदत्त ने "रुक् सतत शूलं" ऐसा कहकर इसे स्पष्ट किया है।

२. तोद—रुक् सतत शूल है तो तोद विच्छिन्न शूल है। रुक् में चाकू भोंकने के समान वेदना अभिप्रेत है तो तोद में सुई चुभोने के समान वेदना अभिप्रेत है। गुदार्ति में तथा तूनि-प्रतितूनि नामक वातव्याधि में यह तोद होता है। त्वक्‌गत वात में तोद का लक्षण मिलता है।

३. भेद—भेद में फटना तथा फटने के समान पीड़ा दोनों अर्थ ही अभिप्रेत हैं। किसी अङ्ग में अङ्ग के स्थान विशेष में दरार पड़ जाना या उसमें दरार पड़ जाने के समान पीड़ा दोनों ही लक्षण वातविकारों में पाये जाते हैं। विपादिका में पादतल में दरार पड़ जाती है तथा जानुभेद, ललाट-भेद, अक्षिभेद आदि में दरार पड़ जाने के तुल्य तीव्र वेदना होती है।

४. संकोच—अङ्गों का सिकुड़ जाना संकोच कहा जाता है। पेशी-स्नायुओं में संकोच उत्पन्न होने से यह वात विकृति उत्पन्न होती है। यदि रूक्ष गुणस्वरूप जन्य संकोच प्रकट हो तो वह समान वायु विकृति तथा शीत-गुणस्वरूप जन्य संकोच प्रकट हो तो उदान वायु विकृति मानी जायेगी।

५. शोष—शोषः शुष्कत्वम्। अङ्ग का सूखना शोष कहलाता है। शोष मांसपेशी तथा स्नायु में शोषण होकर उत्पन्न होता है। शोष रूक्षता से संभव है सुतरां समान-वायु जनित विकृति लक्षण है।

अंग शोष में असंबन्धन पेशी स्नायुओं में शोष होता है तथा वामनत्व में सम्पूर्ण गात्र में शोष उत्पन्न होजाता है।

६. वेष्टन—यह भी एक पीड़ा का प्रकार है। अङ्गों में ऐंठन किंवा लपेटन जैसी पीड़ा वेष्टन नाम से जानी जाती है। खल्ली नामक वातव्याधि में इसी प्रकार की पीड़ा होती है।

सभी प्रकार की वेदनाओं में समान वात कारणभूत बनता है। इस वेदना के संवहन में व्यान वायु का सम्बन्ध होता है तथा ज्ञान में प्राण वायु का। ★

वैद्य श्री बनवारी लाल गौड़ भिष० आयु० बृह०

वैज्ञानिक प्रक्रिया का सर्वाधिक उल्लेखनीय उदाहरण है—चरक संहिता। उसमें विशिष्टतम है उसका चिकित्सा स्थान—जिसमें रोगों के कारण, लक्षण एवं चिकित्सा का सर्वाङ्गिपूर्ण प्रतिपादन हुआ है त्रिदोष का विशेषतया वात का जो विपुल वर्णन चरक संहिता में उपलब्ध है, अद्वितीय है। गुरुवर्य स्व० श्री कल्याण प्रसाद जी महाराज पदे पदे इस वैशिष्ट्य का गीर्वाणगिरा में वखान कर कर अघाते न थे। आज भी उनके वे अन्वीक्षापरक बोल प्रेरणा के स्रोत बने हुए हैं। उस गौरवपूर्ण स्थान से ही तद्वत् उद्घोष करने वाले हैं आयुर्वेद गगन के देदीप्यमान नक्षत्र श्री बनवारीलाल गौड़। जिनकी आभा से पुलकित है मेरा मानस, आलोकित है, यह विशेषांक और चमत्कृत है धन्वन्तरि के पटु पाठक।

इनकी लेखनी से लिखित वातव्याधि चरक स्थित वर्णनवैशिष्ठ्य नामक लेख पढ़िये तो।

—वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'

दो बार प्रतिसंस्कृत चरक संहिता वर्तमान में अत्यधिक प्रचलित है। इसके प्रचलन में अनेक प्रसिद्ध टीकाओं का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। अनेक स्थलों का (जोकि संशयास्पद हो सकते थे) टीकाकारों ने विस्तृत विश्लेपण कर दिया है। अवशिष्ट संशयास्पद स्थलों का अर्थ प्रसङ्गानुरूप एवं कालानुरूप कर लिया जाता है, ऐसी परम्परा सी हो गई है। यहां एक ऐसे ही अध्याय के वर्णन स्वरूप का विश्लेपण किया जा रहा है। अनेक संशयास्पद स्थलों की प्रसङ्गानुरूप व्याख्या के द्वारा किया जाता रहा है। यह च. चि. का २८ वां अध्याय है।

दृढ़वल की कल्पना—

यह स्पष्ट है कि च. सू. १९ वें एवं वीसवें अध्याय में सामान्यज और नानात्मज विकारों का नामोल्लेख किया गया है। उन्हीं रोगों का चिकित्सा स्थान में निदान लक्षण एवं चिकित्सात्मक वर्णन करने का प्रयास किया गया है। दृढ़वल को इसमें पूर्ण सफलता भी मिली है उन्होंने प्लीहदोष को छोड़कर सभी सामान्यज विकार (जोकि च०चि० १९ में उल्लिलखित हैं) का वर्णन भिन्न चिकित्साध्यायों में किया है। इसके लिये उन्होंने एक-एक चिकित्साध्याय में एक रोग, दो रोग अथवा अनेक रोगों

का वर्णन किया है। सामान्यज रोगों के वर्णन क्रम में ही जब 'द्वावायामौ' 'द्वे गृध्रस्यौ' के वर्णन का प्रसङ्ग आया तो दृढ़बल ने यह विचार किया होगा कि ये तो नानात्मज विकार हैं, अत: क्यों नहीं एक स्वतन्त्र में विभिन्न वातज रोगों का वर्णन कर दिया जाय। इसी धारणा के फलस्वरूप उन्होंने 'वातव्याधि चिकित्सितम्' अध्याय की कल्पना होगी।

विषय-वर्णन—

वात का विशेष वर्णन सूत्र स्थान के बारहवें अध्याय में हुआ है, लेकिन वहां वायु के भेदों का स्थान एवं कार्यानुरूप वर्णन नहीं है, इसी के साथ-साथ हेतु, पूर्वरूप और रूप भी निर्दिष्ट नहीं किये हैं। इसलिये सब से पहले वायु के वैशिष्ट्य को 'वायुरायुर्बलं (चि० २८।३) के द्वारा निर्दिष्ट करते हुये इसे अन्य दोषों से प्राधान्य प्रदत्त किया है। इसके बाद पांच भेदों का स्थान, कार्य एवं रोग परक विवेचन किया है, जो वात का विशेष विवेचन होते हुये भी सहज प्रतीत होता है। लेकिन इसके तत्काल बाद आचार्य के द्वारा वर्णन का विशेष स्वरूप परिलक्षित होने लगता है। यथा—

(१) अस्सी वात विकार-संज्ञान्तर से—

वात के प्राणादि भेदों का सामान्य वर्णन करते ही आचार्य ने अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है कि वे सूत्र-स्थानोक्त अशीति नानात्मज वात विकारों का ही उल्लेख करना चाहते हैं। यह उनको यहाँ इसलिये कहना पड़ा क्योंकि आगे वर्णन किये जाने वाले रोग न तो संख्या में अस्सी ही पूरे होते हैं तथा न संज्ञा में साम्य है। अत: उन्होंने कहा कि—

अशीतिर्नखभेदाद्याः रोगाः सूत्रे निदर्शिताः।
तानुच्यमानान् पर्यायैः सहेतूपक्रमाञ्छृणु॥

(च० चि० २८)

अर्थात् सूत्र स्थानोक्त अस्सी वात विकारों का संज्ञान्तर से निर्देश किया जा रहा है। सूत्रस्थान में जो नखभेद संज्ञायें हैं यहाँ वे न होकर दूसरी संज्ञायें हैं, पर रोग वे ही हैं।

(२) वर्णन प्रकार—

संज्ञान्तर से अस्सी वात विकारों के वर्णन की उद्घोषणा करने वाले आचार्य ने इस अध्याय में वर्णन सौकर्य से सम्पूर्ण वातज विकारों को दो भागों में विभक्त किया है—केवल वात विकार एवं आवृत वात विकार। केवल वात विकारों का स्पष्टत: विभाजन तो नहीं किया है, पर वर्णन-प्रक्रिया को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि उन्होंने स्थानगत वात से विकार और क्षतिवल वात विकार के रूप में केवल वात को दो भागों विभक्त कर दिया है।

(३) निर्वचन—

उपर्युक्त विभाजन के बाद जब विषय निर्वचन किया जाने लगा तो रोगों की सामान्य वर्णन प्रक्रिया की परिपालना की ओर पूर्ण ध्यान देते हुए वात के प्रकोपक सामान्य हेतु, पूर्वरूप और सामान्य लक्षणों का उल्लेख किया गया है, जो विषय के गम्भीर मनन की ओर संकेत करता है।

(४) स्थानगत वात विकार—

उपर्युक्त सामान्य प्रक्रियाओं के निर्वचन के बाद आचार्य प्रतिज्ञानुसार द्विधा विभक्त केवल वातज रोगों में पहले स्थानगत वात विकारों का वर्णन करते हैं। इसमें कोष्ठाश्रित (यहां 'गत' नहीं कहा) सर्वाङ्ग कुपित, गुदगत, आमाशय गत, पक्वाशयगत, इन्द्रियगत, त्वग्गत, रक्तगत, मांसगत, मेदोगत, अस्थिगत, मज्जागत, शुक्रगत और सन्धिगत वात के विकारों का उल्लेख किया है।

यहाँ एक संशय उत्पन्न हो सकता है कि आचार्य ने इसी अध्याय में पीछे कहा है कि—

विमार्गस्था ह्ययुक्ता वा रोगैः स्वस्थान कर्मजैः।
शरीरं पीड़यन्त्येते प्राणानाशु हरन्ति च॥

(च० चि० २८।१२)

इसकी व्याख्या करते हुये चक्रपाणि लिखते हैं कि—'स्वस्थानकर्मजैरिति यस्य वायोर्यत् स्थानमुक्तं तत्स्थानगतैः, तथा ष्ठीवनादि य द्यो कर्मोक्तं तज्जैश्च रोगै शरीरं पीड़यन्ति, प्राणान् वा महता रोगेण हरन्ति च ···।

(चक्रपाणि)

यहाँ स्पष्टतः आचार्य ने कहा है कि विकृतवायु (जो भेद विकृत है वही) स्वस्थानगत विकृतियों से तथा ष्ठीवनादि कर्मजन्य विकृतियों से शरीर को पीड़ित करते हैं। लेकिन जब स्थानगतवायु का वर्णन प्रारम्भ हुआ तो वहाँ प्राणादि के मूर्धादि स्थान और तद्गत विकारों का उल्लेख न कर के दूसरे ही रूप में (कोष्ठाश्रित आदि रूप में) वर्णन कर दिया। जो वायु की चिकित्सा और लक्षणात्मक स्वरूप के आधार पर अत्युपयोगी और अति स्पष्ट है, लेकिन आचार्य के पूर्व वर्णन के अनुरूप नहीं है।

इस प्रसङ्ग में एक वात ध्यान देने योग्य और है, जिसमें वायु का वर्णन करने के लिये 'स्थान भेदात्' (चि० २८।१४) कहा है, अन्यस्थानगत नहीं। अतः इस पर वायु के सूत्रस्थानोक्त 'वस्तिः पुरीषाधानम्' आदि स्थानों के भेद से अथवा प्राणादि भेदों के 'मूर्धा' आदि स्थानों के भेद से वर्णन करना चाहिये था। वह अधिक युक्ति-युक्त होता तथा उनका इन कोष्ठाश्रित आदि में सामञ्जस्य नहीं करना पड़ता, अपितु कोष्ठाश्रित आदि उक्त भेदों का वस्ति आदि स्थानानुरूप, उक्त वर्णन में सामञ्जस्य एवं समावेश कर दिया जाता।

(५) अतिवल वात विकार—

स्थानगत वातविकारों का उपर्युक्त प्रकार से स्थानानुरूप वर्णन करने के वाद आचार्य ने संज्ञानुरूप वर्णन किया है जिसमें क्रमशः अर्दित, मन्यास्तम्भ (अन्तरायाम), हनुस्तम्भ (वहिरायाम हनुग्रह) दण्डक, पक्षवध, एकाङ्ग रोग, गृध्रसी, आक्षेपक एवं खल्लीरोग का वर्णन किया है। इनका वर्णन करते हुए आचार्य ने इस वर्ग को किसी विशेष संज्ञा से सम्बोधित नहीं किया। पर चक्रपाणि ने इस वर्णन के प्रारम्भ में इस वर्ग को अति वल वात विकार की संज्ञा दी है। यथा—"इदानीमतिवलान् वातविकारान भिधातुमुद्यतोऽर्दितमाह–अतिवृद्ध इत्यादि"। (च. चि.२८।-३८ पर चक्रपाणि)

(६) क्या केवल वात का कुछ वर्णन रह गया ?—

चि. २८।१४ "केवल वायुमुद्दिश्य——" की व्याख्या में कहा है—'केवलं वायुमुद्दिश्य केचिद्गदा वेपथ्वादय उक्ताः तथा चावृतं वातमुद्दिश्य केचिदुक्ताः—लिंगं पित्तावृते दाहस्तृष्णा इत्यादि।

इस व्याख्या में कहे गये 'लिंगं पित्तावृते' का तो आगे ६१ वें श्लोक से वर्णन किया गया है। पर 'वेपथ्वादयः' से किन रोगों की ओर संकेत है यह प्राप्त नहीं होता। 'वेपथ्वादय' से कुछ रोगों का नामोल्लेख तो इस (२८ वें अध्याय) में होना दूर है सम्भवतः वेपथु शब्द ही पूरे अध्याय में नहीं है। २८।१३४ में वेपनं शब्द अवश्य है। अतः यह शङ्का हो सकती है कि 'वेपथ्वादयः' से प्रारम्भ होने वाला कुछ वर्णन लुप्त तो नहीं है ?

यह प्रश्न उठाने से पहले एक वात और ध्यान देने योग्य है कि उपर्युक्त 'वेपथ्वादयः' युक्त पाठ केवल यादव जी द्वारा सम्पादित चरक में ही है। इसके अतिरिक्त वामन केशव दातार द्वारा सम्पादित तथा श्री नरेन्द्रनाथ सेन द्वारा सम्पादित टीका में "वेपथ्वादयः" वाला पाठ नहीं है। लेकिन पं० हरिदत्त शास्त्री द्वारा सम्पादित चक्रपाणि की व्याख्या में उपर्युक्त पाठ है। अतः यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त पाठ या तो यादव जी द्वारा कल्पित है अथवा उन्होंने किसी पांडुलिपि में देख कर लिखा है। ऐसी स्थिति में यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि वेपथु से प्रारम्भ होने वाला कोई पाठ लुप्त है।

(७) 'स्थान भेदात' का स्पष्टीकरण—

'केवलं वायुमुद्दिश्य स्थानभेदात्'

यह सम्पूर्ण वाक्य है। यदि केवलवात, स्थानगतवात और आवृतवात ये तीन अर्थ उपर्युक्त श्लोक से गृहीत कर लिये जायें तो विसंगति हो जायेगी। क्योंकि आचार्य ने वात के दो ही भेद किये हैं—केवलवात और आवृत वात। लेकिन उपर्युक्त श्लोक के वाद रोगों का जो वर्णन किया है वह इस प्रकार है—स्थानगतवात विकार, अतिवलवात विकार तथा आवृत वात विकार। इससे यह स्पष्टतः प्रतिभासित होता है कि वात विकारों को त्रिधा विभक्त किया गया है। चक्रपाणि ने स्थानभेदात् की व्याख्या न करके इसे और भी संशयास्पद वना दिया—केवलं वायुमुद्दिश्य केचिदुक्तास्तथा चावृतं वातमुद्दिश्य केचित उक्ताः (चक्रपाणि)। यहां चक्रपाणि का स्पष्ट अभिमत है कि वात विकार दो ही तरह के होते हैं, पर 'स्थानभेदात्' की यहां वे व्याख्या कर देते तो अधिक

उपयुक्त रहता, जैसाकि गंगाधर ने स्पष्ट किया है—
केवलं वायुमुद्दिश्य स्थानभेदात शृणु तथा चावृत वायुं शृणु। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चरक में जो तीन प्रकार (स्थानगत, अतिवल, आवृतवात) वात विकारों के वर्णन में दिखाई देते हैं 'वे तीन न होकर दो ही हैं। प्रथम दो प्रकार केवलवायु अर्थात् विशुद्धवायु से होने वाले हैं जबकि अन्तिम प्रकार आवरण के रूप में है।

स्थानगत वात विकार—वातविकार का अलग भेद न हो कर केवल वात की ही स्थानगत विकृति का स्वरूप है। अतः अन्ततः वात के ३ भेद न होकर दो भेद ही रह जाते हैं।

(८) वर्णन में नवीन-क्रम—

च० सू० १९वें अध्याय में वातव्याधि के जिन ८० भेदों का नामतः उल्लेख किया गया है, चिकित्सा स्थान के २८वें अध्याय में उन नामों को महत्व नहीं दिया गया है। यह पीछे भी कहा जा चुका है कि इस अध्याय में केवलवात और आवृतवात के रूप में वातव्याधि को दो प्रकार से विभक्त करके वर्णन किया गया है, जो कि च० सू० १९ के क्रम से पूर्णतः पृथक् है। लेकिन यहां यह संकेत अवश्य दिया गया है कि उन्हीं रोगों को संज्ञान्तर से निर्दिष्ट किया गया है। लेकिन यह वात पूर्णतः सही दिखाई नहीं देती। जो रोग यहां कहे गये हैं उनका च० सू० १९ के किसी रोग से पूर्णतः समन्वय किया जा सकता हो, ऐसे रोग कम हैं। हां, इतना अवश्य है कि वहां कहे गये रोगों के अनेक लक्षणों का चिकित्सा स्थान में सामञ्जस्य वैठाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि 'वहां कहे गये रोगों का ही यहां संज्ञान्तर से वर्णन किया रहा है' उपयुक्त दिखाई नहीं देता।

इसी प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि च० चि० २८ वें अध्याय में साध्यासाध्य के प्रसंग में जिन रोगों का उल्लेख है वे रोग सूत्र स्थान में तो नामतः उल्लिखित किये गये हैं, पर यहां पर चि० स्थान में उन सवका वर्णन नहीं किया गया। यह प्रसंग निम्नलिखित है—

सन्धिच्युतिर्हनुस्तम्भः कुञ्चनं कुब्जतादिकः।
पक्षाघातोऽङ्गसंशोषः पंगुत्वं खुडवातता॥
स्तम्भनं, चाढ्यवातश्च रोगा मज्जास्थिगाश्चये।
एते स्थानस्य गाम्भीर्याद्यत्नात् सिध्यन्ति वा न वा।
नवान बलवतस्त्वेतान साधयेन्निरूपद्रवान्॥
(च० चि० २८/७२-७४)

ये सभी वातज रोग महत्वपूर्ण हैं इनकी समय पर चिकित्सा न की जाय तो ये असाध्य हो जाते हैं। उपर्युक्त सूची में अनेक रोग ऐसे हैं जिनका वर्णन चरक संहिता में कहीं भी प्राप्त नहीं होता, जवकि वातव्याधि केलिये एक विशिष्ट अध्याय की संरचना की गई है।

ऐसा क्यों हुआ ?

एक सामान्य व्यक्ति को भी यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि ऐसा क्यों हुआ ? कुब्जता, अङ्ग संशोष एवं पंगुता आदि विशिष्ट रोगों का वर्णन क्यों न हो सका ? यद्यपि कुब्जता आदि रोगों के प्रत्यात्मनियत लक्षणों का बोध इनकी संज्ञामात्र से ही हो जाता है तथा इनके हेतु लक्षण और उपक्रम अनुमेय या संकेतित होने पर पर्याप्त नहीं रहते अतः पूर्ण वर्णन अपेक्षित था। तो भी तव जवकि स्वयं आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि नवीन अवस्था में ही इनकी चिकित्सा सम्भव है। जव हेतु, पूर्वरूप और रूपादि का निर्देश ही नहीं किया तो अवस्थाओं का अन्तर कौन करेगा ? कैसे करेगा ? कव करेगा ?

ऐसे वहुत से प्रश्न इस प्रसङ्ग में किये जा सकते हैं जो अनुत्तरित हैं। इस सम्पूर्ण विषय पर एक वात से सन्तोष किया जा सकता है कि आचार्य ने वात के विभिन्न स्वरूपों का उल्लेख अनेक प्रकार से इस अध्याय में कर दिया है। अतः बुद्धिमान व्यक्ति को इनके आधार पर ही अवशिष्ट ज्ञान कर लेना चाहिए। लेकिन यह समाधान आचार्य की शैली से मेल नहीं खाता। क्योंकि आचार्य ने जहां तक सम्भव हुआ है सभी ज्ञात विषयों को कहा है तथा जो उलझे हुये हैं उन्हें तो अवश्य ही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

अतः यह कहा जा सकता है कि इस अध्याय के अनेक अंश विलुप्त हैं तथा अनेक अंश प्रतिपूरित हैं। इसीलिये इसमें अनेक त्रुटियां रह गई हैं। संहिता में विभिन्न व्याधियों की अपेक्षा इस अध्याय में वातव्याधि वर्णन का वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है जो अनेक त्रुटियों और अनेक सम्भावनाओं से युक्त होते हुये भी अधूरा दिखाई नहीं देता। ✱

आयु० चक्रवर्ती श्री ताराशंकर वैद्य, प्रधानाचार्य—श्री अर्जुन आयु० विद्यालय,
रामपुरी—जगत गंज, वाराणसी-२२१००२।

निरूक्ति और शब्दशक्ति—वात शब्द 'वा' धातु में तन् प्रत्यय लग कर बनता है। इसका अर्थ है गति करना एवं गन्धन करना। इन दो मुख्य अर्थों में गति के चार अर्थ होते हैं—१—ज्ञान, २—गमन, ३—मोक्ष, ४—प्राप्ति। गन्धन शब्द के तीन अर्थ होते हैं—१—गन्ध, २—सूचना, ३—उत्साह।

विचारणीय विषय यह है कि वात अपनी निरुक्ति या शब्दशक्ति के अनुसार उपर्युक्त ७ अर्थों का क्रियान्वयन कैसे करता है? यह ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक दोष सूक्ष्म और स्थूल होता है। सूक्ष्मवात का मुख्य स्थान वातनाड़ियां एवं मस्तिष्क है। स्थूल वात का स्थान नाभि के नीचे विशेषतः श्रोणि-प्रदेश है जिसमें कि मलाशय, मूत्राशय, शुक्राशय आदि अङ्ग स्थित हैं। यह भी ध्यान रखिये कि सामान्यतः सूक्ष्म और स्थूल वात प्रत्येक स्थान पर रहता है।

ज्ञान—सभी सामान्यजन जानते हैं कि ज्ञान मस्तिष्क से ही उत्पन्न होता है। मस्तिष्क या शिर में ही सभी इन्द्रियों का आश्रय है। वात वहीं इन्द्रियों को उद्योजित करता है। आत्मा का मन से, मन का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का विषयों से क्रमशः सम्पर्क होता है तब ज्ञान प्रवृत्त होता है। यह ज्ञान-प्रवर्तन संज्ञावाही वातनाड़ियों द्वारा होता है।

गमन—गमन या चेष्टाप्रवर्तन वात द्वारा ही होता है। यह मिथ्या ज्ञान है कि यह कार्य मांसपेशियों द्वारा होता है—क्योंकि पाश्चात्य श्रेष्ठतम वैज्ञानिकों का कहना है कि गति मांसपेशियों द्वारा नहीं बल्कि उनके आदि अन्त में लगे वातसूत्रों द्वारा होती है। आयुर्वेद एवं पाश्चात्य ज्ञान के समन्वय से यह स्वतः सिद्ध है कि गति या गमन अथवा चेष्टाप्रवर्तन वात का कार्य है। समस्त वातनाड़ियों में गतिकारक या चेष्टा प्रवर्तक नाड़ियां विशेषतः स्थूल स्नायुयें हैं जिन्हें कण्डरा कहते हैं। वे ही अङ्गों का प्रसारण और आकुंचन कर उनमें गति लाती हैं।

मोक्ष—किसी त्यागने योग्य वस्तु का त्यागना या बाहर करना मोक्ष कहलाता है। मलों को बाहर वात ही फेंकता है। यह कार्य स्थूल और सूक्ष्म अपानवात द्वारा होता है। मोक्ष को बन्धन से, संसार से मुक्ति भी कहते हैं। स्पष्ट है कि ज्ञान जो उपर्युक्त दृष्टिकोण से वात का कार्य है, के बिना मुक्ति या मोक्ष नहीं होता। अमरकोष में स्पष्ट लिखा है कि मोक्ष में जो बुद्धि काम करती है उसे ज्ञान कहते हैं। ऊपर स्पष्ट है कि बुद्धि या ज्ञान का प्रवर्तन वात का ही विषय है।

प्राप्ति—प्राप्ति लाभ को कहते हैं। जो बिना गति के असम्भव है। प्राप्ति महोदय (महान् उन्नति) को भी कहते हैं। यह भी बिना ज्ञान और गति (प्रगति या परिश्रम) के नहीं होता। सूचनाओं की प्राप्ति भी संज्ञावाही वातनाड़ियों का कार्य है। दूसरी ओर अच्छी तरह से जो लाभ या प्राप्ति कराये उसे प्राण वायु कहते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गति मूलक वात की निरुक्ति

में ही गति के चारों अर्थ ज्ञान, गमन, मोक्ष और प्राप्ति कार्यान्वित होते हैं। कार्यान्वयन प्रकार भी स्पष्ट है। यह समस्त लेख धरती पर चिकित्स्य पुरुष को लक्ष्य कर लिखा गया है। त्रिलोक एवं चतुर्दश भुवन में गतिकारक तत्व केवल वात ही है। इसीलिये इसका नाम सदागतिः और आशुभ इत्यादि हैं।

गन्धन—

गन्ध-सामान्य विद्वान गन्धन का अर्थ केवल गन्ध लगाते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि गन्ध पृथ्वी का विषय है वात का विषय नहीं है। वस्तुतः वात का विषय स्पर्श है। तो फिर गन्धन का अर्थ गन्ध मात्र क्यों प्रचलित हुआ ? इसका कारण यह प्रतीत होता है कि अवास्तविक अर्थ गन्ध-वहन के माध्यम के आधार पर लगाया गया। ध्यान दें, वात का नाम गन्धवह है अर्थात् वह गन्ध का वहन मात्र करता है। यह स्पष्ट है कि शुष्क पृथ्वी में गन्ध प्रत्यक्ष नहीं होती। यह भी स्पष्ट है कि किसी भी स्थूल महाभूत में स्वतन्त्र रूप से उसका निर्धारित विषय प्रत्यक्ष नहीं होता जब तक उसमें अन्य महाभूत का अनुप्रवेश न हो। पृथ्वी में किंचित जल डाल दीजिये। उसमें अनुप्रविष्ट वात बुलबुले के रूप में निकलकर अपना मार्ग बना लेगा। जब उस वायु का स्पर्श स्पर्श विषय वाले वात की नाड़ी से स्पर्शेन्द्रिय नासा (नाक) में स्थित है, से सम्पर्क होता है तभी गन्धवती पृथ्वी की गन्ध से मन, मस्तिष्क या आत्मा परचित होगी। अन्यथा नहीं। यह सभी जानते हैं कि गन्धवती पृथ्वी या उससे युक्त वस्तु की विपरीत दिशा में प्रवहमाण वायु के कारण विपरीत दिशा में उपस्थित पुरुष को गन्ध का ज्ञान नहीं होता। इन सब बातों का सूक्ष्म या विषद रूप में वर्णन ग्रन्थों में ही मिल सकता है। महायुद्ध आदि जैसी स्थिति में तो सामान्यजनों की बात 'प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तर चारिणौ।' कह कर काम चलाया जाता है। यह बात जब योगिराज कृष्ण जैसे विद्यानिधान पर लागू होती है तो सामान्य विद्वान पर क्यों न लागू हो?

सूचना—'गन्धन' शब्द का अर्थ सूचन या सूचना और उत्साह होता है। इसका अर्थ गन्धमात्र नहीं होता। सूचना का कार्य वात, मन-माइन्ड-मस्तिष्क-आत्मा और संज्ञावाही नाड़ियों के माध्यम से करता है। यह प्राचीन और आधुनिक ज्ञान विज्ञान से स्पष्ट है। स्पर्श वात का स्पष्ट विषय है। वात स्पर्शवान है। किसी स्थान विशेष या सर्वांग शरीर की संज्ञावाही नाड़ियों की विकृति में स्पृश्य तथ्य की सूचना मस्तिष्क को नहीं मिलती। जैसा कि उरुस्तम्भ या आढ्यवात रोग में स्पष्ट कहा है— 'शीतस्पर्शं न वेत्ति च'।

उत्साह—गन्ध का एक अर्थ उत्साह भी होता है। वायु के लिए स्पष्ट लिखा है—

हर्ष उत्साहयोर्योनिः। चरक सूत्र स्थान वातकलाकलीय अध्याय। अर्थात् वात हर्ष और उत्साह को अभिव्यक्त करता है। यह उत्साह मन का उद्योग है। मन का प्रणेता तथा नियन्ता वात है—यह स्पष्ट लिखा है। ग्यारहवीं इन्द्रिय या इन्द्रियों का राजा भी मन को कहा गया है। किम्बहुना हर्ष और उत्साह मन से ही होता है। जिसका प्रेरक मस्तिष्क स्थित सूक्ष्म वात है।

स्वरूप—

जब वायु की सामान्य परिभाषा—"रूपरहित स्पर्शवान्" है तब उसके स्वरूप की बात नहीं उठनी चाहिये। यह भी ध्यान देने योग्य है कि—

प्रत्यक्षं हि अल्पम्, अनल्पं हि अप्रत्यक्षम्।

तात्पर्य यह है कि अधिकतम या व्यापकतम वस्तु अक्ष या अक्षि द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकती। वात तथा उसके आश्रयदाताजनक आकाश से बढ़कर कोई महाभूत नहीं है। इसीलिये यह व्यापक है। अतः वह अक्षिग्राह्य नहीं है। अक्षि का विषय रूप है। अतः वात को रूपरहित कहा गया है। इससे भी अधिक व्यापक ईश्वर या परमात्मा है और उसे भी रूपरहित एवं निर्गुण कहा गया है। यह ध्यान रखें कि रूपरहित वात की जानकारी उसके वेग से, साथ ही प्रचलित जल-पृथ्वी-अग्निकणों के आघात से होती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ईश्वर की जानकारी उसके वेग और प्रभावित मानव आदि जीवों से होती है।

—:✤:—

वात दोष एक पर्यालोचन

श्री पुण्यनाथ मिश्र आयु०

श्रीयुत पुण्यनाथ जी मिश्र आयुर्वेद जगत के जाने-माने विद्वान् वैद्य हैं। आप लम्बे समय से आयुर्वेद पत्रों में लिखते रहे हैं। आपके लेखों में विषय की विस्तृत विवेचना होती है। धार्मिक दृष्टिकोण से वात वर्णन के साथ साथ आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से वात वर्णन किया गया है।

पश्चिम के भौतिकवाद की प्रत्यक्षमूलक प्रणाली ने हमारी अनेक प्रामाणिक मान्यताओं को भ्रांति-पूर्ण सिद्ध करना चाहा है। उस भ्रान्ति को दूर कर तथ्यों की पुनर्स्थापना की आज नितान्त आवश्यकता है। श्री मिश्र का यह प्रयास सफल होगा—ऐसी मेरी मान्यता है। —गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिष०

वायु का शरीर निर्माणक रूप—

वायु समस्त शरीरगत रहकर सभी प्राणियों के जन्म से मरण पर्य्यन्त जीवन का आधार माना गया है और वही शरीर विनासक, सप्तधातु का निर्माणक होता है, जो पहले लिख चुका हूँ किन्तु प्रधानतः वायु के द्वारा शरीरगत धमनी, श्रोत, शिरा एवं शिराजाल के बीच का रन्ध्र (छिद्र) बनता है और उसके द्वारा रस रक्तादि सप्तधातुओं को वहन करता है। पक्वाशय की जठराग्नि वायु के द्वारा पाचकाग्नि की ऊष्मा को तेज-कर आहार को पचाकर मूत्र और मल को अपने प्रेशर द्वारा उत्सर्ग करता है और रस को शरीर पोषण के लिए शरीर में ही धातु का निर्माण करता है। यह कार्य उसका निरन्तर होता रहता है।

वायु का चय (संचित) होना—स्वभावतः रूक्ष (रूखा) और लघु (हल्का) होने के कारण ग्रीष्म ऋतु की रूक्ष हवा, दिवाकर के तेजताप के साथ रूखे आहार से वायु का बढ़ जाना, संचित होना और शरीर को अपने गुणों के द्वारा झकझोर देना और उससे प्रभावित शरीर को वर्षा ऋतु (श्रावण-भादों) में वायु की प्रबलता कुपित या कोप होना निश्चित है। क्योंकि वर्षा ऋतु में वायु क्लिन्न होकर शरीर को गीला करके भारी बना देता है, जिससे वायु भी गम्भीर (गहरा) बन जाता है, अत-एव स्थानिक रक्त संचालन का अवरोध कर शरीर को आक्रान्त कर देता है। ग्रीष्म ऋतु में शरीर की उष्मा (गर्मी) वायु को अपने गुण से दबाकर रखता है। जिस तरह वायु से आक्रान्त बादल कभी नहीं बरसता किन्तु बादल जब गम्भीर या ठोस रूप में बदल जाता है तो बरस पड़ता है। ग्रीष्म ऋतु में हल्की वायु के कारण रक्त संचारण में कोई व्यवधान न होकर स्थानिक आक्र-मण नहीं होता, परन्तु वही वर्षा ऋतु में आक्रामक हो जाता है।

द्रव्यानुभूत (वनस्पतियों में निहित) वायु—ग्रीष्म ऋतु में जो वनस्पतियां संग्रह की जाती हैं या उसी ऋतु में उन द्रव्यों से औषधि बनती है और वही औषधि यदि उस ऋतु में सेवन की जाती है तो वायु की स्वाभाविक गुण, रूक्षता, लघुता, कटुता, तीक्ष्णता या तुवरता, वायु बढ़ाने वाली दवा होती है। वही वस्तुतः वातवर्द्धक भी है जैसे खेसारी, मटर, चना, सामा, मूंग, अरहर, राज-शिम्बी के बीज और कोदो आदि अन्न वातवर्द्धक या वात-जनक है तो समयानुसार कुपथ्य भी है।

रसानुभूत (रसों में निहित) वायु—ग्रीष्मऋतु में प्राणियों के रूखे-सूखे आहार के साथ तिक्त पदार्थ जैसे तिक्त (नीम, कुटकी किराततिक्त) कषाय रसयुक्त पुंगीफल (सुपारी), कत्था, जामुन की गुठली, आम की

गुठली, कुलत्थ, कोद्रधान्न, सामा और शल्लूक तथा गठिवन जलकन्द विशेषकर आहारगत व्यवहार से वायु का अधिक चय होना स्वाभाविक होता है। क्योंकि कषाय रस रूक्षता और फेनिलतायुक्त कहा गया है जो वातवाहक क्षमता को बढ़ा देता है।

दिवसानुभूत (दिन और रात में वायु का बढ़ना और घटना)—वायु कोई भी ऋतु क्यों न हो प्रतिदिन चौबीस घण्टों में छः ऋतुएँ आती और चली जाती हैं, जो आयुर्वेद शास्त्रानुसार हैं, जैसे—"पूर्वाह्णे वसन्तस्य लिंगम्" अर्थात् प्रतिदिन प्रातः ६ वजे से १० वजे तक वसन्त ऋतु का प्रभाव रहता है। "मध्याह्ने ग्रीष्मस्य" दिन के १० वजे से २ वजे तक दिन के मध्यकाल का प्रभाव रहता है, इसी समय वायु का चय होता है। इन समयों में ही गत आहार जीर्ण होकर रस, मूत्र और मल के रूप में विभाजित होकर रिक्त आमाशय और पक्वाशय वायु के चय का कारण बन पुनः आहार चाहता है, अर्थात् पक्वाशयगत उष्मा वायु प्रेरित होकर तीव्र हो जाती है और उस समय आहार न मिलने पर शरीर में संचित रस ही सूखने लगता है। वायु के चय का लक्षण स्पष्ट होकर जृम्भा (हाफी) उद्गार (डकार) नेत्रपलक का फड़कना, पेट में दर्द होना आदि उपद्रव आरम्भ हो जाता है। अतएव लिखा गया है कि—"याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मे न लंघयेत्" अर्थात्—प्रथम प्रहर ६ से ९ वजे (सुवह का) के भीतर न खाना चाहिए और द्वितीय प्रहर ९ से १२ वजे (दिन के मध्य) तक के उल्लंघन भी न करना चाहिए। तात्पर्य है कि वायु का चयकाल (मध्याह्नकाल) में शरीर के पाकस्थली रिक्त या खाली रहने से वायु का अधिक चय भविष्य में कोपक सिद्ध होता है। "अपाह्णे वर्षा" दिन के तीसरे हिस्से २ वजे से ६ वजे तक वर्षा ऋतु कहलाता है जो वातकोपक का समय है। इस समय शरीरगत वायु आहार का पाचनकाल होता है और शरीर यन्त्र के संचालन में वायु के व्यस्तताजन्य रक्त संचालन में भी तीव्रता हो जाती है और संग-संग शरीरगत पांचभौतिक वायु का यह समय कोपक भी कहा गया है।

६ वजे संध्या से १० वजे रात्रि तक शरद ऋतु और १० वजे रात्रि से २ वजे मध्य रात्रि का समय हेमन्त ऋतु और २ वजे रात्रि से ६ वजे सुवह तक शिशिर ऋतु का प्रभाव रहता है, इन ६ ऋतुओं के दर्म्यान वायु पित्त और कफ का चय और कोप वायु की प्रेरणा से ही होता रहता है।

आहारोपरांत वायु की प्रवलता—आहार करने के उपरांत प्रथम आमाशयस्थ समान वायु से प्रेरित क्लेदन कफ के द्वारा आहार क्लेदित होता है। तत्पश्चात् वही वायु पक्वाशय में उस आहार को ले जाकर पाचकाग्नि या पाचकपित्त को तीव्र कर आहार को पचाता है। पुनः उसके वाद वायु स्वयं कार्य कर देना आरम्भ कर देता है। उस द्रव रूप आहार को ३ भागों में विभक्त करता है। 'रस' जो अन्न या आहार का सार भाग है, दूसरा—मल (विष्ठा), तीसरा—मूत्र। ये तीनों पदार्थ अपने-अपने रास्ते से अलग-अलग हो जाते हैं। जैसे—रस-प्लीहा, धमनियों और शिराओं में शरीर पोषण के लिए।

मल—वृहदान्त्र से मलमार्ग को वहिर्गमन होता है।

मूत्र—गुर्दा से मूत्र प्रणाली में होते हुए वस्ति में वहिर्गमन होता है।

पञ्चतत्वों के उग्रभाग से शरीरगत वायु का प्रभाव—जब तेज हवा चलती है, वादल से आकाश घिरा होता है, अधिक ताप, अधिक शरदी, अधिक वर्षा और तेज पूर्वी हवा शरीरगत वायु को उत्तेजित कर वायु को आक्रामक बना देती है।

वायु दोष का मुख्य कारण प्राणी का अपनी शक्ति से अधिक आयास-प्रयास, जैसे—कूदना, उछलना, चिन्ता-शोक, भय, दुर्वलता, उपवास, गरिष्ठ भोजन (अधिक भोजन), विरेचन, वमन, असमय भोजन, अध्ययन, हाथी, घोड़े, साइकिल, ऊँट जैसी उटङ्ग सवारियों पर निरन्तर चलना, तेजहवा, तेजधूप में अधिक चलना, जल में अधिक तैरना, भार वहन करना और अधिक मैथुन वा धातुक्षय करना, अचानक चोट लगने से, कामोद्वेग से पीड़ित मनुष्य के शरीर में वायु का वेग बढ़ जाता है और वह किसी अङ्ग पर आक्षेप और आघात कर देता है।

वायु कोप का निदान या हेतु क्या है ?—रूक्ष (रूखा भोजन), शीतल भोजन, अल्प भोजन, हल्का अन्न, मैथुन, अत्यन्त जागरण, किसी रोगग्रस्त-समय उपचार, आहार, औषध आदि में विपरीत होना, मल-मूत्र-धातु या रक्त का अधिक स्राव होना; अधिक शारीरिक चेष्टा (अधिक चलना, व्यायाम, तैरना आदि), धातु क्षीणता, चिन्ता-शोक, कृशता, दुर्बलता, विषमाशन, क्रोध, दिवानिद्रा, भय, रोगों को रोकना आदि हेतुओं से वात अनियमित होकर किसी अंग को आक्रान्त कर देता है या सर्वांग को पीड़ित करता है।

जैसा कि चरक चि० स्थान अ० २८ में लिखा है—"रूक्षशीताल्प लघ्वन्न व्यवायाति प्रजागरैः" से "करोति विविधान रोगान् सर्वांगैकाङ्ग संश्रितान्" पर्यन्त उपर्युक्त आशय है। इस प्रकार सुश्रुत, वाग्भट्ट आदि ग्रन्थों में वात कोप का हेतु उद्धृत किया है।

वायु का पूर्वरूप—वायु का अव्यक्त रूप ही व्याधि है। व्यक्तरूप में रहते हुए वह शान्त और समरूप कहा गया है। जैसाकि चरक चि०अ० २८ में लिखा है—

"अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम्"

अर्थात्—उन वात व्याधियों का अपना अव्यक्त लक्षण ही पूर्वरूप माना गया है। पुनः इस प्रकार लक्षण को सूत्र रूप में लिखते हैं—"आत्मरूपंतु यद्व्यक्तमपायो लघुता पुनः" तात्पर्य यह है कि वायु जब व्यक्त हो जाता है तब वह अपने रूप में प्रकट हो जाता है। वायु की क्षीण अवस्था ही विनाश का लक्षण होता है—तात्पर्य है कि शरीर में समानरूप से जहां जिस जगह कम हो जाता है वहीं उसका नाश कर बैठता है, क्योंकि उसका स्वाभाविक रूप या लक्षण तो शरीरधारी देह में स्थित है।

जब वायु कुपित होती है—उदरस्थ जठराग्नि का बहिर्गमन होकर मन्दाग्नि, आध्मान (पेट का फूलना), गुल्म (पेट में रक्त मांस का गोला), संग्रहणी, अरुचि (भोजन अनिच्छा) अतिसार और ज्वर।

तदनन्तर—त्वचान्तर्गत धमनियों, स्रोतों और शिराओं के पोषक व्यान नामक वायु के विगड़ जाने पर शरीरगत उन्मुख व्रण फोड़ा-फुंसी खुजली एवं कुष्ठ आदि चर्मरोग होता है। पेशी-मांस तथा त्वचागत रक्त को वायु के द्वारा दूषित होने से चर्मकील व्यंग (दाग) तिलवर्ण या तारुण्य पीड़िका (युवकों में होने वाली मुंह पर फुन्शी) आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

शरीरगत लौह या लोहित (लौह से युक्त) रक्त की कमी से यकृत्प्लीहा की गतिशील वायु के विगड़ जाने से रक्तगत जलीयांश का जमाव या गतिरोध होकर दाह युक्त आटोप (स्थानीय शोथ) सूजन, शीतलता फुन्शी पामा-विचर्चिका आदि चर्मरोग हो जाता है।

वायु से प्रेरित स्थूलमांस दूषित होकर सूजन-अर्वुद, कुष्ठ, विद्रधि, वातरक्त, सन्धिवात, अर्श आदि सांगवात रोग उत्पन्न हो जाता है।

मेद (चर्बी) में आश्रित वायु के दूषित होने पर अतिसार प्रवाहिका, आमातिसार अधिक स्वेदस्राव, प्रमेह, प्रदर और सोमरोग उत्पन्न करता है। शरीरगत शिथि-लता, पीड़ा (थकान) आदि बीमारियां होती हैं।

अस्थिगत वायु के विगड़ जाने से—सन्धिशूल (जोड़ों का दर्द), सन्धियों का टेढ़ा हो जाना, शरीर शोष (अंगों का सूख जाना) मांसक्षय तथा कमजोरी की बीमारियां होती हैं।

शुक्रगत वायु की वैकृति अवस्था से—शीघ्रपतन, नपुंसकता या वीर्यस्तम्भ, गर्भस्राव या गर्भपात अथवा गर्भ वैकृति (गर्भ स्थित भ्रूण का विकृत हो जाना) दुर्बलता, स्मरणशक्ति की कमी, अनिद्रा, ओजक्षय (प्रतिभा जो अष्ट धातु कहलाता है) उसकी कमी से प्रतिभाहीनता स्वाभाविक है।

कोष्ठगत वायु के कुपित होने पर मल-मूत्र का अव-रोध हृद्रोग, विद्रधि, पार्श्वशूल आदि कोष्ठगत रोग उत्पन्न करता है।

सर्वाङ्गगता वायु के कोप से—अंग फड़कना, पीड़ा दाह (जलन) शरीर का टूटना, सन्धियों में दर्द, अनिद्रा एवं वार-वार जंमाई आना। कहा भी गया है—

"जृंभात्यर्थं समीरणात्" वायु की अधिकता होने पर जंमाई वार-वार आती हैं आदि शिकायतें होती हैं।

गुदास्थित वायु के विगड़ जाने से—मलवन्ध, अश्मरी,

(पथरी) जंघा और मेरुदण्डाश्रित अस्थिगत पीड़ा, मल का अनुलोभ ठीक से न होना आदि शिकायतें होती हैं।

आमाशयगत वायु के कोप से—पार्श्व, हृदय, नाभि में दर्द, बार-बार प्यास लगना, डकारें आना, उल्टी होना, मिचलाहट और जी घबड़ाना, गले और मुख का सूखना, अम्ल पित्ताधिक्य और श्वास जैसे रोग उत्पन्न होते हैं।

पक्वाशयस्थ कुपित वायु—आंतों में गुड़गुड़ाहट, उदरशूल, आटोप (अफारा), मलमूत्र का अवरोध, आनाह (पेट पर सूजन), त्रिक प्रदेश में पीड़ा होना आदि बीमारियां होती हैं।

कर्ण (कान) आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों में आश्रित कुपित वायु कान की श्रवणशक्ति, नेत्र की दृष्टिशक्ति, जिह्वा का स्वाद, नासा की गन्धशक्ति एवं त्वचा की स्पर्श शक्ति को नष्ट कर देती है, और विस्फोट-पीड़ा, फुन्सी, वेदना, सूजन, स्राव आदि उत्पन्न करता है। त्वचागत स्पर्श ज्ञान की कमी के साथ काले पड़जाना, सूई चुभने के समान पीड़ा, त्वचा फटी सी हो जाना, तथा सिकुड़ना या चकते उत्पन्न करती है।

शिरागत वायु के कोप से शिरःशूल, रक्तसंचालन में गतिरोध, संकोच स्थूलता या पूर्णता हो जाती है।

स्नायु (नस) में वायु दूषित होने पर—शरीर टेढ़ा हो जाना, कुब्जता (कुब्बड़ होना) अथवा स्थानिक वेदना उत्पन्न होती है।

सन्धिगत वायु के कोप से—सन्धियों का आकुंचन प्रसारण में कठिनता और वेदना, सूजन और गांठ जैसी पड़जाना, अवलम्बक कफ सूखकर वायु के द्वारा जकड़ जाना आदि शिकायतें उत्पन्न हो जाती हैं।

स्वास्थ्य पर वायु का दूषित प्रभाव—

उक्त पांच प्रकार का वायु अपने-अपने स्थानों पर रहकर शरीर को धारण तथा पोषण समरूप से प्रकृतिस्थ रहकर करता है। किन्तु वही जब पित्त के साथ मिलकर दूषित होता है तो शारीरिक प्रदाह और वमन उत्पन्न करता है और जब कफ के साथ मिलकर दूषित होता है तो शारीरिक दुर्बलता, सुस्ती, तन्द्रा और मुंह का स्वाद बिगाड़ देता है।

पित्त कफावृत प्राणवायु—पित्त के साथ मिलकर वमन और शारीरिक दाह (जलन) उत्पन्न करता है। वही जब कफ के साथ मिलता है तो शारीरिक दुर्बलता, सुस्ती, तन्द्रा या अनिद्रा होती है।

पित्तकफावृत उदान—शारीरिक प्रदाह के साथ मूर्च्छा (बेहोशी), भ्रम (अटपटा बोलना), क्लम (आमाशय में थकावट) होता है।

कफावृत उदान—पसीना का अवरोध, शरीर में रोमांच होना, जठराग्नि की कमी, शीत (ठंड) का लगना ये लक्षण होते हैं।

पित्तावृत समान—पसीना का अधिक आना, अन्तर्दाह गर्मी का अनुभव होना तथा बेहोशी की स्थिति उत्पन्न होती है।

कफावृत समान—मल-मूत्र का अवरोध, शरीर की सिहरन आमाशयगत अस्त-व्यस्तता होती है।

पित्तावृत अपान—गर्मी के साथ मूत्र का रक्त में प्रवाह, जलन, अकड़न तथा मूत्र कृच्छ्र के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

कफावृत अपान—शरीर के अधोभाग में भारीपन, सुस्ती, आमाशय विक्षोभ, शीत का अनुभव।

पित्तावृत व्यान—व्यानवायु के साथ पित्त के मिल जाने से दाह (शरीर में जलन), अंग विक्षेप (हाथ-पैर फेंकना) क्लम (थकान) बेचैनी होती है।

कफावृत व्यान—सारा शरीर जकड़ जाना, दंडापतानक (शरीर डंडे के समान सीधा हो जाना), शूल, शोथ (सूजन), अर्दित (मुह का टेढ़ा हो जाना) आदि वात व्याधियां उत्पन्न होतीं हैं।

संभूत सभी शारीरिक गतिविधियां वायु के द्वारा संचालित होती हैं; किन्तु वायु जब बिगड़ जाती है तो शरीर को बर्बाद कर डालता है। वायु के असंख्य रोग होते हैं किन्तु शास्त्रकारों ने आयुर्वेद में मुख्यतया 'अशीतिर्वात विकाराः' अस्सी प्रकार की वात व्याधियां होती हैं ऐसा कहा है। जिसका आयुर्वेद शास्त्र सम्मत वातरोग का रूप पृथक्-पृथक् इस प्रकार कहा है। जैसे—

१—नखभेद (नख का टेढ़ा होना)

२–विपादिका (पैरों में विपादिका, बेमाई)
३–पादशूल (पैरों में दर्द)
४–पादभ्रंश (जहाँ पैर को उठाकर कदम रखना हो वहाँ न पड़कर अन्यत्र जा पड़ना या लड़खड़ाना)
५–पादसुप्तता (पैर की स्पर्शज्ञान हीनता)
६–वात खुड्डता (पैर और जांघ की संधि वात ग्रसित
७–गुल्फ ग्रह (गुल्फ स्थल का जकड़ जाना)
८–पिण्डिकोद्वेष्टन (पिण्डलियों में उद्वेष्टन या ऐंठन)
९–गृध्रसी (जानुभेद या Siatica)
१०–जानुभेद (जोड़ों में भेदनवत पीड़ा)
११–जानु विश्लेष (जानु सन्धि का ढीला होना)
१२–उरुस्तम्भ (जंघे में अशक्तता)
१३–उरुसाद (जंघे में शिथिलता)
१४–पांगुल्य (लंगड़ापन)
१५–गुदभ्रंश (मलमार्ग का विस्तृत होना टेढ़ा होना)
१६–गुदार्त्ति (मलमार्ग में पीड़ा)
१७–वृषणोत्क्षेप (अण्डकोषों का ऊपर चढ़ जाना)
१८–शेफस्तम्भ (मूत्रेन्द्रिय की जड़ता)
१९–वंक्षणानाह (वंक्षण में सूजन)
२०–श्रोणिभेद (कटि में असह्य पीड़ा)
२१–विड्भेद (मल का अत्यन्त निकलना)
२२–उदावर्त्त (अधोवायु विष्टम्भ)
२३–खंजता (शिर के बाल गोलाकार में उड़ जाना या लँगड़ा हो जाना)
२४–कुब्जता (कुब्बड़ हो जाना)
२५–वामनता (बौना होना)
२६–त्रिक ग्रह (त्रिक प्रदेश का जकड़ जाना)
२७–पृष्ठ ग्रह (पीठ का जकड़ा जाना या पीठ में वेदना)
२८–पार्श्वावमर्द (पार्श्वों में मर्दनवत पीड़ा)
२९–उदारवेष्ठ (उदर में कुछ बंधे जैसे बोध होना)
३०–हृन्मोह (Heart Failure) (पगलापन)
३१–हृद्द्रव (हृदय का स्फुरण—Heart pulpitation)
३२–वक्षउद्घर्ष (छाती या फुफ्फुस में पीड़ा और शब्द होना)
३३–वक्ष का उपरोध (छाती की धड़कन या कुछ रुका हुआ बोध होना)
३४–कण्ठोद्ध्वंस (स्वरभेद या शुष्क कास)
३५–वक्षस्तोद (छाती या फुफ्फुस में सूचीवेधनवत् पीड़ा)
३६–हनुस्तम्भ (हनु प्रदेश (जबड़) का जकड़जाना)
३७–ओष्ठभेद (अक्षिभेद या ओठ फटना)
३८–दंतभेद (दांतों का टूट जाना या बेगर हो जाना)
३९–दंतशैथिल्य (दांतों की शिथिलता)
४०–मूकता (गूंगापन)
४१–वाक्सङ्ग (हठात् वाणी का रुक जाना)
४३–कषायास्यता (मुँह का कसैला होना)
४५–मुखशोष (मुख का सूखना)
४६–अरस संज्ञता (जीभ में रस स्वाद हीनता)
४७–अगन्धज्ञता (गंध का ज्ञान न होना)
४८–घ्राणनाश (नाक से गन्ध लुप्त हो जाना)
४९–कर्णशूल (कान में दर्द)
५०–अशब्द श्रवण (शब्द न होते हुए भी शब्द का सुनना)
५१–उच्चैःश्रुति (ऊंचा सुनना)
५२–बधिरता (बहरापन)
५३–वर्त्मस्तम्भ (पलक को न हिला सकना)
५४–वर्त्मसंकोच (पलक का सिकुड़ना या खोल न सकना)
५५–तिमिर (शाम अंधेरा बोध होना या रात को न देख सकना)
५६–अक्षिशूल (आंखों में वेदना)
५७–अक्षिव्युदास (आंख का ऊपर चढ़ा रहना)
५८–भ्रूव्युदास (भौंओं का ऊपर चढ़ा रहना)
५९–शङ्खभेद (शङ्ख देश में वेदना होना)
६०–ललाट भेद (मस्तक में दर्द होना)
६१–शिरोरुक् (शिर में पीड़ा)
६२–केशभूमिस्फुटन (बालों की जगह का फूटना)
६३–अर्दित रोग (मुँह का टेढ़ा हो जाना)
६४–एकाङ्ग वात (शरीर का एक भाग अक्षम्य होना)
६५–सर्वांग वात (सभी अङ्गों का शिथिल पड़ जाना)
६६–पक्षाघात (वात का दौड़ा, शरीर कांपना)
६७–आक्षेपक (किसी एक अङ्ग पर हमला)
६८–दण्डक (शरीर लाठी की तरह कड़ा, स्तब्ध होना)
६९–श्रम (थकावट)
७०–भ्रम (Giddiness) पहिचानने में बाधा।

—शेषांश पृष्ठ ६७ पर देखें।

त्रिदोष में वात का महत्व

श्री जगदीशचन्द्र असावा बी०ए०,ए०एम०बी०एस०, रीडर—शारीर

त्रिदोष में वात का महत्व प्रसिद्ध है। इसका कई स्थलों पर स्पष्ट विवेचन हुआ है। भगवान चरक ने गुल्म प्रकरण में एक तथ्य व्यक्त किया है—

यथोल्वणस्य दोषस्य तत्कार्यं भिषग्जितम्। आदावन्ते च मध्ये च मारुतं परिरक्षिता ॥

वात का शारीर रचना क्रिया तथा नैदानिक महत्व के साथ चिकित्सा महत्व भी है। अचिन्त्यवीर्य वात शरीरगत किसी भी सम्भव विकृति का हेतु बन सकता है। सुतरां वात के सर्वोपरि वैशिष्ट्य को व्यक्त करना आवश्यक समझकर श्री जगदीश चन्द्र जी असावा ने यह लेख प्रेषित किया। शारीर-शास्त्री श्री असावा से ऐसे ही लेख की अपेक्षा थी। —गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिष०।

विसर्गादान विक्षेपैः सोम सूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफ पित्तानिलास्तथा ॥—सुश्रुत

त्रिदोष के क्षेत्र में वात सर्वाधिक प्रधान तथा महत्वपूर्ण दोष है कारण कि संचालन शब्द से चल-गति अथवा क्रिया केवल वात का ही कर्म है पित्त तथा कफ भी वात के अनुबंध से सक्रिय होते हैं। शरीर की रचना दोष धातु एवं मल इन घटकों से मिल कर होती है। ये सभी घटक वात के कारण ही स्व-स्व कर्म करते हैं अतः शार्ङ्गधर ने कहा है—

पित्तं पंगु कफं पंगु पंगवो मल धातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते वर्षन्ति तत्र मेघवत् ॥

अर्थात पित्त-कफ-धातुयें (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र) एवं मल (पुरीष-मूत्र स्वेदादि) सभी गति हीन है केवल वात ही गतिमान है।

अष्टांग संग्रह शारीरस्थान अ० ५ शरीर की उत्पत्ति एवं विनाश की प्रक्रिया (Anabolic and Ketabolic actions) वात के कारण कही है। शरीर की सूक्ष्म रचना कोषों के संयोग एवं विभाग की प्रक्रिया भी वात के कारण ही होती है—

सर्व एव तु अवयवः परमाणु भेदेन अति सौक्ष्म्यात् असंख्येतां यान्ति तेषां संयोग विभागे परमाणूनां कर्म प्रेरितो वायुः कारणम् ॥

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि सामान्य रूप से शरीर संचालन में वात का सर्वाधिक महत्व है। वात का कार्य सर्व शरीर गत होता है। निम्न ३ चित्रों में मानव शरीर में वात के कार्यों का प्रदर्शन किया गया है—
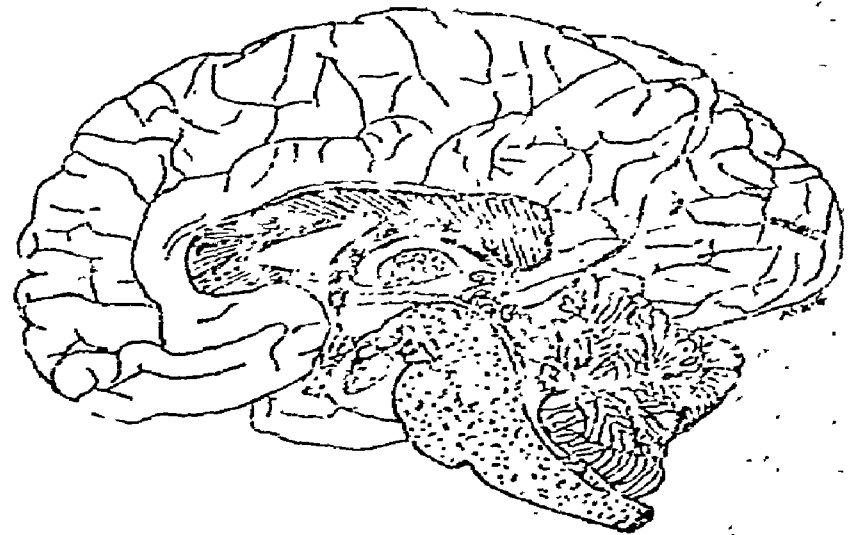
ज्ञानेन्द्रिय मर्म मानस कर्म

प्राण उदान-समान-व्यान एवं अपान भेद से वात समस्त शरीर में क्रियायें करती है।

इस प्रकार प्राकृत (स्वस्थावस्था) में वात द्वारा
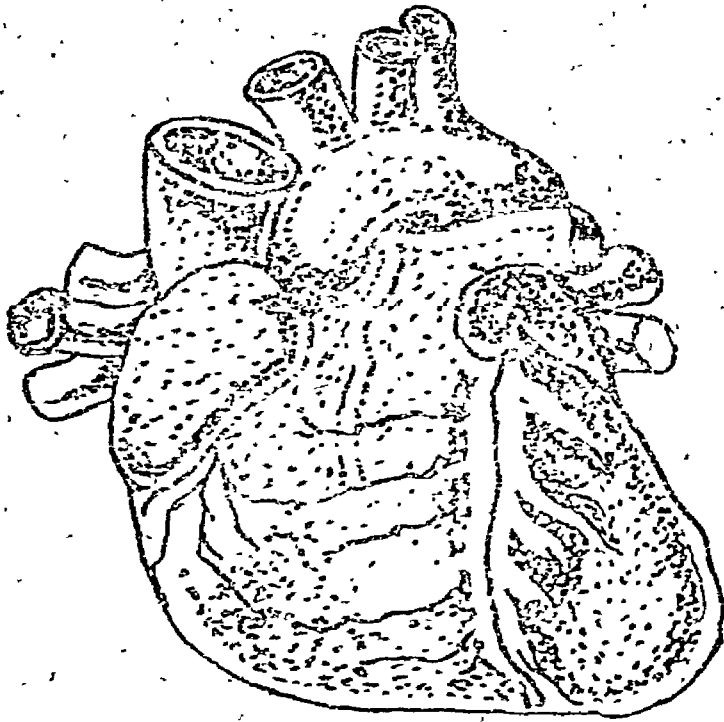
रस संवाहन

शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग अपनी क्रिया करते हैं।

वैकृतावस्था में वात का महत्व—वैकृतावस्था अथवा रोगों की उत्पत्ति में वात का योगदान सर्वाधिक होता है। वैकृत दोष (कफ एवं पित्त) धातु एवं मलों के द्वारा रोगोत्पत्ति में भी वायु ही मुख्य भूमिका का निर्वाह करती है।

चक्रपाणि के कथनानुसार वात उभयधर्मी होती है—

वायोरुभ्यार्थ कर्तत्व योगवाहितया ज्ञेयम् ॥

चरकानुसार "दाहकृत तेजसायुक्त, शीतकृत श्लेष्म संश्रयात" के अनुसार वात पित्त एवं कफ के साथ मिलकर उनके लक्षणों को बढ़ाती है। सु. चि. ३५। २९ में वात की प्रमुखता का उल्लेख दोष प्रकोप में किया है।

"दोषत्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः"

च. चि. २८-५९-६० में वायु के द्वारा शेष दोषों के रोगों की उत्पत्ति का वर्णन किया है—

वात पित्त कफा देहे सर्व स्रोतोऽनुसारिणः।
वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद द्वयोस्तत्राप्युदीरणः॥
कुपितस्तो सुमुदधूम तत्रतत्र क्षिपन गदान करोति ॥

इतना ही नहीं चरक चिकित्सा स्थान में सभी रोगों की उत्पत्ति में वात की कारणता कही गई है।
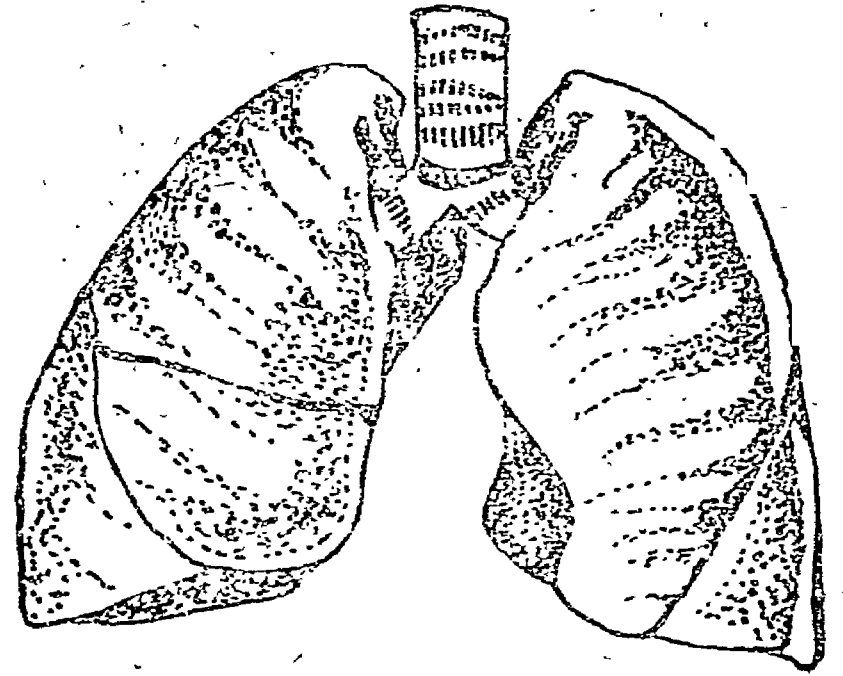
वाणी एवं श्वासोच्छवास

पृष्ठ ६५ का शेषांश

७१—वेपथु (कम्पन या शरीर कांपना)
७२—जृंभा (हाफी होना या जंभाई आना)
७३—विषाद (अप्रसन्नता)
७४—प्रलाप (अंट-संट बोलना)
७५—ग्लानि (खिन्नता या खेद बोध)
७६—रूक्षता (शरीर में रूखापन हो जाना)
७७—परुषता (कठोरता वर्तना)
७८—श्यावारुणाभासता (शरीर का रङ्ग काला या लाल में बदलना)
७९—अस्वप्न (अनिद्रा का होना)
८०—अनवस्थितता (चित्त का स्थिर न होना)

ये अस्सी प्रकार का वात विकार स्पष्ट रूप में देखा जाता है किन्तु वात विकार अपरिसंख्येन (अनगिनत) है। पाठान्तर में कुछ मतभेद हैं किन्तु सभी आयुर्वेद शास्त्रकारों ने अस्सी प्रकार का ही वात रोग माना है। जिसका आयुर्वेद शास्त्र-सम्मत वातरोग के रूप-लक्षण और शमन की विस्तृत विवेचन मिलता है।

★ श्री जगदीश चन्द्र अगावा ★

वात संस्थान को ही नाड़ी (भेल संहिता चि॰अ॰८) संस्थान कहते हैं। इसके दो विभाग हैं। प्रथम को मस्तिष्क सौषुम्निक नाड़ी संस्थान तथा दूसरे को स्वतंत्र नाड़ी संस्थान (Cerebro spinal nervous system and Autonomic nervous system) कहते हैं। दोनों एक दूसरे के सहयोग से कार्य करते हैं। दोनों के संज्ञावह और मनोवह नाड़ी सूत्र होते हैं। ये दोनों नाड़ी धातु (Nerve tissue) से निर्मित होते हैं। नाड़ी धातुओं का निर्माण नाड़ी या तन्त्रिका कोषाओं (Nerve cells) और उनसे निःसृत होने वाले नाड़ी या तन्त्रिका सूत्रों (Nerve fibres) से ललित रूप से होती है।

मस्तिष्क सौषुम्निक नाड़ी संस्थान के दो अङ्ग हैं— (१) मस्तुलुङ्ग पिण्ड (Brain) तथा (२) सुषुम्णा।

अब मस्तुलुङ्ग पिण्ड के मस्तिष्क (Cerebrum), धम्मिल्लक (Cerebellum), मस्तुलुङ्ग मध्य (Mid brain), उष्णीषक (Pons) और सुषुम्णा शीर्षक (Medulla oblongata) पांच विभाग होते हैं। इन पर बहुत सी सीताएँ (Grooves) होती हैं। मस्तिष्क ऊपर होता है, धम्मिल्लक मस्तिष्क के पृष्ठ की ओर नीचे के भाग की ओर होता है, मस्तुलुङ्ग मध्य-मस्तिष्क, धम्मिल्लक और उष्णीषक को आपस में संयुक्त करने वाला अंग है। इसके निम्न भाग में ग्रन्थि के आकार का उष्णीषक स्थित होता है और उसके भी निम्न भाग में सुषुम्णाशीर्षक स्थित होता है। सुषुम्णाशीर्षक निम्न भाग की ओर सुषुम्णा से जुड़ा हुआ रहता है—ये समस्त अवयव करोटि में व्यवस्थित रहते हैं। तत्पश्चात् करोटि के नीचे के भाग में एक छिद्र होता है जहां से सुषुम्णा की शुरुआत होती है। सुषुम्णा पृष्ठवंश में कनिष्ठिका अंगुली सदृश्य तथा ४५ से॰मी॰ लम्बी संरचना होती है जिसके मध्य में अति सूक्ष्म सुषुम्णा नाड़ी स्थित होती है। (चित्र पृष्ठ ६९ पर)

मस्तुलुङ्ग पिण्ड और सुषुम्णा दोनों तीन आवरणों से बंधी हुई रहती है। मस्तुलुङ्ग पिण्ड के आभ्यन्तर भाग में चार गुहायें रहती हैं जिन गुहाओं, आभ्यन्तर के दोनों आवरणों के अंतराल और सुषुम्णा नलिका के मध्य में सुषुम्णा द्रव (Cerebro-spinal fluid) जिसे तर्पक श्लेष्मा भी कहते हैं, भरा रहता है। यही सुषुम्णा के नीचे जाकर गुदा मार्ग से ऊपर मूलाधार और स्वाधिष्ठान के बीच में कुण्डलिनी तन्त्रिका से सम्बन्धित है। वह कुण्डलिनी नाड़ी तन्त्रिका से सम्बन्धित है। यह कुण्डलिनी नाड़ी (तन्त्रिका) शिवलिङ्ग पर तीन फेरा लगाये हुए सर्प की भांति सामान्य दशा में सुषुप्तावस्था में रहता है किन्तु जब हठयोग की कठोर साधना द्वारा इसे जाग्रत किया जाता है तो ऊपर की ओर सुषुम्णा गुह्य मार्ग से सरकते हुए क्रमशः एक-एक चक्र को पार करते हुए अन्त में सहस्रार तक यह पहुंच जाता है। तब शक्ति का शिव से मिलन हो जाता है तथा साधक को पूर्ण सिद्धि मिल जाती है।

सुषुम्णा काण्ड में शुभ्र वस्तु बाह्य भाग की ओर तथा शुभ्र धूसर वस्तु आभ्यन्तर भाग की ओर
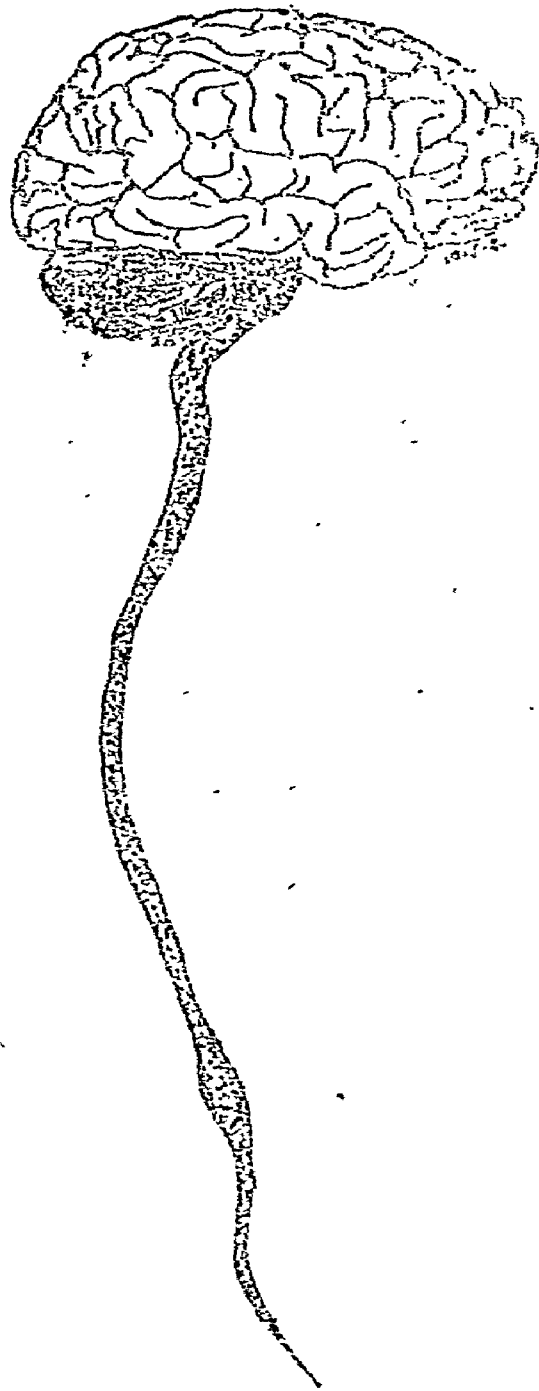
पश्चिम शृङ्ग कहते हैं। सुषुम्णा काण्ड में समूची लम्बाई में आगे और पीछे की ओर चीरे (Fissures) पड़े होते हैं। मानव शरीर के विभिन्न भागों से सुषुम्णा के नाड़ी
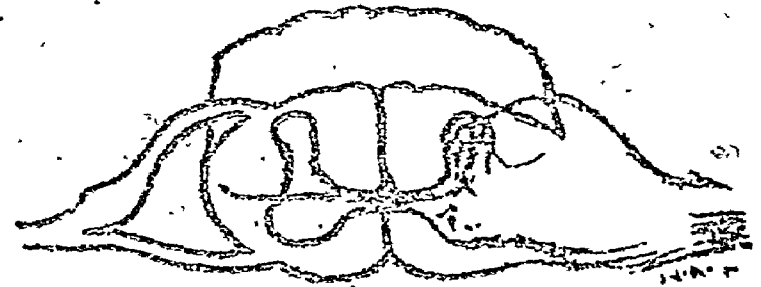
सुषुम्णाकाण्ड का अनुप्रस्थ काट

सूत्रों में ज्ञान के वेग पहुंचते और वहां से चेष्टाओं के प्रवर्तक वेग अंग-प्रत्यङ्गों को प्राप्त होते हैं।

सुषुम्णा काण्ड के ऊर्ध्व भाग से निम्न भाग तक दाहिने और बायें समरूप से अनेक नाडियां (तंत्रिकायें) निकलती जाती हैं जिन्हें सौषुम्निक नाड़ियां (Spinal nerves) कहा जाता है। ये विभिन्न कशेरुकाओं के छिद्रों से बाहर निकलकर आती हैं। इनका उद्गम मूल सुषुम्णा के मध्यवर्ती धूसर वस्तु के नाड़ी अणु हैं। इनसे निःसृत नाड़ी सूत्र मिलकर धूसर वस्तु के अग्रिम और पश्चिम शृङ्गों के बाहर आते हैं। प्रत्येक कशेरुका के अन्तरालवर्ती शृङ्गों से एक-एक उद्गम उत्पन्न होता है। दोनों पार्श्वों के अग्रिम और पश्चिम उद्गम शीघ्र ही मिल जाते हैं तथा परस्पर मिलकर एक नाड़ी का निर्माण करते हैं। आगे जाकर इनके विभाग और उपविभाग होकर वह शाखा-प्रशाखाएँ त्वचा, पेशी, अस्थि आदि में समाविष्ट हो जाते हैं। इन नाड़ियों में संज्ञावह और मनोवह दोनों प्रकार के सूत्र होते हैं जो उद्भव स्थान में अलग अलग होते हैं। ग्रीवा से छाती के अधोभाग तक सौषुम्निक नाड़ियों के इकत्तीस जोड़े निकलते हैं तथा सबसे नीचे के भाग में ये अश्वपुच्छ के समान समानान्तर गुच्छों के रूप में निकलती है। यही कारण है कि सुषुम्णाकाण्ड का जो भाग विकृत हो जाता है, उससे निम्न भाग से निकलने वाली नाड़ियां जिन अङ्ग-प्रत्यङ्गों को जाती हैं उनमें संज्ञा तथा चेष्टा सम्बन्धी विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

स्थित होती है। सुषुम्णा का अनुप्रस्थ आच्छेद काटें तो धूसर वस्तु का आकार अंग्रेजी अक्षर H के समान होता है तथा धूसर वस्तु की रचना मुख्यतः नाड़ी अणुओं से तथा शुभ्र वस्तु की रचना नाड़ी सूत्रों से होती है। धूसर वस्तु के दो सिरे आगे की ओर निकले हुए को अग्रिम शृङ्ग और दो सिरे पीछे की ओर निकले हुए को

★ डा॰ महेश्वर प्रसाद आयु॰ बृह॰, प्राणाचार्य ★

स्वतन्त्र नाड़ी संस्थान मनुष्य की इच्छाओं एवं प्रयासों के बिना ही क्रियाओं को नियमित रूप से करती तथा उन्हें नियन्त्रित किए हुए रहती है। रक्त संचालन हो यत्रतत्र धावन और, अन्न का परिपाक हो रक्त रस बनना—ये स्वतन्त्र नाड़ी संस्थान के कार्य हैं। इसके दो विभाग हैं। (१) मध्य स्वतन्त्र संस्थान तथा (२) परि-स्वतन्त्र संस्थान। दोनों विभाग के कार्य एक दूसरे के विरोधी हैं। स्वतन्त्र नाड़ी संस्थान का नियन्त्रण मस्तिष्क के मूल में स्थित आज्ञाकन्द नामक दो नाड़ी कन्दों से होता है। साथ ही सुषुम्ना नाड़ी के दोनों ओर (पृष्ठ-वंश के दोनों पार्श्वों पर) नाड़ी कन्दों की एक-एक श्रृङ्खला होती हैं जो योगियों की इड़ा-पिङ्गला नाड़ियां हैं। ये नाड़ीकन्द और इनसे निःसृत नाड़ीसूत्र मध्य स्वतन्त्र संस्थान कहलाते हैं जो सौषुम्णिक नाड़ियों से मिल जाते हैं।

परिस्वतन्त्र नाड़ी संस्थान के सूत्र तीसरे, सातवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें शीर्षण्य नाड़ियों में एवं दूसरे, तीसरे और चौथे अनुत्रिक सुषुम्णा काण्ड के त्रिकास्थि के अन्तर्वर्तीय अंश से निकली नाड़ियों में ठहरे रहते हैं। इसके शीर्षण्य नाड़ियों में स्थित उपविभाग को उत्तर-परिस्वतन्त्र संस्थान और निम्न भाग वाले को अधर परि-स्वतन्त्र संस्थान कहा जाता है। आन्त्र, हृदय, वस्ति और अन्य आभ्यन्तर अवयवों में जो नाड़ी कन्द होते हैं उनसे निकले सूत्र चक्रवत् व्याप्त होते हैं जिन्हें योगीजन मणि-पुर चक्र आदि विभिन्न नामों से पुकारते हैं। ये सवचक्र मध्य स्वतन्त्र नाड़ी संस्थान और परिस्वतन्त्र नाड़ी संस्थान के विभिन्न केन्द्रों के अधीन रहकर तत्सम्बन्धित निज अङ्ग-प्रत्यङ्गों का नियमित संचालन करते हैं।

कार्य—

यात संस्थान के दो कार्य सम्पादित होते हैं—(१) शरीर में होने वाली सभी क्रियाओं का नियमन, नियन्त्रण एवं संचालन और (२) बाहरी परिस्थिति के अनुसार उन क्रियाओं में विभिन्न आवश्यकतानुसार परिवर्तनकरण। इन्हीं उद्देश्य से इनके दो प्रकार हैं (अ) संज्ञावह तथा (आ) मनोवह नाड़ियां। (अ) पहले प्रकार की नाड़ियां बाहरी सृष्टि सम्बन्धी ज्ञान को और शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में होने वाली संवेदना को अपने केन्द्रों तक पहुंचाती हैं। (आ) दूसरे प्रकार की नाड़ियां केन्द्रों की ओर से होने वाले आदेशों को अंग-प्रत्यङ्गों की ओर यथा-योग्य चेष्टाओं के रूप में ले जाती हैं। इनमें संज्ञाओं या चेष्टाओं का संदेश वहन करते हुए परिवर्तन या वेग की गति साधारणतः प्रति सैकिण्ड में १२० मीटर होती है।

मात्र दर्शन शास्त्र ही नहीं आयुर्वेद के ग्रन्थरत्नों ने भी इन्द्रियों की दो शाखा निर्धारित की हैं—(१) ज्ञानेन्द्रिय और (२) कर्मेन्द्रिय। दोनों के कार्य आत्म से प्रेरित होकर मन द्वारा सम्पादित होते हैं। यही तथ्य आधु-निक शारीर शास्त्री दूसरे शब्दों में—"ज्ञान और कर्म के वेगों का वहन" निरूपित करते हैं।

प्रतिवर्त क्रियाएं (Reflex actions)—

जो क्रियायें मनुष्य की इच्छाधीन प्रयास के बिना ही सम्पादित होती हैं उन्हें प्रतिवर्त क्रियायें कहते हैं। रक्त संवहन, श्वसन क्रिया, पाचन क्रिया आदि शरीर में होने वाली अधिकांश क्रियायें प्रतिवर्त क्रियायें ही होती हैं। इनके अतिरिक्त पैर में सुई चुभोने या गुदगुदी लगने से एकाएक पैर हटा लेना, दृष्टि के सामने सर्प आ जाने पर हठात् पीछे भाग जाना, आंख के सामने अकस्मात कोई वस्तु आ जाने से आंखें बरवस बन्द हो जाना, आदि प्रतिवर्त क्रियाओं के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

मस्तिष्क के कार्य—

मस्तिष्क के गोलार्द्धों के वल्कल अंश में हरेक ज्ञान और कर्म के क्षेत्र अलग अलग स्थित रहते हैं। आवश्य-कता है इन्हें समझाने की। रसों के अनुभव, गन्ध, शीत, उष्ण आदि का अनुभव, हाथ को कर्म की प्रेरणा करने, पैर, जबड़ा, ग्रीवा आदि को कर्म प्रेरक अलग अलग क्षेत्र मस्तिष्क में होते हैं जो उन कर्मों को कराते हैं।

सुषुम्णा शीर्षक के कार्य—

श्वास प्रक्रिया एवं हृदय स्पन्दन की प्रवर्तनी नाड़ी को नियमित एवं नियन्त्रित करती है। यहां फांसी में दबाव पड़ने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। क्योंकि फांसी में स्थानच्युत हुए कसेरुका सुषुम्णा शीर्षक पर दबाव डालती है।

सौषुम्णिक नाड़ियों के कार्य—इनकी शाखा प्रशा-खाएँ जिन अंग-प्रत्यङ्गों में जाती है उनमें संज्ञा और चेष्टा पहुँचाती है।

वात की महत्ता एवं क्रियाशीलता

कवि० डा० यशपाल शास्त्री, वशिष्ठ आरोग्य मन्दिर, चन्द्रनगर, कोठी नं० ३, सहारनपुर (उ०प्र०)
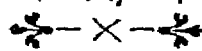
मानव शरीर के निर्माण तत्वों के विषय में आधुनिक अनुसन्धानों से ज्ञात हुआ है कि प्रमुख रूप से पन्द्रह तत्व इस में पाए जाते हैं। यदि एक मध्यममान के व्यक्ति का शरीर भार १५० पौंड मान लें तो तत्वों का संघठनात्मक अनुपात इस प्रकारर हेगा—

नाम तत्व	प्रतिशत	पौंडभार
१—आक्सीजन	६५%	९७.५ पौंड
२—कार्बन	१८%	२७.०० ,,
३—हाइड्रोजन	१०%	१५.०० ,,
४—नाइट्रोजन	३%	४.५० ,,
५—कैल्सियम	२%	३.०० ,,
६—फास्फोरस	१%	१.५० ,,
७—पोटाशियम	०.३५%	८.४ औंस
८—गन्धक	०.२५%	६.०० ,,
९—नमक (सोडियम क्लोराइड)	०.१५%	३.६ ,,
१०—मैग्निशियम	०.०५%	१.२ ,,
११—लोहा	०.००४%	०.१ ,,

१२—आयोडीन १३—फ्लूरीन १४—सिलिक १५—जिंक ये चारों अल्पमात्रा में पाए गए हैं। ताम्बा एवं कोबाल्ट भी सूक्ष्म मात्रा में मिलते हैं। इस तालिका से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक मध्यममानीय १५० पौण्ड के व्यक्ति के शरीर में १४४ पौण्ड भार आक्सीजन, कार्बन डाइऑक्साइड, हाइड्रोजन तथा नाइट्रोजन वायु का ही होता है। शेष छः पौण्ड में लोहा ताम्बा चूना आदि रहते हैं। जिस शरीर का ९६% भाग वात तत्व बनाता हो उसे यदि महर्षि चरक यन्त्र तन्त्र धर, प्रजापति, अदिति, विश्वकर्मा और विश्वरूप कहते हैं तो यह महर्षि की क्रान्तदर्शिनी ऋतंभरा प्रज्ञा का ही परिचय है जिससे शरीर रचना और शरीर क्रिया विज्ञान के सूक्ष्मतम रहस्य को जाना और परखा था। एक प्रकार से हमारा यह शरीर मिट्टी का नहीं वायु का पुतला है।

शरीर में वात तत्व का स्वरूप—

साधारण पाठक को यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि जब हम इस शरीर को वायु का पुतला कहते हैं तो वायु शरीर में किस रूप में रहती है। हमारे प्राचीन आचार्य गौतम कपिल कणाद पहले ही बता चुके हैं कि यह संसार सूक्ष्म अणु परमाणुओं से बना है। आधुनिक वैज्ञानिक आचार्यो ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है। रसायन विज्ञान के अनुसार कार्बन के छः हाइड्रोजन के बारह तथा आक्सीजन केछ ($C_6 H_{12} O_6$) अणु मिलकर ग्लूकोज का एक कण बनाते हैं। ग्लूकोज की भांति जब यही तीनों तत्व द्विगुणित मात्रा में मिलते हैं तो माल्टोज बनाते हैं ($C_{12} H_{22} O_{11} + H_2O$) जब यही अणु चौबीस गुणी मात्रामें संयुक्त होते हैं तो सक्रोज, फ्रक्टोज एवं स्टार्च बनाते हैं। यही तीनों तत्व जब दूसरे अनुपात में संयुक्त होते हैं तो वसा (फैट) बनाते हैं ($C_{51} H_{104} O_6$) इन्हीं के साथ जब थोड़ी नाईट्रोजन गैस तथा थोड़ी सी गन्धक मिल जाती है तो प्रोटीन बन जाती है ($C_{635} H_{1068} N_{106} O_{2111} S_5$)।

इसका सीधा-सा अर्थ यह है कि हमारे भोजन में पाए जाने वाले प्रमुख तीन पदार्थ कार्बोहाइड्रेट, वसा एवं प्रोटीन जिन्हें हम गेहूं, चना, उड़द, मूंग, मसूर, चीनी, घृत तैल, फल-फूल आदि के रूप में प्रतिदिन लेते हैं कुछ वात तत्वों के ठोस रूप हैं। सूक्ष्म अदृश्य वाततत्व संश्लिष्ट होकर ठोसरूप धारण कर लेता है। यदि एक किलो शक्कर को कड़ाही में डालकर जलाया जावे तो

आक्सीजन तथा हाइड्रोजन वायु तत्व तो गैस बनकर उड़ जावेंगे मात्र कार्बन कोयले के रूप में शेष बच रहेगी। जलाने की जो क्रिया कड़ाही में होती है वही क्रिया हमारे शरीर में भी होती है। आटा गेहूं आदि खाद्य पदार्थ हमारे शरीर रूपी भट्टी में प्रति क्षण जलते रहते हैं। प्रज्वलन (आक्सीडेशन) की इस क्रिया से ही शरीर में ताप उत्पन्न होता है। इससे हम यह जान सकते हैं कि वात तत्व हमारे शरीर में इन पदार्थों के रूप में जाता है।

वात तत्व का धातु स्वरूप—

वात पित्त कफ तीनों को आयुर्वेद में दोष के साथ-२ धातु और मल भी कहा गया है। हमारे शरीर में वात तत्व का धातु स्वरूप सात धातुएं हैं। जो कुछ हम खाते हैं वह शरीर में जाने के पश्चात् पचाया जाता है और उससे रस रक्त मांस मेद मज्जा अस्थि एवं शुक्र यह सात धातुएं बनती हैं। खाद्य पदार्थों को ही विभिन्न रूपों में परिवर्तित करके शरीर की आवश्यकता के अनुसार व्यवस्थित रूप दिया जाता है। वनस्पतिशास्त्र के अध्येता जानते हैं कि वृक्षों में प्रकाश संश्लेषण (फोटोसिंथेसिस) नाम की एक क्रिया होती है जिस में पेड़ पौधे वातावरण से कार्बन-डाइ आक्साइड लेकर उसे कार्बोहाइड्रेट, वसा, प्रोटीन अमीइनो एसिड आदि में बदल देते हैं। वनस्पति द्वारा निर्मित इन पदार्थों को मानव खाकर रस रक्त आदि सात धातुओं में परिवर्तित कर देता है। मुक्त आकाश की वायु ही इस प्रकार अव्यक्त से व्यक्त रूप धारण करके हमारे शरीर का निर्माण करती है। यही वात तत्व का धातु स्वरूप है।

वात तत्व का दोष स्वरूप—

दोष का सीधा सा अर्थ होता है त्रुटि, अपराध, गड़बड़ अथवा रोग। जब हमारा शरीर अपनी प्राकृतिक अवस्था में होता है तो वात तत्व धातु रूप में हमें स्वास्थ्य प्रदान करता है। परन्तु जब किसी कारणवश हमारे शरीर का प्राकृतिक संघठन अथवा संतुलन बिगड़ जाता है तो रोग उत्पन्न हो जाता है। शरीर के प्राकृतिक संतुलन का बिगड़ जाना ही रोग है। प्राकृतिक सन्तुलन का बने रहना ही आरोग्य है (रोगस्तु दोषवैषम्यं दोष साम्यमरोगता—चरक)।

ऊपर बताए गए विवरण के परिप्रेक्ष्य में वात तत्व के दोष स्वरूप को समझने का प्रयत्न यदि हम करें तो सरलता से यह समझ में आ सकता है कि शरीर निर्मापक मुख्य १५ तत्वों का संतुलन बिगाड़ने वाला जो भी आहार विहार करेंगे, वही रोगी बना सकता है। संसार में १०५ तत्व हैं उनसे बनने वाले पदार्थ भी असंख्य हैं और हमारे चारों ओर बिखरे पड़े हैं। प्रत्येक प्राणी की शारीरिक बनावट के अनुसार ही प्रकृति ने उसका भोजन निश्चित किया है। शेर, हाथी, बानर, मछली, सांप, चींटी मानव सबका आहार एक-सा नहीं है। शेर हाथी का आहार नहीं ले सकता। हाथी शेर का आहार नहीं ले सकता। यदि लेने का प्रयास करेंगे तो शरीर का संतुलन बिगड़ जावेगा।

वात दोष का स्वरूप समझने में कोई कठिनता नहीं होनी चाहिए। यह हमारा शरीर वात तत्व प्रधान है। सारे संसार में जितने खाद्य पदार्थ हैं सब वात प्रधान हैं। परन्तु सारे पदार्थ हमारे शरीर की बनावट के लिए उपयुक्त नहीं हैं। यदि शरीर की बनावट के विरुद्ध पदार्थ खाए जावेंगे तो वात तत्व का संतुलन बिगड़ेगा, वात तत्व धातु न रहकर दोष बन जावेगा। शरीरस्थ कार्बन डाइ आक्साइड, आक्सीजन, हाइड्रोजन नाइट्रोजन आदि वात तत्व का संतुलन बिगड़ जाना ही वात दोष है।

वात तत्व का कार्य एवं स्थान—

संसार में पाए जाने वाले एकसौ पांच तत्वों के अणुओं की रचना के विषय में जो गहरा अनुसन्धान चल रहा है उससे यह रहस्य उद्घाटित हुआ है कि सभी तत्वों के अणुओं की रचना एक समान है। तत्वों के भौतिक रसायनिक गुणों में जो भेद है उसका कारण अणुओं के भीतर संघठित परमाणुओं की संख्या पर निर्भर है। प्रत्येक अणु तीन प्रकार के परमाणुओं से मिलकर बनता है। अणु के केन्द्र में कुछ न्यूट्रोन होते हैं जो धन विद्युत से आवेशित होते हैं। इस केन्द्र के चारों ओर कुछ कण परि-

—शेषांश पृष्ठ ७८ पर देखें।

समानवात के कार्य

डा० श्रीमती शोभा मीवार—डिमांस्ट्रेटर, डा० जयराम यादव—लैक्चरार, डा० यज्ञदत्त शुक्ल
स्नातकोत्तर शारीर विभाग, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, लखनऊ।

विभिन्न आयुर्वेदीय आचार्यों के द्वारा समान वात की स्थिति अन्तः अग्नि तथा उसके निकटवर्ती अवयवों में निर्दिष्ट की गयी है। अंतः अग्नि का केन्द्र स्थल नाभि से आधा अंगुल बांयी ओर उदर के आभ्यन्तर भाग में है। यह स्थान अग्न्याशय (Pancre s) का है जो ग्रन्थि रूप में है। आधुनिक क्रिया शारीर में उपलब्ध ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट होता है कि पाचक पित्तों का स्राव अन्नवह स्रोतस के अधिकतर अंश में होता है। अन्नवह स्रोतस का स्राव दो प्रकार का होता है। एक तो पाचक अंशों से युक्त स्राव और दूसरा श्लैष्मिक ग्रन्थियों से निकलने वाला। प्रथम अंश द्वारा आहार का पाचन सम्पन्न होता है और द्वितीय भाग द्वारा अवयवों को स्निग्धता प्रदान की जाती है। अधिकतर पाचक रसों का निर्माण अन्नवह स्रोतस प्राप्त आहार द्रव्यों के संदर्भ में होता है, अर्थात सम्यक् पाचन हेतु पाचक रसों का स्राव आहार द्रव्यों की उपस्थिति या अनुपस्थिति पर निर्भर करता है।

अन्नवह स्रोतस में स्थित विभिन्न प्रकार की ग्रन्थियों द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार के पाचक रसों का स्राव होता है। महास्रोतस में चषक कोष (Goblet Cells) श्लैष्मिक स्राव को उत्पन्न करता है। आमाशयिक ग्रन्थियाँ नलिकाकार होती हैं और आमाशयिक पाचक रसों का उत्पादन करती हैं। इसी प्रकार आन्त्र में क्रिप्ट्स आफ लिवरसन में स्थित ग्रंथियां पाचक रस एवं पित्त को उत्पन्न करने का कार्य करती है। पाचक रसों का स्राव महास्रोतस में किसी भी प्रकार की स्थानिक उत्तेजना के कारण हो सकता है। इस कार्य में आहार द्रव्यों की उपस्थिति होने के कारण स्रोतस की भित्ति में होने वाला तनाव भी सहायक होता है। आंत्र गति बढ़ने के साथ स्राव की गति भी बढ़ जाती है। अन्न नलिका में उपस्थित परानुकम्पी तंत्रिकाओं की उत्तेजना स्राव में अभिवृद्धि करती हैं। नलिका के उर्ध्वपथ में प्राणदा एवं अन्न परानुकम्पी तन्त्रिकायें भाग लेती हैं। यह मुख से निकलने वाली लालास्राव, अन्न प्रणाली (Oesophogus) का स्राव, आमाशयिक ग्रंथियों के स्राव, अग्न्याशय के स्राव तथा आद्यांत्र (Duodcutim) में स्थित ग्रंथियों के स्राव को प्रभावित करते हैं। बृहदान्त्र के शेष भाग को श्रोणिगत परानुकम्पी तन्त्रिकाओं से आपूर्ति होती है।

आयुर्वेद के अनुसार इनके कार्यों का समावेश समान वात के अन्तर्गत होता है। अनुकम्पी तन्त्रिकाओं की इस अवयव समूह पर क्रिया दो प्रकार से होती है। प्रथम इनकी उत्तेजना के कारण स्राव में कुछ अभिवृद्धि होती है। दूसरी वह रक्त वाहनियों को संकुचितकर रक्त पूर्ति को कम करती है। ब्रूनर की ग्रन्थियों में परानुकम्पी तन्त्रिकाओं की उत्तेजना के प्रभाव के कारण स्राव में वृद्धि होती है।

पाचक रसों के स्राव को कुछ आहार नलिका की अन्तः स्रावी ग्रंथियों से निकलने वाला स्राव भी प्रभावित करता है। इस हारमोन की उत्पत्ति के पश्चात यह हार्मोन रक्त में परिभ्रमित होते हुये रचनाओं पर कार्य करके आमाशयिक एवं अग्न्याशयिक रस उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। तत् समान ही पित्ताशय भी अपना

स्राव आद्यान्म के द्वितीय भाग में स्रवित करता है। विभिन्न ग्रन्थियों से स्राव की क्रिया के संदर्भ में आधुनिक क्रिया शारीर वेत्ताओं द्वारा ६ सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जाता है—

१—स्राव का निर्माण करने वाले पोषक तत्वों को कोष में पहुँचना आवश्यक होता है।

२—कोष में स्थित बहुत से माइटोकान्ड्रिया A.T.P. के निर्माण हेतु आक्सीडेटिव एनर्जी निर्माण करते हैं।

३—A.T.P. से प्राप्त शक्ति द्वारा स्रवित होने वाले द्रव्य का निर्माण होता है। इन तत्वों के निर्माण का कार्य Endoplasmic reticulum में होता है। इस जालक के समीप स्थित rilosomes स्राव का निर्माण करता है।

४—स्रवित होने वाला पदार्थ इस जालक की नलिकाओं से होता हुआ गाल्गी उपकरण की स्फोटिका में पहुँचता है। यह स्फोटिका कोष के स्रावी अन्त के समीप होती है।

५—तदुपरांत स्राव पोषक द्रव्य में स्रावी फणिकाओं रूप में प्रवेश करती हैं और यही फणिकायें स्रावी तल ग्रन्थि के अवकाश में पहुँच जाती हैं। तन्त्रिकाओं की उत्तेजना के परिणामस्वरूप ही जल एवं खनिज लवणों स्राव को नियमित किया जाता है।

क्लोराइड आयंस को पोषक कोष के आभ्यन्तर पहुंचाने के लिये कोष कला के आधारीय अंश पर तन्त्रिका उत्तेजना का प्रभाव पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप कोष के आभ्यन्तर भाग में ऋणात्मकता की वृद्धि हो जाती है। धनात्मक आयन्स कोष में पहुँचने लगते कोष के आभ्यान्तर भाग में इन ऋणात्मक एवं आयन्स की अधिकता होने के परिणामस्वरूप जल भी कोष के आभ्यान्तर भाग में प्रवेश करता है। कोष में बढ़ा हुआ दबाव कोष के स्रावी उपान्त को विदीर्ण कर देता है जिससे जल एवं खनिज लवण कोष के स्रावी अन्त के माध्यम से अवकाश में पहुँच जाते हैं।

लालास्राव प्रमुख रूप से कर्ण पूर्व ग्रन्थि (पैरोटिड), हनुम्भग्रन्थि (सब'मैन्डीबुलर) अधोजिह्वग्रन्थि सबलिंगुअल ग्रन्थियों से स्रवित होता है। इन ग्रन्थियों के अतिरिक्त भी अनेकों मुखीय ग्रन्थियां (Buccal glunds) भी होती हैं। जो लालास्राव को अपने उत्पादों द्वारा अनुग्रहीत करती हैं।

लालास्राव के साथ ही बहुत से आयन्स उदाहरणार्थ पोटैशियम कार्बोनेट, सोडियम क्लोराइड आदि का भी स्राव होता है लालास्राव का स्रवण दो चरण में होता है प्रथम रंध्रिका क्रिया (Acini Action) के द्वारा सम्पन्न होता है, दूसरे चरण की लालास्राव ग्रन्थियां प्रभावित करती हैं। रंध्रिका क्रिया के द्वारा होने वाला स्राव प्राथमिक स्रवण कहलाता है लालाग्रंथियों से होने वाले स्राव का नियमन प्रमुख रूप से तान्त्रिकाओं के माध्यम से होता है सबमैक्सीलरी एवं सबलिंगुअल ग्रंथियों से स्रवण सेलीवेटरी केन्द्रक द्वारा प्राप्त संवेदनाओं के माध्यम से नियमित होता है जबकि पैरोटिड ग्रन्थि का नियमन उस केन्द्रक के अधोभाग द्वारा होता है। यह केन्द्रक पान्स और मैडुला के संधि स्थल पर होता है, तथा जिह्वा एवं मुख से प्राप्त होने वाली उत्तेजनाओं द्वारा प्रभावित होता रहता है। मुख में किसी भी स्निग्ध पदार्थ की उपस्थिति से लालास्राव में वृद्धि होती है। रूक्ष पदार्थ के सेवन से इसमें ह्रास होता है। लालास्राव के क्षरण की क्रिया मस्तिष्कगत उच्च केन्द्रों से प्राप्त उत्तेजनाओं द्वारा प्रभावित होती है। यह क्रिया आमाशय एवं आन्त्र में सम्पन्न प्रत्यावर्तन क्रियाओं के द्वारा भी प्रभावित होती है। अन्न प्रणाली की भित्ति में उपस्थित विभिन्न श्लेष्मा स्रावी ग्रन्थियों का स्राव उसके अवकाश में विद्यमान आहार द्रव्यों द्वारा प्रभावित होता है।

आमाशयिक स्रावों का क्षरण करने वाले ग्रंथियों में प्रमुख रूप से ३ प्रकार के कोष पाये जाते हैं।

१—श्लेष्माग्रीवा कोष (Mucus Neck Cells)
२—प्रमुख कोष (Chief cells)
३—परिसरीय कोष (Porictal Ce'ls)

इनमें से श्लेष्मा ग्रीवा कोषों द्वारा श्लेष्मा का, प्रमुख कोषों द्वारा पाचक प्रक्रिण्वों (Enzymes) का और परिसरीय कोषों द्वारा Hcl का स्राव होता है।

आमाशयिक स्राव का नियमन प्राणदा तन्त्रिका के

परानुकम्पी तन्तुओं के माध्यम से सम्पन्न किया जाता है। तान्त्रिका नियमन उपर्युक्त तंतुओं द्वारा आन्त्रिक चक्रों द्वारा सम्पन्न होता है। गेस्ट्रिन नामक हारमोन इसमें सहायक होता है। आमाशयिक स्राव का नियमन करने वाली तंत्रिकायें वेगस के डारसल मोटर न्यूक्लाई से निकलकर प्राणदा तन्त्रिका के माध्यम से आशय के मीसेन्ट्रिक प्लैक्सस एवं आमाशयिक ग्रंथियों को जाती हैं। इसके साथ ही प्राणदा तंत्रिका की उत्तेजना आमाशय अग्रभाग की श्लेष्मल द्वारा गेस्ट्रिन नामक हारमोन के स्राव में सहायक होती है। आमाशय में भोजन के प्रवेश करते ही उपर्युक्त प्रक्रिया द्वारा गेस्ट्रिन हारमोन का का स्राव होता है। इसके अलावा कुछ स्राव उत्तेजक द्रव्य यथा एल्कोहल अल्पसांद्रता कैफीना (Colline) आदि भी इस कार्य को करते हैं। यह दोनों ही उत्तेजनायें आमाशयिक भित्ति के तनाव के कारण उत्पन्न होती हैं। यह तनाव मीसेन्ट्रिक प्लैक्सस के माध्यम से उत्पन्न होता है यह आमाशयिक उपकला में उपस्थित संवेदी तन्तुओं को उत्तेजित करता है। जो माईएन्ट्रिक चक्र से सम्बन्धित रहता है। यहां से संकेत आमाशयिक उपकला में उपस्थित गैस्ट्रिन उत्पन्न करने वाले कोषों में भेजे जाते हैं। यह होरमोन रक्त में शोषित होकर रक्त के माध्यम से आमाशियक ग्रंथियों में पहुँचता है, आमाशयिक स्राव के नियमन में दोनों प्रक्रियाओं में प्राणदा तंत्रिक की उत्तेजना अधिक संक्षमता से कार्य करती है। हीस्टेमीन नामक द्रव्य गैस्ट्रिन द्वारा आमाशयिक उत्तेजना का स्राव PH २:० पर बिल्कुल अवरुद्ध हो जाता है। यह आमाशयिक अम्लता की वृद्धि के कारण होता है। आमाशयिक स्राव के तीन चरण हैं।—शीर्षीय चरण (Cephalic phase),
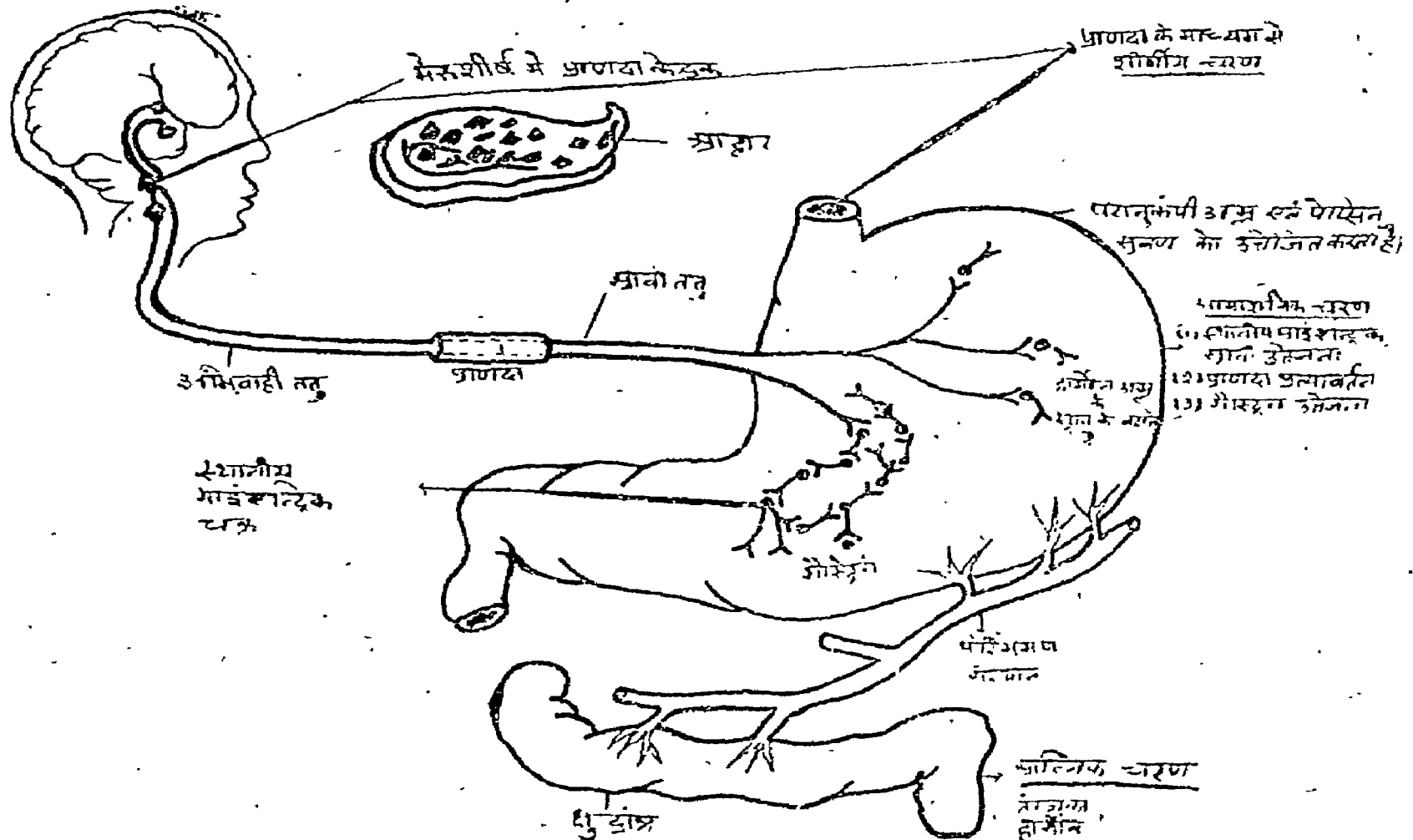
आमाशयिक चरण (gostric phase) तथा आंत्रिक चरण (Intestinrl phase) शीर्षीय चरण के अन्तर्गत आमाशय में आहार के प्रवेश करते ही क्षुधा के कारण से उत्तेजना उत्पन्न होती है तन्त्रिकाजन्य संकेत शीर्ष के प्रमस्तिष्कीय प्रांतस्थ (Cerebral Cartex) या अवश्चेतक Hypothalamus) में स्थित क्षुधा केन्द्र पर उत्पन्न होते हैं। यह प्राणदा के पृष्ठकेन्द्रक (Dorsal nucleus) के माध्यम से आमाशय में पहुँचते हैं। आमाशयिक चरण के अन्तर्गत आहार के आमाशय में प्रवेश करने से गैस्ट्रिन व्यवस्था द्वारा आमाशयिक रस का स्राव होता है। आमाशय में आहार के उपस्थित होने से माईएन्ट्रिकचक्र के स्थानीय प्रत्यावर्तन के कारण और वैगो-वेगल प्रत्यावर्तन के कारण आमाशयिक स्राव होता है। इन प्रत्यावर्तनों से आमाशयिक ग्रंथियों की परानुकम्पी उत्तेजना, मस्तिष्क कांड के माध्यम से होती है। आन्त्रिक चरण में आहार के क्षुद्रान्त्र के प्रारम्भ में प्रवेश करते ही एक प्रकार के गैस्ट्रिक हारमोन का उत्पादन होता है जिसे आन्त्रिक गैस्ट्रिन कहते हैं। इस हारमोन के द्वारा भी स्रावों की
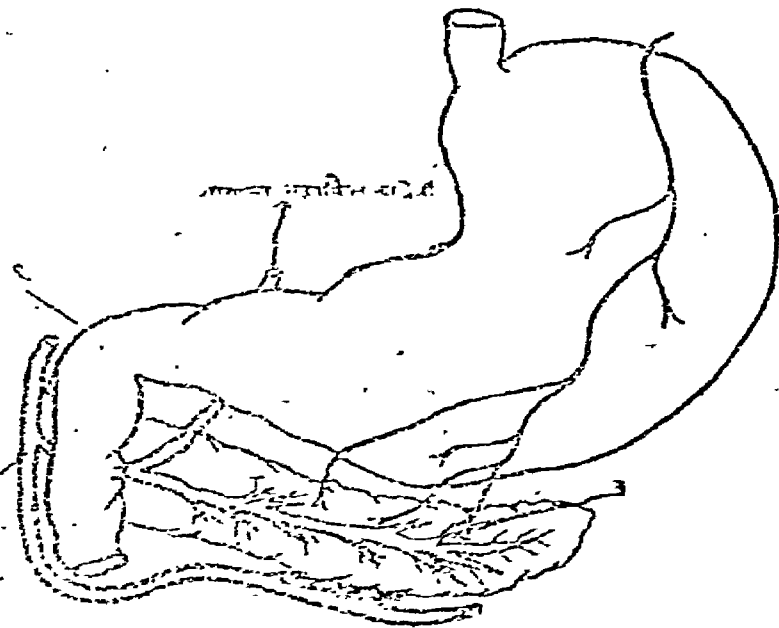
। अभिवृद्धि पूर्व में वर्णित स्रावों की प्रक्रिया के समान ही होती है। क्षुद्रान्त्र में आहार के पहुँचने से आन्त्र-आमाशय प्रत्यावर्तन आन्त्रिक गैस्ट्रिन के कारण प्राणदा एवं परानुकम्पी तन्त्रिकायें आमाशयिक स्राव को कम कर देती है। क्षुद्रान्त्र में अम्ल, वसा, प्रोटीन के विभाजन से उत्पन्न होते हैं, जिन्हें सिक्रीटीन एवं केलोसिस्टोकाइनिन कहते हैं। इनमें से दोनों अग्न्याशय स्राव के लिए और केलोसिस्टोकाइनिन मल पित्त की उत्तेजना का कारण होता है। यह अग्न्याशय एवं मल पित्ताशय की उत्तेजना के साथ ही साथ अन्न नलिका के अन्य कार्यों को भी प्रभावित करती है।

अग्न्याशयिक ग्रन्थि से स्रावण की क्रिया भी आमाशयिक स्रावण के समान आमाशयिक स्राव के जल शीर्षीय और आमाशयिक चरण पूर्ण होते हैं। तब संवेदनायें प्राणदा तन्त्रिका के माध्यम से अग्न्याशय में पहुंचती हैं जिससे अग्न्याशयिक स्राव की अभिवृद्धि होती है। कोलीसिस्टकाइनिन (Cholesystokynin) नामक हारमोनों के द्वारा भी इनका नियमन होता है। यहां भी पूर्व की ही भांति आहार के उर्ध्व क्षुद्रान्त्र में विद्यमान होने के कारण ही इन हारमोन्स का क्षरण होता है। कोलीसिस्टोकाइनिन अर्द्धपक्व प्रोटीयोज और पेप्टोज की उपस्थिति के कारण क्षरित होता है। अम्लों के कारण भी इसका क्षरण होता है। मल पित्ताशय से मल पित्त के क्षरण को भी कोलीसिस्टोकाइनिन नियमित करता है। यह स्राव प्राणदा, उत्तेजना द्वारा यकृत में, रक्त में बाइल लवणों की उपस्थिति के प्रभाववश परिवर्तित होता है। क्षुद्रान्त्र (ग्रहणी) भी प्राणदा की उत्तेजना और आन्त्रिक हारमोंस के प्रभाव के आधीन अग्नि की उत्पत्ति का कार्य करती है। यहां कार्य करने वाले हारमोन्स का नाम इन्टेरोकाइनिन (Enterokynin) है। क्षुद्रान्त्र के विशेष कर यथा सम्पूर्ण अन्नवह स्रोतस् में गतियां २ प्रकार की होती है। (1) Mixing courtaction and (2) (propaltion Contration)। यह क्रियाएँ माईएन्ट्रिक चक्र द्वारा नियमित होती हैं। परानुकम्पी उत्तेजना द्वारा इन संकोचों को बढ़ाया जा सकता है। इसके विपरीत अनुकम्पीय उत्तेजना का ह्रास होता है। क्षुद्रान्त्र में क्रमाकुंचन (Peristaltic movement) भी होता है। यह

आहार द्रव्यों में आद्यान्त्र में प्रवेश के कारण होता है। क्रमाकुंचन प्रत्यावर्त (Peristaltic reflex) क्षुद्रान्त्र के विस्तार के कारण होता है। क्षुद्रान्त्र की परिधि पर होने वाला यह तनाव माइनिट्रिक प्रत्यावर्त को ग्रहण करता है। परिणामतः इसी संकोच के कारण यह संकोच उत्पन्न होता है। अंकुरकों के द्वारा शोषण का कार्य आन्त्र के मसक्यूलेटिस म्यूकोसी में स्थित इन्ट्राम्यूरल चक्र (Intramural plexus) के नर्वस रिफलेक्स और अनुकम्पी तन्त्रिका संस्थान के नियमन से सम्पन्न होता है। परानुकम्पी प्लेक्सस का इस पर कोइ प्रभाव नहीं होता। यह कार्य विलीकाइनिन नामक ऐक हारमोन के अधीन भी होता है।

प्रस्तुत अध्ययन के संदर्भ में यह निष्कर्ष अधीग्रहीत है कि आयुर्वेदोक्त संहिताओं में उल्लिखित आधुनिकों द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त विवेचन के रूप में समान वात अपने कार्यों को व्यवस्थित करता है। अर्थात् यह दोनों ही ज्ञान परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों से अग्नि के स्वाभाविक रूप में होने, प्रदीप्त होने तथा मंद होने के साथ आन्त्र में गति के नियमन को अर्थात् आयुर्वेदोक्त समानवात के कार्य को भी भली प्रकार से समझा जा सकता है। इसके साथ यह भी उल्लेखनीय है कि महर्षि चरक ने समानवात को स्वेद, दोष एवं अम्बुवह स्रोतसों में समधिष्ठित कहा है। इसे अग्नि के समीप भी स्थित कहा गया है। इसके दो तात्पर्य हो सकते हैं। प्रथम यह है कि समानवात उपर्युक्त स्रोतसों में रहते हुए इनके द्वारा वहन किये जाने वाले भावों को गति प्रदान करती है। द्वितीय जिस प्रकार आन्त्र गति और आन्त्र की भित्ति से पाचक रसों के क्षरण के कार्य को नियमित करने वाले हार्मोन की भित्ति में स्थित ग्रन्थियों में उत्पन्न हो, रक्त के साथ परिभ्रमित होते हुए अग्न्याशय एवं मल पित्ताशय आदि अवयवों को उत्तेजित कर उनके स्राव का क्षरण कराते हैं। परिभ्रमण की अवधि में हार्मोन भी स्रोतसों से वहन किये जाये हैं अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आयुर्वेदाचार्यो द्वारा वर्णित समानवात के अन्तर्गत ही तन्त्रिका एवं हार्मोन द्वारा होने वाले नियमन का समावेश हो सकता है।

समानवात शब्द "समम् अनयति इति समानः" व्युत्पत्ति द्वारा उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है भोजन का सम्यक् रूप प्रदान कर उसे शरीर में ले जाने वाला द्रव्य समान संज्ञा प्रदान करता है। भाषा की इस व्युत्पत्ति द्वारा ही यह स्पष्ट होता है कि समानवात का विचरण क्षेत्र कोष्ठ है। चरक ने कोष्ठ के अन्तर्गत निम्नलिखित अवयवों का परिगणन किया है—

"पंचदश कोष्ठांगाग्नि, तद्यथा नाभिश्च हृदयं च कलोम च यकृत् प्लीहा च वृक्कौ च वस्तिश्च पुरीषाधारश्च आमाशयश्च।"

उपर्युक्त अवयवों को देखने पर ज्ञात होता है कि धात्वीकरण से सम्बन्ध रखने वाले कार्य जिन अवयवों से सम्बन्धित हैं उनको प्रेरणा देने का कार्य समानवात है। समानवात की प्रेरणा से जठराग्नि, धात्वाग्नि द्वारा आहार पाक एवं समस्त धातुओं का पोषण होता है। जिसके परिणामस्वरूप प्रसाद और किट्ट भाग अलग-अलग निर्मित होते हैं तथा प्रसादांश द्वारा धातुओं का एवं किट्टांश से रक्तादि के स्वेद कफ पित्त आदि मलों की उत्पत्ति होती है।

समानवात की उपर्युक्त क्रियाओं को देखते हुए यह ज्ञात होता है कि इस द्विस्तरीय प्रक्रिया के कारण ही चरक ने समानवात का संचार स्थान आमाशय, पक्वाशय एवं नाभि के साथ साथ स्वेदवाही, दोषवाही एवं अम्बुवाही स्रोतस् भी कहा है।

"स्वेद दोषाम्बुवाहीनि स्रोतांसि ......"

इस प्रकार ज्ञात होता है कि समानवात का प्रमुख कार्य अग्नि को प्रसारित करना है अर्थात अन्नवह स्रोतस से प्राप्त आहार द्रव्यों का परिगमन एवं परावृत्ति हेतु उचित द्रव्य उपलब्ध कराना है।

१—पाचन रसों को उसके कार्य क्षेत्र में पहुँचाना।

२—आमाशय तथा आन्त्र में गति उत्पन्न करना। यह कार्य प्रमुखतया प्राणदा तंत्रिका के अधीन होता है। इस तंत्रिका की उत्तेजना से पाचक रसों की उत्पत्ति बढ़ जाती है। इसके विपरीत प्रभाव अर्थात पाचक रसों की उत्पत्ति में ह्रास अनुकम्पी तंत्रिकाओं द्वारा होता है।

उत्पन्न गति के नियमन में आन्त्रभित्ति में स्थित प्रेरक तंत्रिकाओं का ऐच्छिक तंत्रिका जालक मुख्य रूप से भाग लेते हैं। आंत्र में होने वाले पुरस्सरण गति या आन्त्र भित्ति की स्वाभाविकता को बचाये रखना इन जालिकाओं का कार्य है।

इसके उपरान्त इन स्रावों से पचाये गये आहार द्रव्यों के रस भाग में आन्त्रों द्वारा भीतर पाचकाग्नि में शोषण की क्रिया होती है। यह यह कार्य भी समान वात की सहायता से सम्पन्न होता है। स्रोतस् में नाभि के चतुर्दिक फैले भीतरी भाग क्षुद्रान्त्र विस्तृत है। इनके द्वारा अग्नि वायु (पाचकाग्नि एवं समान वात (आहार के अवशोषण का कार्य सम्पन्न होता है और आहार रस भी दिन-रात्रि में प्रचुर मात्रा में प्रचूषित होता रहता है। इसी दृष्टि से नाभि को समानवात का प्रमुख केन्द्र माना गया है। नाभि चतुर्दिक कोष्ठाङ्गों में विचरण करने वाला समान वात भी स्वतन्त्र सत्ता उपर्युक्त औरवैक पलेक्सस आफ नर्व से सिद्ध हो जाती है जो कि आन्त्र भित्ति के अनुदैर्घ्य एवं गोल पेशीस्तर के बीच के स्थित है। यदि वात नाड़ी को नाड़ी संस्थान से विच्छिन्न कर दिया जाता है तो भी अवयवों के स्राव स्वयं निकलने लगते हैं और मांसपेशियां भी पदार्थ को आगे की ओर फेंकने के लिये गति करती रहती हैं।

संक्षेप में अन्तः अग्नि या अग्न्याशय के निकटवर्ती क्षेत्र में समान वात की स्थिति है। यह कोष्ठ में अर्थात् पाचन यन्त्र से सम्बन्धित समस्त अवयवों के साथ ही दोष वाहिनी, रसवाहिनी, शुक्रवाहिनी, आर्तव वाहिनी, स्वेद-वाहिनी नाड़ियों एवं शिराओं में संचार करती हैं। समस्त पाचन संस्थान एवं रसवह संस्थान पर इसका प्रभाव है। समान वात की विकृति से गुल्म, मन्दाग्नि, अतिसार आदि रोग होते हैं।

—डा० श्रीमती शोभा मोवार—डिमान्स्ट्रेटर
डा० जयराम यादव—लैक्चरर
डा० यज्ञदत्त शुक्ल
राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, लखनऊ।

वात की महत्ता एवं क्रियाशीलता — पृष्ठ ७२ का शेषांश

भ्रमण करते रहते हैं जिन्हें इलेक्ट्रोन कहते हैं जो ऋण विद्युत से आवेशित होते हैं। इन दोनों के बीच में कुछ और भी कण होते हैं जो उदासीन होते हैं। इन न्यूट्रोन, प्रोटीन एवं इलक्ट्रोन कणों की संख्या के कारण ही पदार्थ विद्युतवाहक अथवा अवाहक कहे जाते हैं। आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान की भाषा में कहें तो पदार्थों का उष्णवीर्य एवं शीतवीर्य होना इन्हीं कणों की संख्या पर निर्भर करता है।

वात नाड़ी संस्थान (नर्वससिस्टम) की रचना कुछ इस प्रकार के तत्वों से हुई है कि वात नाड़ियां विद्युत की सुचालक हैं। मस्तिष्क से उत्पन्न विद्युत् धारा शरीर के किसी भी अंग प्रत्यंग तक अबाध गति से जा सकती है। इसी प्रकार बाह्य जगत् से प्राप्त उत्तेजनाएं विद्युतधारा के रूप में मस्तिष्क तक जा सकती है। कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो यदि अधिक मात्रा में पाए जाए तो वातनाड़ियों में शोथ अथवा क्षय उत्पन्न करके वात की गति में अवरोध या उत्तेजना उत्पन्न कर सकते हैं। इन्हीं कारणों से वाततत्व सम्बन्धी दोष उत्पन्न होते हैं।

वातव्याधि चिकित्सा अध्याय में महर्षि चरक कहते हैं कि वायु ही आयु है, बल है, धाता है तथा प्रभु है। जिस पुरुष का वायु अव्याहतगति, स्वस्थानस्थित और प्रकृतिभूत हो, वह पुरुष अन्यों की अपेक्षा निरोग रहकर सौ से भी अधिक वर्षों तक जी सकता है। यह अतिशयोक्ति नहीं, सत्य है। संसार में शताधिक वर्षों तक जीवित रहने वाले व्यक्तियों के अध्ययन से पता चलता है कि उनकी दशों इन्द्रियां तथा मन ठीक प्रकार से कार्य करते रहे हैं। उनका वाततत्व प्रकृतिभूत होकर अव्याहतगति से शरीर के यन्त्र और तन्त्र को चलाता रहा है।

★ समान वात के कार्य ★
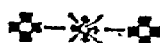
अपान वात

एक विवेचनात्मक अध्ययन

१—डा० (कु०) विजय शर्मा, एम०डी० (आयुर्वेद शारीर), शोध छात्रा (पी०एच-डी०)
२—डा० जयराम यादव, लैक्चरर, ३—डा० यज्ञदत्त शुक्ला, रीडर
स्नातकोत्तर शारीर-विभाग, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, लखनऊ।

अपान शब्द—"अप तेया आङ्" अपस -पूर्वक "णि, प्रापणे" धातु से बनता है। इसका अर्थ इस शब्द की सन्धि द्वारा समझा जा सकता है 'अप्+आ+नयति इति अपानः' अर्थात् वह द्रव्य जो नीचे व बाहर की ओर गति दे वह अपान है। अपान शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ के सम्बन्ध में आयुर्वेदीय आचार्यों ने वात दोष के इस भेद को नाभि, वृषण, वस्ति, मेढ्र, उरु, वंक्षण श्रोणि, पक्वाशयान आदि में स्थित कहा है।

उपर्युक्त रचनाओं में स्थित रहते हुये अपान वात प्रमुख रूप से मूत्र, पुरीष शुक्र आर्तव व गर्भ आदि को अवेगकाल में यथास्थान बनाये रखने तथा वेगकाल में इन्हें निष्क्रमित कराता है। यह कार्य शरीर में क्रमशः निम्न प्रकार से सम्पादित होते हैं—

मूत्रण—

मूत्रण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मूत्र शनैः शनैः वस्ति की आपूर्ति करता है। यह क्रिया दो चरणों में होती है। क्रमशः मूत्र के वस्ति में भरते जाने के कारण उसकी भित्ति पर एक प्रकार का तनाव पैदा होता है। मूत्र की मात्रा एक निश्चित सीमा से अधिक होने पर द्वितीय स्थिति में एक प्रत्यावर्तन की प्रवृति होती है जिसे मूत्रण प्रत्यावर्तन (Micturation reflex) कहते हैं। इस प्रत्यावर्तन के कारण या तो मूत्र का निष्कासन होता है अथवा मूत्रण की इच्छा उत्पन्न होती है। वस्ति चिकनी मांसपेशियों का बना अवयव है जिसकी काय (Body) मूत्रनिस्सारणीपेशी से निर्मित होती है। वस्ति के मुख के समीप स्थित त्रिभुजाकार क्षेत्र को वस्ति त्रिकोण (Trigon) कहते हैं। इसीके माध्यम से मूत्र गवीनी एवं मूत्र
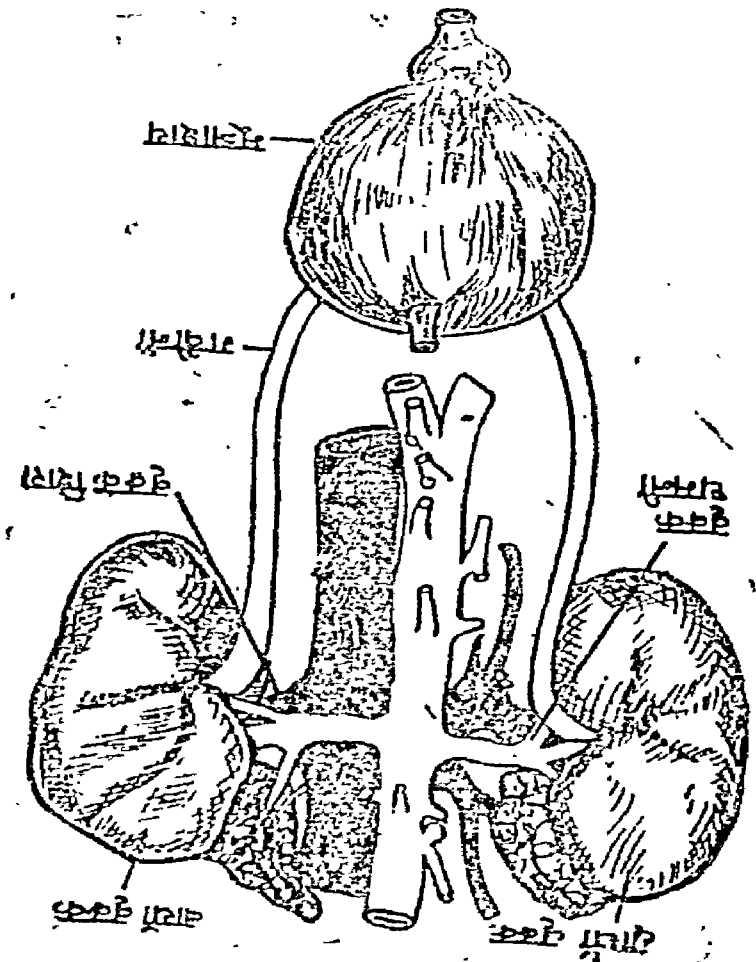
वृक्क, गवीनी और मूत्राशय

पथ में प्रविष्ट होता है। वस्ति की भित्ति में मूत्र आपूर्ति के काल में तनाव उत्पन्न होता चला जाता है और मूत्र प्रत्यावर्तन के उत्पन्न होने पर मूत्रनिस्सारणी पेशी के संकोच के कारण मूत्र होता है। वस्ति त्रिकोण का निर्माण करने वाली पेशी मूत्र प्रसेचक को चारों ओर से आवृत किये रहती है तथा उसे बन्द रखने के प्रति उत्तरदायी है। जब वस्ति का दबाव इस पेशी के स्फुरण को सह सकने में असमर्थ हो जाता है तब मूत्र प्रसेचक का क्षेत्र

स्वतन्त्र नाड़ी संस्थान का विवरणात्मक चित्र
सुषुम्ना कांड से निकले नाड़ी तन्तु निम्न अंगों का नियमन करते हैं—
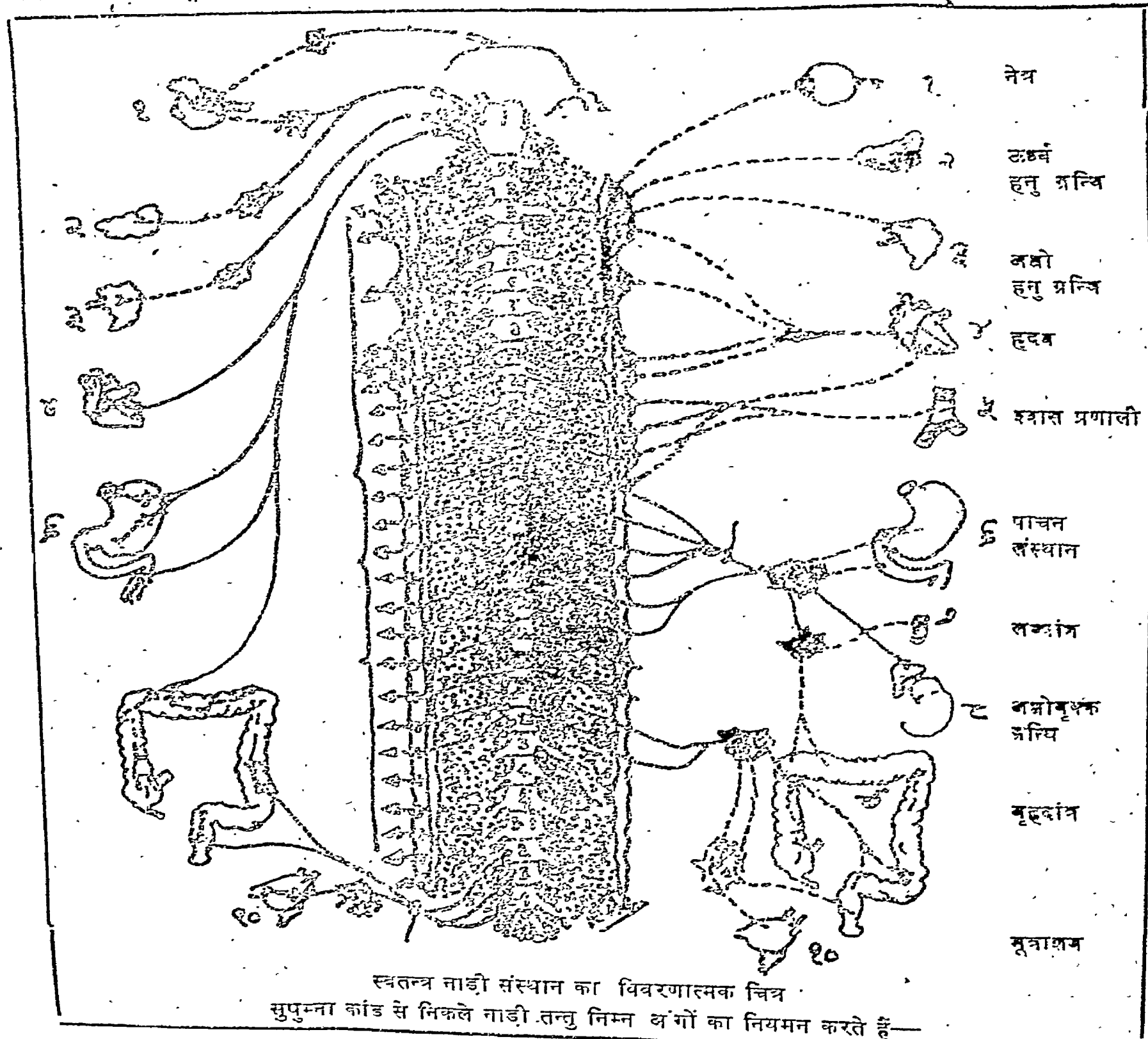
खुल जाता है इसीलिये इस पेशी को वस्ति की अन्तः मूत्र पथ संवरणी (Internal Sphincter) कहते हैं। वस्ति से कुछ सेन्टीमीटर दूरी पर मूत्र प्रसेक एक रचना में से गुजरता है जिसे मूत्र जनन मध्यच्छद (urogenital ...hragm) कहते हैं। यह ऐच्छिक मांसपेशी की बनी रचना है जो वस्ति की वाह्य मूत्रपथ संवरणी के निर्माण में भी भाग लेती है। इस वाह्य मूत्रपथ संवरणी के संकुचित होने के कारण ही मूत्र का प्रवाहण हर समय नहीं होता है। वस्ति से मूत्र प्रवाहण को रोकने के लिए जो तंत्रिका (Nerve Supply) आपूर्ति है उसे पृष्ठ ८० के चित्र में प्रदर्शित किया गया है।

यह सभी तंत्रिकायें सुषुम्ना से प्रारम्भ होती हैं। परानुकम्पीय (Para-sympathatic) उत्तेजना (Stimulation) मूत्रनिस्सारणी पेशी का संकोच करती हैं परिणामतः अन्तः मूत्रपथ संवरणी विस्फारित हो जाती है। संवेदी तंत्रिका तन्तु परानुकम्पीय तंत्रिकाओं के साथ ही निकलते हैं और श्रोणी तंत्रिकाओं तथा त्रिक जालिका के माध्यम से सुषुम्ना में प्रवेश करती है। ऐच्छिक मांसपेशियों से निर्मित वाह्य मूत्रपथ संवरणी का नियमन उपस्थ तंत्रिका (Pudic nerve) के माध्यम से होता है। इस तंत्रिका का उद्भव सुषुम्ना के प्रथम दो त्रिक खण्डकों से होता है। संवेदी तंत्रिकायें श्रोणी क्षेत्र से होते हुये अधोजठर जालिका (Hypogastric plexuses) के माध्यम से वस्ति को प्राप्त होती हैं। इनकी उत्तेजना के परिणामस्वरूप वस्ति में विस्तारण (Dilation) होता है। परानुकम्पीय तंत्रिकाओं की उत्तेजना के परिणामस्वरूप इसके विपरीत प्रभाव होते हैं।

गवीनी चिकनी मांसपेशियों से बनी दो नलिकायें हैं जिनका प्रारम्भ वृक्क की श्रोणी से होता है। यह नलिकायें अधोगमन करती हुई वस्ति में प्रवेश करती हैं। प्रत्येक गवीनी को अनुकम्पी तथा परानुकम्पी तंत्रिकायें प्राप्त होती हैं। प्रत्येक में तंत्रिका कोष का एक इन्ट्राम्यूरल प्लैक्सस होता है जिसके माध्यम से तंत्रिका तंत्रपूर्ण गवीनी को प्राप्त होता है। श्रोणी में मूत्र के संचित होने के कारण दवाव में वृद्धि होती है जिसके परिणाम स्वरूप क्रमाकुंचन (Peristalsis) प्रारम्भ होकर गवीनी में अधोदिशा की ओर जाते हैं परिणामतः मूत्र भी वस्ति में जाकर एकत्रित होता है। परानुकम्पीय तंत्रिकाओं की उत्तेजना के परिणामस्वरूप इन संकोचों में वृद्धि होती है और अनुकम्पी तंत्रिकायें विपरीत प्रभावकारी होती हैं। इन तरंगों का गमन आंत्र के समान ही इन्ट्राम्युरल प्लेक्सस से प्राप्त होने वाले तंत्रिका तन्तुओं के आवेगों द्वारा होता है।

वस्ति के मूत्र से पूर्ण हो जाने के कारण उच्च श्रेणी के मूत्रण संकोच प्रारम्भ हो जाते हैं। यह संकोच वस्ति-भित्ति एवं मूत्र प्रषेक के प्रारम्भिक भाग में खिचाव ग्राहियों (Stretch receptor) से प्रारम्भ होने वाले खिचाव प्रत्यावर्तन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। संवेदीय संकेत सुषुम्ना के त्रिक खण्डकों द्वारा श्रोणी तंत्रिका के माध्यम से संवाहित किये जाते हैं। परानुकम्पी तंतु भी इसी तंत्रिका के माध्यम से वस्ति में पहुँचते हैं। एक वार मूत्रणप्रत्यावर्तन के प्रारम्भ हो जाने पर वह स्वतः पुनरुत्पादक (Self regenaration) हो जाते हैं अर्थात वस्ति का प्रारम्भिक संकोच ग्राही संरचनाओं को क्रियाशील करता है जिसके परिणामस्वरूप अभिवाही (afferent) संवेदनाओं में अभिवृद्धि होती है तथा वस्ति का संकोच हो जाता है। यह प्रतिक्रिया तब तक पुनरावृत होती रहती हैं जब तक वस्ति में पूर्णशक्ति वाले संकोच न उत्पन्न हो जांय। तदुपरान्त कुछ सेकेण्ड से मिनट के कालान्तर से प्रत्यावर्तन में थकान (Fatigue) उत्पन्न होने लगती है। संक्षेप में मूत्रण प्रत्यावर्तन एक चक्र है जिसमें तीन घटनायें क्रम से घटित होती रहती हैं—

१—दवाव में प्रगामी (Progressive), तीव्र वृद्धि।

२—दवाव का एक संघृत (Sustained) काल।

३—वस्ति के दवाव का पुनः सामान्य अवस्था में लौटना।

एक बार इस प्रत्यावर्तन के उत्पन्न होने पर भी यदि वस्ति की रिक्तता नहीं हुई तो कुछ समय के लिये इसके

★ डा. (कु.) विजय शर्मा, एम. डी., डा. जयराम यादव लेक्चरार, डा. यज्ञ दत्त शुक्ला, रीडर ★

तन्त्रिका तन्तु अवरोधित अवस्था में रहते हैं। यह काल कुछ घन्टों तक का हो सकता है क्योंकि उसकी उत्पत्ति का काल अनिश्चित है। प्रत्यावर्तन की तीव्रता वस्ति की पूर्णता पर निर्भर करती है।

मूत्रण का नियमन प्रत्यावर्तन के अतिरिक्त शरीर के अन्य स्थानों से भी होता है जिनमें मस्तिष्क के उच्च केन्द्र प्रमुख हैं। उच्च केन्द्र प्रत्यावर्तन को उस समय तक रोके रहता है, जब तक मूत्रण की इच्छा न हो। यह प्रत्यावर्तन के उत्पन्न होने पर भी मूत्रण के वेग को नियमित किये रहते हैं और यह कार्य इनके द्वारा वाह्य मूत्र पथ संवरणी के संकोच रूप में किया जाता है। यह मूत्रण के उचित स्थान के प्राप्त होने तक सम्भव है। मूत्रण का अवसर प्राप्त होने पर प्रत्यावर्तन को उत्पन्न करने के लिये यह उच्च केन्द्र त्रिकीय मूत्रण प्रारम्भ कर देते हैं। इसके लिये वाह्य मूत्रपथ संवरणी को भी सामान्य अवस्था में कर देते हैं।
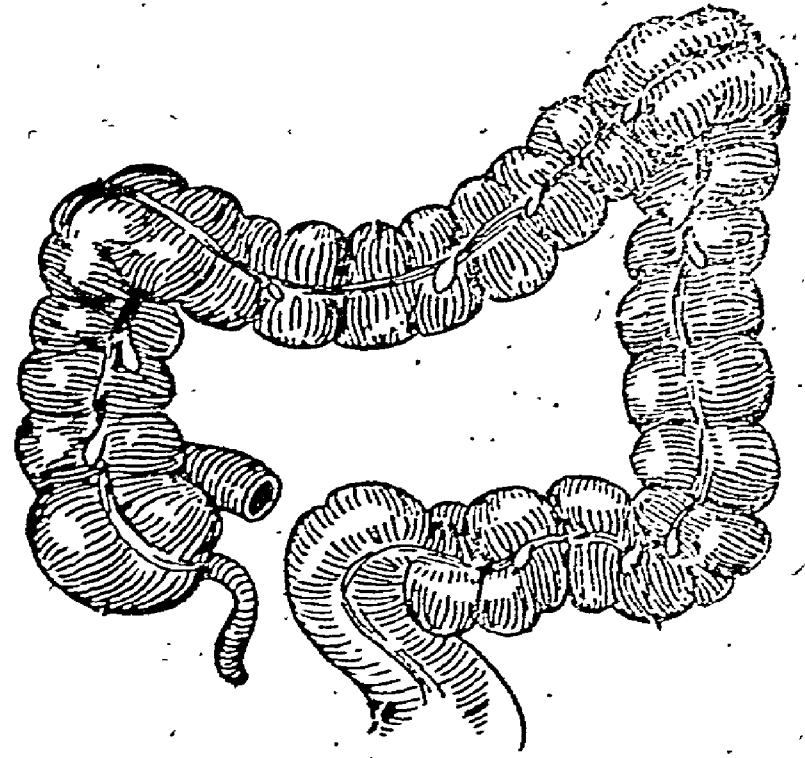
मलधारण एवं विसर्जन—

पक्वाशय जो कि उण्डुक से प्रारम्भ होकर गुद पर्यन्त विस्तृत रहता है। मुख्यत: चिकनी पेशी के तन्तुओं से बनी रचना है जिसकी विशिष्ट रचना के कारण ही जिसके अवकाश में प्राप्त पदार्थ एक विशिष्ट प्रकार की गति प्राप्त करता है। यह गति पक्वाशय या वृहद्आंत्र में पेशियों के अनुदैर्घ्य पट्टक (longitudinal streps) वृहदांत्र वेणी के रूप में संकुचित होते हैं। यह अनुदैर्घ्य एवं वृत्ताकार पेशी के सामूहिक परिणाम संकोच का परिणाम है। इसके कारण वृहद् आंत्र का यह क्षेत्र वेग की तरह वाहर की ओर उभर जाता है। इन उभारों को हास्ट्रेशन्स (Haustrations) कहते हैं। यह संकोच एक वार प्रारम्भ होने पर ३० सैकिण्ड में अपनी पूर्ण तीव्रता पर पहुंच कर ही समाप्त होता है, उसके वाद ६० सैकिंड के वाद पुन: प्रारम्भ होता है। पुरीष वृहद् आन्त्र के उण्डुक से प्रारम्भ होने वाले प्रथम अर्धांश में परिपिण्डित होता है और द्वितीय या अन्तिम अर्धांश में धारण एवं निष्क्रमण किया जाता है। पूर्ण वृहद् आन्त्र का चित्रवत् प्रदर्शन निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

वृहद् आन्त्र में पुरीष की गति को स्थूलान्त्र गति की संज्ञा प्रदान की गई है। यह तथाकथित जठर वृहदान्त्र या ग्रहणी वृहदान्त्र प्रतिवर्त के कारण होते हैं। यह प्रतिवर्त आमाशय एवं आद्यान्त्र के आध्मान के परिणामस्वरूप होते हैं। इन प्रत्यावर्तनों का संचारण स्वायत्त तन्त्रिका के माध्यम से होता है। यह गति परानुकम्पी तन्त्रिका संस्थान के द्वारा बढ़ाई जा सकती है जो वृहद् आन्त्र के अधिक पूर्ण होने पर स्वत: होता है। अधिकांश समय मलाशय रिक्त रहता है। जब पुरीष वृहदान्त्र की गति के कारण मलाशय में प्रविष्ट होता है तो पुरीष निष्क्रमण की क्रिया प्रारम्भ होती है और प्रत्यावर्तन के रूप में मलाशय में संकोच होता है और गुद संवरणीयों का संकोच होता है। गुदा के कारण निरन्तर पुरीष निष्क्रमण नहीं होता रहता, क्योंकि वृत्ताकार व चिकनी पेशी तन्तुओं से निर्मित गुद संवरणी का स्फुरणीय सङ्कुठन तथा ऐच्छिक मांसपेशियों से निर्मित वाह्य गुद संवरणी या पेशी कायिक तन्त्रिकाओं के अधीन होती है। पुरीष का निष्क्रमण प्रत्यावर्तन के द्वारा होता है। इसमें भी मलाशय भित्ती के विस्तृत होने पर वहां स्थित आंत्रपेशी

जालिका के माध्यम से अभिवाही जालिका उत्तेजना के परिणामस्वरूप क्रमाकुंचन गति के समान गति अधोगामी एवं वक्र बृहदान्त्र और मलाशय में उत्पन्न होती है जिसके कारण मल गुदा से निष्क्रमित होता है। जैसे ही यह गति गुदा के समीप पहुंचती है वहां पर आन्तरिक व बाह्य संवरणीयों में संग्रहणशील विश्राम प्रतिक्रिया-द्वारा शिथिलन उत्पन्न हो जाता है। इसीको पुरीष प्रत्यावर्तन की संज्ञा दी गई है।

बृहदान्त्र की गति को तीव्रता श्रोणी में स्थित सुषुम्ना के कटि अंश द्वारा उत्पन्न प्रत्यावर्तन से ही प्राप्त होती है। मलाशय के अभिवाही तन्तु में उत्तेजना उत्पन्न होने पर हर्षणी तंत्रिकायों के परानुकम्पी तन्तुओं (Parasympathetic nervous System) द्वारा संकेत सुषुम्ना को प्राप्त होते हैं। ये संकेत आशयिक प्रतिवर्त (Spicpic reflex) द्वारा गुदा से सम्पूर्ण पुरीष को विसर्जित करा देते हैं। यह तन्त्रिका तन्त्र भी पुरीष के धारण एवं निष्क्रमण दोनों के लिये उत्तरदायी है।

शुक्र एवं आर्तव -

पुंबीज का निर्माण वृषण की शुक्रजनक नलिकाओं में होता है। तदुपरान्त वह ऋजवाहिका के माध्यम से अधिवृषणिका में आ जाता है। नलिकाओं में यह गतिहीन होता है तथा सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ रहता है। अधिवृषणिका में पुंबीज १८ घन्टे से १० दिन तक रहता है। इस अवधि में वह पूर्ण परिपक्व हो जाता है तथा गतिशील हो जाता है। अधिवृषणिका में पुंबीज के कुछ ही अंश का ही संचय होता है शेष शुक्रवाहिनी में ही रहते हैं। शुक्रवाहिनी से विशेषतः कलशिका (Ampulla) में रहते हैं। संचय अवस्था में यह सुषुप्ता अवस्था में रहते हैं क्योंकि इनका धातुपाक होता रहता है तथा कार्बन-डाई आक्साइड इसमें से निकलकर समीपवर्ती क्षेत्र को अम्लीय बनाये रखती है जिससे यह क्रियाहीन होता है। यहां पर ४२ दिन तक जीवित रहता है। पौरुष ग्रन्थि से निकलने वाला एक पतला दूधिया क्षारीय द्रव्य जिसमें साइट्रिक एसिड, कैल्शियम, एसिड फास्फेट और एक स्कन्दन में समर्थ प्रोफाईब्रोलाइसिन नाम का एक तत्व भी मिलता है। शुक्रवाहिनी के साथ-साथ इस ग्रन्थि का भी संकोच होता है जिससे इसका यह स्राव पुंबीज में मिलकर उसे क्रियाशील कर देता है।

शुक्र प्रवाहण पुरुष के लैंगिक क्रिया की चरम सीमा पर होता है। सुषुम्ना के प्रत्यावर्तन केन्द्रों से तीव्र संवेदनायें कटि १ और २ स्तर से लैंगिक अवयवों को आती हैं। यह संवेदनायें अवयवों को अधोजठरजालिका से प्राप्त होती है तथा प्रवाहण प्रारम्भ करती हैं। शुक्र प्रवाहण अधिवृषणिका, शुक्रवाहिनी एवं कलशिका के संकोच के कारण होता है। इसी के साथ ही पौरुष ग्रन्थि के पेशी-स्तर में संकोच प्रारम्भ हो जाता है। पुंबीज में पौरुष ग्रन्थि के द्रव्य श्लेष्मा और मूत्रप्रषेक के समीप स्थित ग्रन्थियों से निकले स्राव मिलकर शुक्र का निर्माण करते हैं तब प्रवाहण प्रारम्भ होता है। उपर्युक्त अवयवों के संकोच के कारण शुक्र आन्तरिक मूत्र प्रषेक में आ जाता है जिसके कारण संकेत उपस्थतंत्रिका (Pudendal nerve) के माध्यम से सुषुम्ना से स्पन्दलय (Rhythmic) संवेदनायें अवयवों की कंकालीय पेशियों को प्राप्त होती है जिसके कारण संकोच में दवाव बढ़ जाता है और शुक्र मूत्र प्रषेक से बाहर आ जाता है।

आर्तव एवं गर्भ—

आधुनिक विज्ञान के अनुसार इन दोनों के निष्क्रमण कार्य इनसे सम्बन्धित अवयव, ग्रन्थि एवं गर्भाशय में स्थित तंत्रिका संस्थान के तन्त्रों के द्वारा तो होता ही है

—शेषांश पृष्ठ ९१ पर देखें।

★ डा. (कु.) विनय शर्मा, एम. डी.; डा. जयराम यादव, लेक्चरर; डा. यज्ञ दत्त शुक्ला रीडर ★
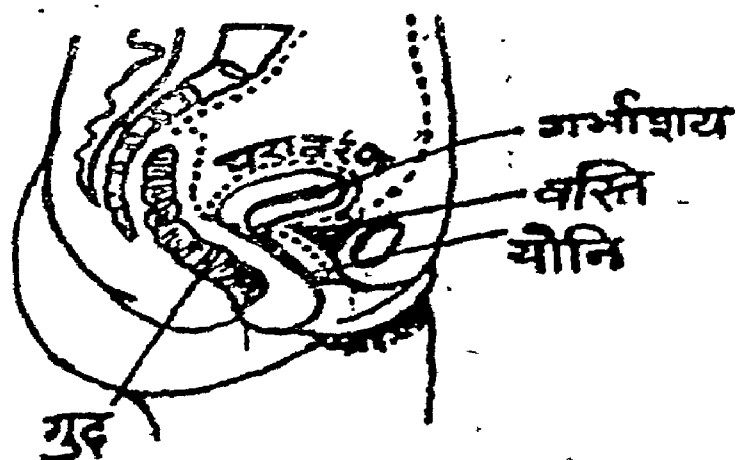
वैद्य गोपीनाथ पारीक "गोपेश" भिष०

जिस मनुष्य की जो प्रकृति होती है वह जन्म से मृत्यु पर्यन्त एक सी रहती है उसमें परिवर्तन नहीं होता है। जब उस प्रकृति में परिवर्तन आ जाता है तो वह अरिष्ट मरण सूचक माना जाता है—

आरोग्यं हीयते यस्य प्रकृतिं परिहीयते ।
सहसा सहसा तस्य मृत्युर्हरति जीवितम् ॥
—चरक इ० ६ ।

जिनके आधार पर मनुष्यों की प्रकृति बनती है। वे त्रिदोष तथा जिनके आधार पर मनुष्यों का स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य निर्भर होता है वे त्रिदोष एक हैं या भिन्न हैं ? इसका उत्तर देते हुए डा० श्री भास्कर गोविन्द घाणेकर सुश्रुत संहिता की आयुर्वेद रहस्य दीपिका व्याख्या में लिखते हैं कि—प्रकृति दर्शक और स्वास्थ्यदर्शक त्रिदोष स्वरूप की दृष्टि से यद्यपि एक हैं तथापि निम्नाङ्कित कारणों से शरीर में इन दो अवस्थाओं को दर्शाने वाले त्रिदोष स्वतान्त्र होते हैं।

इसी प्रकरण का विवेचन चरक संहिता सूत्र स्थान अध्याय ७।४० की व्याख्या में चक्रपाणिदत्त ने किया है—

प्रकृति दर्शक त्रिदोष	स्वास्थ्य दर्शक त्रिदोष
१. ये त्रिदोष आदिवल प्रवृत्त होते हैं। ये माता पिता से मनुष्य में आते हैं।	१. ये त्रिदोष जन्मोत्तर होते हैं। जन्म के पश्चात सेवित आहार-विहार से उत्पन्न हो ते हैं।
२. ये दोष शरीर के उपादान के कारण नहीं होते हैं।	२. ये दोष शरीर के उपादान कारण होते हैं।
३. गर्भारम्भ से मृत्युपर्यन्त ये प्रकृति दर्शक दोष बदलते नहीं हैं अर्थात स्थिर रहते हैं। इनके स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं होता।	३. आहार, विहार, दिनमान तथा अक्षमान के अनुसार ये दोष बदलते रहते हैं।
४. स्वास्थ्यदर्शक दोषों का परिणाम प्रकृतिदर्शक दोषों पर नहीं पड़ता है।	४. प्रकृतिगत दोषों का प्रभाव स्वास्थ्यदर्शक दोषों पर अवश्य पड़ता है।
५. वात का क्षय किसी वातल प्रकृति के शरीर में होने पर उसमें वात क्षय के लक्षण दिखाई देते हैं परन्तु उसकी वातल प्रकृति समप्रकृति नहीं होती।	५. स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए जीवन भर प्रकृतिगत दोष की दृष्टि से आहार-विहार करना पड़ता है।

यह प्रकृति सात प्रकार की कही गई है—वातप्रकृति, पित्त प्रकृति, कफ प्रकृति, वात पित्त प्रकृति, वात कफ प्रकृति, पित्त कफ प्रकृति और वात पित्त कफ प्रकृति (सम प्रकृति)। प्राचीनों द्वारा वर्णित वात प्रकृति, पित्तप्रकृति आदि प्रकृतियों का समावेश आधुनिकों के टेम्प्रामेन्ट्स (Temperaments) में होता है, जिनमें विशिष्ट मानसिक लक्षणों के साथ विशिष्ट शारीरिक लक्षण भी संकलित किये गये हैं। आयुर्वेद के अनुसार इस टेम्प्रामेन्ट्स (प्रकृति) के भी वातल (Nervous), पित्तल (Sanguine) और श्लेष्मण (Limphatic) आदि विभाग किये गये हैं।

धातु वैषम्य को विकार कहा गया है। दोषोत्कट संयोग जो प्रकृति को बनाता है वैकारिक होने पर भी गर्भ पर उसका वैकारिक परिणाम प्रायः नहीं होता जैसे विष कृमि का विष सहज होने के कारण उसको घातक नहीं होता है—

"विषात्मकस्य क्रिमेर्नाशहेतुनापि विषेण जन्मे यथा तथा दोषात्मकस्य शरीरस्य नाशहेतुभिरपि दोषैरित्य-विरोधः।" —हेमाद्रि

इन सात प्रकृतियों की वरीयता इस क्रम से प्रकट की गई है—

१. समधातु प्रकृति — श्रेष्ठा
२. कफ प्रकृति — उत्तमा
३. पित्त प्रकृति — मध्यमा
४. वात प्रकृति — हीना
५. पित्त कफजा — निंद्या-गर्हणीया (हीनाया अपि हीना)
६. वातकफजा — निंद्या-गर्हणीया (पित्तकफजाया अपि गर्हणीया)
७. वात पित्तजा — निंद्या-गर्हणीया (वातकफजाया अपि गर्हणीया)

समधातु प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का मत है कि ऐसी प्रकृति असंभव है क्योंकि मनुष्य का आहार प्रतिदिन विषम होता है और इस विषमता से शरीरगत दोष भी विषम हो जाते हैं। इसका समाधान प्रस्तुत करते हुये आत्रेय पुनर्वसु कहते हैं कि—मनुष्य स्वस्थ होते हैं और बिना दोष साम्यता के स्वास्थ्य असंभव है अतः सम प्रकृति भी होती है परन्तु प्रकृति के जो अन्य भेद हैं उनके लिये प्रकृति शब्द का प्रयोग उपयुक्त नहीं है। क्योंकि दोषाधिक्य के कारण वह विकृति है। सुतरां वात प्रकृति, पित्त प्रकृति कहने की अपेक्षा वातल, पित्तल आदि कहना अधिक उचित है।

भगवान् चरक ने सम प्रकृति को स्वस्थ तथा अन्य ६ प्रकृतियों को अस्वस्थ कहा है—

समपित्तानिलकफाः केचिद्गर्भादि मानवाः।
दृश्यन्ते वातलाः केचित्पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा॥
तेसामनातुरा पूर्वे वातलाद्या सदातुराः।
दोषानुशयिता ह्येषां देह प्रकृतिरुच्यते॥
—चरक सं० ७/३९-४०

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये सुश्रुत संहिता के विज्ञान व्याख्याकार डल्हण ने "प्रकृतयों मर्त्य शन्कुवन्ति न वाधितुम्" (प्रकृतियां मनुष्य को बाधायें नहीं पहुँचा सकती)—सुश्रुत शा० ४/७९ की व्याख्या में "किंचित (तनिक सी) पीड़ा देती हैं" यह अर्थ प्रस्तुत किया है। डल्हण का मूल वाक्य यहां देना उपयुक्त समझताहूं—

"वातादिहेतुजाः प्राणिकाया वातादिजेन स्फुटितकर चरणादिकेन दोषेण तथा स्वेददौर्गन्ध्यादिनाच किंचिदेव बाध्यन्ते। अतएव "वातलाद्याः सदातुराः" इति वातादि प्रकृतिषु नित्यातुरत्वमभिहितम्।"

एक दोषज या द्विदोषज प्रकृति वाले व्यक्ति देखने में स्वस्थ दिखलाई देते हैं किन्तु उन्हें बहुत सावधानी रखनी पड़ती है। कहा गया है—'एतेषां वातलादीनां मुख्यं स्वास्थ्यं नास्ति, किं तर्हि उपचारस्वस्था ऐते इति दर्शयति" चक्रपाणि। यहां पर केवल वात प्रकृति ही विवेचनीया है अतः वात प्रकृति के लक्षण निम्नाङ्कित हैं—

१. प्रजागरूक—जिसे नींद कम आये या जो नींद में भी सावधान रहे।
२. शीतद्वेषी—जो शीत (ठंड) को सहन न कर सके।
३. दुर्भग—कुरूप।
४. स्तेन—चोर।
५. मत्सरी—जो दूसरों के गुणों को सहन न कर सके
६. अनार्य—दुर्जन किंवा अशिष्ट (असत्पुरुष)।
७. गान्धर्वचित्त—संगीत प्रेमी (गीतादिनिरतः)
८. स्फुटितकरचरण—जिसके हाथ पैर फटे रहते हों
९. अतिरूक्षश्मश्रुनखकेश—जिसकी दाढी, नख एवं केश अत्यन्त रूक्ष हों
१०. क्रोधी—गुस्सा अधिक करने वाला (क्राथी, हिंसाशील-पा०)
११. दन्तनखखादी—दांतों से नखों को खाने वाला एवं नींद में दांतों को खाने वाला
१२. अधृति—धैर्यरहित

ादृढ़सौहृद—जिसकी मैत्री दृढ़ न हो
कृतघ्न—दूसरों के उपकार को भुला देने वाला
कृश—दुवला
रुक्ष—कठोर
धमनीतत:—जिसके शरीर पर सिरायें फैली हुई स्पष्ट दिखलाई दें।
प्रलापी—वातूनी (वकवादी)
द्रुतगति—तेज चलने वाला
अटन—हमेशा भटकने वाला किंवा शीघ्र वोलने वाला
अनवस्थितात्मा—चंचलचित्त
आकाशचारी (स्वप्नेपु)—नींद में जो आकाश में उड़ने के स्वप्न देखे
अव्यवस्थितमति—सारासार विचार असमर्थ बुद्धि
चलदृष्टि—चंचलदृष्टि
मन्दरत्नधनसंचय मित्र—जो धन रत्नादि का अधिक संचय न कर सके एवं जिसके मित्र भी कम हों।
अनिवद्ध विलापी—जो असम्वद्ध ही कुछ वकता हो।
नास्तिक—वेदादित लोक के प्रति आस्था न रखने वाला।
वहुभक्षी—अधिक भोजन करने वाला।
मधुराम्लपटूष्णसत्म्यकांक्षी—मीठे, खट्टे, नमकीन खाद्यों की इच्छा रखने वाला।
जर्जरस्वरयुक्त—फूटे हुए पात्र की ध्वनि तुल्य स्वर
शीघ्रसमारम्भ क्षोभविकारयुक्त—कार्य को प्रारम्भ करने में शीघ्रता करे और शीघ्र ही उससे क्षोभ करे।
शीघ्रत्रासराग विरागयुक्त—शीघ्र ही डरने वाला, शीघ्र ही प्रेम करने वाला एवं शीघ्र ही नफरत करने वाला।
श्रुतग्राही—सुनी हुई वात को शीघ्र ग्रहण करने वाला।
अल्पस्मृति—जिसकी स्मरणशक्ति कमजोर हो।
अल्पायु—जो कम आयु तक ही जीवे।
अल्पवल—जिसमें वल कम हो।

३७. अल्पापत्य—जिसके सन्तान कम हो।
३८. अल्पसाधनयुक्त—जो सुविधा साधन कम जुटा सके।
३९. अल्पकेश—जिसके केश छोटे छोटे हों या कम हों।

शार्ङ्गधर ने वातप्रकृतिक मनुष्य के संक्षिप्त लक्षणों में कहा है—

अल्पकेशः कृशो रूक्षो वाचालश्चलमानसः।
आकाशचारी स्वप्नेपु वात प्रकृतिको नरः॥
—शा. सं. पू. ६।२१

४०. उष्मासह—जो गर्मी को सहन करता हो।

भेलसंहिता में मात्र इस एक लक्षण का ही उल्लेख मिलता है—

उष्मासहो नरो यस्तु स वातप्रकृतिः स्मृतः।
—भे. सं. वि. ४।८

४१. सन्धिस्फुटन शब्दवान—चलने पर किंवा सहसा खड़े होने पर पैरों की संधियों में स्फुटन शब्द (कट्-कट् की आवाज) प्रकट हो। यह वायु के विशद गुण के कारण होता है।
४२. रूक्षगात्र—वायु के रूक्ष गुण के कारण शरीर में रूक्षता रहती है। शार्ङ्गधर की भांति श्रीकृष्ण रामजी भट्ट ने रूक्षता का वर्णन किया है और इस लक्षण को प्राथमिक लक्षण के रूप में व्यक्त किया है—

रूक्षः कृशश्चञ्चलह्रस्वकेशः
स्वप्ने खगामी पवनस्वभावः।
—सिद्ध भेपज मणिमाला ३।८७

४३. वातप्रकृतिक मनुष्य निम्नाङ्कित प्राणियों के समान स्वभाव के होते हैं। यह स्वभाव स्वर, रूप, चेष्टा-रूपेण व्यक्त होता है। वे जीव हैं—
१. अज—शीतद्वेपी
२. गीदड़—स्तेन, अनार्य
३. खरगोश—अल्पवल
४. चूहा—अनवस्थितात्मा, चंचल
५. ऊँट—वहुभक्षी
६. कुत्ता—जागरूक
७. गीध—आचारवृति
८. कौआ—चलदृष्टि
९. गधा—जर्जरस्वरयुक्त
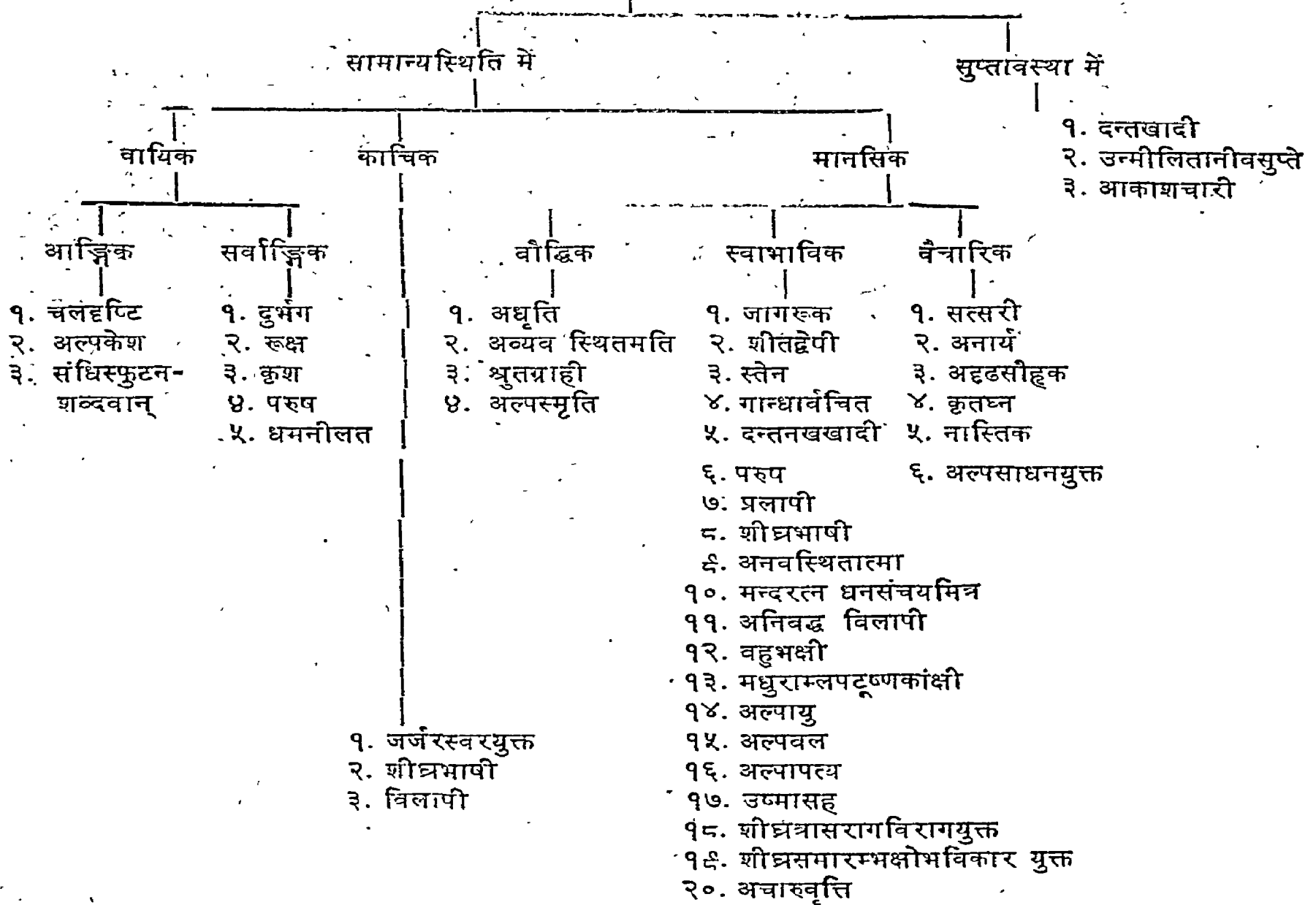
भगवान चरक ने "वातलाद्याः सदातुराः" कह कर वात प्रकृति को सदातुर की श्रेणि में लिखा है। वातल व्यक्ति का वात प्रकोपक हेतुओं से शीघ्र ही प्रकुपित हो जाता है शेष दोनों दोष उतने प्रकुपित नहीं होते। उस वातल प्रकृतिक पुरुष पर वात व्याधियाँ आक्रमण करती रहती हैं जिससे उसका बल, वर्ण, आरोग्य एवं आयु का नाश होता रहता है। एतावता उसे सदैव ऐसे साधन काम में लेते रहने चाहिए जिससे वात प्रकोप न हो सके। वे साधन निम्नाङ्कित हैं—

१. विधियुक्त स्नेहन स्वेदन

२. स्नेह, उष्ण (स्पर्श या वीर्य से), मधुर, अम्ल, लवण युक्त मृदु संशोधन

३. स्नेह, उष्ण, मधुर, अम्ल, लवण युक्त भोजन

४. अभ्यङ्ग ५. उपनाह (पुल्टिस)

६. उद्वेष्टन (पट्टी आदि लपेटना)

७. उन्मर्दन ८. परिषेक

९. अवगाहन (वातहर क्वाथ या तैल आदि से पूर्ण द्रोणी या टब में बैठकर स्नान करना)

१०. संवाहन (हाथ पैरों को दबवाना)—"यथासुखं हस्त पाद प्रभृतेर्गात्रस्य पीडनम्"—श्रीलक्ष्मीराम जी स्वामी

★ श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' ★

११. अवपीडन (भींचना) हल्के हाथों से दवाना संवाहन है और हाथों से हस्त पाद को खूब भींचना अव-पीडन कहा जाता है।

१२. वित्रासन (डराना) "कामशोकभयात्वायुः" के अनुसार वित्रासन से यद्यपि वायु प्रकुपित होता है किन्तु वात जनित उन्मादादि विनाशक होने से यहां वित्रासन को उपयुक्त कहा गया है।

१३. विस्मापन (आश्चर्य उत्पन्न करना)

१४. विस्मारण (भुलाना)—किसी विचारणीय विषय पर अधिक चिन्ता करने से वात प्रकृतिक व्यक्ति को विकार होने की संभावना रहती है अतः उसे भुलाने का प्रयास करना चाहिए।

१५. विधि पूर्वक सुरासव सेवन

१६. दीपनीय, पाचनीय, वातहर एवं विरेचनीय द्रव्यों से युक्त शतपाक; सहस्रपाक (जो उपयुक्त हो) स्नेहों का पान, अभ्यङ्ग, वस्ति के रूप में प्रयोग।

१७. योग्य वस्तियाँ

१८. सुखशीलता (पूर्ण आराम)

१९. वस्ति नियमों का पालन—वस्ति प्रयोग वर्णन के समय जिन नियमों का निर्देश किया गया है उनका अथवा चरक० सिद्धि अध्याय १ में वर्णित वस्तिक्रम के नियमों का पालन करना चाहिये। वस्तिनियमः अनुवास-नम् तस्य वस्तिनानियत्वात् (हेमाद्रि)

२०. मधुयष्टि (मुलहठी) चूर्ण ३ ग्राम (१ माशा) में यथावश्यक घृत मधु मिलाकर नित्य प्रातः उष्ण दुग्ध के साथ सेवन करने से वात प्रकृतिक मनुष्य कई विकारों से बच सकता है। —श्री कृष्णप्रसाद जी त्रिवेदी

मधुर विपाकी मधुयष्टी को वात शामक कहा गया है–"नृपाषवनतर्जने मधुयष्टिका यष्टिका" (सि. भे. मणि-माला) भगवान चरक ने रोग भिषग्जातीय अध्याय में मधुरस्कन्ध के अन्तर्गत मधुयष्टि का उल्लेख किया है। काश्यप ने शूल चिकित्सा अध्याय में क्षीरपाक योग में मधुयष्टि के प्रयोग का परामर्श दिया है। सुश्रुत संहिता में भी काकोल्यादि गण (जो वातशामक तथा जीवनीय बृंहणीय है) के अन्तर्गत इसका वर्णन मिलता है।

२१. इसके अतिरिक्त वात संचय ऋतु में वात शामक योग यथा चन्द्रप्रभा वटी इत्यादि का प्रयोग अवश्य करते रहना चाहिए। चन्द्रप्रभावटी का अनुपान अश्वगन्धा ... उपयुक्त रहेगा। सैन्धव लवण, शु० टङ्कण तथा सोंठ का चूर्ण समान मात्रा में लेकर शोभाञ्जन पत्रस्वरस (अभाव में छाल का क्वाथ) की भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बना लें। यथावश्यक २-३ गोली समुचित अनु-पान से सेवन करते रहने से वात जन्य विकृतियों के प्रादु-र्भाव की संभावना नहीं रहती है। यह सदैव स्मरण रहे कि आप्तोपसेवी एवं हिताहारविहार सेवी व्यक्ति सदैव स्वस्थ रहता है।

आहार विहारोपरान्त दोष प्रावल्य से दोष विकृत होकर प्रकृति रोगयुक्त होती है। अतः जिस पुरुष की प्रकृति जिस दोष से घटित हुई हो उसे समावस्था में रखने के लिए उस पुरुष को अपनी दिनचर्या व ऋतुचर्या ऐसी रखनी चाहिए कि उसकी प्रकृति के उत्पादक दोष की वृद्धि न होने पाये।

पृष्ठ ८६ का शेषांश

मोटी होती है। इसके रोगी बहुत मिलते हैं।

उरुस्तम्भ रोग में नाड़ी—

उरुस्तम्भवता विशीर्ण मथिता नाड़ी भवेत् पिच्छिला।
वक्राचंचलगामिनी न च तथा शीता न चामूलतः॥

उरुस्तम्भ रोग भी गृध्रसी सदृश होता है। इस रोग में नाड़ी अति कृश, दुर्बल तथा चिपचिपी हो जाती है। वक्र, कुटिल व चंचल गति वाली होते हुए भी नाड़ी गरम रहती है न कि ठंडी।

रोगी के कष्ट का निर्णय रोगी के आगमन काल के अनुरूप किया जाता है। रोगी जिस समय आता है वह वात प्रकोपकाल है या पित्त कफ प्रकोपकाल में आया है उसी के अनुरूप रोगी की प्रकृति से समन्वय कर कष्टों का निर्णय किया जाता है।

त्रिदोषज को रोग निदान के बिना भी दोषानुसार चिकित्सा करने में पूरी सफलता मिलती है और लोक-यश प्राप्त होता है।

आयुर्वेदोक्त जन्मजात वात-व्याधियों का संकलन

डा० देवेन्द्रनाथ मिश्र एम.डी. [कौमारभृत्य], क्लीनिकल रजिस्ट्रार
डा. चन्दन चतुर्वेदी पी-एच.डी.[कौमारभृत्य] रीडर,प्रसूति विभाग
भारतीय चिकित्सा संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान,
काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी

०—०

आधुनिक विज्ञान की शैली विश्लेषणात्मक है जबकि प्राच्य भारतीयों की शैली वर्गात्मक किंवा सूत्रात्मक रही है। यह तथ्य प्रकट करने वाले प्रारम्भिक विवेचनयुक्त लेख के लेखकद्वय श्री मिश्र एवं श्री चतुर्वेदी हैं जो कौमारभृत्य विशेषज्ञ हैं। इस लेख में आपने आयुर्वेदरीत्या जन्मजात वात व्याधियों का संकलन प्रस्तुत किया है जो लेखकों को एक नवीन दिशा प्रदान करता है। यही इस लेख की मौलिकता है।

—श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'
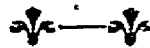
"वात व्याधि विशेषांक" में प्रस्तुत आलेख सम्भवतः अपनी सामान्य लीक से कुछ हटकर है। क्योंकि यह मात्र आयुर्वेद साहित्य सागर मन्थन का एक प्रयास है जिससे जिज्ञासुओं की यह ज्ञान पिपासा शान्त हो सके कि आयुर्वेद में वर्णित तथ्य वैज्ञानिक हैं एवं आधुनिक काल में जिसे अन्वेषण कहते हैं उसका वर्णन आयुर्वेद साहित्य में पूर्वकाल में ही है। भले ही सूक्ष्म रूप में वर्णित हो। वर्णन हेतु आलेख को कुछ भागों में विभक्त करना होगा—

१. जन्मजात व्याधियां क्या हैं ?
२. आयुर्वेदोक्त जन्मजात व्याधियों के संदर्भ
३. समीक्षा

जन्मजात व्याधियां क्या हैं ?

जन्मजात व्याधि वह व्याधि है जो उपस्थित तो जन्म से रहती है, पर यह हो सकता है कि उसके लक्षण बाद में उपस्थित हों। इसे ही Congenital anamolies कहते हैं। वंशज व्याधियों से इसमें अन्तर है। जन्मजात व्याधि में वंशज एवं वातावरण जनित कारण भी हो सकते हैं जबकि वंशज व्याधि में सदैव ही मातृज या पैतृज जीन (Genetic) कारण होते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि जन्मजात व्याधियां सदैव वंशज नहीं होतीं और वंशज व्याधियां सदैव ही जन्मजात नहीं होतीं वातावरणजनित व्याधियां जन्मजात हो सकती हैं पर वंशज नहीं।

जन्मजात वात व्याधियों एवं विकृतियों का आयुर्वेदोक्त संग्रह

सुश्रुत एवं वाग्भट ने इस का महत्व समझ कर ही समस्त व्याधियों को निम्न वर्गों में बांटा है—

सुश्रुत संहिता	अष्टांग संग्रह
१. आदि बल प्रवृत्त	सहजन्य रोग
२. जन्म बल प्रवृत्त	गर्भजन्य रोग
३. दोष बल प्रवृत्त	जातजन्य रोग
४. संघात बल प्रवृत्त	पीड़ाजन्य रोग
५. काल बल प्रवृत्त	कालजन्य रोग
६. दैव बल प्रवृत्त	प्रभावजन्य रोग
७. स्वभाव बल प्रवृत्त	स्वभावजन्य रोग

इन समस्त वर्गों का वर्णन आचार्योंने विस्तृत रूप से किया है। यहां आलेख से सम्बन्धित विषय पर ही विचार करेंगे।

१. आदि बल प्रवृत्त: सहजन्य रोग:—

तत्र आदि वल प्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वया: कुष्ठार्श: प्रभृतय:; तेऽपि द्विविधा:—मातृजा: पितृजाश्च।

—सु० सू० २४/५

तत्र सहजा: शुक्रार्तवदोषान्वया: कुष्ठार्शो मेहादय: पितृजा मातृजाश्च ॥—अ० सं० सूत्र २२/३

उपरोक्त वर्णन यद्यपि गर्भ में ही शिशुओं को होने वाली व्याधि का ही संकेत करते हैं। परन्तु इसमें कारण भूत जन्मदाता शुक्र एवं शोणित होते हैं। इनमें हुई विकृति व्याधि का कारण होती है। आधुना भाषा में chromosomal एवं Genetic विकृतियां कहेंगे।

२. जन्म बल प्रवृत्त: गर्भजन्य रोग—

जन्म वल प्रवृत्ता ये मातुरपचारात् पंगुजात्यन्ध वधिर मूक मिन्मिन वामन प्रभृतयो जायन्ते; तेऽपि द्विविधा: रसा कृता:, दौहृदापचार कृताश्च।—सु० सूत्र २४/५

गर्भजा जनन्यपचारात्कौब्ज्यपांगुल्य पैङ्गल्य किलासा-दयोन्नरसजा दौहृदविमानजाश्च। —अ० सं० सूत्र २२/३

इस वर्ग में आचार्यो के द्वारा गर्भवती स्त्री के साथ अनुचित व्यवहारजनित परिणामों का उल्लेख किया है। जिसे 'मातुरपचार' शब्द से प्रकट किया है। फिर इसमें भी दो वर्ग किये हैं रसकृत (पोषण वर्ग) एवं दौहृद अवमानन। आचार्य वागभट का इस विषय पर इससे आगे भी कुछ अध्ययन था।—(अ० सं० शारीर २/५४। इसी कारण उन्होंने विभिन्न दोषवर्धक आहार के सेवन से होने वाली व्याधियों का वर्णन किया है।

यदा च लब्धगर्भाऽन्वक्षमेव वातलान्यासेवते तदाऽस्या वायु: प्रकुपित: शरीरमनुसर्पन् गर्भाशयेऽवतिष्ठमानो गर्भस्य जड़वधिरमूक मिन्मिणगद्‌गदखञ्जकुब्जवामन हीनांगाधि-कांगत्वान्यन्यं वा वात विकारं करोति।

और जब गर्भवती होने पर स्त्री निरन्तर वातकारक वस्तुओं का सेवन करती है तब स्त्री के शरीर में प्रकुपित वायु शरीर में गति करता हुआ गर्भाशय में रुककर गर्भ जड़ता, वधिरता, गूंगापन, नाक से बोलना, भर्राई आवाज, खंजता, कुवड़ापन, वामनत्व, अंगों की न्यूनता या आधिक्य या अन्य वात रोग को उत्पन्न करती है।

इसी प्रकार पैत्तिक एवं कफज विकारों का भी उल्लेख है।

आचार्य चरक ने भी इसका विस्तृत विवेचन किया है-

वीजात्मकगर्भाशय कालदोषैं
मातुस्तथाऽऽहारविहार दोषै:।
कुर्वन्ति दोषा: विविधानि दुष्टा:
संस्थान वर्णेन्द्रिय वैकृतानि ॥

—च० शा० २/२६

वीज (शुक्र शोणित), आत्मकर्म (पूर्व देह कृत), आशय एवं काल की विकृति (दोष) एवं माता का आहार विहार का दोष गर्भ के संस्थान, इन्द्रिय को विकृत कर देता है। यहां पर भी आहार विहार का उल्लेख इसी बात का द्योतक है।

आचार्य चरक ने दोष प्रकोपक आहार का प्रभाव गर्भोत्पादक वीज, वीज भाग एवं वीज भागावयव पर भी माना है—

यदा स्त्रिया दोष प्रकोपणोक्तान्या सेवमानाया दोषा: प्रकुपिता: शरीरमुपसर्पन्त: शोणितगर्भाशया वपुपद्यन्ते, न च कार्त्स्न्येन शोणित गर्भाशयौ दूषयन्ति, तदेयं गर्भं लभते स्त्री, तदा तस्य गर्भस्य मातृजानामवयवानामन्य तमोऽवयवो विकृतिमापद्यत एकोऽथवाऽनेको, यस्य यस्य ह्यवयवस्य वीजे वीजभागे वा दोषा: प्रकोपमापद्यन्ते तं तमवयवं विकृतिराविशति। —च० शा० ४/३०

अग्निवेश ने आचार्य आत्रेय से प्रश्न पूछा कि वह कारण कौन से हैं जिससे गर्भ पूर्णरूपेण नष्ट न होकर विकृति को प्राप्त होता है?

आत्रेय ने उत्तर दिया कि जब स्त्रियां वातादि दोष प्रकोपक आहार विहार का सेवन करती हैं तो वातादि दोष कुपित होकर शरीर में फैलते हुए रक्त और गर्भाशय को प्राप्त करते हैं, परन्तु यह पूर्णरूपेण दूषित नहीं होते। ऐसी दशा में जब स्त्री गर्भ धारण करती है तो उस गर्भ के मातृज एवं पितृज अवयवों में से किसी एक या

अधिक अवयवों में विकृति उत्पन्न होती है।

यहां-आचार्य ने वन्ध्या, पूतिप्रजा, वार्ता व्याधि एवं पुरुष विकृति से वंध्या पुरुष, पूतिप्रजा एवं तृणपुत्रिक व्याधियों का उल्लेख किया है। इसमें दोषों का स्पष्टीकरण नहीं दिया है। परन्तु कुछ इसी प्रकार की व्याधियों का उल्लेख शारीर स्थान २/१८ आदि में चरक संहिता में किया गया है। वातादि दोषों से दुष्ट होने से, आदि कारणों से द्विरेता, वायु विकृति से पवनेन्द्रिय शिशु का जन्म, संस्कारवाही, वातिक षण्ढ की उत्पत्ति होती है। आचार्य वागभट्ट ने भी वातेन्द्रिय, संस्कारवाही, वातिक षण्ढ में वातदोष के विकृत होने को स्वीकार किया है।

दौहृद अवमानन भी वात प्रकोप का कारण होता है

दौहृदविमाननादि वायुः प्रकुपितोऽन्तः शरीर मनुचरन् गर्भस्य विनाशं वैरुप्यं वा कुर्यात् ॥—अ.सं.शा.२।२०

अतः गर्भ में विरूपता उत्पन्न होती है। सुश्रुत ने कुब्ज, कुणि, पंगु मूक, एवं मिन्मिन संतानोत्पत्ति होती है।

आचार्य वागभट ने वातप्रकोपक रसों से होने वाली व्याधियों का भी उल्लेख किया है। —अ. सं. शा २।६१

१. तिक्त रस—शोष रोग, निर्बल एवं अल्प भोग्या संतान।
२. कटु रस—दुर्बल, अल्पशुक्रवाली या संतान रहित।
३. कषाय रस-श्यामवर्ण, आनाह रोग वाली या उदावर्ती रोगवाली संतान होती है।

यह मत वाग्भट ने चरक संहिता से उद्धरित किया है। आचार्य सुश्रुत ने "तत्र दृष्टि भागमप्रतिपन्नं······ ······वातानुगतं विकृताक्षमिति" (सु. शा. २।३६) लिख कर वाकृताक्ष होना लिखा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जन्मजात्त विकारों में जन्मबल प्रवृत्त या गर्भ जन्य रोग शीर्षक से रसकृत एवं दौहृद अवमानन वर्ग में जिन विकारों का उल्लेख किया गया है उनका मूल कारण दोष वैषम्यता ही है। जिन्हें रोक कर कुछ हद तक इन व्याधियों से छुटकारा पाया जा सकता है।

अपान वात—एक विवेचनात्मक अध्ययन — पृष्ठ ८३ का शेषांश

साथ में पीयूष ग्रन्थि के अग्रखण्ड एवं डिम्ब ग्रन्थि से निकलने वाले हारमोन्स नियमित करते हैं। इन ग्रन्थियों से निकले हार्मोंस आस्ट्रियोजन तथा एफ० एस० एच० और एल० एच० हार्मोंस की अन्तर्क्रिया के कारण ही स्त्रियों का मासिक स्राव नियमित रूप से होता है। इसके साथ ही साथ योनिग्रीवा से प्राप्त होने वाले प्रत्यावर्तनों के द्वारा भी गर्भाशय मांसपेशियों में संकोच उत्पन्न होता है। इसी कारण आवश्यकता होने पर महिला चिकित्सक गर्भाशय-ग्रीवा की कला को कृत्रिम रूप से विदरित कर गर्भ निष्क्रमण क्रिया को प्रारम्भ कराती है। यह प्रत्यावर्तन तनाव के कारण उत्पन्न होता है। गर्भ निष्क्रमण की क्रिया प्रमुख रूप से हारमोनों की स्थिति में परिवर्तन होने के कारण होती है। इन परिवर्तनों के कारण गर्भाशय पेशियों में उत्तेजना उत्पन्न होती है। बाद में सम्पूर्ण क्रिया यान्त्रिक क्रियाओं के रूप में परिवर्तित होती है। प्रसवावस्था में प्रोजिस्ट्रोन माता के शरीर में अधिक रहता है यिसके कारण गर्भाशय संकोच अवरुद्ध रहते हैं। सप्तम मास के पश्चात् औस्ट्रिजन का स्राव बढ़ जाता है परिणामस्वरूप ही गर्भाशय पेशी में उत्तेजना होती है। पश्च पीयूष ग्रन्थि से निकलने वाला हारमोन आक्सीटोसिन भी गर्भाशय संकोच की अभिवृद्धि में सहायक होता है।

'अपान वात' के संदर्भ में आधुनिक विचारकों के द्वारा प्रस्तुत इस विवेचन को प्रस्तुत करने का मात्र औचित्य यह है कि मानव शरीर में उपर्युक्त क्रियायें एक ही प्रकार से सम्पन्न होती हैं जिन्हें प्राचीन विचारकों ने अपान वात द्वारा नियमित व संचालित कहा है जबकि वर्तमान में इन कार्यों के सम्पन्न होने की विधियों का विवेचन उपर्युक्त प्रकार से किया जाता है। इस परिप्रेक्ष में हम स्पष्ट रूप से यह भी कह सकते हैं कि आयुर्वेदज्ञों ने जिसे अपान वात स्वीकार किया है तथा कटि में प्रमुखरूप से स्थित कहा है वह उस क्षेत्र की तन्त्रिकाओं, उनके प्रत्यावर्तनों एवं हार्मोन्स की क्रियाओं का सम्मिलित रूप है।

★ डा. देवेन्द्रनाथ मिश्र एम. डी.; एवं डा. चन्दन चतुर्वेदी पी-एच. डी.

वैद्य मदन गोपाल ए० एम० एस०

स्वतन्त्रता सेनानी श्री आचार्य मदन गोपाल जी वैद्य लम्बे समय से आयुर्वेद की सर्वविध सेवा कर रहे हैं। आप उत्तम लेखक, पीयूषपाणि चिकित्सक, उदात्त विचारक एवं लोकप्रिय नेता हैं। अन्वेषण में आपकी विशेष रुचि है। अधुना आप आरोग्य धाम का संचालन कर रहे हैं। जीवन की अन्तिम अवस्था में आपने अनुभूतिपूर्ण ज्ञान को "चरक रहस्य प्रकाशिका" नामक अत्युत्तम व्याख्या के माध्यम से प्रकट किया है जो अपने आप में परिपूर्ण है। चरक संहिता के सूत्रस्थान अध्याय १ पर प्रकाश डालने वाली इस विवेचना का प्रकाशन हो चुका है जिस पर ५००० रु. का पं. शिवनाथ शर्मा वैद्य शोध पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। अग्रिम खण्ड मुद्रणाधीन है।

मेरे आग्रह पर आपने रोग निदान हेतु "वात रोगों में नाड़ी परीक्षा" नामक उत्तम लेख प्रेषित किया है जिससे पाठक अपने ज्ञान में वृद्धि कर आतुर जनता को लाभ पहुँचायेंगे। —विशेष सम्पादक

मानव काया में वायु की निम्न गति, वेग व दिशायें होती हैं जो निम्न चित्रवत् तीरांकित हैं—
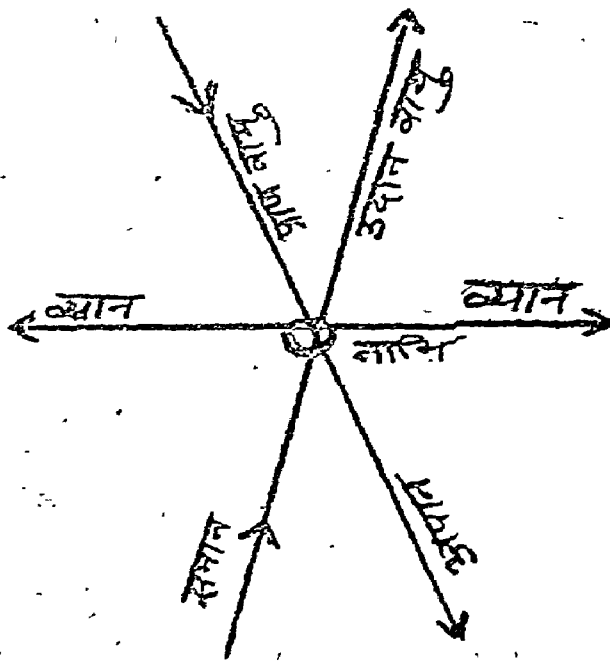
वायु के गुण कर्म का शास्त्र में विस्तार से वर्णन है। इतना ज्ञान वायु के संबंध में पूरी तरह से हो तो वह नाड़ी परीक्षा से वात रोगों का निदान कर सकता है। सबसे बड़ा भ्रम वायु के सम्बन्ध में आधुनिक विज्ञान ने पैदा कर दिया है कि नाइट्रोजन आक्सीजन कार्बन के मिश्रण को वायु कहते हैं। विज्ञान की यह धारणा बिल्कुल गलत है। आयुर्वेदज्ञ पूर्ववात, पश्चिमवात, उत्तरवात, दक्षिणवात के मानने वाले हैं। आयुर्वेदज्ञों का सबसे बड़ा अद्भुद निरीक्षण परीक्षण यह है कि वायु एक निश्चित काल में मनुष्य की वृद्ध आयु में, दिन रात के अन्तिम १/३ भाग में तथा राष्ट्रीय आषाढ़ श्रावण मास व राष्ट्रीय पूस माघ मास में कुपित होती है। आहार परिहार के अन्तिम में घण्टों में भी वायु कुपित होती है। दोषों की अशांश कल्पना इन्हीं के आधार पर निश्चित की जाती है और इन्हीं के आधार पर औषधि पथ्याहार विहार की व्यवस्था होती है।

आज हमें नाड़ी परीक्षा से वातव्याधि निदान के विषय में विचार करना है। वायु के गुण कर्म, भेद, प्राकृत कर्म, विकृत कर्म, क्षयवृद्धि लक्षणों को पूर्णतः ध्यान में रखने पर ही नाड़ी परीक्षा से सही व शुद्ध परिणाम प्राप्त हो सकता है। नाडी परीक्षा के समय चित्त की एकाग्रता निश्चय ही आवश्यक है।

वैद्य को सुस्थिर, शान्त चित्त व एकाग्र मन से साधारणतया प्रातःकाल रोगी की परीक्षा करनी चाहिये। रोगी को भी मल मूत्रादि नित्यकर्म से निवृत्त होकर समासन से बैठकर नाडी दिखानी चाहिये चाहे कुर्सी पर बैठे या तखत पर। रोगी को भूखा प्यासा व परेशानी की स्थिति मे नाड़ी नही दिखानी चाहिये। दूर से आने वाले रोगी को श्रम रहित होकर सुस्थिर चित्त होकर नाड़ी दिखानी चाहिये। नाड़ी परीक्षा के समय रोगी व वैद्य को किस प्रकार बैठना व नाड़ी देखना चाहिये इसको प्रायः सभी चिकित्सक अच्छी तरह जानते है। वैद्य को अपने दाहिने हाथ से नाड़ी परीक्षा करनी चाहिये। रोगी यदि पुरुष हो तो प्रथम उसका दाहिना हाथ तथा स्त्री हो तो प्रथम बांया हाथ देखना चाहिये। यह बांये दाहिने हाथ का नियम युवावस्था प्राप्त स्त्री पुरुष के लिये है। स्त्री व पुरुष की नाड़ी का भेद बडा रहस्यमय है और यह पृथक लेख का विषय हो सकता है।

अङ्गुष्ठमूल के नीचे वहिः प्रकोष्ठगा धमनी पर तर्जनी, मध्यमा और अमानिका तीन अंगुलियां रखकर नाड़ी परीक्षा की जा सकती है (चित्र सं०) दोनों हाथों में इन्हीं तीन अंगुलियों के नीचे नाड़ी परीक्षा की जाती है। पहले यह जानना आवश्यक है कि किस अंगुली के नीचे किस किस रोग का किस स्थान पर ज्ञान होता है--

अंगूठे की ओर से उङ्गली नाड़ी परीक्षा मे तर्जनी रखी जाती है। तर्जनी के नीचे वात, दूसरी उङ्गली मध्यमा के नीचे पित्त तथा तीसरी उङ्गली अनामिका के नीचे कफ की परीक्षा की जाती है अर्थात नाड़ी में तर्जनी के नीचे वात, मध्यमा के नीचे पित्त तथा अनामिका के नीचे श्लेष्म का क्षेत्र या अधिष्ठान्न है।

(१) रोगी के दायें या बाये हाथ मे तर्जनी के नीचे वायु की नाड़ीगति से वायु के रोगों का, वस्ति, कब्ज, बृहदांत्र, प्रदर, प्रमेह, नपुंसकता, बांझपन, सुजाक, गर्मी, अर्श, भगन्दर, अण्डवृद्धि, पथरी, मधुमेह, बहुमूत्र, मासिक धर्म व रजवीर्य के रोग, गर्भाशय, शुक्राशय, डिम्बाशय, तथा अधःशरीर के रोगो का ज्ञान होता है। रोगी के दायें हाथ की परीक्षा से शरीर के दक्षिणार्ध के रोगों का ज्ञान तथा बायें हाथ से शरीर के वामार्ध स्थित रोगों का ज्ञान होता है। अर्थात यकृत के रोग का ज्ञान दाहिने हाथ से, प्लीहा रोग का ज्ञान बाये हाथ से होगा। श्रोणि गुहा के वामार्ध में रोग होगा तो बायें हाथ से ज्ञात होगा तथा दक्षिणार्ध मे रोग होगा तो दाहिने हाथ से पता
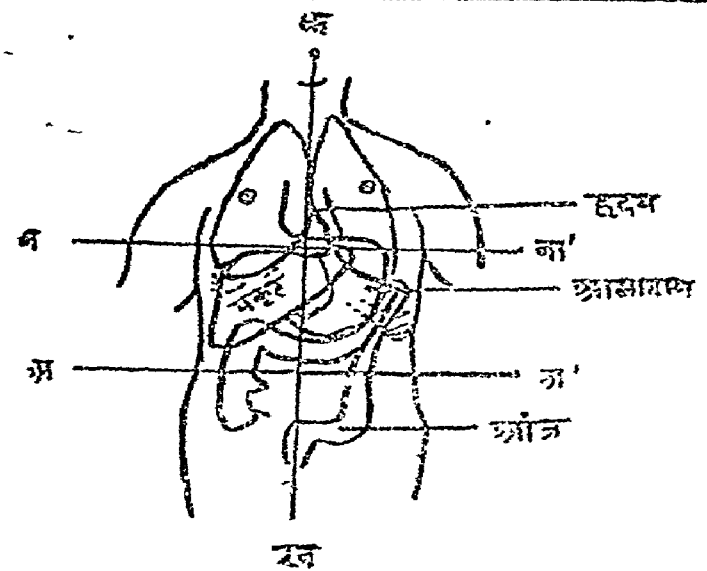
नाडी क्षेत्र-नाड़ी में रोगें का अधिष्ठान

क ख रेखा शरीर को वामार्ध तथा दक्षिणार्ध दो भागों में बांटती है। दक्षिण हाथ की नाडी से दक्षिणार्ध तथा वाम नाड़ी से वामार्ध के रोगों का ज्ञान होता है। अ—आ रेखा के नीचे स्थित अङ्गों के रोगों का ज्ञान तर्जनी अंगुली से होता है। ब—बा तथा अ आ रेखा के मध्यस्थ अंगों के तथा हृदय रोगों का ज्ञान मध्यमा अंगुली से होना है। ब—बा रेखा से ऊपर के अंगों के रोगों का ज्ञान अनामिका अंगुली से होता है।

★ वैद्य मदनगोपाल ए०एम०एस० ★

चलेगा। यदि वायें वृक्क में अश्मरी हो तो वायें हाथ से, दाहिने वृक्क में अश्मरी या विद्रधि हो तो दाहिने हाथ से पता चलेगा अर्थात् यदि केवल रोगी के एक ही हाथ की नाड़ी परीक्षा की जाय तो शरीर के अर्धभाग के रोगों का ज्ञान होगा तथा दोनों हाथ की नाड़ी परीक्षा कर लेने पर सम्पूर्ण शरीर के रोगों का ज्ञान हो जाता है। देखो चित्र सं० १

(२) दाहिने हाथ में दूसरी अंगुली अर्थात् मध्यमा के नीचे स्थित नाड़ी से पित्त, आमाशय, छोटी आंत, यकृत, मन्दाग्नि या तीव्राग्नि, अतिसार, संग्रहणी, हैजा, वमन, शूल, आमदोष, अजीर्ण दाह आदि रोगों का पता चलता है।

(३) वायें हाथ की मध्यमांगुलि तले स्थित नाड़ी से हृदय के रोग, तिल्ली तथा वाम वृक्क, वाम गवीनी आदि रोगों का पता चलता है।

(४) वायें दाहिने दोनों हाथों में तीसरी अंगुली अनामिका के नीचे कफ की नाड़ी से वक्ष, शिर तथा उर्ध्व शरीर के रोगों का पता चलता है। इससे फेफड़ों के कुल रोग खांसी, जुकाम, श्वांस, प्लूरिसी, निमोनियां, श्वास नलिका, अन्न नलिका के रोगों का पता चलता है।

नाड़ी परीक्षा में परीक्ष्य तत्व—

तच्चेष्टयां सुखं दुखं ज्ञेयं कायस्य पण्डितै:।
एका परीक्षणीया दक्षिण कर चरण विन्यस्ता ॥

नाड़ी ग्रन्थों में नाड़ी परीक्षा विधि विस्तार से लिखी गई है परन्तु नाड़ी गति में परीक्ष्य तत्व क्या-क्या हैं? इसका वोधगम्य वर्णन देखने को नहीं मिलता। इसी से इस शास्त्र का लोप हो रहा है। केवल अनुभव व अभ्यास का उपदेश है परन्तु नाड़ीगति के परीक्ष्यतत्व को अनुभव व अभ्यास के वाद लिपिवद्ध नहीं किया गया।

नाड़ी परीक्षा करते समय निम्न वातों का अनुभव या अभ्यास करना चाहिये—

१. नाड़ीगति—प्रत्येक व्यक्ति की नाड़ी १ मिनट में कितने वार धक्के लगाती है या स्पन्दन करती है। यह गति युवा स्त्री में पुरुषों की अपेक्षा प्रति मिनट प्राय: १० वार अधिक स्पन्दन होता है। जवकि युवा पुरुष में प्रति
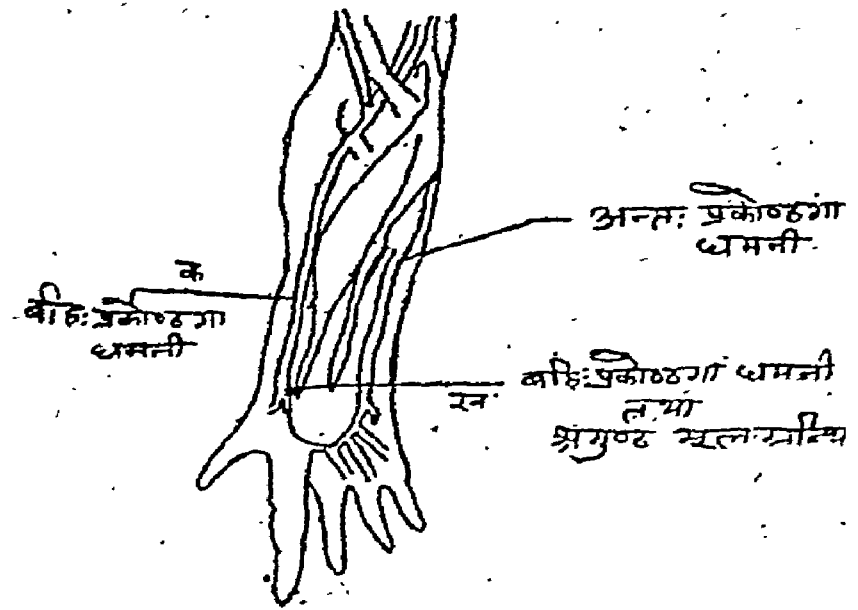
एकापरीक्षणीया विनयस्ता दक्षिण कर विन्यस्ता नाड़ी परीक्षक क ख के मध्य अपनी तीनों अंगुलियों को रख धमनी भित्ति की गति (स्पन्दन) का अनुभव करता है।

नोट—अंगुष्ठ मूल ग्रंथि के नीचे वहि:प्रकोष्ठास्थि में एक उभार होता है तथा उसी स्थल पर जो धमनी की शाखा निकलती है वहकरास्थियों से होती हुई अन्त: प्रकोष्ठ धमनी से मिल जाती है।

मिनट स्पन्दन गति ७०-७२ होती है। आयु के भेद से भी नाड़ीगति का प्रति मिनट में वड़ा अन्तर होता है।

१ वर्ष से	५, ६ वर्ष की आयु में	१४० से १२३ प्र. मि.	
१० ,,	१५ ,, ,,	९० से ७६	,,
१६ ,,	२६ ,, ,,	७२ से ७०	,,

अनेक कारणों व परिस्थितियों में इस नाड़ी गति में परिवर्तन होते हैं।

२. नाड़ी गति की नियमितता—दो नाड़ी स्पन्दनों के मध्य में कुछ समय लगता है। यदि प्रत्येक दो नाड़ी स्पन्दन के मध्य समान समय लगे तो उसे नियमित या सम नाड़ी कह सकते हैं।

दो नाड़ी स्पन्दनों के वीच का समय घट जाय या वढ़ जाय या सम नाड़ी गति होते हुए भी कुछ स्पन्दन जोड़ों के वाद एकाध स्पन्दन का लोप हो जाय या नाड़ी

मन्द या तीव्र गति चंचल गति या विषम गति ऐसी नाना प्रकार की हो सकती हैं। नियमितता के विविध अनुभवों को किसी नाड़ी ग्रंथ में ही लिखा जा सकता है।

३. नाड़ी शक्ति या बल—चिकित्सक रोगी की नाड़ी पर तीन अंगुली रखता है और वह अपनी अंगुली में गति व नियमितता के अतिरिक्त जितने जोर का धक्का लगता है वह भी अनुभव करता है। परीक्ष्य धमनी व चिकित्सक की अंगुली के मध्य लगभग आधा सेण्टीमीटर मोटे चर्म की स्थिति होती है।

नाड़ी धमनी का घेरा (आयाम) प्रायः १ सेण्टीमीटर तथा उसका व्यास १/३ सेण्टीमीटर के लगभग होता है। विभिन्न रोगों में इसके आयाम में भी परिवर्तन होजाता है जैसे हैजा में नाड़ी ढूढ़ने में कठिनाई होने लगती है।

हृदय के बल के अनुरूप ही नाड़ी का बल होता है। अनेक कारणों, रोगों व परिस्थितियों में इसमें अन्तर भी होता है।

४. नाड़ी भित्ति की दशा—परीक्ष्य धमनी साधारणतया अपने स्थान पर स्थिर रहती है और हटाने से नहीं हटती परन्तु दुर्बल लोगों में वह हटाने से अगल बगल हट जाती है और अपना स्थान भी छोड़ देती है या टेढी हो जाती है या फूलकर मोटी हो जाती है। उसकी स्थिति स्थापकता का अनुभव बड़ी सरलता से हो सकता है कि नाड़ी कठोर है या मृदु, रक्त परिपूर्ण है या शिथिल। इसीसे रक्तचाप या रक्तदाव का भी अनुभव होता है।

५. नाड़ी गति नियमितता का बोध समय के अनुसार ऊपर कहा गया है। परन्तु इसका अनुभव नाड़ी तरङ्ग की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई चढ़ाव उतार के क्रम से भी करना चाहिए।

संक्षेप में नाड़ी परीक्षा में यही परीक्ष्य विषय है। जिसका अनुभव व अभ्यास करना चाहिए विशेष वर्णन नाड़ी ग्रंथ में ही मिल सकता है।

नाड़ी की साधारण परीक्षा—

सर्व प्रथम दांये हाथ की नाड़ी पर तीनों अंगुलियां रखो। देखो चित्र २, ३ और नाड़ी की गति उसकी

इस चित्र में दो नाड़ी तरंग या स्पन्दन दिखाये गये हैं।
दोनों नाड़ी की लम्बाई अस=५ सेमी.,
अ'स'=५ से मी.
चढ़ाव अवरोह अ ब=अ' ब'
उतार ब स=ब' स'

नियमितता, उसका बलाबल, नाड़ी धमनी भित्ति की शक्ति और उसकी रक्तपूर्णता की परीक्षा करें और बाद में बांये हाथ की भी परीक्षा करें शरीर का जो अर्धांग होता है उसी पार्श्व में विशेष लक्षण मिलेंगे। यदि शरीर के उभयार्धांगों में रोगाधिष्ठान होगा तो दोनों हाथों की नाड़ी में रोग के लक्षण मिलेंगे। जिस हाथ की नाड़ी दुर्बल होगी उसी पार्श्व की नसें व अङ्ग दुर्बल व रोगग्रस्त होंगे।

विशेष परीक्षा—शास्त्र में वात, पित्त, कफ के बल में व्यायाम में ८०, ४०, २० या ४, २, १ का अनुपात बतलाया गया है। इसी कारण तर्जनी अंगुली के नीचे सर्व प्रथम नाड़ी से वात रोग, या वात दोष का पता चलता है। अधिकांश वात व्याधियों का पता तर्जनी के नीचे स्थित नाड़ी भाग से चल जाता है। अतः पुरुष के दांये हाथ की नाड़ी पर तीनों अंगुली रख कर अनुभव करे बाद में मध्यमा व अनासिका को उठालें और केवल तर्जनी अंगुली से नाड़ी गति का अनुभव करे।

तर्जनी के नीचे वात सूचक नाड़ी के स्पन्दन के युग्म अर्थात् जोड़े जोड़े की परीक्षा करें। यदि इन स्पन्दनों की गति तीव्र व बलवान हो तो वृद्धवात समझें। यदि स्पन्दनों में गति मंद व बलहीन हो तो वात क्षय रोगों की

सूचक होगी। स्पन्दन की ऊँचाई भी यदि कम हो तो वात क्षय वर्ग का वात रोग होगा।

यदि १०, १२ स्पन्दन सम हों तथा दो एक स्पन्दन असम हों तो दौरे से होने वाली वात व्याधि समझें। यदि १०, १२ स्पन्दन विषम हों और दो एक स्पन्दन सम हों तो लगातार बने रहने वाली वात व्याधि की कल्पना करें। ऐसे लक्षण दोनों हाथों में मिलेंगे। नाड़ी परीक्षा में नाड़ी तर्जनी के नीचे सम असम हो सकती है। इस प्रकार की परीक्षा का अभ्यास करना चाहिये। यह अभ्यास नाड़ी परीक्षा का मुख्य प्रवेश द्वार है।

किसी भी अंगुली के नीचे नाड़ी स्पन्दन का जोड़ा जो टिक टिक होता है देखें कि क्या दोनों स्पन्दन एक ही जोर से लगते हैं या एक ऊँचा या एक नीचा। इस प्रकार नाड़ी गति की समता असमता, चढ़ाव उतार की ऊँचाई व लम्बाई मृदुता कठिनता, नाड़ी बल, नाड़ीभित्ति की दशा, व नाड़ी में रक्त की परिपूर्णता या नाड़ी की परिधि की नाप का अनुभव करे।

वात की नाड़ी वक्र कुटिल सर्प या जलौका की गतिसदृश होती है। निदान ग्रंथों में सभी रोगों के वातज, पित्तज, कफज भेद कहे गए हैं। रोग के लक्षणों में रोग का अधिष्ठान व दोषानुसार उसके कष्ट का पूरा निरूपण करना होता है। आज हमें वात रोगों में नाड़ी परीक्षा का विवेचन करना है। चरक सुश्रुत ने वात रोगों की गणना वात व्याधि प्रकरण में की है। उन्हीं रोगों में नाड़ी के लक्षण का वर्णन कणाद की नाड़ी पुस्तक का जो पाठ कविराज गंगाधर की नाड़ी पुस्तक में दिया है उसी से वात व्याधि नाड़ी लक्षण कहे जाते हैं।

अपस्मार में नाड़ी—

अपस्मारवतोनाड़ी क्षीणाच द्रुतवाहिनी।
आक्षेपके भवेन्नाड़ी स्थूला सा वेगगामिनी॥

अपस्मार में नाड़ी क्षीण बलवाली तथा तेज गति से चलने वाली होती है।

आक्षेपक रोग में नाड़ी मोटी होजाती है और तेज गति से चलती है।

अपतंत्रे भवेन्नाड़ी वक्रा व्रजति चंचला।

अपतंत्रक रोग में नाड़ी वक्र चलती है तथा चंचल (तेज गति वाली) होती है परन्तु अपतानक रोग में नाड़ी पतली कृश वक्र होती है तथा तेज गति वाली होती है।

अपताने कृशा नाड़ी—वक्रा सत्वरगामिनी॥

दण्डापतानक में नाड़ी—दण्डावताने गुरुपिच्छिल्या
नाड़ी भवेत्वायुसमान लिंगा।
ऊर्ध्वगता याति बलादधश्चेन्नाड़ी
धनुस्तंभरादे गंभीरा॥
अभ्यन्तरायामगदे गभीरिणी नाड़ी
कृशांसत्वर धातुवाहिनी॥

दण्डापतानक रोग में नाड़ी की लम्बाई अल्प होती है यद्यपि उसकी गति वात नाड़ी सदृश होती है। तथा नाड़ी की ऊपरी त्वचा पर पिच्छिलता (चिपचिपाहट) मिलती है। धनुस्तंभ रोग में नाड़ी वक्र व ऊर्ध्वगामी होते हुये पुनः बलपूर्वक नीचे आजाती है। अन्तरायाम रोग में नाड़ी अति गंभीर, मुश्किल से मिलने वाली, कृश, दुर्बल तथा शीघ्रगामी होती है। इस प्रकार के रोगी बहुत कम देखने को मिलते हैं और बड़ी कठिनता से रोग दूर होता है। ऐसे रोगों में स्वर्ण भस्म का प्रयोग अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। निदान ग्रंथों में इनके पूर्ण लक्षण देखें तथा सम्प्राप्ति के विपरीत चिकित्सा करें।

पक्षाघाति में नाड़ी—

पक्षाघाते भवेन्नाड़ी शुद्धा च पवनप्लुता।

पक्षाघात रोग में नाड़ी वात रोगवत होते हुए भी वात क्षय जन्य होने से नाड़ी शुद्ध होती है न कि कुटिल।

मन्यास्तम्भ में नाड़ी—

मन्यास्तम्भे भवेन्नाड़ी शुद्धागुर्वी घुनोपमा।
जिह्वास्तम्भे भवेन्नाड़ी वातपूर्ण च चंचला।

मन्यास्तम्भ रोग में नाड़ी वात क्षय से रोग होने के कारण शुद्ध सरलवातगति वाली होती है पर उसमें भारीपन होता है। यद्यपि वह घुन सदृश पतली व दुर्बल होती है। केवल जिह्वा स्तम्भ हो तो नाड़ी वात लक्षणों वाली परन्तु चंचल होती है।

गृध्रसी रोग में नाड़ी—

गृध्रस्यां नाड़िका स्थूला मन्दगा वक्रगामिनी।

गृध्रसी रोग में नाड़ी वक्र गति वाली मन्दगति तथा

—शेषांश पृष्ठ ८८ पर देखें।

★ वातरोग में नाड़ी परीक्षा ★

वैद्य गोपीनाथ पारीक "गोपेश" भिषक्

महर्षि सुश्रुत ने रोगी परीक्षा के लिये षट्विध परीक्षणोपायों का वर्णन किया है। आचार्य वाग्भट ने दर्शन, स्पर्शन एवं प्रश्न को ही प्रमुख माना है किन्तु सुश्रुत ने इन तीन उपायों को पूर्ण जानकारी हेतु उपयुक्त नहीं कहा है। उन्होंने षड्विधि परीक्षोपायों पर ही बल दिया है—"षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः। तद्यथा—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति।" यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि इन सब परीक्षाओं का आधार पूर्व चरकोक्त आप्तोपदेश ही होगा। सुश्रुतोक्त षड्विध उपायों में शब्दतः, स्पर्शतः, रूपतः एवं गन्धतः परीक्षा चरकोक्त प्रत्यक्ष नामक परीक्षणोपाय के अन्तर्गत तथा रसतः एवं प्रश्नेन परीक्षा अनुमान के अन्तर्गत माने जायेंगे। यद्यपि अन्य दर्शनों में रसना उपाय को प्रत्यक्ष का ही भेद कहा गया है किन्तु रोगी परीक्षण के समय इसका प्रत्यक्ष ज्ञान करना उचित नहीं है। मधुमेह में पिपीलिकाओं को रोगी के मूत्र पर देख कर अनुमान किया जाता है। अतः रसना परीक्षा को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत न मान कर अनुमान के अन्तर्गत मानना ही समुचित है। आधुनिक विद्वान रोगी परीक्षा के ये उपाय मानते हैं—प्रश्न, दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, अङ्गुलिताडन (ठेपन) एवं रसायनिक परीक्षा। जिनका प्रायः समावेश उपर्युक्त षड्विध उपायों में ही हो जाता है। यह लेख वात-रोगियों से संबन्धित है अतः यहां वात रोगों में उपयुक्त परीक्षणोपायों का वर्णन अपेक्षित है। यह वर्णन षड्विध परीक्षोपायों के अनुसार किया जायेगा।

१. शब्दतः परीक्षा—

शब्द आकाश का गुण है और श्रोत्र (कान) शरीर में आकाश के प्रतिनिधि हैं सुतरां श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा जो परीक्षा की जाती है वह "शब्दतः परीक्षा" कही जाती है। शब्दतः परीक्षा के लिए भगवान चरक ने उल्लेख किया है—"अन्त्रकूजनं सन्धिस्फोटनमङ्गुली पर्वणांच स्वरविशेषां ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः शब्दाः स्युस्तान् श्रोत्रेण परीक्षेत्।"

अशीति वातविकारों में वर्णित जृम्भा, हिक्का, अति प्रलाप, अन्त्रकूजन आदि के शब्दों की श्रोत्र द्वारा ही परीक्षा होती है। ऊर्ध्ववात में रोगी के अत्यधिक उद्गार सुनाई देते हैं। आध्मान, प्रत्याध्मान में उत्पन्न गुडगुडाहट के शब्द स्पष्ट सुनाई देते हैं। अनुग्रह में अस्पष्ट बोल कठिनाई से बोलता है, मिन्मिनत्व में नासिका के स्वरयुक्त बोल तथा गद्गदत्व में बोलते समय कुछ शब्दों को छोड़ छोड़ कर रोगी बोलता है। इन विकृतियों में वायु की कारणता जानी जा सकती है जो श्रोत्र द्वारा सुनाई देने वाले लक्षण हैं—

१. जृम्भा—जृम्भात्वर्थ समीरणात् (नानात्मजें विकारे)
२. हिक्का—कफेनानुगते वाते
३. अन्त्रकूजन—पक्वाशयस्थे वाते
४. ऊर्ध्ववात—आमाशयस्थे वाते
५. आध्मान—गुदस्थिते व्यानावृतेऽपाने
६. प्रत्याध्मान— ,,
७. मिन्मिनत्वम्—उदानेनावृते व्याने

८. गद्‌गदत्वम्   —उदानेनावृते व्याने
९. सन्धिस्फुटने—सर्वाङ्गकुपिते वाते
१०. अति प्रलाप—समानेनावृते व्याने

यद्यपि शब्द को सुनने का समवायी कारण श्रोत्रेन्द्रिय ही है किंतु इस कार्य सहायता हेतु आजकल श्रवण यन्त्र (Stethoscope) का उपयोग किया जाता है। इससे अन्त्रकूजन, एवं हृदय-फुफ्फुस के विकारों का विशेष ज्ञान होता है। हृदय की एवं फुफ्फुस की विशिष्ट ध्वनियां रोग विशेष की ज्ञापक होती हैं। इससे आमवातादि के परम्परया निदान का भी बोधन होता है।

आधुनिकों द्वारा व्यवहृत विधि अंगुलिताडन—ठेपन (Percussion) यद्यपि स्पर्शन तथा यन्त्ररहित श्रवण का सम्मिलित रूप है किन्तु स्पर्शन से प्रायः रोगपरीक्षा न होकर ठेपनजन्य शब्द विशेष से ही रोग निर्णय में सहायता मिलती है अतः इस विधि को भी शब्दतः परीक्षा विधि के अन्तर्गत ही मानना चाहिये। इस विधि द्वारा स्व उत्पन्न ध्वनि को चिकित्सक सुनता है। चिकित्सक अपने वाम हस्त की दो-तीन अंगुलियों को अभिप्रेत स्थान पर रखकर दाहिने हाथ की तर्जनी या मध्यमा अंगुली से है। कुशल चिकित्सक तो अपने अनुभव के आधार पर स्पर्शमात्र से ही ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इस ताडन (ठेपन) से ताड्यमान अङ्ग की प्रकृति के अनुसार विभिन्न प्रकार की ध्वनियां उत्पन्न होती हैं. ठोस ठेपन से स्थान की कठोरता का तथा रिक्तठेपन से रिक्तता का और सुषिर ठेपन से ठोस-रिक्तमय स्थान का ज्ञान होता है।

आध्मानादि में वायुपूर्ण उदर पर किया गया ताडन रिक्त ठेपन है। फुफ्फुसों पर किया गया ताडन (ठेपन) सुषिर ठेपन है। रिक्तता आकाश का गुण है वातदोष आकाश एवं वायु महाभूत से उत्पन्न होता है। वातकलाकलीय अध्याय में कृश सांकृत्यायन ने वायु के सूक्ष्म चल के स्थान पर दारुण को वातगुण कहा है जिसकी व्याख्या में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—"दारुणत्वं शोषणत्वात काठिन्यं करोतीति" अतः वात रोगों में तीनों प्रकार के ठेपन की अनुभूति होती है—

१. रिक्त ठेपन—आध्मान, प्रत्याध्मान, सन्धिगतवात,
२. ठोस ठेपन—मन्यास्तम्भ, अष्ठीला, प्रत्यष्ठीला
३. सुषिर ठेपन—सिरागतवात, अस्थि सौषिर्य

२. स्पर्शतः परीक्षा—

प्राकृत और वैकृत स्पर्श की हाथ की सहायता से परीक्षा करनी चाहिए। उक्त विधि द्वारा ही स्थान की सीमा मृदुता, कठिनता, स्पर्शनासहता एवं तापक्रम आदि का ज्ञान होता है। वायु को "अव्यक्तो व्यक्तकर्मा" कहा गया है। वायु के भौतिक गुणों में से रूक्ष शीत और खर स्पर्शानुमेय ही हैं। अतः इन गुणों की सम्यक् परीक्षा वात व्याधि के निदान में सहायक होती है।

१. रूक्षता—स्पर्शनेन्द्रिय लब्ध गुण है। इससे त्वचा में खरखराहट, अङ्गों का स्तम्भन एवं शोषण होता है।

२. शीतता—शीतलता स्पर्शानुमेय गुण है। इससे शरीर में स्तब्धता, स्निग्धता, गुरुता आदि उत्पन्न होते हैं।
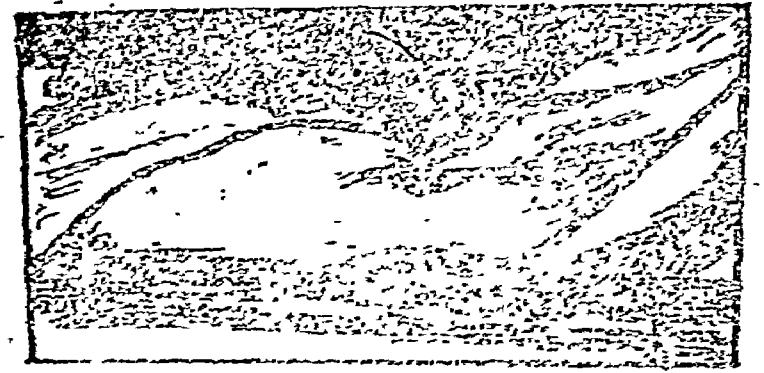
द्विहस्तीय स्पर्शन-परीक्षा

३. खरता—इससे द्रव का शोषण होता है एवं त्वचा खुरदरी तथा दुःखद स्पर्श वाली हो जाती है।

निम्नाङ्कित वात विकारों की स्पर्श से परीक्षा होती है—

१. पारुष्यम् (क) नख परुषत्वम्—वात विकृतिजन्ये
(ख) त्वक् परुषत्वम्   „
२. शोष—(क) अंगशोष—वातस्य नानात्मजे विकारे
(ख) बाहुशोष   „
३. स्तम्भ—(क) अस्थिपर्वणां स्तम्भ—कफावृते व्याने
(ख) ऊरुस्तम्भ—वातस्य नानात्मजे विकारे
(ग) मन्यास्तम्भ—   „
(घ) हनुस्तम्भ—   „
(ङ) गृध्रसी—वातजन्य विकारे

४. च्युति—(क) सन्धि च्युति—सन्धिगते वाते
(ख) जानुविश्लेष—नानात्मजे विकारे
५. रौक्ष्यम्—(क) त्वक् रौक्ष्यम्—त्वक्स्थे वाते
(ख) सिरा रौक्ष्यम्—सिराग्रहे वात विकारे
६. शैत्यम्—कफावृते वाते—कफानुबन्धे वाते
७. उष्णता—(क) गात्र सन्ताप—रक्तगते वाते, पित्तावृते वाते, पित्तसमन्विते पक्षवधे
(ख) पाद सन्ताप—पाददाहे

उक्त विशेष स्पर्श लक्षणों से वात रोगी का निदान किया जा सकता है। वातजन्य असह्य वेदनाओं में स्पर्शनासहत्व भी दृष्टिगोचर होता है। रोगी चिकित्सक को आक्रांत स्थान का स्पर्श नहीं करने देता क्योंकि स्पर्श से उसकी पीड़ा बढ़ जाती है। इस लक्षण से वात रोगों की वेदना तथा उसकी तीव्रता का ज्ञान हो जाता है। त्वगगत वात विकारों में त्वचा की स्पर्श शक्ति मिट जाती है। योगरत्नाकर ने इसे स्पर्श वात के नाम से व्यवहृत किया है—

अंगेषु तोदनं प्रायो दाहः स्पर्शं न विन्दति।
मण्डलानि च दृश्यन्ते स्पर्शवातस्य लक्षणम्॥

इसमें जो स्पर्श ज्ञान की शून्यता होती है उसका परिज्ञान रोगी की त्वचा का स्पर्श करने से ही होता है।

३. रूपतः परीक्षा—

शरीर का उपचय, अपचय, आयु के लक्षण, बल, वर्ण, शरीर की प्रकृति आदि की परीक्षा चक्षुरिन्द्रिय (नेत्र) द्वारा की जानी चाहिए। आधुनिक चिकित्सक रोगी परीक्षा में इस दर्शन (Inspection) को विशेष महत्व देते हैं, इसके पश्चात् स्पर्शन आदि को। उदर, वक्ष, मुख, आंख आदि की प्रकृति, क्रिया एवं वर्ण का यथासम्भव ज्ञान उक्त उपाय से होता है। क्ष-किरण द्वारा, अणुवीक्षणादि यन्त्रों की सहायता से परीक्षा भी दर्शन परीक्षा के अन्तर्गत आती है। शरीर की विशिष्ट आकृतियों एवं गति इत्यादि का पर्याप्त ज्ञान दर्शन द्वारा ही होता है।

मन्द चेष्टा, कम्प, शोष, संकोच, भेद, स्तम्भ, कार्श्य, खञ्जता, आक्षेप, पांगुल्य, कुब्जत्व, व्यध, नाश, भ्रंश, व्यास, ग्रह, राग, अरुणवर्णता, वर्णोपघात, स्फुटितधूसरकेशगात्र आदि वातविकारों का ज्ञान हमें दर्शन द्वारा ही होता है। दर्शन सुलभ निम्नांकित वातव्याधियां होती हैं—

१. कम्प—(क) हस्तकम्प—स्नायुगते वाते
(ख) गात्रकम्प—सर्वाङ्गाश्रिते वाते
२. घात (व्यध)—(क) पक्षवध—नानात्मजे विकारे
(ख) बलोपघात—वातवृद्धौ
(ग) वर्णोपघात—कफावृते उदाने
(घ) इन्द्रियवध—इन्द्रियस्थिते वाते
३. नाश—(क) कर्मनाश—उदानावृते प्राणे
(ख) वर्णनाश— ,,
(ग) ओजोनाश— ,,
(घ) बलनाश— ,,
४. भ्रंश—(क) गुद भ्रंश—अपान प्रकोपजे
(ख) योनिभ्रंश— ,,
(ग) अङ्गविभ्रंश—नानात्मजे विकारे
५. पङ्ग ग्रह—(क) शिरोग्रह—प्राणावृते उदाने
(ख) हनुग्रह—नानात्मजे विकारे
६. शोष—(क) शरीर शोष—सिरागते वाते
(ख) बाहुशोष—नानात्मजे विकारे
(ग) त्रिकशोष—गुदाश्रिते वाते
७. स्तम्भ—(क) अस्थिपर्वणां स्तम्भ—कफावृते व्याने
(ख) ऊरुस्तम्भ—नानात्मजे विकारे
८. सरागत्व—त्वक्स्थे वाते
९. विश्लेष—जानुविश्लेष—नानात्मजे विकारे

कभी कभी वात व्याधियों से पीड़ित व्यक्तियों के चेहरे एवं व्यक्तित्व में परिवर्तन आ जाता है। रोगी बिना कारण सुस्त हो जाता है, चिड़चिड़ा हो जाता है या विचित्र व्यवहार करने लगता है। अर्दित में मुंह टेढ़ा हो जाता है। निरन्तर दुखी रहने के कारण उसके मुख की भावभंगिमा विकृत हो जाती है।

वात व्याधि में व्यक्ति की चेष्टाओं में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। उसकी स्थिति, गति (State and Gait) में विशेषतया परिवर्तन आता है। भ्रम से पीड़ित व्यक्ति पैरों को कुछ चौड़ा कर खड़ा होता है। गिर जाने

के भय से वह शिर को किंचित् वक्र कर खड़ा होता है। कुब्जता में उसका झुकना एवं अन्तरायाम या बहिरायाम में विविध आयामयुक्त रोगी की स्थिति का ज्ञान होता है। पक्षाघात के रोगी की स्थिति एक विशेष प्रकार की होती है। उसके आक्रांत पक्ष का देखने मात्र से ज्ञान हो जाता है। खड़े-खड़े या चलते समय, कई व्यक्ति अपने हाथ, पैर, जिह्वा, नेत्र आदि में संकोच-विस्तार की चेष्टायें करते देखे जाते हैं जो व्यानवायु की विकृति से होती हैं। कटिशूल एवं उरुस्तम्भग्रस्त वातरोगी की भी खड़े रहने की स्थिति विशेष होती है। प्राणावृत समान-वात जड़ता भी देखी जा सकती हैं।

पक्षाघात के रोगी की गति में पैर जानु, वंक्षण-सन्धियों पर आसानी से हिलता नहीं है। पैर का अगला हिस्सा घसीटा जाता है। सामान्यतया चलते समय पैर के साथ हाथ भी हिलते हैं। पक्षवध के रोगी में चलते समय हाथ नहीं हिलता है। पंगुता में रोगी की गति मन्द होती है एवं वह कठिनाई से आगे बढ़ पाता है। बाल पक्षवध के रोगी के पैर में एक रचनात्मक विकृति आ जाने से वह पादांगुली एवं पादपार्श्व के सहारे ही खड़ा रहता है या चलता है। पादगति मांस स्नायु विकृति के कारण ऐसा होता है। इस प्रकार कतिपय विशेष स्थितियों एवं गतियों आदि के अवलोकन से विविध वात रोगों का निदान सरलता से हो जाता है।

स्नायु में स्थित विकृत वायु के कारण वाह्यायाम, अन्तरायाम, खल्ली, कुब्जता-आदि एवं अन्य सार्वदैहिक (General) या स्थानीय (Local) व्याधियों की उत्पत्ति होती है—

कुर्यात्सिरागतः शूलं सिराकुञ्चनपूरणम्।
स वाह्याभ्यन्तरायामं खल्लीं कौब्ज्यमथापिवा॥
सर्वांगैकांगरोगांश्च कुर्यात्स्नायुगतोऽनिलः॥
—माधव निदान २२/२०

रूक्ष, धूम्र, चंचल नेत्रों से तथा स्फुटित जिह्वा से भी वात प्रकोप का ज्ञान होता है। योग रत्नाकर कार कहते हैं—

रूक्षा धूम्रा तथा रौद्रा चला चान्तर्ज्वलत्यपि।
दृष्टिर्यदा तदा वात रोगं विदो विदुः॥
जिह्वा शीता खरस्पर्शा स्फुटिता मारुतेऽधिके॥

वात के प्रकोप के कारण व्यक्ति का मल सूखा एवं कठिन होता है; मल का वर्ण काला होता है। वात के कारण मूत्र का रंग पाण्डुर (श्वेताभ) किंवा नीला तथा मूत्र रूक्ष होता है। पित्तावृत्त अपान की स्थिति में जलन व गर्मी के साथ-साथ मूत्र में रक्त भी आता है। इन सब बातों का परिज्ञान चिकित्सक को दर्शन से करना चाहिए। इस परीक्षा में प्रचलित आधुनिक विविध यन्त्रों की सहायता ली जा सकती है।

८. रसतः परीक्षा—

रोगी के शरीर का रस यद्यपि इन्द्रियग्राही है तो भी उसे अनुमान द्वारा ही जानना चाहिए। रोगी से प्रश्न किया जाकर उसके मुख के रस (स्वाद) के विषय में जानकारी करनी चाहिए।

आजकल रोग निर्णय हेतु जो विविध रासायनिक परीक्षायें की जाती हैं उनसे मधुरता आदि एवं अन्य रोग निर्णय सहायक तथ्यों का अनुमान किया जाता है। निम्नांकित वात विकारों की रसतः परीक्षा की जाती है—

१. कषायमुखत्व—नानात्माजे विकारे
२. विरसमुखत्व—कफावृते प्राणे
३. मधुरास्यत्व—वाते च मधुरास्यत्वम् [यो. र.]

पुरातनकाल में चिकित्सकों की इन्द्रिय शक्ति असीम थी, वे चित्त वृत्तियों का निरोध कर रोगी के रोग का परिज्ञान कर लेते थे। आजकल कई रासायनिक परीक्षाओं तथा कई यन्त्रों की सहायता से चिकित्सक रोग निदान करने में समर्थ होता है।

रक्त की परीक्षा कर यह जाना जाता है कि उसमें मूत्राम्ल कितना है। स्वस्थ व्यक्ति के प्रति १०० सी. सी. रक्त में १-३ मि०ग्रा० तक मूत्राम्ल होता है। जब यह किसी कारणवश मूत्रमार्ग से निकल नहीं पाता और रक्त में उसकी मात्रा १०० सी०सी० रक्त में ५ मि० ग्रा० या अधिक होने से वह क्रमशः क्षारानुद्विमूत्रेत (Sodium Biurate) में परिवर्तित होकर संधियों में जमकर वातरक्त को जन्म देता है।

यूरिक एसिड मूत्र में क्षार के साथ मिलकर यूरेट्स

के रूप में उपस्थित होता है। ये यूरेट्स दो प्रकार के होते हैं—उदासीन और अम्लीय। स्वस्थावस्था में ०.४ से ०.७ तक प्रतिदिन निकलते हैं। तीव्र ज्वरों में तथा ग्रन्थिक श्वेताणु वृद्धि (Acute Lymphatic Leukaemia) में बढ़ जाते हैं तथा आमवात में घट जाते हैं। अतः इनकी परीक्षा करना भी आवश्यक है। मूत्र को सेंट्रीफ्यूगल मशीन द्वारा केन्द्रीभूत कर प्राप्त अवक्षेप की १ बूंद कांच पट्टिका पर रखकर कवरस्लिप से ढककर सूक्ष्मदर्शक यंत्र से प्रथम कम शक्ति, बाद में अधिक शक्ति में देखते हैं। ये यूरेट्स कई प्रकार के होते हैं। प्रायः गुलाबी या ईंट के वर्ण वाले होते हैं जो छोटे छोटे गोल दाने जैसे समूह में मिलते हैं।

पित्तावृत अपान की स्थिति में मूत्र के साथ रक्त भी आता है; अतः इस स्थिति के परिज्ञान हेतु मूत्र में रक्त की परीक्षा का ज्ञान आवश्यक है। एक परीक्षण नलिका में १ मि० ली० मूत्र लेकर उसमें ३ बूंद टिंचर ग्वायकम मिला दें। इससे एक सफेद गंदलापन प्रकट होगा। इसमें १ मि० ली० ओजोनिक ईथर मिलाने से दोनों के संयोग स्थल पर नीला वर्ण हो जाता है।

इसकी दूसरी विधि यह भी है—एक परीक्षण नलिका में मूत्र लेकर उसमें ईथर सल्फ तथा हाइड्रोजन पैरा-क्साइड समभाग मिलावें। इसको एक पिपेट द्वारा मूत्र
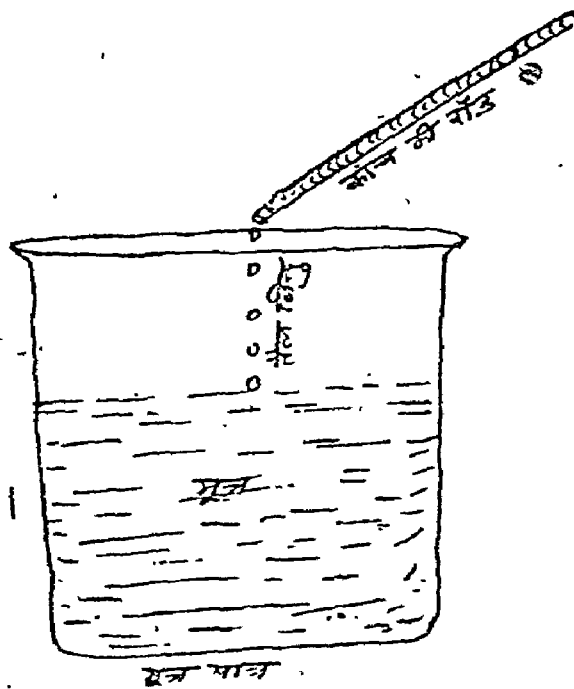
में मिलावें। यदि दोनों द्रवों के मिलने के स्थान पर नील वलय (Blue ring) बन जाये तो मूत्र में रक्त उपस्थित समझना चाहिये।

एक तिनके के सिरे को तैल में डुबोकर तैल को १ बूंद लेकर मूत्र में छोड़कर तैल के फैलने की स्थिति से भी मूत्रगत दोषों का परिज्ञान होता है (चित्र)। मूत्र में तैल का बिन्दु वात के कारण सर्प के समान फैलता है।

सर्पाकारं भवेद्वाताच्छत्राकारं तु पित्ततः।
मुक्ताकारं बलासात्स्यादेतन्मूत्रस्य लक्षणम् ॥

५. गन्धतः परीक्षा—

घ्राणेन्द्रिय में स्थित कुपित वात से रोगी के सूंघने की शक्ति का भी नाश हो जाता है, अतः उसका भी ज्ञान करना आवश्यक है। घ्राण शक्ति का नाश होना अरिष्ट लक्षण कहा गया है—

विपर्ययेण यो विद्याद्गन्धानां साध्वसाधुताम्।
न वा तान् सर्वशो विद्यात्तं विद्याद्विगतायुषम् ॥
—च० इ० ४/२१

पूतिघ्राणास्यगन्धिता, शरीरदौर्गन्ध्यादि शोणिताश्रय रोग कहे गये हैं वहां भी वातादि दोषों की कारणता होती है क्योंकि चक्रपाणि ने स्पष्ट किया है—

शोणिताश्रया इति भाषया-शोणितस्य वातादिवत् स्वातन्त्र्येण रोगकर्तृत्वं निराकरोति। × × × प्रवृद्ध शोणिताश्रयास्तु वातादय आश्रय प्रभावान्न स्वचिकित्सामात्रेण प्रशाम्यन्ति।

६. प्रश्नेन परीक्षा—

प्रश्नों द्वारा रोगी-रोग के विषय में बहुत कुछ जानकारी की जा सकती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से ये प्रश्न दो प्रकार के होते हैं। १. सामान्य प्रश्न जो प्रायः प्रत्येक रोगी से पूछे जाते हैं। आतुर का नाम, आयु, व्यवसाय, निवास स्थान, रोगी के स्वास्थ्य का पूर्व वृतांत, कुल वृतांत आदि तथा वर्तमान रोग की अवधि, पूर्व कोई यदि चिकित्सा कराई गई हो तो उसका परिणाम आदि सामान्य प्रश्न के अन्तर्गत आते हैं।

सामान्य प्रश्न से यह जानकारी हो जाती है कि रोग कौन से संस्थान का है। इसके पश्चात उस रोग के सम्बन्ध में जो प्रश्न किये जाते हैं वे विशेष प्रश्न कहे जाते हैं। वात व्याधियों में प्रायः ये प्रश्न होजाते हैं—

१. रोगी के इतिवृत्त से रोग निदान में बहुत सहायता मिलती है। सन्धिवात के रोगी का इतिवृत्त यदि उपदंश रोग की पूर्व में व्याप्ति प्रकटित करता है तो उसकी चिकित्सा सविशेष की जायेगी। अतः इतिवृत्त के विषय में पूर्ण जानकारी करनी चाहिए।

२. इसी प्रकार उसके व्यवसाय के सम्बन्ध में भी ज्ञान करना अनिवार्य है। यह ज्ञान भी प्रश्न द्वारा ही किया जा सकता है। मार्गगमन, अधिक कर्षण आदि कारणों का ज्ञान उसके व्यवसाय से ही होता है।

३. यह भी पूछना चाहिए कि रोग सहसा उत्पन्न हुआ या धीरे धीरे। अब रोग वृद्धि की ओर है या ह्रास की ओर अथवा स्थिर है यह भी पूछ लेना चाहिए।

रोगी को प्रश्न सदैव स्वीकरात्मक या नकारात्मक नहीं पूछने चाहिए। उससे टट्टी लगी? या टट्टी नहीं लगी? ऐसे प्रश्न न पूछकर, टट्टी कैसी लगी? मुख का स्वाद कैसा है? आदि प्रश्न करने चाहिए। व्यर्थ, अशिष्ट एवं पुनः पुनः प्रश्न नहीं पूछे जाने चाहिये। निम्नांकित विशेष वेदनाओं का परिज्ञान चिकित्सक प्रश्नों द्वारा ही करता है—

१. भेद—(क) जानुभेद—नानात्मजे विकारे
(ख) श्रोणिभेद— ,,
(ग) शङ्ख भेद— ,,
(घ) अङ्ग भेद— ,,
२. साद—(क) अङ्गसाद—समानावृते व्याने
(ख) उरुसाद—नानात्मजे विकारे
३. तोद—(क) त्वचस्तोद—त्वगाश्रिते वाते
(ख) वक्षस्तोद—नानात्मजे विकारे
(ग) अङ्गेऽत्यर्थं तोद—मांस मेदः स्थिते वाते
४. शूल—(क) सन्धिशूल—सन्धिगते वाते
(ख) अस्थिशूल— ,,
(ग) नाभिशूल—पक्वाशयगते वाते
५. सुप्ति—(क) त्वचः सुप्ति—त्वगाश्रिते वाते
(ख) पादसुप्ति—नानात्मजे विकारे
६. स्फुटन—(क) त्वक् स्फुटन—त्वक् स्थे वाते
(ख) सन्धि स्फुटन—सर्वांगकुपिते वाते

रोगी के बोलने, लिखने, चलने, समझने आदि चेष्टाओं में होने वाली कठिनाई के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। उसकी मानसिक स्थिति, निद्रा, भूख-प्यास के सम्बन्ध में जानना अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञानेन्द्रियों की कार्य क्षमता के विषय में भी प्रश्न द्वारा जाना जा सकता है।

रोगी को यदि आक्षेप आते हैं तो उसे या उसके सम्बन्धी से ये प्रश्न करने चाहिए—

१. पहला आक्षेप कब आया।

२. यह आक्षेप किसी दुर्घटना के कारण या किसी अन्य व्याधि के कारण हुआ है।

३. आक्षेप कितने समय तक रहते हैं।

४. दो आक्षेपों (दौरों) के मध्य कितना अन्तराल रहता है।

५. क्या रोगी के होश में आने से पूर्व ही दूसरा दौरा प्रारम्भ हो जाता है।

६. क्या आक्षेप के समय रोगी बेहोश हो जाता है।

७. आक्षेप का समय, ज्ञात कारण, उसकी तीव्रता-मन्दता के बारे में प्रश्न करने चाहिए।

८. दौरा प्रारम्भ होने से पूर्व शरीर में कोई परिवर्तन—विकार महसूस होते हैं। रोग के आक्रमण के समय रोगी क्या अपनी जीभ काट लेता है या उसका पेशाब निकल जाता है। दौरे के बाद रोगी की स्थिति कैसी हो जाती है।

वात व्याधियों में बहुत सी व्याधियां कुलज होती हैं। अतः इस सम्बन्ध में ज्ञान भी अनिवार्य है। आजकल सूचीवेधजन्य पक्षवध भी बालकों में देखे जाते हैं। अतः ऐसी जानकारी कर लेना भी आवश्यक है। आजकल दुर्व्यसनों का बोलबाला है, अधिक मदिरापान करने वालों में वातव्याधि शीघ्र घर कर लेती है अतः दुर्व्यसनों के सम्बन्ध में पूरी पूछताछ करनी चाहिये। शरीर के पापणाभाव से वात रोगों का बढ़ना स्वाभाविक है ऐसी स्थिति में मूल कारणों की जानकारी कर लेना उपयुक्त है। इसी प्रकार एक प्रश्न जो वातरोगों में अनिवार्य है वह है— संवेदनशीलता के विषय में प्रश्न ये होने चाहिये—

१. शरीर का कोई भाग भारी, सुन्न, सुप्त या मरा हुआ सा तो प्रतीत नहीं हो रहा है। यदि ऐसी अनु-

[प्र]तुतियाँ होती हैं तो वे सीमित हैं या वृद्धि गत हैं। किसी [ब]ाह्य उत्तेजना के कारण तो वे नहीं बढ़ती हैं ?

२. ग्रीवाक्षेत्र की सुषुम्ना के पश्चिमी स्तम्भों में [वि]क्षत होने के कारण गीवा में ऐसा मालूम होता है कि [म]ानो उसे बिजली का धक्का लगा हो। यह धक्का उस [स]मय विशेष अनुभव होता है जब ग्रीवा की रीढ़ को [म]ोड़ा या सीधा किया जाय।

३. रूपाकार का ज्ञान—रोगी की आँखें वन्द करा [उ]सके हाथ में कोई भी सामान्य पदार्थ रख रोगी को उस [प]दार्थ को टटोलने के लिए कहा जाता है। यदि वह नहीं [ब]ता पाता है तो मानना चाहिये कि उसकी अंगुलियों में [भ]ङ्गघात है।

४. स्पर्श विवेक—रोगी की आँखें वन्द कर उसके [श]रीर पर या अंग विशेष पर रुई छुआई जाती है। यदि [र]ोगी को उसका ज्ञान हो जाता है तो माना जाता है कि [उ]से लघु स्पर्श का बोध है।

रोगी की आँखों पर पर्दा लगाकर उसके शरीर के [कु]छ भागों को छूकर पूछा जाता है कि स्पर्श कहाँ हुआ। [इ]ससे स्पर्श का स्थानीकरण हो जाता है।

स्पर्श का सम्यक् विवेचन करने हेतु एक प्रयोग [कि]या जाता है। एक परकार (कम्पास) जिसके दोनों [सि]रे कुण्ठित हों लेकर उसके दोनों सिरों को अलग हटा [क]र उन्हें एक साथ त्वचा पर रखते हैं और रोगी से [पू]छते हैं कि वह दो स्थानों पर छुआ है या एक स्थान [प]र। परकार को उठाकर और सिरों का अन्तर बढ़ा [घ]टाकर स्पर्श का विवेचन किया जाता है।

५. ऊपरी वेदना का ज्ञान आलपिन की नोंक चुभा [क]र तथा एक पेशी या कण्डरा को देर तक दवा कर गहरे [द]वाव से उत्पन्न वेदना का ज्ञान किया जाता है।

जितनी चातुरी से प्रश्न पूछे जायेंगे उतनी ही सही [उ]त्तर प्राप्त कर निदान में सफलता प्राप्त की जा [स]कती है।

रोगी की नाड़ी परीक्षा द्वारा रोग निदान करना [ए]क महत्वपूर्ण विषय है जो सम्यक् ज्ञान एवं अभ्यास पर [नि]र्भर है। यह एक स्वतन्त्र विषय की अपेक्षा रखता है [अ]तः इस विषय पर पृथक लेख पृष्ठ ८६ पर लिखा गया है। नाड़ी परीक्षा के अतिरिक्त दो महत्त्वपूर्ण परीक्षायें जो आजकल अधिकतया की जाती हैं उनका भी वर्णन अपेक्षित है।

१. रक्तभार मापन—

वातनाड़ी क्रियाओं का मूल आयुर्वेदीय शरीर में हृदय को माना गया है। यह सत्य है कि वात नाड़ी तथा मस्तिष्क की समस्त क्रियायें उन्हें रक्त की पूरी मात्रा मिलती रहने पर ही सुचारु रूपेण हो सकती हैं।

हृदय कितने वेग से रक्त को ढकेलता है एवं धमनियों में कितनी कठिनता है—इन दो वातों पर रक्तभार निर्भर करता है। रक्त भार की अधिकता से मस्तिष्कीय धमनी फटकर पक्षाघात व्याधि उत्पन्न हो जाती है।

रक्तभार नापने के लिए स्फिग्मोमीटर यन्त्र काम में लाया जाता है। यन्त्र की स्वाभाविक स्थिति में पारद नलिका में एकदम नीचे रहता है। वायु के दवाव से वह नलिका में ऊपर की ओर चढ़ता है। दवाव से रक्त की गति रुकने पर पारद जिस अंक पर पहुँचता है यह सिस्टोलिक रक्तभार कहा जाता है। यह रक्त भार अङ्कित करने के पश्चात यन्त्र पर दवाव कम कर दिया जाता है जिससे पारद नीचे गिरने लगता है। जब रक्त वाहिनी में पुनः रक्त की गति होने लगती है तब पारद जिस अङ्क तक गिरा रहता है वह डाइस्टोलिक रक्तभार कहा जाता है।

स्वस्थावस्था का भार इस प्रकार होता है—

	सिस्टोलिक	डायस्टोलिक
जन्म कालीन	६५ मि.मी.	४७ मि. मी.
वाल्यकालीन (१५ वर्ष)	९० मि.मी.	५० मि. मी.
युवाकालीन	१२० मि.मी.	८० मि. मी.

वाल्यकालीन से ऊपर की आयु में सिस्टोलिक रक्त भार प्रायः आयु से ९० अधिक होता है। यथा आयु ३५ वर्ष होने से ३५+९०=१२५ मि. मी. सिस्टोलिक से डाइस्टोलिक प्रायः ४० कम होता है। यथा ३५ वर्ष की आयुवाले का सिस्टोलिक रक्तभार १२५—४०=८५ मि. मी. डायस्टोलिक रक्त भार होगा। १५० से अधिक सिस्टोलिक तथा ९० से कम डायस्टोलिक रक्त भार

प्रायः पीडाकारक है। परीक्षण में यह ध्यान रखने की आवश्यकता है—

	सिस्टोलिक	डायस्टोलिक
प्रथमावस्था (मृदु अवस्था)	१६० मि.मी.	६५ मि.मी.
द्वितीयावस्था (मध्यमावस्था)	१८० मि.मि.	१०५ मि.मी.
तृतीयावस्था (उग्रावस्था)	२०० मि.मी.	११५ मि.मी.

२०० से अधिक होने पर पक्षाघात हो सकता है। अत्युग्रावस्था में दवाव को हृदय सह नहीं सकता।

२. सुषुम्ना द्रव परीक्षा—

केन्द्रीय नाड़ी संस्थान की विभिन्न व्याधियों में मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव में प्रोटीन की अधिकता हो जाती है। वाल पक्षवध में भी प्रोटीनाधिक्य मिल सकता है। नाड़ी संस्थान के प्रदाह जनित व्याधियों में कोषाधिक्य तथा फिरंगज व्याधियों में शर्करा का ह्रास मिलता है अतः मस्तिष्क सुषुम्नाद्रव की परीक्षा आवश्यक है। रोग निर्णयात्मक परीक्षा के लिए ५ सी. सी. तथा मस्तिष्कीय या सुषुम्नाकाण्डीय दवाव कम करने के लिए आवश्यकतानुसार १० से ५५ सी.सी. तक द्रव निकाला जाता है।

द्रव तृतीय व चतुर्थ कटि कशेरुकाओं के अन्तरालवर्ती स्थान से कुशल चिकित्सकों द्वारा निकाला जाता है। पश्चात परीक्षण किया जाता है।

परिस्थिति	रूप	शायतावस्था में द्रव का चाप	प्रोटीन प्रतिशत	कोप प्रति क्यू. मि० मीटर	कोप का प्रकार	शर्करा प्रतिशत	लवण प्रतिशत	फिरंगज व्याधि परीक्षा
स्वाभाविक	स्वच्छ, वर्णहीन, रखने से जमता नहीं	६० से १५० मि० मी०	०·०२-०·०४	०-५	लसीकाणु	·०५-·०६	०.७२-·७५	नकारात्मक
मस्तिष्क-सुपुम्नाधरा-कलाप्रदाह	अस्वच्छ, गंदला, रखने से गहरा जमाव बन जाता है	विवृद्ध	०.३ तक	१०-२,००० या और अधिक	बहुकोष्ठीय प्रधानतः	स्वल्प अथवा अनुपस्थित	६-,७	"
पूयोत्पादक जीवाणु जन्य मस्तिष्कसुपुम्ना धराकलाप्रदाह	अस्वच्छ, गंदला, पूयस्राव के रूप में, रखने पर जमाव	"	"	१०-१००० या अधिक	"	"	"	"
मस्तिष्क सुपुम्ना धराकला व रक्तवाहिनियों में फिरंगज रोगाक्रमण	स्वाभाविक	स्वाभाविक	.०३-०.८	१०-८०	लसीकाणु प्रधानतः	स्वाभाविक	स्वाभाविक	५० प्रतिशत में सकारात्मक
बाल पक्षवध	स्वाभाविक	स्वाभाविक या स्वल्प विवृद्ध	प्रथम सप्ताहान्त से न्यून वृद्धि ०-१० तक	१०-१०००, लक्षण प्रकट होने के पूर्व से द्वितीय सप्ताह तक	पहले बहुकोष्ठीय, बाद में लसीकाणु	स्वाभाविक	स्वाभाविक	नकारात्मक

★ वात रोगी—परीक्षा विधि ★

डा० दिनेशचन्द्र गुप्त एवं डा० आलोक शर्मा एम०डी०
स्नातकोत्तर अध्येता—काय-चिकित्सा विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर
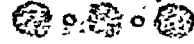
"वातादृते नास्ति रुजाः" के उद्घोष को प्रसरित करने वाले लेखक द्वय श्री गुप्त एवं श्री शर्मा इस संस्थान में विशिष्ट अध्ययनरत हैं जिसके बीजवपन का कार्य श्री कृष्णराम जी भट्ट एवं आयुर्वेद मार्तण्ड श्री लक्ष्मीनारायण जी महाराज ने किया।

शूलोत्पत्ति में वात के कर्तृत्व का विवेचन उभय अध्येताओं ने सम्यक्रीत्या किया है। इसी प्रकार भविष्य में भी, इसी प्रकार के मूलभूत सिद्धान्तों को विवेचित कर सामान्य पाठकों को लाभान्वित करते रहेंगे—इसी मंगल कामना के साथ।

—वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'

आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान त्रिदोष सिद्धान्त पर आधारित है। शास्त्रों में त्रिदोष के अन्तर्गत पित्त एवं कफ की सत्ता बताते हुए वात की प्रधानता का सर्वोपरि उल्लेख किया गया है। विभिन्न रोगों में मिलने वाले लक्षणों में शूल नामक लक्षण सर्वाधिक देखने को मिलता है, जिसकी उत्पत्ति में वात दोष को मुख्य हेतु माना है। लक्ष्यभेदी चिकित्सा के निमित्त शूलोत्पत्ति में वात दोष का वैज्ञानिक विवेचन आवश्यक है—

'शूल' शब्द की निरुक्ति—

(१) शूल—रुजायाम [भ्वादि-परस्मैपद-सकर्मक सेट्]
शूलः; पु० क्ली [-शूलाति लोकानिति शूल रोगे अच्]
शूलति शेषः। [शब्द कल्प द्रुम पंचम भाग]

(२) शूल—रुजायाम् [भ्वादि परस्मैपद अकर्मक सेट्]
शूलः; पु० न० शूल रोग भेदस्त्रिशूले च अमरः।
[वाचस्पत्यम् षष्ट भाग]

(३) शूल—रुजायाम् [भ्वादि-परस्मैपद अकर्मक सेट्].
शूलः; पु० न० शूलक रोग भेदे [शब्दस्तोत्र महानिधि[

उपरोक्त निरुक्ति से सिद्ध होता है कि शूल धातु में 'क' प्रत्यय लगने से शूल शब्द बनता है एवं यह रुजा या पीड़ा के अर्थ में व्यवहृत होता है।

शूल की आयुर्वेदिक निरुक्ति—

सुश्रुत संहिता में—महर्षि सुश्रुत ने शूल रोग प्रकरण के अन्तर्गत शूल की व्याख्या करते हुए बताया है कि 'शरीर में गढ़ी हुई कील या शंकु के समान जो तीव्र वेदना होती है उसे शूल कहते हैं।' इसके अतिरिक्त गुल्म रोग के प्रकरण में भी उपद्रवस्वरूप शूल का वर्णन मिलता है।

अष्टांग संग्रह में—निदान स्थान में बताया है कि शूल चुभने के समान तीव्र वेदना की उत्पत्ति के साथ श्वास लेने में कष्ट होने से इसको शूल कहते हैं।

सिद्धांत निदान में—द्वितीय खण्ड में उल्लेख मिलता है कि चिरकालीन या बारम्बार होने वाली उग्र पीड़ा जो शूल (कील या कांटे) के चुभने के समान होती है तथा मानव शरीर में बेचैनी पैदा करती है उसे शूल कहते हैं।

वात एवं शूल—आयुर्वेद में विभिन्न आचार्यों ने

बताया है कि शूल की उत्पत्ति वात के बिना नहीं हो सकती। आचार्य माधवकर ने शूल के विभिन्न भेदों का उल्लेख करते हुए भी वात की प्रधानता को स्पष्टतः निर्दिष्ट करते हुए शूलोत्पत्ति में वात को प्रभु माना है। माधव निदान की मधुकोष व्याख्या में भी इसे स्पष्ट करते हुए विभिन्न शूलों में वायु की कार्मुकता को अवश्यम् भावी बताया है। यहां पर उन्होंने उल्लिखित किया है कि सभी शूलों में चाहे वह कफ एवं पित्त के कारण ही क्यों न हुए हों वात प्रधान अवश्य रहता है, वात की विगुणता के बिना शूल नहीं हो सकता। व्यवहार में भी देखने को मिलता है कि शास्त्रों में निर्देशित वात प्रकोपक निदानों के सेवन से उसके प्रकोपक कालों में प्रायः शूलोत्पत्ति हो होती है तथा इसकी शान्ति वात एवं शूलनाशक द्रव्यों, 'जो वायु के शीत, रूक्ष, लघु एवं चल आदि गुणों के विपरीत होते हैं' के सेवन से होती है। अतएव आप्तोपदेश-प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों से भी शूलोद्भव में वात की कार्मुकता अनिवार्यतः सिद्ध होती है।

* शूलोत्पत्ति में वायु का कर्तृत्व—आचार्य चरक ने वायु के प्रकोप हेतु दो कारणों का उल्लेख किया है—

[अ] धातुक्षय [ब] मार्गावरण

[अ] चरक चतुरानन चक्रपाणि दत्त ने धातुक्षय का अभिप्राय शरीरस्थ सारभाग अर्थात् स्नेहांश के क्षय के रूप में स्पष्ट किया है। शरीरस्थ सारभाग अर्थात् स्नेहांश के क्षय से धातु एवं स्रोतसों में सुषिरता (घनत्व का नाश) तथा अवकाश (शून्यता तथा रिक्तता) हो जाने से स्थान संश्रय हेतु अनुकूल परिस्थितियां हो जाती हैं, परिणामस्वरूप शूल हो जाता है।

[ब] वायु प्रकोप के द्वितीय निर्दिष्ट कारण मार्गावरण के अन्तर्गत शरीरस्थ स्निग्ध व द्रव रूप द्रव्यों यथा रस रक्त मेदादि धातुओं के अति संचय के कारण स्रोतोरोध हो जाया करता है। धातुओं की यह संचय रूप वैकृत वृद्धि-जन्य अवस्था अग्निमांद्य के परिणामस्वरूप हुआ करती है। स्रोतोरोध की परिस्थितियों से वायु के प्राकृत मार्ग में अवरोध हो जाने के कारण यह शूलोत्पत्ति करता है। वायु का यह प्राकृत मार्गावरोध स्वयं परस्पर वायु-भेदों के आवरण द्वारा किंवा पित्त अथवा कफ के द्वारा हो सकता है।

वात (वायु) द्वारा शूलोत्पत्ति में वायु के निम्नोक्त एक अथवा सभी गुण किसी न किसी रूप में कारणभूत हुआ करते हैं—

१. रूक्ष गुण—वायु के रूक्ष गुण की वृद्धि से शरीर के स्नेहांश का ह्रास होजाता है जो शरीर में खरता, विशदता आदि की वृद्धि करता है। इसके कारण महास्रोतस में मल शुष्क होकर एवं पित्त प्रसेक में यकृत पित्त शुष्क होकर उदरशूल एवं पित्ताश्मरीजन्य शूल होता है। इसी प्रकार शरीरस्थ अन्य अङ्गावयवों में भी इसी प्रकार की प्रक्रिया (शोष) से शूल उत्पन्न होता है।

२. शीत गुण—वायु के शीत गुण की वृद्धि से स्रोतसों में अन्नपानादि बाह्य द्रव्यों तथा शरीरगत रसरक्तादि धातुओं के सम्यक् अभिवहन न होने से अवरोध होने के कारण शूल होता है।

३. लघु गुण—वायु की लघु गुण वृद्धि से शरीरस्थ धातुओं एवं अङ्गावयवों में सुषिरता हो जाने के कारण वायु स्थान संश्रय कर शूल उत्पन्न करती है।

४. सूक्ष्म गुण—वायु के इस गुण की वृद्धि से शरीरस्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागों में गमन स्वाभाविक है जिसके कारण शूल होना भी संभव है।

५. विशद गुण—वायु की विशद गुण वृद्धि से शरीरस्थ अवयवों में तन्तुमयता कम होकर घनता हो जाती है जिससे उसमें शिथिलता हो जाने से वायु के

मूत्राश्मरीजन्य शूल की प्रसरणशीलता

* शूलोत्पत्ति में वात दोष का कर्तृत्व
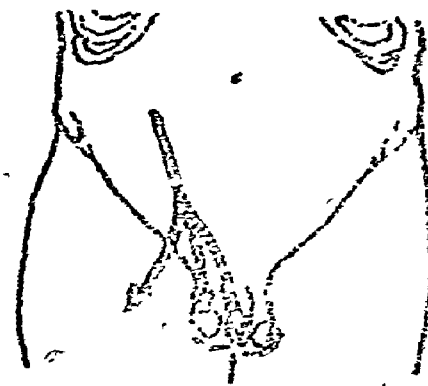
वात व्याधि की सामान्य चिकित्सा

डा० अविनाश बी० झोपे एम० डी० (आयु०)

पांच प्रकार की वायु
१—प्राण वायु, २—उदान वायु, ३—समान वायु, ४—अपान वायु, ५—व्यान वायु।

साधारणतया वायु के प्राण और अपान दो मुख्य भेद किये गये हैं। "प्रकर्षेण आनयति जीवयति इति प्राण:"—इससे प्रापण का कार्य कराने के कारण संज्ञावह नाड़ियों का ग्रहण किया जाता है तथा "अपं आनयति दूरी करोति इति अपान:"—केन्द्र से दूर कराने के कारण इसे अपान कहते हैं। इससे आज्ञावाही नाड़ियों का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार सर्व शरीरचर वायु उपरोक्त क्रियाओं द्वारा शरीर को नियन्त्रण करता है।
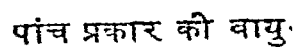
विशेष रूप से वायु के ५ प्रकार कहे गये हैं—प्राणवायु, उदानवायु, समानवायु, व्यानवायु और अपानवायु। इनका अपना-अपना विशेष स्थान और कार्य भी शास्त्र में उल्लिखित है। यथा—

प्राणवायु—इसका मुख्य स्थान मूर्धा है। किसी किसी के मत से हृदय इसका मुख्य स्थान है। थूकना, छींकना, डकार लेना, श्वास-प्रश्वास की गति और अन्न का आंत्र में पहुँचाना इसी वायु का कार्य है। बुद्धि, हृदय, इन्द्रिय एवं मन का भी यही नियामक है। इस वायु की प्रकृतिस्थता पर इनकी प्रकृतिस्थता निर्भर है।

उदानवायु—इसका मुख्य स्थान उर है और नाभि, गला तथा नासिका में इसका संचरण होता है। बोलना, किसी वस्तु को ग्रहण करना, ओज, बल, वर्ण, स्मृति और श्वास-प्रश्वास की प्रवृत्ति इसी के द्वारा होती है। उदान वायु की प्रकृतिस्थता पर उपरोक्त अङ्गों की क्रियाओं की प्रकृतिस्थता निर्भर है।

समानवायु—इसका मुख्य स्थान कोष्ठ है तथा सम्पूर्ण उदर में व्याप्त है। आमाशय तथा क्षुद्रांत्र के पाचक रसों का स्राव कराना, भुक्तान्न का पाचन करके

किट्ट और प्रसादरूप में विभाजन कराना इसका कार्य है।

व्यानवायु—इसका मुख्य स्थान हृदय है और सम्पूर्ण शरीर में यह संचरण करता है। गति सम्बन्धी सम्पूर्ण कर्म (उठाना, फेंकना, आंखें खोलना, वन्द करना, चलना, फैलाना एवं सिकुड़ना आदि) इसके ही द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त हृदय स्पन्दन, धमनीप्रधमन और सम्पूर्ण शरीर में रक्त का अनवरत प्रवाह कराना भी इसी वायु का कार्य है।

अपानवायु—इसका मुख्य स्थान गुदा है। श्रोणिगुहा, वस्ति, मूत्रेन्द्रिय और जङ्घाओं में यह संचरण करता है। शुक्र, आर्तव, मूत्र, मल और गर्भ को वाहर निकालने का कार्य इसके द्वारा सम्पन्न होता है।

इन सभी क्रियाओं को ध्यान में रखकर चरक ने वात कलाकलीय अध्याय में वात की क्रियाओं का विस्तृत वर्णन दिया है।

वातव्याधि विकृति विज्ञान—पूर्व में जो वात के प्रकार एवं उनके प्राकृतिक कार्य कहे गये हैं उन्हीं वायुओं में विकृति होने से अनेक विकारों की उत्पत्ति होती है। यथा—प्राणवायु की विकृति से हृदय और फुफ्फुस के रोग होते हैं। उदानवायु की विकृति से स्वर-भेद तथा श्वास-प्रश्वास सम्बन्धी रोग होते हैं। व्यानवायु की विकृति से हृदय के रोग तथा सर्वशरीरगत वात-विकृति के लक्षण मिलते हैं तथा कृशता, दुर्बलता, शोष, मांसपेशीक्षय जैसे रोग होते हैं। समानवायु की विकृति से पाचनक्रिया में विकृति तथा तज्जन्य मलवन्ध, आनाह, शूल, ग्रहणी, अतिसार आदि रोगों की उत्पत्ति होती है। अपानवायु की विकृति से मूत्राघात, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, अर्श तथा गर्भ की असम्यक् प्रवृत्ति सदृश विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। इसीसे मूढगर्भ आदि भी होता है। इस प्रकार ये सभी विकार वात की विकृति से ही उत्पन्न होते हैं अतः इन सवको वातविकार ही कहना चाहिए। फिर भी वातव्याधि के प्रकरण में इनका समावेश नहीं किया जाता, जिसका स्पष्टीकरण परिभाषा में ही हो चुका है। चरक ने महारोगाध्याय में नानात्मज रोगों का वर्णन किया है। वहाँ पर केवल एक दोष से ही उत्पन्न ऐसे विकारों का उल्लेख किया है जिसमें वात के अस्सी विकार वताये हैं। ये सभी विकार वात के कारण शरीर में होने वाली विशिष्ट विकृति के आधार पर किये गये हैं।

वायु का अपना विशिष्ट स्वरूप होता है जो कभी भी नहीं वदलता है यथा-रूक्षता, शीतलता, लघुता, विशदता, चंचलता अमूर्तता आदि गुण वायु में होते हैं। वायु शरीर के भिन्न भिन्न भागों में जब प्रवेश करती है तव उन-उन प्रदेशों में निम्न विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। यथा—

१. स्रंस—[अपने स्थान से उन-उन अंगों का थोड़ा हट जाना],
२. भ्रंश—[उन-उन अंगों का अपने स्थान से दूर हट जाना],
३. व्यास—[उन-उन अंगों का अपने स्थानों से अधिक विस्तृत हो जाना],
४. संग—[मल-मूत्र को अपने स्थान में रोक देना],
५. भेद—[चीरने के समान पीड़ा होना],
६. साद—[शरीर में अवसाद होना],
७. हर्ष—[रोमांच का होना],
८. तर्ष—[प्यास का लगना],
९. कम्प—[शरीर का कांपना],
१०. वर्त—[मल का गोला वनना],
११. चाल—[शरीर में चंचलता या स्पन्दन उत्पन्न करना]
१२. तोद—[सुई चुभोने जैसी पीड़ा होना],
१३. व्यथा—[अंगों को दवाने की तरह पीडा होना],
१४. चेष्टा—[शारीरिक अङ्गों में तथा मन में चंचलता का होना],

इसके सिवाय खरता, परुषता, विशदता, सुपिरता, अरुण वर्णता, कषाय रस प्रतीति, मुखशोष, शरीर या अंगों में शूल, शून्यता, संकोच, जकड़ाहट, लंगडापन आदि लक्षण वात द्वारा उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार इन उपरोक्त वात के गुण, कर्म तथा विकृतियों के आधार पर वायु के अस्सी प्रकार के नानात्मज विकार कहे गये हैं। यथा—जानुविश्लेष, वृषणोत्क्षेप, अक्षिव्युदास, भ्रूव्युदास, ये स्रंस प्रधान विकार हैं। पादभ्रंश, गुद भ्रंश—ये भ्रंश प्रधान विकार हैं। पादसुप्तता, गुल्फग्रह, उरुस्तम्भ, पांगुल्य, शेफः स्तम्भ, खंजता, कुब्जत्व, त्रिक्ग्रह, पृष्ठग्रह, ग्रीवास्तम्भ, मन्यास्तम्भ, कण्ठोद्ध्वंस, मूकत्व,

वाकसंग, वर्त्मस्तम्भ, वर्त्मसंकोच, अर्दित, एकांगरोग, सर्वांगरोग आदि विकार संगप्रधान हैं। नखभेद, विपादिका, जानुभेद, श्रोणिभेद, विड्भेद, हनुभेद, ओष्ठभेद, अक्षिभेद, दन्तभेद, शङ्खभेद, ललाटभेद, केशभूमिस्फुटन आदि भेद प्रधान विकार हैं। ऊरुस्तम्भ, गृध्रसी, दन्तशैथिल्य, पक्षवध आदि विकार साद प्रधान हैं। वेपथु कम्प प्रधान व्याधि है। हृद्द्रवत्व चाल प्रधान विकार है। पादशूल, वातखुड्डता, गृध्रसी, गुदा प्रदेश में वेदना, वंक्षणानाह, उदावर्त, पार्श्वविमर्द, वक्षोद्धर्ष, वक्षस्तोद, कर्णशूल, नेत्रशूल, शिरःशूल आदि विकार तोदप्रधान तथा व्यथा-प्रधान कहे गये हैं। इसके सिवा वामनत्व, उदरावेष्ट, हृदयप्रदेश में अंधकार का भर जाना, वक्षोवरोध, बाहुशोष, दन्तशैथिल्य, कषायास्यता, मुखशोष, अरसज्ञता, घ्राणनाश, अशब्द श्रवण, उच्चैःश्रुति, बाधिर्य, तिमिर, आक्षेपक, दंडक, तम, भ्रम, जृम्भा, हिक्का, विषाद, अतिप्रलाप, शरीर में रूक्षता, शरीर में परुषता, शरीर का काला हो जाना, शरीर का लाल वर्ण का हो जाना, निद्रा का न आना, चित्त स्थिर न रहना ये विकार वात के अपने गुणकर्मों के कारण उत्पन्न होते हैं।

वात व्याधि निदान—रूक्ष, शीत, अल्प तथा लघु-भोजन के निरन्तर सेवन करते रहने से, अत्यधिक मैथुन तथा रात्रि में जागरण करने से, असमय में पंचकर्म या देश और काल के विरुद्ध असात्म्य आहार विहार का सेवन करने से, वमन, विरेचन और वस्ति आदि के द्वारा दोष या मल एवं रक्त के अत्यधिक निर्हरण से, अधिक उछलने कूदने से, तैरने से, पैदल चलने तथा अधिक व्यायाम आदि विपरीत चेष्टाओं से, धातुओं का क्षय होने से, चिन्ता, शोक, रोग जनित दुर्बलता तथा अधारणीय वेगों के धारण करने से, शरीर में आमरस की उपस्थिति, चोट लगना, उपवास, तथा मर्मस्थान की बाधा से तथा हाथी, ऊँट, तथा घोड़ा आदि तीव्र सवारियों से गिर जाने के कारण वायु का प्रकोप होकर वातव्याधि उत्पन्न करता है।

यहाँ पर जो निदानों का वर्णन किया गया है उनमें तीव्र प्रमुख घटनायें छोड़कर वात का प्रकोप सिद्ध होता है—

(१) वात की अपने समान गुणधर्म वाले आहार-विहार के सेवन करने से वृद्धि होती है।

(२) धातुक्षय होकर वायु की वृद्धि होती है।

(३) आमदोषों की उत्पत्ति होकर स्रोतों में अवरोध अथवा आवरण करके वायु की वृद्धि होती है।

इस प्रकार वृद्ध वायु वातविकारों की उत्पत्ति करता है।

वातव्याधि सम्प्राप्ति—शरीर में प्रकुपित हुआ वायु रिक्त (स्नेह, मृदुता, पिच्छिलता आदि गुणों से शून्य) स्रोतों को परिपूर्ण करके विविध प्रकार की एकांगिक तथा सर्वांगिक व्याधियों को उत्पन्न करता है।

वातव्याधि उपद्रव—विसर्प, दाह, अत्यधिक पीड़ा, अङ्गों का संग, अथवा मल-मूत्र का अवरोध, मूर्च्छा, अरुचि तथा अग्निमांद्य ये वातव्याधि के उपद्रव हैं। इन द्रवों से युक्त तथा मांस और बल से हीन रोगी को पक्षवध आदि विकार मार डालते हैं। इसके अतिरिक्त जिसका शरीर शोथयुक्त हो गया हो, जिसकी त्वचा में स्पर्शज्ञान की शक्ति नष्ट हो गयी है, जिसका अङ्ग भङ्ग हो गया हो एवं कम्पवात तथा आध्मान से पीड़ित हो तथा तीव्र पीड़ा से व्याकुल रोगी की भी वात व्याधि से मृत्यु होजाती है।

वातव्याधि असाध्यता—योगरत्नाकर में वातव्याधि की असाध्यता के विषय में बताया है कि साधारणतया वातव्याधि असाध्य ही होती है, कभी कभी दैवयोग से यह ठीक होजाती है क्योंकि वैद्य अनुमान से चिकित्सा करते हैं। अर्थात रोगी बलवान् हो तथा कोई उपद्रव न हो तथा दैव का साथ हो तो रोगी अच्छा होता जाता है।

वातव्याधि चिकित्सा—

वातव्याधियों की उत्पत्ति में विकृत वात कार्यकारी दोष होता है। उस विकृत वात की मधुर, अम्ल, लवण रसों के द्वारा निर्मित तथा स्निग्ध और उष्ण वीर्य से युक्त स्नेह, स्वेदन, आस्थापन वस्ति, अनुवासन वस्ति, नस्यकर्म, भोजन, अभ्यङ्ग, उत्सादन, परिषेक आदि वातनाशक उपायों द्वारा मात्रा और काल का विचार कर चिकित्सा करनी चाहिए। इन सभी उपायों में आस्थापन वस्ति तथा अनुवासन वस्ति को प्रधान माना जाता है। कारण यह सर्वप्रथम पक्वाशय में जाकर विकार उत्पन्न करने वाली वायु के मूल को ही काट लेती है। इस प्रकार वायु के मूल स्थान पक्वाशय में

ही वात को नष्ट कर देने से शाखा के समान शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्गों में फैले हुए वातविकार स्वयं शान्त हो जाते हैं।

वातव्याधि की चिकित्सा के दो विभाग किये जाते हैं—(१) आवरण रहित और (२) आवरणयुक्त वात की चिकित्सा।

आवरण रहित वात की चिकित्सा—निरुपस्तम्भ अर्थात आवरण रहित केवल शुद्ध वायु से रोग उत्पन्न हुआ हो तो सर्व प्रथम घृत, वसा, तैल, मज्जा आदि स्नेहों को मिलाकर चिकित्सा करनी चाहिए। इनके द्वारा जब स्नेहन हो जाय तब स्नेहपान करने से क्लान्त पुरुषों को आश्वासन देकर दूध, यूप, ग्राम्य या जलीय या आनूप पशु-पक्षियों के मांसरस में घृत आदि स्नेहों को मिलाकर अथवा खट्टे अनार आदि अम्लरस तथा सेंधानमक मिला कर बनाये हुए खीर या खिचड़ी खिलाकर तथा अनुवासन वस्ति, स्निग्ध नस्यों के द्वारा एवं शरीर को तृप्त करने वाले आहार द्रव्यों को खिलाकर स्नेहन करना चाहिए।

जब रोगी का पूर्णरूप से स्नेहन हो जाय तो सारे शरीर पर अथवा जिस अङ्गप्रदेश में वायु कुपित हो उस प्रदेश में वातनाशक तेल की मालिश करके स्नेहयुक्त नाडीस्वेद, प्रस्तर स्वेद, संकर स्वेद तथा अनेक प्रकार के अन्य स्वेदों द्वारा स्वेदन करना चाहिये।

यदि वात व्याधि रोग अधिक दोष के कारण इन उपर्युक्त चिकित्सा विधियों के प्रयोग करने पर भी शांत न हो तो रोगी को स्नेह के साथ मृदुविरेचक औषधियों द्वारा शोधन क्रिया करनी चाहिये।

स्निग्ध, अम्ल,लवण, उष्ण आदि आहारों द्वारा शरीर में एकत्रीभूत मल स्रोतों को बांधकर वायु को रोक देता है इसलिये वायु का अनुलोमन करना चाहिये।

जो वातव्याधि से पीड़ित व्यक्ति दुर्बल होने के कारण विरेचन के योग्य न हों तो निरुह वस्ति के द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। अथवा-दीपन-पाचन द्रव्यों से युक्त निरुह वस्ति को प्रयोग करना चाहिये तथा-पाचन और दीपनीय औषधियों को भोजन में मिलाकर सेवन करना चाहिये।

संशोधन करने के बाद संसर्जन क्रियाओं के द्वारा जब जठराग्नि तीव्र हो जाय तो फिर उसे स्नेहन-स्वेदन प्रयोग कराना चाहिये। सर्वदा उस रोगी के लिये मधुर, लवण और स्निग्ध आहारों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। नस्य और धूम्रपान करना सभी प्रकार की वात व्याधि के रोगों में लाभकर होता है।

वातव्याधि चिकित्सा में स्थान और दूष्य आदि के भेद से चिकित्सा में विशेषता लाकर चिकित्सा करनी चाहिए। क्योंकि वात के अस्सी प्रकार के नानात्मज विकारों में दोष केवल वायु होते हुये भी उसका स्थान भिन्न भिन्न होता है तथा रस रक्तादि दूष्य भिन्न भिन्न होते हैं। इन भिन्नताओं के कारण चिकित्साओं में भी भिन्नता पायी जाती है।

आवरणयुक्त वात की चिकित्सा—

अन्य दोषों से सम्बन्धित यदि वायु हो तो साधारण वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। विशेष रूप से पित्त, कफ के द्वारा स्रोतों के आवृत होने पर वायु कुपित हो तो उसमें उस दोष को दूर करने वाली सामान्य चिकित्सा के साथ-साथ वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिये।

उचित रूप से आवरणों को समझकर जो औषधि कफकारक न हो किन्तु स्निग्ध हो और स्रोतों को शुद्ध करने वाली हो उसके द्वारा चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए।

सभी स्थानों की वायु के आवृत होजाने पर जो औषधि, आहार, द्रव्य कफ तथा पित्त के विरोधी न हों, जो वायु का अनुलोमन करने वाले हों और शीघ्र हितकारी हों ऐसी चिकित्सा करनी चाहिए।

प्रायः मधुर अनुवासन वस्तियों के साथ-२ यापन वस्तियां वायु के आवृत हो जाने पर हितकर होती हैं। अथवा रोगी के बल को देखकर मृदु विरेचन औषधियों का प्रयोग हितकर होता है।

सभी प्रकार की रसायन औषधियों का प्रयोग आवृत वायुओं में अधिक उत्तम माना जाता है।

विशेष रूप से यदि पित्त से आवृत वायु हो गयी हो तो व्यत्यास से अर्थात बारी बारी से एक बार शीतल जल और एक बार उष्ण क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिये। जांगल पशु-पक्षियों का मांस, शालिचावल, यापन वस्ति,

कफ से वायु आवृत हो तो कफनाशक और वायु को अनुलोमन करने वाले औषधि तथा आहार द्रव्यों के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। जौ से बने हुए आहार द्रव्यों का सेवन, जांगल पशुपक्षियों का मांस, तीक्ष्ण, स्वेदन, निरूहवस्ति, वमन, विरेचन, पुराण घृत, तिल और सरसों का तैल हितकर होता है।

यदि कफ और पित्त के साथ वायु संयुक्त हो जाय तो सर्व प्रथम पित्त को जीतना चाहिए। आमाशय में यदि कफ भरा हुआ हो तो वमन कराना चाहिए। यदि पक्वाशय में कफ स्थित हो विरेचन कराना चाहिए। पित्त यदि सम्पूर्ण शरीर में कुपित हो तो विरेचन द्वारा उसे निकालना चाहिए। स्वेदन क्रिया के द्वारा द्रवीभूत होकर कफ जब पक्वाशय में स्थित हो जाय अथवा कुपित पित्त अपने लक्षणों को शरीर में उत्पन्न करे तो कफ और पित्त की वस्ति के द्वारा निकालना चाहिए। यदि कफ के साथ वात शिरःप्रदेश में चला गया हो तो धूम, नस्य आदि का प्रयोग करना चाहिए। पित्त या कफ का निर्हरण कर देने पर जो वायु उरःप्रदेश के स्रोतों में आकर कुछ अवशिष्ट रह जाती है तो ऐसी दशा में केवल वातहर चिकित्सा का ही प्रयोग करना चाहिए।

उदान वायु के विकृत हो जाने पर उसे चिकित्साओं द्वारा ऊपर ले जाना चाहिए। अपान वायु को अनुलोमक अन्नपान औषधियों द्वारा अनुलोमन, तथा समान वायु को शान्त करना चाहिए। व्यान वायु के कुपित होने पर उसे ऊर्ध्वमार्ग और मध्य मार्गों में ले जाना चाहिये और इन चारों वायुओं से प्राण वायु की रक्षा करनी चाहिए। इस प्राण वायु के अपने स्थान में रहने से शरीर की स्थिति ठीक चलती है। इस प्रकार से यदि वायु विमार्गस्थ हो या दोषों से आवृत हो तो उन्हें अपने स्थान में पहुँचा देना चाहिए।

पृष्ठ १०६ का शेषांश

स्थान संश्रय हेतु अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं, परिणामस्वरूप शूल उत्पन्न होता है।

६. खर गुण—वायु की खर गुण वृद्धि से शरीरावयवों में काठिन्य, संकोच एवं स्थिति-स्थापकता हो जाती है जिससे वायु के संचरण अथवा प्राकृत गति में अवरोध होने से शूल उत्पन्न होता है।

७. चल गुण—वायु के चल गुण की वृद्धि से शरीरस्थ धातु मलादि एवं प्राकृत रूप में कार्य कर रहे दोषों में चलत्व उत्पन्न हो जाता है अथवा वायु की प्रतिलोम गति होने से विभिन्न अङ्गावयवों में संकोच स्तम्भ आदि कर्मों की वृद्धि हो जाती है। इससे स्थान विशेष के अनुसार तोद, भेद, शूल आदि वातिक वेदनायें होती हैं।

प्रस्तुत शास्त्रीय विवेचन से शूलोत्पत्ति संघटना की अंशांश कल्पना स्पष्ट हो जाती है जिसके विधिवत् ज्ञान से सफल चिकित्सा में मार्ग प्रशस्त होना स्वाभाविक जान पड़ता है। चूँकि शास्त्रों में अनेकानेक गुण रस वीर्यादि भेद से विभिन्न वातनाशक द्रव्यों का उल्लेख मिलता है। ऐसी परिस्थितियों में शूलोत्पत्ति की इस अंशांश विवेचना से चिकित्सा हेतु गुण विपरीत उचित द्रव्य योजना में चिन्तन सहज हो सकता है। उदाहरण के रूप में वायु के रौक्ष्य गुण द्वारा शूलोत्पत्ति में उसके शमन हेतु स्निग्ध प्रधान द्रव्य यथा घृतादि का सेवन प्रशस्त होगा तथा शीत गुण वृद्धि से उत्पन्न शूलों में तद् विपरीत उष्ण वातनाशक द्रव्य यथा शुण्ठी का प्रयोग उचित रहेगा। इसी प्रकार शूलोत्पत्ति मे कारणभूत अन्य गुणों के विपरीत द्रव्यों की योजनायें शूलशमन के निरुपद्रव एवं आशुकारी रहेंगी।

★ डा० दिनेशचन्द गुप्त एवं डा० आलोक शर्मा एम. डी. ★

—पृष्ठ ११२ का शेषांश—

एरण्ड, शतावरी, पुनर्नवा, अपामार्ग, भारंगी, सुवर्ण भस्म, रजत भस्म, पुखराज, माणिक्य, सोमल, शिलाजतु, दशमूल, ब्राह्मी, रास्ना, गूगल, जटामांसी, शिलावा, प्रसारणी, कुचला, विधारा, पीपलामूल, जायफल आदि का प्रयोग कर सकते हैं। अवश्य लाभ होता है। इनके अतिरिक्त हींग, कस्तूरी, कपूर, पद्माख, कुटकी, हुलहुल, वांसा, धतूरा, अफीम, वत्सनाभ, ब्राह्मी, ताम्र भस्म, खुरासानी अजवायन, अभ्रक भस्म, शृङ्ग भस्म, यवक्षार, शङ्ख भस्म, कपर्दिका भस्म, लौंग, वायविडंग, सोया, इलायची, शीतलचीनी, सौंफ, केसर, जीरा और पारद से बनी हुई औषधियाँ दी जा सकती हैं।

वात-व्याधि की सामान्य चिकित्सा

कविराज श्री वी. एस. प्रेमी एम. ए. एम. एस.
ए २/८ तिब्बिया कालेज, करौल बाग, नई दिल्ली--५

अग्निस्थायी पारद के अनुसन्धानकर्त्ता कविराज श्री वी० एस० प्रेमी जी की ज्ञान गरिमा से कौन आयुर्वेदानुरागी अनभिज्ञ है ? अद्यतन आयुर्वेद समाज के आप गौरव रत्न हैं। आपकी प्रशंसा में ये शब्द नगण्य हैं। आपके अन्यर्थ प्रयोग बड़े प्रभावशाली होते हैं। जिनमें सर्वविध उपयोगी द्रव्यों का सम्यक्रीत्या समावेश किया जाता है। आपने इस विशेषांक हेतु ऐसे ही अत्यन्त लाभकारी प्रयोग एवं सामान्य चिकित्सात्मक यह लेख प्रेषित किया है। आप आयुर्वेद विशेषतया रसशास्त्र, नव्य व्याकरण, ज्योतिष तथा साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। आपके मृतकजिवावन प्रयोगों से अनेक चिकित्सकों ने पुण्य, यश एवं श्री की प्राप्ति की है। श्रीयुत प्रेमी जी अनन्तकाल तक गौरवान्वित आयुर्वेद का मस्तक ऊंचा कर हमें लाभान्वित करते रहेंगे—यही भगवान् भूतभावन से मेरी प्रार्थना है। —वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य

शुद्ध वातज रोगों में स्नेह, स्वेद, स्निग्ध नस्य कर्म, अनुवासन वस्ति, तर्पण, ग्रहणी पदार्थ (जिनमें मधुर, अम्ल-लवण रस युक्त द्रव्य हों) तथा मांसरस स्निग्ध द्रव्यों से तथा तिल, उड़द आदि से बनी हुई खिचड़ी वातहर द्रव्यों से पाचित तैल, घृत आदि का सेवन कराना चाहिये। जैसे—महामाष तैल, महानारायण तैल, शतावरी तैल आदि से रोगी की मालिश कराने से शुद्ध वायु शमन हो जाता है। स्निग्ध भोजन बृंहण पदार्थ भोजन में देते रहना चाहिए।

सावधानी की आवश्यकता—चूंकि अधिक समय तक स्नेहन, स्निग्ध भोज्य पदार्थ, बृंहण पदार्थ आदि का निरन्तर सेवन करते रहने में कारण देखने में आया है कि मल-विबन्ध अथवा स्रोतों में अवरोध उत्पन्न हो जाने से रोगी की स्थिति बिगड़ जाती है, अतः इस अवस्था से निवटने के लिए रोगी को पिप्पल्यादि चूर्ण अथवा कोई भी अनुलोमन द्रव्य देना चाहिये। अथवा उष्ण दूध में कास्टर आयल भी दिया जा सकता है।

यदि रोगी दुर्बल है तो—इस स्थिति से निवटने के लिये वातशामक द्रव्यों से बनी निरूहण वस्ति का उपयोग लाभ देता है। दीपन और पाचन पदार्थ देने चाहिये।

विशेष प्रयोग—

शुद्ध वातहत रोगियों को रसराजरस, योगेन्द्ररस, वातकुलान्तक रस, चिन्तामणि चतुर्मुख रस, वृहत् वात चिन्तामणि रस, अश्वगन्धारिष्ट, अश्वगन्धाद्य घृत, प्रवाल पिष्टी, दशमूलाद्य घृत, बलारिष्ट आदि का भी सेवन कराना चाहिये।

यदि आवृत वात हो तो—

आवृत वात व्याधियां दो प्रकार की होती हैं—

(१) दोष, धातु और मलावृत वात व्याधि।

(२) अन्योन्यावृत वात व्याधि।

यदि प्रथम अवस्था है तो चिकित्सा सूत्र के अनुसार प्रथम स्थान पर ध्यान देना चाहिए। क्योंकि दोष या धातु या मल से आवृत वात का स्थानपरक विशेष महत्व होता है। अतः स्थानपरक लक्षणों को विशेषता से हृदयंगम करके दोषानुसारी चिकित्सा की जानी चाहिए और यदि अन्योन्यावृत वात रोगों का प्रकरण है तो पंचविध वायु के कार्यों की क्षयवृद्धि आदि का ध्यानपूर्वक गहरा अवलोकन करके स्थिति को समझें और तदनुकूल औषधि, आहार-विहार तथा पथ्यापथ्य की व्यवस्था करें।

वात शमन औषधियां—

रोग की दोषानुसारी स्थिति स्पष्ट होजाने पर देवदारु,कुठ,काकड़ासिंगी,वला, अतिवला, कौंच, वीज, गिलोय, क्षीरबस्ति, विरेचन का प्रयोग करना चाहिए।

—शेषांश पृष्ठ १११ पर देखें।

वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषग्

इस "वात-व्याधि चिकित्सांक" के आधे लेख विशेष सम्पादक श्री वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य ने लिखे हैं जो कि आपकी असीम ज्ञान गरिमा के परिचायक हैं। इस स्थान पर आपने जो तीन लेख १—वात-व्याधियों में स्नेहन-स्वेदन (प्रस्तुत लेख), तथा इसके पश्चात् २—वात-व्याधियों में पंचकर्म, एवं ३—वात-व्याधियों में बस्ति चिकित्सा—दिये हैं उन्हें तो वात-व्याधियों की आयुर्वेद चिकित्सा की रीढ़ कहा जा सकता है। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर कैसी भी विकट वात-व्याधि हो अवश्य ही दूर की जा सकती है। इस विशेषांक के सम्पादन में श्री 'पारीक' अवश्यमेव सफल हुए हैं। आशा है कि "धन्वन्तरि" को आपसे इसी प्रकार सदैव सहयोग प्राप्त होता रहेगा और आप आयुर्वेद जगत को अपने ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करते रहेंगे। भगवान 'धन्वन्तरि' आपको शत वर्षायु प्रदान करें। —दाऊदयाल गर्ग

महर्षि सुश्रुत के मतानुसार पूर्व कर्म, प्रधानकर्म एवं पश्चाद् कर्म भेद से कर्म तीन प्रकार के होते हैं। वमन, विरेचन, अनुवासन, निरूह, शिरोविरेचन ये पाँच पंचकर्म कहे जाते हैं जो प्रधान कर्म हैं। इनके पूर्व प्रयुक्त स्नेहन-स्वेदन पूर्व कर्म हैं। पूर्व कर्म द्वारा रोगी को प्रधान कर्म करने योग्य बनाया जाता है। पूर्वकर्म के पश्चात् प्रधान कर्म में सुगमता आती है तथा प्रधानकर्म मे बाधायें उपस्थित नहीं होती हैं।

दोषों के शाखाओं में चले जाने से उन दोषों पर उपक्रम का प्रभाव नहीं हो पाता सुतरां उन्हें कोष्ठ में लाने का पहले प्रयास किया जाता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि अहितकर आहार विहार से वायु के चल गुण के कारण दोष कोष्ठ से शाखाश्रित रसादि धातुओं में पहुँचकर अनुकूलता प्राप्त होते ही प्रकुपित हो कर रोग उत्पन्न करते हैं। कोष्ठ से दोषों को बाहर निकालना ही पंचकर्म का मुख्य प्रयोजन है कि इससे पूर्ण दोषों को कोष्ठ में लाना अनिवार्य हो जाता है। दोषों को कोष्ठ में लाने हेतु पाँच उपाय कहे गये हैं—

१. दोषों में वृद्धि कराकर
२. विष्यन्दन या विलयन कराकर
३. दोष पाक करा कर
४. स्रोतों के मुख को खोल कर
५. वायु का नियन्त्रण कर

ये उपाय स्नेहन स्वेदन नामक पूर्व कर्म से सम्पादित होते हैं। इनमें दोषवृद्धि, विष्यन्दन, तथा वायु का नियन्त्रण स्नेहन नामक प्रथम पूर्व कर्म से तथा दोषपाक और स्रोतोमुख शोधन स्वेदन नामक द्वितीय पूर्व कर्म से सिद्ध होते हैं। एतावता इस पूर्वकर्म से निम्नांकित लाभ होते हैं—

१—दोष सरलतया निर्हरण योग्य हो जाते हैं।
२—शरीर में आवश्यकतानुसार मार्दवता उत्पन्न होती है।
३—आवश्यक गतियाँ भी की जाने में सुविधा होती है।

वातव्याधि में स्नेहन, स्वेदन, बस्ति तथा स्नेहनयुक्त मृदु विरेचन का विशेष महत्व प्रदर्शित किया गया है।

इनमें स्नेहन को प्राथमिकता देने का विधान है। शरीर पर विधिपूर्वक स्निग्ध द्रव्य का प्रयोग करना

स्नेहन कहलाता है। वातरोगों में इसकी विशेष उपादेयता है। जब आहार में स्नेहन की मात्रा स्वल्प होती है तो परमाणुओं में रूक्षता बढ़ने लगती है। परिणामतः वात-वृद्धि एवं तज्जनित विकार उत्पन्न होते हैं। रोगावस्था में स्थैर्य, बलोपचय, स्निग्धत्व आदि का ह्रास होता है। पृथ्वी, जल भूत प्रधान द्रव्य प्रयोग से इनका ह्रास होना मिटता है। जो द्रव्य सूक्ष्म, सर, स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु, शीतल, मन्द तथा मृदु गुण वाला हो वह प्रायः स्नेहन होता है। स्नेहन से चार कार्य संपादित होते हैं—

१. स्निग्धता—स्नेह, द्रव्य रस-रक्त में ग्रहण कर अणु-परमाणु के स्तर पर पहुँचते हैं और शरीरगत स्नेह के प्रमाण को बढ़ाते हैं।

२. विष्यन्दन (विलयन)—स्निग्धता से धातुओं अथवा स्रोतों में चिपके हुए दुष्ट दोष उनसे पृथक् होते हैं।

३. मृदुता—स्नेहन से मृदुता आती है।

४. क्लेद उत्पत्ति—क्लेद किट्ट का प्रकार है। क्लेद आप्य है। स्नेह द्रव्यों से क्लेदन होकर आप्यांश बढ़ता है। क्लेद के द्वारा कई प्रकार की दुष्टियां घुल जाती हैं।

अब इन बढ़े हुये दोषों को कोष्ठ में लाना आसान हो जाता है। बृहत्त्रयी में सभी स्नेहों में श्रेष्ठ स्नेह घृत, तैल, वसा, मज्जा ही बतलाये गये हैं जिनमें घृत को सर्व श्रेष्ठ कहा गया है। वैसे सभी की अपनी उपयोगिता है। इन द्रव्यों की कामुर्कता से पूर्व यह लिख देना समीचीन होगा कि स्नेहन किन्हें उपयुक्त है तथा किन्हें अनुपयुक्त है जिसको ध्यान में रखकर ही स्नेहन का उपयोग करना चाहिये अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानि होती है।

स्नेहन के योग्य—१. स्वेदन, संशोधन कराये जाने योग्य, २. मद्य लीन, ३. स्त्री लीन, ४. व्यायामलीन, ५. चिन्तक, ६. वृद्ध, ७. बालक, ८. दुर्बल, ९. कृश, १०. रूक्षगात्र, ११. रक्तहीन, १२. शुक्रहीन, १३. वातव्याधियुक्त १४. स्यन्दयुक्त, १५. तिमिर रोगी, १६. रात्रि में अधिक जागने वाले।

स्नेहन के अयोग्य—१. अत्यन्त मन्दाग्नियुक्त, २. तीक्ष्णाग्नि युक्त, ३. स्थूल, ४. दुर्बल, ५. उरुस्तम्भ रोगी, ६. अतिसार रोगी, ७. आमव्याधि रोगी, ८. गल रोगी, ९. कृत्रिम विष रोगी, १०. उदर रोगी, ११. मूर्च्छा रोगी १२. छर्दि रोगी, १३. अरुचि रोगी, १४. कफज रोगी, १५. तृष्णा रोगी, १६. मद्यप, १७. आम प्रसूता, १८. वस्ति लिया हुआ, १९. नस्य लिया हुआ, २०. विरेचन के पश्चात्।

स्नेहन के लिए चार पदार्थ ही उत्तम माने गये हैं—घृत, तिल तैल, वसा और मज्जा। इन पदार्थों में ही अन्य दूध, दही आदि की अपेक्षा स्नेह की विशेषता होने से इनके द्वारा स्नेहन कार्य उत्तम होता है। किन्तु इन चारों में भी घृत श्रेष्ठ है—'तत्राऽपि चोत्तमं सर्पिः।' शरीरान्तर्गत सूक्ष्म स्रोतों तक किसी भी पदार्थ को पहुँचाने की शक्ति यद्यपि चारों स्नेहों में है तथापि घृत में यह विशेषता है कि संयोजित पदार्थों के गुणों को शरीर के अन्दर सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों तक पहुंचाते समय भी वह अपने स्वाभाविक मुख्य गुणों को नहीं त्यागता है। उदाहरणार्थ चित्रक जैसे उष्ण, रूक्षादि गुण विशिष्ट द्रव्य के साथ घृत का संयोग होने पर भी वह तैलादि के समान संयोजित द्रव्य के उष्ण रूक्षादि गुणों को ग्रहण नहीं करता और न अपने स्वाभाविक शीत, माधुर्य, स्निग्धादि गुणों को हर स्थिति में स्थिर रखता है। किन्तु ऐसा होते हुए भी वह एक नेक दूत की भांति औषधि प्रयोग के उद्देश्य को पूर्णतया सिद्ध कर देता है। निम्नांकित व्यक्तियों को निम्नांकित स्नेह उपयुक्त हैं—

घृत पान योग्य—वात प्रकृति, पित्त प्रकृति, वात-पित्त प्रकृति तथा स्वल्प श्लेष्म प्रकृति; नेत्र ज्योति को ठीक रखने की इच्छा वाला; क्षतक्षीण; वृद्ध; बालक; निर्बल व्यक्ति; दीर्घ जीवन की आकांक्षा वाले; बल, वर्ण-स्वर को ठीक रखने के इच्छुक; शरीर भार को बढ़ाने वाले; सन्तान की इच्छा वाले; सुकुमारता चाहने वाले; ओज, स्मृति, मेधज, अग्नि, बुद्धि, इन्द्रिय बल के इच्छुक; दाह से पीड़ित; शस्त्र से पीड़ित; विष से पीड़ित; अग्नि से दग्ध; उदावर्त से पीड़ित।

तैलपान योग्य—वात प्रकृति, श्लेष्मप्रकृति, मेदस्वी, वातव्याधि पीड़ित, बल चाहने वाले, भार कम करने के इच्छुक, दृढ़स्थिर गात्र इच्छुक, शरीर को हलका करने के इच्छुक, स्निग्ध, तनु त्वचा चाहने वाले, कृमि-रोगी, क्रूरकोष्ठी, नाड़ी व्रण वाला।

वसा पान योग्य—वातातप के वेग को सहन करने

योग, रूक्षगात्र, भार ढोने, अधिक मार्ग चलने, अधिक श्रम करने से कमजोर हुए व्यक्ति; वीर्यहीन; रक्तहीन; कफ, धातु व मेदो धातु जिनकी क्षीण हो गयी हो; जिनकी अस्थियों, सन्धियों, सिराओं, स्नायुओं, मर्म, कोष्ठ आदि में अत्यन्त वेदना होती हो; जिनके शरीर में वायु बलवती हो तथा उसने स्रोतों को भर दिया हो; दीप्ताग्नि वाले एवं जिन्हें वसापान सात्म्य हो उन्हें ही वसा का प्रयोग कराना चाहिए।

मज्जापान योग्य—तीक्ष्णाग्नि; कठिन श्रम से भी व्यथित न होने वाले; बहुत या बार बार खूब खाने वाला, तीव्र वात रोगों से पीड़ित; क्रूरकोष्ठी।

वात विकारों में घृत में लवण मिलाकर सेवन करना चाहिए। "केवलं पैत्तिके सर्पिर्वातिके लवणान्वितम्।" चरक चतुरानन श्री चक्रपाणिदत्त ने तैल को उष्ण, घृत को शीत तथा वसा और मज्जा को सामान्य उष्ण कहकर बतलाया है कि तैल के उष्ण होने से यह वातघ्नों में, घृत के शीत होने से यह पित्तघ्नों में श्रेष्ठतम है। वसा और मज्जा मध्य में होने से न अति शीत है तथा न अति उष्ण है, अतः ये साधारण हैं।

स्नेहन से शोधन, शमन और बृंहण तीनों कार्य संपादित होते हैं। वात रोगों में स्नेहन केवल पूर्वकर्म ही नहीं अपितु कभी कभी प्रधान कर्म भी होता है।

सम्पूर्ण तैलों में स्नेहन तथा बल के लिए तिल तैल को श्रेष्ठ माना गया है। यह स्निग्ध, उष्ण एवं गुरु होने के कारण वात को नष्ट करता है। उष्ण होने से कफ को नहीं बनने देता। तिल कफ को बढ़ाते हैं तैल नहीं। आम रहित शुद्ध वात रोगों में तैल का प्रयोग लाभप्रद है।

स्नेह विधि के दो प्रकार हैं १—अच्छपन २—विचारणा। प्रथम विधि में आभ्यन्तर उपयोग के लिए उक्त स्नेह की उचित मात्रा दी जाती है स्नेह प्रयोग करने के बाद स्नेह पूर्ण जीर्ण होने पर सामान्य क्षुधा लगती है। इस समय कोई आहार नहीं देना चाहिए। दूसरी विधि में स्नेह द्रव्य अन्नपानादि के साथ दे सकते हैं। बाह्य प्रयोग भी कर सकते हैं। विचारणा स्नेह का प्रयोग २४ प्रकार से करने का निर्देश है। सामान्यतः शोधन, बस्ति के पूर्व अच्छपान तथा रोग निवारणार्थ जहां अल्पमात्रा दीर्घ समय तक उपयोग में लानी होती है वहां विचारणा स्नेह का प्रयोग करते हैं। दोषों की समस्थिति लाने में सहायक द्रव्यों के साथ द्रव्यों के प्रयोग से वैषम्य को दूर करने का नाम ही विचारणा स्नेह है। वैसे श्रेष्ठ अच्छपेय ही है।

अनुपान—घृत का अनुपान उष्ण जल, तैल का अनुपान यूष तथा वसा-मज्जा का अनुपान मण्ड है। महर्षि सुश्रुत ने सम्पूर्ण स्नेहों का अनुपान उष्ण जल लिखा है। भल्लातक एवं तुवरक तैल के पश्चात् ठण्डा जल पीने का आदेश है।

स्नेहों की मात्रायें—मात्रा भेद से स्नेहों के तीन प्रमाण निर्दिष्ट हैं। जो मात्रा २४ घण्टों में जीर्ण हो जाय वह प्रधान मात्रा, जो एक घण्टे में जीर्ण हो जाय वह मध्यम मात्रा, जो ६ घण्टों में जीर्ण हो जाय वह ह्रस्व मात्रा मानी जाती है। महर्षि सुश्रुत ने पांच प्रकार की स्नेह मात्रायें निर्दिष्ट की हैं जो क्रमशः एक, दो, तीन, चार, और आठ प्रकार में परिपाक को प्राप्त होती हैं। ह्रस्व-मात्रा में स्नेहपान स्नेहन, बृंहण करता है। वृष्य, बल्य, निरुपद्रव और बाधारहित माना जाता है। स्नेहन के लिए मात्रायें तीन दिन, चार दिन, पांच दिन, छः दिन या सात दिन ही यथानियम देते हैं। उसके पश्चात् वे सात्म्य हो जाती हैं। मृदु कोष्ठ के लिए ३ दिन और क्रूर कोष्ठ के लिये ७ दिन तक मात्रा प्रयोग किया जाता है।

संशोधनार्थ स्नेह का प्रयोग प्रातःकाल (रात्रि का भोजन जीर्ण हो जाने पर (किया जाता है और संशमनार्थ स्नेह का प्रयोग दिन में दोपहर के समय (भूख लग जाने पर) किया जाता है। संशोधन में दोषों को उत्क्लेशित करना अनिवार्य है अतः प्रातः ही ठीक है।

स्नेहन कर्म के पश्चात् यदि तृष्णा लगे तो उष्ण जल पीने को देना चाहिए। यदि तृष्णा की शांति न हो तो उष्ण जल अत्यधिक पिलाकर वमन करा देना चाहिए। वमन के कुछ समय पश्चात् अथवा दूसरे दिन पुनः स्नेह-पान कराना चाहिए।

स्मरण रहे कि स्नेहपान कराना हो उसे स्नेहकर्म के प्रथम दिन, स्नेहपान के दिन तथा दूसरे दिन बार बार उष्ण, पतला, अनभिष्यन्दि और असंश्रित (खिचड़ी आदि

न हो) भोजन करावें। यह भोजन भी प्रमाण में ही करावें।

वात का अनुलोमन होना, अग्नि प्रदीप्त होना, मल स्निग्ध तथा असंहत होना, स्नेहपान में अनिच्छा तथा क्लान्ति ये उचित स्नेहपान के लक्षण हैं। इसके विपरीत वात का अनुलोमन न होना, अग्नि मन्द, मल रूक्ष, स्नेहपान में रुचि (क्लान्ति न होना आदि स्नेहन न होने के लक्षण हैं। अति योग से शरीर में पांडुता, मुख-नाक-गुदा से स्राव होता है।

महर्षि सुश्रुत ने सुकुमार, कृश, वृद्ध, वालक, तृष्णा से व्याकुल तथा ग्रीष्मकाल में सद्यः स्नेहन प्रयोग पर बल दिया है। इस स्नेहन की अवधि एक दिन ही है। सद्यः स्नेहन के कई योग हैं—

१. चारों स्नेहों में से कोई एक भात, दही की मलाई, पिप्पली चूर्ण और नमक मिलाकर देना।

२. थोड़े चावल डालकर यवागू वना घी मिला कर गरम-गरम पिलाना।

३. खूब तैल में छौंके हुए बेंगन के भुर्ते से भी स्नेहन संभव है।

यह सद्यः स्नेहन प्रयोग अल्पदोष युक्त व्यक्तियों के लिए उपयुक्त है। अब वाह्य स्नेहन पर विचार करने से पूर्व इसके प्रविभागों का विवरण दिया जाय—
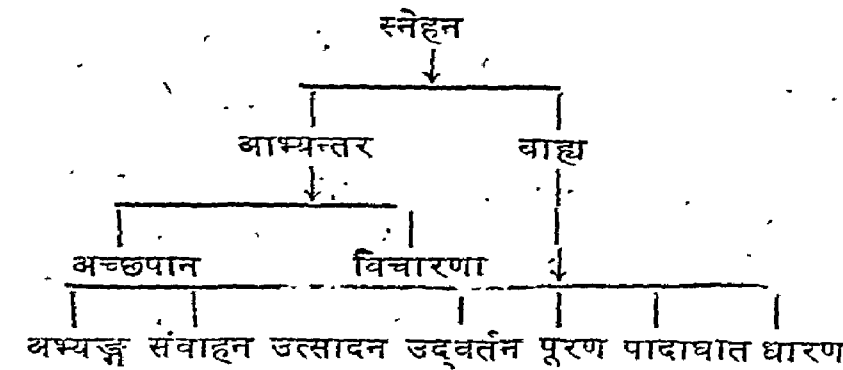
वाह्य स्नेहन का मुख्य कार्य त्वचा पर होता है। त्वचा के द्वारा संम्पूर्ण वातवह संस्थान वाष्पस्नेहक से लाभान्वित होता है। वाह्यस्नेहन में मुख्यतया वातहर ये हैं—

१. अभ्यंग—अभ्यंग को "जरा श्रमवातहा" कहा गया है। जैसे तैल लगाने से घड़ा या चमड़ा या रथ की धुरी दृढ़ होती है वैसे ही जिस अंग पर तैल लगाया जाता है वह क्लेशसह, दृढ़ और स्वक्रिया में दक्ष होजाता है। वृद्ध वाग्भट ने भी कहा है—"रथाक्षचर्मघटवद्भवत्यभ्यंगतो गुणाः"। स्पर्शन में वायु की प्रधानता है और स्पर्शन त्वगाश्रित है अतः अभ्यंग त्वच्य है। किसी अंग पर अभ्यंग १-५ मिनट तक तथा सारे शरीर पर २०-४० मिनट तक करने से पूर्ण लाभ मिलता है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से अनुलोम एवं विलोम शब्दों का प्रयोग अभ्यंग के लिए ही किया गया है। अभ्यंग सदा वि+लोम अर्थात बालों की विपरीत दिशा में ही करना चाहिए। इस विधि से तैल रोम कूपों में सरलतया प्रविष्ट हो जाता है। अनुलोम अभ्यंग वालों के ऊपर ही होता है जो उपयुक्त नहीं है।

२. संवाहन—इसमें केवल धीरे धीरे तैल को शरीर पर चुपड़ना होता है। मणिमालाकार कहते हैं—

वृष्यं वातकफ श्रम प्रलयकृत संवाहनं ब्रूमहे।

३. उत्सादन—इसे सामान्य भाषा में उवटन कहा जाता है। स्निग्ध उद्वर्तन ही उत्सादन है। इससे वातजन्य स्तब्धता दूर होती है। जौ का आटा, तैल, हल्दी, चिरौंजी, सरसों, हरड़ आदि उत्सादन हेतु काम में लाये जाते हैं।

४. पादाघात—पैरों से शरीर का दबाना पादाघात कहा जाता है। आचार्य वाग्भट ने इसे अभ्यंग के साथ ही वतलाया है।
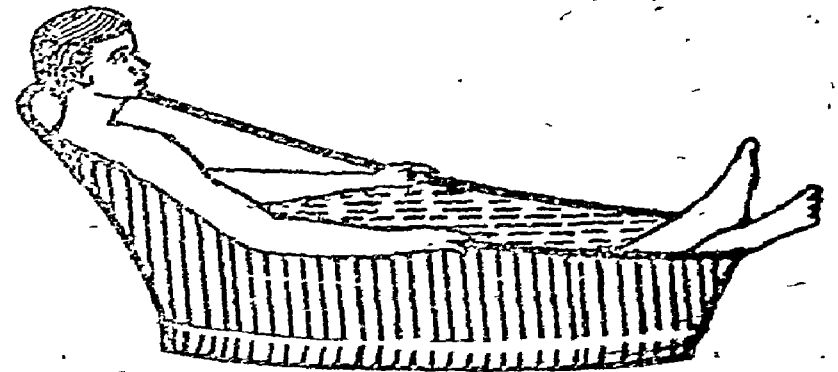
५. स्नेहावगाहन—एक वड़े टब में तैल भर कर उसमें व्यक्ति इस प्रकार पड़ा रहता है कि उसका शरीर तैल में डूवा रहे। इससे उत्तम वाह्य स्नेहन होता है जिससे बलवृद्धि एवं वात शमन होता है। स्नेहनार्थ यह विधि अत्युत्तम कही गई है। चिकित्सक इसे अधिक महत्व देते हैं। इस हेतु प्रयुक्त तैल की मात्रा अधिक ली जाती है तब ही रोगी सम्यक् रीत्या स्नेहावगाहन करने में समर्थ हो सकता है। (ऊपर चित्र देखें)

—स्वेदन—

भगवान् चरक ने वातज, कफज एवं वातकफज रोगों में स्वेदन का विधान बताया है। वात शीत और कफ सौम्य है—स्वेदन इन्हें नष्ट करता है। पित्त के उष्ण होने से पित्तज रोगों में स्वेदन इष्ट नहीं है। किन्तु महर्षि सुश्रुत ने कहा है कि यदि प्रवृद्ध वात व कफ के साथ अल्प मात्रा में पित्त का संसर्ग हो तो द्रव स्वेद कराया जा सकता है। इससे वातकफ का शमन होगा ही साथ में द्रव होने से सौम्य गुण के कारण पित्त की उष्णता को अन्य स्वेदों की भांति अधिक वृद्ध नहीं करता।

स्वेदन की कार्मुकता में "स्तम्भगौरव शीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम्" कहा गया हैं। स्नेहन के पश्चात् स्वेदन किया जाता है। अन्दर से (स्नेहपान द्वारा) और बाहर से (अभ्यंग द्वारा) शरीर स्निग्ध हो जाने पर, निर्वात स्थान में रात्रि का भोजन पूरिपूर्णतया जीर्ण हो जाने पर (आमाजीर्ण वाले को स्वेदन अहितकर है) स्वेदन करें।

स्नेहन द्वारा क्लेदित दोषों का स्वेदन की उष्ण क्रिया द्वारा पाक होता है। आमदोष धातुओं किंवा स्रोतों में संश्लिष्ट होकर रहते हैं। उष्णता में शिथिल होकर स्थान च्युत होने लगते हैं। स्रोतोमुख का प्रसार होने से भी मल रूप में संचित दोष निकलने लगते हैं। स्नेहन से क्लेदित और स्वेदन से स्विन्न हुए दोष शाखा से पुनः कोष्ठ में आते हैं। वहां वे वमन-विरेचनादि द्वारा शरीर से बाहर निकाल दिये जाते हैं।

स्वेदन शीतघ्न है, इससे शरीर का भारीपन दूर होता है। स्तम्भ, संकोच दूर करने में स्वेदन प्रमुख है। समान वायु, श्लेष्मक कफ, आमरस, मांस, वसा आदि का शरीर को स्तम्भित करने में पूर्ण योगदान होता है। स्वेदन इस कार्य को दूर करने में समर्थ बनता है। स्वेदन को स्वेदकारक कहा गया है। इस स्वेद के साथ त्वचा के सप्त स्तरों, पेशियों, वातवाहिनियों, रस रक्त मेद आदि की अशुद्धियों का भी परित्याग होता है।

★ वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिष० ★
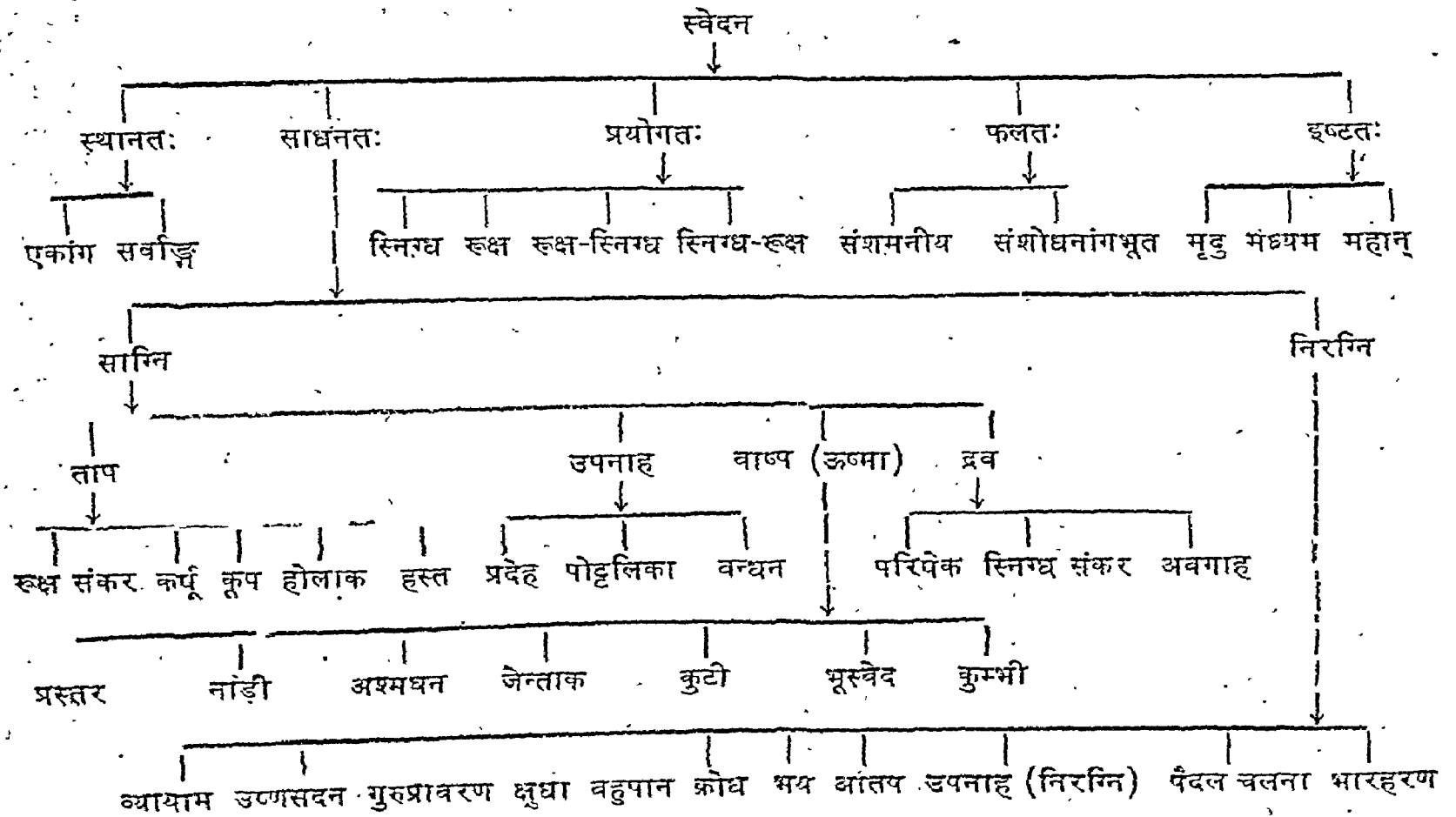
स्नेहन-स्वेदन से कोष्ठस्तरीय, धातुस्तरीय एवं त्वचास्तरीय दोष उत्क्लेशित कर परिमार्ज करने का व्यापार सम्पादित किया जाता है।

काश्यप संहिता में ८ प्रकार के स्वेदन में प्रथम हस्तस्वेद कहा है। काश्यप संहिता क्योंकि एक कौमार भृत्य विषयक संहिता ग्रन्थ है अतः इस हस्तस्वेद को बालरोगों में विशेष उपयोगिता होने से इसे प्राथमिकता दी है। बालक स्वेदन की उष्णता को स्वयं बताने में असमर्थ है। स्वेद करने वाला अपने हाथ को गर्म करने पर गर्मी के न्यूनाधिक्य का भलीभांति परिज्ञान कर बालक के सहन करने योग्य ही स्वेद दे सकता है।

वात रोगों में साग्नि स्वेद की विशेष उपादेयता है। यह संसृष्ट वात रोगों में भी उपयोगी है। कहा गया है—

तापोपनाहद्रववाष्प पूर्वाः
स्वेदास्ततोन्त्य प्रथमौ कफे स्तः।
वायौ द्वितीयः पवने कफे च
पित्तोपसृष्टे विहितस्तृतीयः॥
—चक्रदत्त ६८।१७

कफ मेदयुक्त वायु रोगों में निरग्नि स्वेद लाभप्रद हो सकता है। यह रोग की सामान्य स्थिति में उपयुक्त है। व्याधि की उग्रता में, शीत ऋतु में तथा रोगी के बलवान होने पर तीव्र स्वेद दराया जा सकता है। इसी प्रकार मध्यम बल को मध्यम तथा दुर्बल को मृदु स्वेद हितकारक है।

द्रव स्वेद करने के लिये दूध, यूष, तैल, धान्याम्ल, गोमूत्र या वातहर द्रव्यों से बनाये गये उष्ण क्वाथ को काम में लाया जाता है। उपनाह स्वेद वात रोगों में लाभप्रद है। चमड़े के पट्ठे में या उसके अभाव में वातनाशक एरण्ड पत्रादि में या रेशमी या ऊनी कपड़े में बालवच, किण्व, सोया, देवदारु, धनियां, गन्धद्रव्य, रास्ना, एरण्डमूल, सैंधवादि प्रचुर मात्रा में स्नेहचुक्र, तक्र, दूध मिलाकर या अन्य स्निग्ध उष्णवीर्य एवं मृदु द्रव्यों को स्नेह चुक्रादि में मिलाकर या पीसकर बने कल्क को बांधते हैं। रात में बांधा हुआ उपनाह दिन में खोल देते हैं तथा दिन में बांधा हुआ रात में खोल देते हैं। वात रोगों
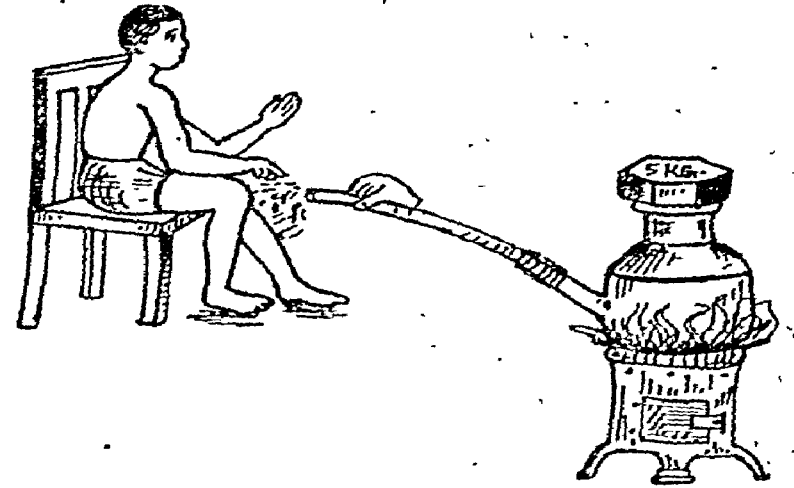
भपारा लेते हुये

में यह विधि अत्यन्त लाभप्रद है। कफ का संसर्ग होने पर सुरसादि गण का तथा पित्त का संसर्ग होने पर पद्मकादि गण का प्रयोग किया जाता है।

चरकोक्त नाड़ीस्वेद अधिक सुविधाजनक होने से आजकल वातरोगों में अधिक काम में लाया जाता है। एक पीतल या अन्य धातु के बने घड़े में स्वेदन द्रव्य डालकर चूल्हे पर चढ़ा देते हैं। उससे जब वाष्प निकलने लगे तो उसके मुख को बन्द करने वाले पात्र के ऊपरी या पार्श्व भाग में छेदकर, छेद से हाथी के सूंड के आकार की एक व्याम (१ मीटर) लम्बी नली लगाकर इस नली से आतीहुई वाष्प से स्वेदन करना ही नाड़ी स्वेद कहलाता है। (चित्र ऊपर देखें)

रोगी अपनी शारीरिक स्थिति के अनुसार ही इस स्वेदन को सहन कर पाता है। इस स्वेदन का प्रायः प्रयोग आधा घण्टे से १ घण्टे तक किया जा सकता है। स्वेदन से तापमान बढ़ता है अतः तापमान का आकलन करते रहना चाहिये। कुछ व्यक्तियों का तापमान स्वेद आने से घट जाता है। ऐसी स्थिति में स्वेदन बन्दकर देना चाहिये। इस अवसर पर रोगी के रक्त भार का भी परीक्षण करते रहना चाहिये।

केरलीय पंचकर्म में एक कर्म पिण्ड स्वेद है। इसमें बला के कषाय के योग से एवं निर्दिष्ट परिमाण में साठी चावलों द्वारा निर्मित गोल पिण्डों का प्रयोग किया जाता

शेषांश पृष्ठ १२४ पर देखें।

वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य

पंचकर्म से केवल व्याधि प्रतिकार ही नहीं होता अपितु स्वास्थ्यरक्षण भी होता है। रसायन-वाजीरण प्रयोगों के पूर्ण लाभ हेतु भी पंचकर्म की आवश्यकता होती है। भगवान् चरक ने सूत्र स्थान अध्याय १६ में उपयुक्त काल में युक्ति संशोधन प्रयोग के अनेक लाभों का विवेचन किया है—

कोष्ठशुद्धि, कामाग्नि वृद्धि, व्याधि शमन, प्रकृति अनुवर्तन, इन्द्रिय प्रसन्नता, मनः प्रसाद, बुद्धि निर्मलता, वर्णप्रसादन, वलवृद्धि, शरीर पुष्टि, अपत्य प्राप्ति, वृषता, जरानाश (जरा कृच्छ्रेण लभते), आयु वृद्धि, रोग क्षमता, किंवा स्वास्थ्य संरक्षण।

एक उरुस्तम्भ रोग को छोड़कर प्रायः सभी रोगों में पंचकर्म का पदे-पदे निर्देश किया गया है। स्नेहन-स्वेदन पंचकर्म की उपयोगिता पर वल दिया गया है। वातव्याधि में यद्यपि वस्ति चिकित्सा का सर्वाधिक महत्त्व है किंतु पंचकर्म के पूर्व कर्म हैं जिनका वर्णन पृथक् लेख में किया गया है। यहाँ हम वातव्याधि में पंचकर्म के विधान का उल्लेख करेंगे। वातव्याधि के निम्नाङ्कित भेदों में पंचकर्म के निम्न भेदों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है—

१. वमन—आमाशयस्थ वात, कफवृतवात, अन्त्रावृतवात, कफोत्तर वातरक्त, स्कन्धगतवात, मन्यागतवात।
२. विरेचन (विशेपतया स्निग्ध विरेचन)—पक्वाशयगत वात, रक्ताश्रितवात, मांसाश्रितवात, मेदाश्रित वात, कफावृतवात, पुरीपस्थ वात, व्यानावृत प्राण, व्यानावृत अपान।
३. अनुवासन—सर्वांगगतवात, "वृंहणंयच्च तत्सर्व प्रशस्तं वातरोगिणाम्" के अनुसार प्रायः सभी प्रकार की वातव्याधियों में उपयुक्त है।
४. निरूह—दुर्वल वात रोगी जो विरेचन के अयोग्य हों, पक्वाशयगत वात, मांसमेदस्थ वात, कफानुवन्धवात, प्राणावृत समान, उदानावृत समान, उदानावृत अपान, पित्तावृत वात।
५. नस्य (विशेपतया स्निग्ध नस्य)—शिरोगतवात, अर्दित, वाहुगतवात, प्रायः सभी वातरोगों में स्निग्ध नस्य।

चरक संहिता के सिद्धि स्थान के दूसरे अध्याय में पंचकर्म किन्हें न कराना चाहिए तथा किन्हें कराना चाहिए दोनों का ही सोपपत्तिक विवेचन किया है। इसका विस्तृत विवेचन वहीं देखना चाहिए। विस्तारभय से यहाँ यह उल्लेख करना शक्य नहीं है।

१. वमन—

स्नेहन-स्वेदन से क्लेदन तथा दोषों का द्रवीकरण करने के पश्चात प्रयुक्त वमन दोषों को शरीर से बाहर निकाल देता है। संशोधन में वमन कर्म की प्राथमिकता है। वमन कराये विना ही यदि विरेचन दे दिया जाय तो शिथिल होकर नीचे गया हुआ कफ ग्रहणी को आवृतकर गुरुता उत्पन्न कर प्रवाहिकादि रोगों को जन्म देता है।

"तत्र दोषहरणमूर्ध्वभागं वमन संज्ञकम्"—च. क. १।४

दोषों का मुख से बाहर निकालना ही वमन कहा जाता है। यद्यपि दोषों से यहाँ वातादि तीनों दोष ही अभिप्रेत हैं किन्तु वमन प्राधानन्येन कफ दोष की चिकित्सा है।

यद्यपि वातव्याधि में वमन की कोई विशेष उपयोगिता नहीं है किन्तु वातरोगों में कई स्थल ऐसे भी आते हैं जहां वमन आवश्यक हो जाता है।

१—आमाशयस्थे शुद्धस्य यथादोषहरीः क्रियाः

—चरक चि० २८/९१

२—वक्षस्त्रिकस्कन्धगते वाते मन्यागते तथा।
वमनं मर्दनं नस्यं कुशलेन प्रयोजयेत् ॥

३—आमाशयगतं मत्वा कफं वमनमाचरेत्।

—चरक चि० २८/१८९

"वातानुबन्धिकफस्यैवेयं चिकित्सा" —चक्रपाणि

४—अन्नावृते तु वमनं पाचनं दीपनं लघु।

—चरक चि० २८/१९६

५—कफावृते कफघ्नैस्तु मारुतस्यानु लोमनैः।

—चरक चि० २८/२४५

६—उदानं योजयेदूर्ध्वम् —चरक चि० २८/२१८

वामक द्रव्य अपने उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायि, विकाशी गुण और वीर्य द्वारा हृदय में जाकर सभी धमनियों में व्याप्त होकर सूक्ष्म स्थूल स्रोतों में पहुँचते हैं और वहां उष्ण गुण से दोषों का विलयन; तीक्ष्ण गुण से छिन्न भिन्न होकर, अग्निवायु की भूयिष्ठता के कारण ऊर्ध्व भाग हर प्रभाव के कारण उदानवायु से प्रेरित होकर दोष को मुख द्वारा बाहर निकालते हैं। सुतरां वमन कर्म का कार्य आमाशय एवं कफ पर होता है।

वमन क्रिया पाचन संस्थान की प्रमुख क्रिया है जिसका केन्द्र सुषुम्ना शीर्षक में है। इसके उत्तेजित होने से वमन होता है। आमशयस्थ प्राणदा के नाड्यन्त भाग के उत्तेजना स्वरूप होने वाला वमन स्थानिक वमन है। रक्त में वामक द्रव्य शोषित होकर वमन केन्द्र को उत्तेजित करना सर्वाङ्गिक है। यहाँ स्थानिक वमन ही अभीष्ट है मदनफल, राजिका, लवणोदक आदि से सम्पादित किया जा सकता है। वैसे मदनफल के क्वाथ की मात्रा में मधु, मुलहठी, सैंधव लवण और राव मिलाकर वमन कराने का विधान है। कफावृत वात रोगों में लवणाम्ल स्निग्ध द्रव्य अधिक उपयोगी हैं।

जिस दिन वमन कराना हो उसके पूर्व दिन दूध, दही या पतली पत्र शाक, यवागू आदि ऐसे पदार्थ व्यक्ति को खिलावें जिससे कफ का संचालन हो, वामक द्रव्यों का शीघ्र प्रभाव हो और आमाशय को भी अधिक कष्ट न भोगना पड़े। जिस दिन वमन कराना हो उस दिन प्रातः शौच मुख मार्जनादि करा उष्ण जल से स्नान करावें।

वामक प्रयोग में रोगी की प्रकृति के अनुसार मधु या सैंधा नमक मिलाकर दें। यदि केवल कफ विकार के लिये दिया जा रहा हो तो उसके साथ पीपल, मिर्च, राई जैसे तिक्त-तीक्ष्ण द्रव्यों का मिश्रण आवश्यक है। कफयुक्त वात विकारों में वामक प्रयोग के साथ नीबू स्वरस, तक्र आदि अम्ल पदार्थों तथा तैलादि स्निग्ध पदार्थों की योजना विशेष लाभदायक होती है। १ छटांक मदनफल को सौ सेर जल में उबाल कर १ सेर शेष रहने पर १ छटांक मधु एवं ६ माशा पीपल चूर्ण मिलाकर थोड़ा-थोड़ा पिलाना भी उपयुक्त है। इसके कुछ समय पश्चात् उष्ण जल सैंधव लवण मिलाकर पिलावें।

यदि २०-२५ मिनट तक रोगी को वमन का कोई वेग उपस्थित नहीं हो तो उसे मुलहठी का फांट बनाकर पिलाने से वेग आरम्भ हो जाते हैं। उत्तम वमन में ८-१० वेग, मध्यम में ५-७ तथा हीन में ३-४ वेग आते हैं। वमन कर्म के वेगों में पहले कफ, फिर पित्त, तथा बाद में वात का उत्सर्ग होता है। भगवान् चरक के मतानुसार दोष और धातु स्थानस्थ तथा मार्गस्थ दो प्रकार के होते हैं। वमन से केवल आमाशय का ही शोधन नहीं होता है अपितु स्नेहन-स्वेदन पूर्वक जो दोष शाखाओं से कोष्ठ में आकर बाहर निकाले जाने से सम्पूर्ण शरीर के दोषों का शोधन होता है।

चक्रपाणिदत्त, डल्हण आदि व्याख्याकारों ने लैंगि की शुद्धि को ही सर्वोपरि माना है। सम्यक् वान्त (लैंगिकी शुद्धि) के लक्षण निम्नांकित हैं—समय पर वेगों की उत्पत्ति, वेग काल में व्यथा का न होना, दोषों का यथा-क्रमहरण, वेगों का यथा समय अन्त, हृदय-पार्श्व-शिर-इन्द्रिय-कण्ठ-स्रोतो शुद्धि, कफसंस्राव, लघुता, कृशता, दुर्बलता आदि।

असम्यक् वमन की स्थिति में पीपल ३ भाग, आंवला २ भाग, राई १ भाग पीसकर उष्ण जल मिलाकर पिलाने से यथेष्ठ लाभ होता है। यदि कर्तनवत् पीड़ा हो तो पाचक औषधि का प्रयोग हितावह है।

वमन कर्म के बाद जल से प्रक्षालन कराकर विश्राम करावें। इसके बाद, धूम्रपान करावें बाद में पुनः शीतल जल से हाथ-पैर-मुख आदि का प्रक्षालन कराकर सम्यक् संसर्जन क्रम से अग्निप्रदीप्त कर सामान्य आहार दें। यूप, साबूदाना, दलिया, दूध का प्रयोग क्रमशः अल्पमात्रा में करावें।

वमन के बाद यदि अन्य कर्म कराना अभीष्ट न हो तो उस व्याधि की शमन चिकित्सा करें और वमन के पश्चात् यदि आगे का कर्म कराना हो तो सातवें दिन सायंकाल प्राकृत भोजन के पश्चात् पुनः नवे दिन से अग्रिम कर्म हेतु स्नेहपान प्रारम्भ करें।

विरेचन—

दोषों को गुदामार्ग से बाहर निकाल देना विरेचन कहा जाता है। विरेचन द्रव्य अपने उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायि, विकाशी गुणों से और वीर्य से हृदय में पहुँच कर धमनियों के द्वारा स्थूल-सूक्ष्म स्रोतों से देह में स्थित सम्पूर्ण दोष समूह को पिघलाकर, छिन्न-भिन्न कर जल एवं पृथ्वी महाभूत की भूयिष्ठता के कारण अपान वायु से प्रेरित होकर गुदा से बाहर निकालते हैं।

विरेचन यद्यपि पित्तज व्याधियों का प्रमुख उपक्रम है किन्तु विरेचन क्रिया से पक्वाशयगत दोषों का निर्हरण होता है। "स्थानं वातस्य तत्रापि पक्वाधानं विशेपतः" के अनुसार मुख्य रूपेण वायु का स्थान पक्वाशय ही है सुतरां विरेचन से वात दोप का निर्हरण होना भी सुनिश्चित है। आवरणजन्य वात व्याधि में विरेचन का विशेष महत्त्व है। भगवान् चरक ने निर्दिष्ट किया है—

गुद पक्वाशयस्थे तु कर्मोदावर्तनुद्धितम्।
—चि० २८/९०

शीताः प्रदेहाः रक्तस्थे विरेको रक्तमोक्षणम्।
—चि० २८/९२

विरेको मांसमेदस्थे
—चि० २८/९३

विवद्धमार्गं दृष्ट्वा वा शुक्रं दद्याद्विरेचनम्।
—चि० २८/९४

पक्वाशये विरेकं तु पित्ते सर्वत्रगे तथा।
—चि० २८/१९०

पित्तावृते तु पित्तघ्नैर्मारुतस्याविरोधिभिः।
कफावृते कफघ्नैस्तु मारुतस्यानुलोमनैः॥
—चि० २८/२४५

उपर्युक्त कई स्थलों पर विरेचन की उपादेयता सिद्ध होती है। सामान्यतया विरेचन के दो भाग हैं—मृदु विरेचन एवं तीक्ष्ण विरेचन। अनुलोमन (सर), स्रंसन, मृदु विरेचन तथा भेदन विरेचन, तीव्र विरेचन है। पुनश्च विरेचन के द्रव्यों के आधार पर तीन भाग होते हैं—

१. द्रव्य गुरुत्व प्रधान विरेचन (Bulky Purgative)—

जो द्रव्य आन्त्र को उत्तेजित कर उसके संकोच विकासात्मक कार्य को वढ़ाकर विरेचन कराते हैं।

२. स्निग्ध विरेचक (Lubricant Purgative)—

जो द्रव्य आन्त्र और मल को स्निग्धकर विरेचन कराते हैं।

३. प्रक्षोभक विरेचक (Irritant Purgative)—

जो द्रव्य आन्त्र के नाड़ी सूत्रों में क्षोभ पैदाकर विरेचन केन्द्र को उत्तेजित कर विरेचन कराते हैं।

इन दोनों प्रकारों के संमिश्रण से एक और भेद किया जा सकता है स्निग्ध विरेचन एवं रूक्ष विरेचन। वात रोगों में प्रायः मृदु स्निग्ध विरेचन उपयोगी हैं। कहा गया है—

यदि दोषयुक्त वायु स्नेहन-स्वेदन से शान्त न हो तो स्नेहमय मृदु विरेचन देकर शोधन करें। इसके लिये तिल्वक (लोध्र से सिद्ध) या सातला (सेहुँड भेद) से पकाया घी अथवा एरण्ड तैल को गोदुग्ध में मिलाकर पिलाना चाहिए। स्निग्ध, अम्ल, लवण, उष्ण आदि आहारों के सेवन से संचित मल स्रोतों में विबन्ध उत्पन्न कर वायु को रोक देता है। अतः उसका अनुलोमन करना चाहिए। दुर्बल रोगी जो विरेचन के योग्य न हो उसका मल निर्हरण निरूह वस्ति लगाकर तथा पाचन दीपन औषध देवें एवं उनसे युक्त भोजन खिलाते हुये वायु का अनुलोमन करें। —चरक संहिता चि० २८/८३—८६

वात रोगों में एरण्ड स्नेह की विशेष महत्ता है। इसका प्रयोग मृदुकोष्ठी को ५-२० मि.ली. एवं मध्य-कोष्ठी को २०-५० मि.ली. और क्रूरकोष्ठी को ५०-१०० मि.ली. की मात्रा में किया जा सकता है अथवा मृदु विरेचक औषधियों को स्नेह के साथ सिद्ध कर देना चाहिए। स्निग्धता के कारण ही यह मृदु विरेचन होता है। वात व्याधियों में विरेचन हेतु द्रव्यगत या प्रयोगगत स्निग्धता आवश्यक है।

अपानवायु जन्य विकृतियों में विशेषतया आवरण की अवस्था में अग्निदीपन, ग्राही तथा वातानुलोमन करने वाले किंवा पक्वाशय शोधन करने वाले उपक्रम की आवश्यकता होती है।

जिस दिन विरेचन प्रयोग करना हो उसके पूर्व दिन रोगी को ऐसा शीघ्रपाकी, लघु, उष्ण एवं स्निग्ध आहार देना चाहिए जो कफ को न बढ़ा सके। पीने के लिये उष्णोदक ही देवें। अन्न पचकर रात्रि में उत्तम निद्रा लेकर प्रातः शौचादि से निवृत्त हो जाने पर कुछ भी खाने-पीने को न देते हुये एक प्रहर दिन चढ़ आने पर (श्लेष्मकालेगते) योग्य अनुपान के साथ विरेचन दें।

आचार्य श्री विश्वनाथ जी द्विवेदी ने विरेचन देने की सामान्य आवश्यकता निम्नलिखित स्थितियों में बताई है—

(१) *मलावरोध कम करने के लिये तथा आंतों से मल निकालने के लिये।*

(२) शोथ कम करने के लिये तथा शरीर से जलीयांश कम करने के लिए।

(३) रक्तचाप कम करने के लिये।

(४) ज्वर आदि कई रोग दूर करने के लिये।

(५) शरीर से विष निकालने के लिये तथा आंतों के विपाक्त प्रभाव को घटाने के लिये।

विरेचन के पश्चात् अब वस्ति का सामान्य विवेचन किया जायेगा। विस्तृत विरेचन पृथक् लेख में किया गया है। पाठक वहीं देखें।

अनुवासन एवं निरूह वस्ति—

चरक ने केवल निरूह वस्ति के लिए वस्ति शब्द प्रयुक्त किया है किन्तु सामान्यतः वस्ति से तीन प्रकार की वस्ति अभिप्रेत हैं—निरूह वस्ति, अनुवासन वस्ति तथा उत्तर वस्ति। यहां निरूह एवं अनुवासन वस्ति का ही वर्णन अपेक्षित है। वस्ति वात रोगों की प्रधान चिकित्सा है। वस्ति वह प्रक्रिया है जिसमें गुदमार्ग द्वारा वस्ति द्रव्यों को पक्वाशय में प्रविष्ट किया जाता है। प्रविष्ट द्रव्य अग्नि द्वारा शोषित होकर रस-रक्त के साथ सारे शरीर में व्याप्त होकर शोधन, शमन, बृंहण कार्य करते हैं। कषाय क्षीर तैल से दी जाने वाली वस्ति निरूह तथा औषध सिद्ध तैल किंवा बिना औषध सिद्ध एरण्ड तैलादि द्वारा दी जाने वाली अनुवासन वस्ति हैं।

वातरोगों में वे स्थितियां बतला देना उपयुक्त होगा जहां वस्ति चिकित्सा को महत्त्व दिया गया है—

स्नेहाक्लान्तं समाश्वास्य पयोभिः स्नेहयेत् पुनः।
× × × ×
पायसैः कृशरैः साम्ल लवणैरनुवासनैः॥
—चरक चि० २८/७७

दुर्बलो योऽविरेच्यः स्यात्तं निरूहैरुपाचरेत्।
—चरक चि० २८/८६

सर्वाङ्गकुपितेऽभ्यङ्गो वस्तयः सानुवासनाः।
—चरक चि० २८/९१

विरेको मांसमेदःस्थे निरूहाः शमनानि च।
—चरक चि० २८/९३

वस्तिकर्म त्वधो नाभेः शस्यते चावपीडकः।
—चरक चि० २८/९९

सर्पिस्तैल वसामज्जसेकाभ्यञ्जनवस्तयः।
× × × ×
बृंहणं यच्च तत् सर्वं प्रशस्तं वातरोगिणाम्।
—चरक चि० २८/१०५

कफावृते यवान्नानि जाङ्गला मृगपक्षिणः।
स्वेदास्तीक्ष्णा निरूहाश्च वमनं स विरेचनम्॥
—चरक चि० २८/१८७

निरूहैः पित्तसंसृष्टे निर्हरेत् क्षीरसंयुतैः।
मधुरौषधसिद्धैश्च तैलैस्तमनुवासयेत्।
—चरक चि० २८/१९२

नस्य—

औषधि या औषधि सिद्ध स्नेहों का नासामार्ग से दिया जाना नस्य कहलाता है। नस्य औषधि शिर में पहुंचकर दोषों को क्लेदित कर उन्हें बाहर निकालती हैं। दोषों के शोधन के अर्थ में प्रयुक्त विरेचन शब्द के कारण इसे शिरोविरेचन भी कहा गया है। नस्य द्वारा मुख्य रूप से वातव्याधि, ऊर्ध्वजत्रु रोग, कफदोष आदि का शमन होता है। वातव्याधि अधिकार में कहा गया है—

स्नेहाक्लान्तं समाश्वास्य पयोभिः स्नेहयेत् पुनः ।

× × × ×

नावनैस्तर्पणैश्चान्यैः सुस्निग्धं स्वेदयेत्ततः ॥

—चरक चि० २८/७८

नावनैर्धूमपानैश्च सर्वानेवोपपादयेत् ॥

—चरक चि० २८/८८

बाहुशीर्षगते नस्यम् —चरक चि० २८/९८

अर्दिते नावनम् —चरक चि० २८/९९

शिरोगते तु सकफे धूमनस्यदि कारयेत्

—चरक चि० २८/१९३

अर्थात् बाहुगत, शिरोगत वात में नस्य की उपयोगिता सिद्ध होती है। अर्दित, मन्यास्तम्भ, अंशशोष, अवबाहुक रोग नस्य द्वारा नष्ट होते हैं। नस्यार्थ प्रयुक्त औषधियां अपने गुणों से रोगशमन करती है। वस्ति के बाद यदि नस्य देना हो तो स्थानिक स्नेहन कर सात दिनों तक नस्य देना चाहिए।

भगवान् चरक ने कार्मुकता के आधार पर नस्य के तीन भेद किये हैं—रेचन, तर्पण और शमन। इन्हीं को आचार्य वाग्भट ने विरेचन, वृंहण और शमन नाम दिये हैं। उष्ण तीक्ष्ण नस्यार्थ प्रयुक्त औषधियां विष्यन्दन—द्रवीकरण-विरेचन करती हैं। मधुर रस प्रधान औषधियों से वृंहण तथा कषाय रस प्रधान औषधियों से प्रायः स्तम्भन कार्य होता है।

आचार्य वाग्भट ने नस्य हेतु तैल को प्रशस्त कहा है। तैल प्रयोग से नासास्थित गन्ध वहा नाड़ी की कार्यशीलता बढ़ती है तथा नासास्थित गन्धवाहक स्नेह रचनामय अवयव के समान होने से घुलनशीलता के कारण कार्यक्षम होकर दोषों का नियमन होता है। महर्षि सुश्रुत ने नस्य के दो ही भेद किये हैं—शिरोविरेचन तथा स्नेहन। भगवान् चरक ने नावन को शोधन एवं स्नेहन दो रूपों में व्यक्त किया है। वात रोगों में दोनों की ही उपादेयता है। जहां वातशमनार्थ स्नेहन की आवश्यकता प्रतीत होती है वहां नावन (स्नेहन) के लिए निर्देश है तथा जहाँ कफ भी संसृष्ट है वहां नस्य (शोधन) के लिये निर्देश दिया गया है। स्नेहन नस्य से मज्जा तन्तु के अकर्मण्य भागों को पुनर्जीवन मिलने से इसे वृंहण भी कहा जा सकता है। अपतानक, मन्यास्तम्भ, अवबाहुक, निद्रानाश आदि वातविकारों में वृंहण नस्य ही लाभ करता है। प्रायः दोषोत्क्लेशजन्य व्यापत्तियों में शोधन-शमनरूप नस्य क्षयजन्य व्यापत्तियों में वृंहण नस्य उपयोगी है। स्नेहन वृंहणार्थ अणु तैल का अधिक महत्व है। शोधनार्थ कटु तोरई, कटु सहजना या सिरस के बीजों का महीन चूर्ण समधु दिया जाता है। वात रोगों में नस्य सायङ्काल किंवा रात्रि में प्रयुक्त होता है।

धूल-धूप-वायु रहित भवन में नस्य के पूर्व कर्म करने के बाद व्यक्ति को पीठ के बल लिटा दें। चिकित्सक अपनी बांयी तर्जनी अंगुली से व्यक्ति की नासाग्र को ऊँचा करें और दाहिने हाथ में नस्योपयोगी कुछ गरम तैल किसी शीशी में भरकर अथवा रुई के पिचु को उस तैल में भिगोकर निरन्तर टपकावें। स्नेहन नस्य की ह्रस्व मात्रा ८ बूंद, मध्यम मात्रा १६ बूंद तथा उत्तम मात्रा ३२ बूंद है। इसी विधि से स्वरस क्वाथादि देते हैं।

उच्छवास, निद्रा, चेतना तथा इन्द्रियों की स्फूर्ति ये पूर्ण स्नेहन के लक्षण हैं तथा रूक्षता, नेत्रों की स्तब्धता नाक तथा मुख का शोष, ये लक्षण भलीप्रकार स्निग्ध न होने के सूचक हैं।

पुनश्च यह स्मरण रहे कि नस्य के लिये कफ तथा कफ और वात से उत्पन्न रोगों में तैल के नस्य की उपादेयता है। नस्य के स्वरूप के लिए ही कहा गया है—

स्नेहार्थं शून्यशिरसां ग्रीवास्कन्धोरसां तथा ।
बलार्थं दीयते स्नेहो नस्य शब्दोऽत्र वर्तते ॥

नस्य देने के बाद रोगी के गले, कपोल, ललाट पर

स्वेदन करें। हथेली, कन्धों और पादतल को धीरे-धीरे मर्दन करें। मुख में नस्य द्रव्य चला जावे तो उसे तत्काल थुकवा देना चाहिये। रोगी को उसे निगलना नहीं चाहिये। नस्य कर्म के बाद १०० अङ्क गिनने तक लिटाना चाहिये फिर कवल ग्रह, गण्डूष या धूम्रपान करना उचित है। नस्य कर्म करने के बाद सिर हिलाना, क्रोध, भाषण, हंसना आदि नहीं करें क्योंकि इससे कास, प्रतिश्याय तथा सिर और नेत्र रोग होने का भय है।

कफयुक्त शिरोगत वात में धूमनस्य तथा प्राणावृत व्यान या प्राणावृत उदान में धूम्रपान का निर्देश है। इसी प्रकार सभी वात रोगों का स्निग्ध नस्य तथा धूम्रपान को सामान्य उपक्रम कहा है। वात शमन हेतु स्निग्ध धूम्रपान की ही उपयोगिता है।

रक्तमोक्षण

चरक संहिता के सातवें अध्याय में केवल निरूह वस्ति की व्यापत् और चिकित्सा का वर्णन मिलता है। अतः अनुवासन वस्ति की आधिक्येन शमनात्मक क्रिया के आधार पर महर्षि सुश्रुत के मन्तव्य को प्रश्रय देते हुये आचार्य वाग्भट ने पंचकर्म के अन्तर्गत रक्तमोक्षण को महत्व दिया है। परिणामतः पंचकर्मों में वमन, विरेचन, वस्ति (निरूह), नस्य, रक्तमोक्षण को माना गया है।

वात व्याधि में भी रक्तमोक्षण की उपयोगिता प्रकट की गई है। रक्तगत वात की चिकित्सा में कहा गया है—

शीताः प्रदेहाः रक्तस्थे विरेको रक्तमोक्षणम्।
शोणितेनावृते कुर्याद्वात शोणितकीं क्रियाम्॥

—चरक चि० २८/९२ एवं १९४

रक्त को शरीर से बाहर निकालना रक्तमोक्षण कहा जाता है। रक्तमोक्षण शस्त्र द्वारा तथा शस्त्र रहित दो प्रकार से कराया जाता है। वातरोगों में शस्त्र द्वारा तथा शृङ्ग द्वारा शस्त्र रहित प्रकार से रक्तमोक्षण किया जाता है। अन्य कर्मों की भांति रक्तमोक्षण में भी स्नेहन स्वेदन से रक्त में क्लेदन उत्पन्न कर दोषों को घुलनशील बनाकर बाहर निकाला जाता है। रक्तमोक्षण के उपरान्त व्रणमुख को दबाकर बांधकर रक्त बन्द करने का प्रयत्न करें और पौष्टिक आहार दें।

वात व्याधि में पंचकर्म — पृष्ठ ११८ का शेषांश

है। यह दो प्रकार का है—१. पत्रपिण्ड स्वेद (पत्र किडी) २. अन्नपिण्ड स्वेद (नवर किडी)। यह चरकोक्त संकर स्वेद का ही एक प्रकार है। ये परिषेक स्वेद को ही कायसेक (पिषिञ्चल) कहते हैं। नारायण तैल, सहचरादि तैल आदि तैलों की रुग्ण पर विशिष्ट प्रकार से धारा के साथ संवाहन करना पिषिच्चल है। यह पक्षवध, गृध्रसी, विश्वाची आदि वात रोगों अत्यन्त लाभप्रद है।

स्वेदन से निम्नांकित वात व्याधियां नष्ट होती हैं—आध्मान, खल्ली, पक्षाघात, अपतानक, कम्प, मन्यास्तम्भ, अंगमर्द, हनुग्रह, वातकंटक, आढ्यवात, अर्दित, बहिरायाम, गृध्रसी, आमवात, स्तम्भ, शूल, सुप्ति, गौरव, संकोचादि।

सम्यक् स्निग्ध के लक्षण—

शीत, शूल की शान्ति, स्तम्भ, गौरव, निग्रह, अवयव की कोमलता, अंगमर्द, तन्द्रा-निद्रानाश, स्तम्भित सन्धि में चेष्टा, त्वक् प्रसाद, स्रोतो निर्मलीकरण।

अस्विन्न के लक्षण—शीत, शूल, स्तम्भ, गौरव, मार्दव होना, स्वेदाभाव, व्याधि वृद्धि, देहकाठिन्य।

अतिस्विन्न के लक्षण—

पित्त प्रकोप, मूर्च्छा, तृष्णा, दाह, अवसाद, शरीरदौर्बल्य, रक्त प्रकोप, सन्धिशूल, भ्रम, स्फोटोत्पत्ति, श्यावरक्त मण्डल हो जाना, ज्वर, छर्दि, क्लम आदि। ऐसी स्थिति में स्वेदन तत्काल बन्द करा देना चाहिये।

प्यास अधिक लगने पर गरम जल या दुग्ध देना चाहिये। शरीर दौर्बल्य की अवस्था में बल्य उपचार करना चाहिये। अति स्वेदन के कारण उत्पन्न दोषों में स्तम्भन उत्तम उपचार है।

मधुरतिक्तकषायरस प्रधान आहार, शीतपेय, स्निग्ध द्रव्य एवं शीतलेप उत्तम स्तम्भन है। स्वर्ण भस्म, नाग भस्म, यशद भस्म, लौह भस्म आदि भी इस निमित्त उपयोगी है। स्तम्भन भी उचित मात्रा में ही करें।

श्री वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपश' भिषगाचार्य

जिस प्रकार त्रिदोष में वात का विशेष महत्व है उसी प्रकार वात व्याधि चिकित्सा में वस्ति का विशेष महत्व है। वस्ति कर्म द्वारा वात का नियमन हो जाने से सार्वदैहिक कार्य होता है। शरीर में रोग प्रसार के लिए वायु का ही उत्तरदायित्व अधिक है। कफ पित्त एवं मलों के संहनन, संवहन तथा विक्षेपण का कार्य वायु द्वारा ही सम्पादित होता है। उस वायु को जीतने के लिये परम श्रेष्ठ चिकित्सा वस्ति ही है। पक्वाशय को वात का प्रधान स्थान कहा गया है। तत्रस्थ वात यदि जीत लिया जाता है तो सम्पूर्ण शरीरगत वात का शमन हो ही जाता है और वायु के नियन्त्रण से पंगु पित्त और कफ का भी नियन्त्रण होना स्वाभाविक है। वस्ति पक्वाशयगत होने से जठराग्नि का कार्य भी सुचारु रूपेण होने लगता है जिससे तज्जन्य धात्वाग्नि के कार्य भी सुधर जाते हैं।

वस्ति की कार्मुकता विस्तृत है। इससे वात नियंत्रण एवं सुष्ठु अग्निकार्य ही मात्र नहीं होता अपितु लेखन बृंहणादि कर्म भी होते हैं। महर्षि सुश्रुत ने कहा है कि सम्यक् प्रयुक्त वस्ति पक्वाशय, श्रोणि तथा नाभि के अधोभाग में रहकर वस्ति द्रव्यों का वीर्य स्रोतसों द्वारा सारे शरीर में व्याप्त होकर लेखन, बृंहण, शमनादि सारे कार्य करता है।

वस्ति प्रक्रिया में गुदमार्ग द्वारा औषधि (विशिष्ट कल्पना के रूप में) प्रविष्ट की जाती है। आचार्य पाराशर ने शरीर का मूल गुद को ही कहा है।

वस्ति शब्द मूत्राशय का वाचक है। प्राचीनकाल में अज या मेष के मूत्राशय में औषधि भरकर गुद द्वार द्वारा शरीर में पहुंचाई जाती थी—"वस्तिभिर्दीयते यस्मात् तस्मात् वस्तिरिति स्मृतः।"

मुख्यतः द्रव्य भेद से वस्ति के महर्षि सुश्रुत ने दो ही भेद किये हैं १. निरूह वस्ति, २. स्नेहिक वस्ति। शरीर में औषधि को रोहण कराने वाली अथवा शरीरान्तर्गत दोषों को निर्हरण करने वाली होने से इस वस्ति को निरूह कहा है। इसे ही आस्थापन भी कहते हैं। दोषों को स्थापन अर्थात् अपने अपने मार्गों में लगाने के कारण किंवा आयुष्य को स्थिर रखने के कारण इसे आस्थापन कहा गया है। इसे ही वातरोगों में मुख्यरूपेण उपयोगी कहा है—

वातव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च, एतेस्वास्थापनं प्रधानतममित्युक्तम्। —चरक सि० २

इस आस्थापन या निरूह वस्ति का ही एक प्रकार "माधुतैलिक वस्ति" है। जिसके पर्याय यापन वस्ति, सिद्ध वस्ति और युक्तरथ वस्ति हैं। यह वस्ति अपनी

—शेषांश पृष्ठ १२६ पर देखें।

सिरा का व्यध या वेधन किया जाना ही सिरावेध है। प्राचीन साहित्य में वह आयुर्वेद का हो या यूनानी ग्रीक आदि का सर्वत्र इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। यूनानी हकीम एवं जर्राहों में यह काफी प्रचलित रहा। रक्तज विकारों में यद्यपि यह सर्वाधिक प्रयुक्त है तथापि वातविकारों में भी सफलता के साथ इससे चिकित्सा की जाती रही है। रक्त विकार वे विकार हैं जिनमें शोधन, शमन, रूक्षण स्नेहनादि कर्म लाभ नहीं करते अतः इनकी चिकित्सा रक्तदोष को ध्यान में रख कर की जाती है।

रक्तविस्रावण की जलौका, शृङ्गी एवं प्रच्छन्न पद्धतियों का प्रयोग एक स्थान पर केन्द्रित पित्त एवं कफ दोष युक्त में किया जाता है। परन्तु सिरावेध का प्रयोग विकेन्द्रित या फैले हुए दोषों में या वातादि विशिष्ट रोगों में किया जाता है। सिराव्यध आशु फल दायी है और इसी से इसको आत्ययिक अवस्था में भी प्रयोग किया जाता है। रोग भी निर्मूल होता है। सामान्यतया रक्तविकार, रक्तमोक्षण साध्य विकार, अपक्वदोष, अभ्यासानुसार या अन्यत्र जहां विधान हो वहां शिरावेध किया जा सकता है। इस दृष्टि से कतिपय वातविकारों में भी इसका प्रयोग सूचित है।

जैसाकि विदित ही है कि गम्भीर देशस्थ दुष्ट रक्तनिर्हरणार्थ प्रच्छन्न, जलौका, एवं सिरावेध तुम्बी आदि का प्रयोग होता है तथापि एक देशीय गूढ़ दोष में जलौका, पिण्डित दोष में प्रच्छन्न, त्वचा में फैले दोष में अलाबू एवं सर्वांग में फैले दोष में सिरावेध ही उचित माना गया है। शिरावेध को शल्यतन्त्र में 'आधी चिकित्सा' कहा जाता है। यथा—

सिराव्यधश्चिकित्सार्धो शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः।
यथा प्रणिहितः सम्यग्वस्ति काय चिकित्सिते॥
—सु. शा. ८।२३

सुश्रुत के इस कथन से इस कर्म की व्यापकता स्पष्ट हो जाती है और वास्तव में यह एक सफल एवं सद्यःफलप्रद चिकित्सा है भी।

विधि—

सिरावेध की विधि सभी आयुर्वेद के ग्रंथों में वर्णित है जो संक्षेप में इस प्रकार है—

पूर्वकर्म—

क. कर्म के पूर्व आवश्यक उपकरणादि एकत्र करें यथा (१) वस्त्र खण्ड, पानी, स्नेह, आदि (२) रोगी को स्निग्ध रस युक्त प्रतिभोजन दें (३) स्वस्तिक वाचनादि मांगलिक कर्म करायें।

ख. (१) रोगी को स्नेहन, स्वेदन कराकर दोष विपरीत पतला आहार कराये। स्वेदन के लिये अग्नि या धूप का विधान है। (२) तदनन्तर यथा समय रोगी को वैद्य अपने सामने खड़े कर या बिठा कर यन्त्रणा करें। (३) केश प्रान्त को कोमल वस्त्र से बांध देवें।

ग. (१) शीतकाल, अतिगरम समय, प्रवात या मेघाच्छन्न काल, एवं रोग (वेग) न हो तो शिरावेधन करें। (२) क्षीण, बहुदोष, एवं मूर्च्छा में दोपहर को प्रति तीसरे दिन, शेष में यथायोग्य वेधन करें। (३) वर्षा ऋतु में

बादल न होने पर, गरमी में ठंडक होने पर, हेमन्त में दोपहर में कर्म किया जा सकता है।

ग. यन्त्रणा—जिन रोगियों में बैठाकर सिराव्यधन करना हो उनमें—ऊर्ध्वांग सिरावेध में—

१. रोगी को १ बालिश्त ऊँची चौकी पर बैठाकर सूर्य की ओर मुख रखकर बैठायें। २. रोगी को घुटनों से मोड, घुटनों पर दोनों कोहनी टेकने को कहें ३. अंगूठे को अन्दर दवा कर मुट्ठी बंधायें, या वस्त्र लें ४. अव मुट्ठी ग्रीवा (मन्या) पर रखायें। ५. अब गर्दन. एवं मुट्ठी को यन्त्रणा शाटक द्वारा लपेटे। ६. पीठ के पीछे खड़े भृत्य द्वारा वाम हस्त से इसके दोनों सिरे पकड़ायें, दाहिने हाथ से शाटक को सिरा फुलाने के लिये खींचें। ७. यन्त्र को पीठ के पीछे मध्य में रोक देवें। ८. रोगी मुख में हवाभर कर बैठे अथवा दांत दवाये खांसे, गाल फुलाये या पेट फुलाये—यह आवश्यकता अनुसार करायें।

(यहां ऊर्ध्वांग में सिरावेधनार्थ यन्त्रणा शाटक ग्रीवा में डाल, कक्षा से निकाल पीठ के पीछे दोनों सिरों को वामागुंली मध्य में रखकर पकडने का विधान वाग्भट्ट ने किया है।)

ऊर्ध्व अधः शाखा में सिरावेध के लिए—

(अ) १. यदि रोगी को खडा रखकर पैर में सिरावेध करना हो तो रोगी के पैर को समान स्थान पर रख दूसरे पैर को थोड़ा उठायें २. जिस पैर में व्यधन करना हो उसमें घुटने के नीचे लपेट कर यन्त्रण बांधे ३. फिर गुल्फ पर्यन्त दोनों हाथों से दवा व्यध स्थल से ४ अंगुल ऊपर प्लोत या चर्मपट्ट बांधें (घुटने को बिना संकोच किये सिरावेध करें।)

(ब) १. हाथ की शिरावेधन में—अंगूठे को मुट्ठी बंद कर आसन पर सुखपूर्वक बिठाकर पैर की विधि से बांध दें २. हाथ लम्वा रख वेधन स्थान से ४ अंगुल पर पट्टी बांधे परन्तु गृध्रसी एवं विश्वाची में जानु एवं कूर्पर से मोड़कर यन्त्रण करना चाहिये।

(क) गात्र में सिरावेधन के लिये—

१. श्रोणि, पीठ, स्कन्ध में वेधन के लिये पीठ को ऊंचा कर, सिर झुका, सीधी तनी पीठ रख यन्त्रणपूर्वक सिरावेध करें।

२. पेट एवं वक्ष पर वेधनार्थ—सिर उठाकर वक्ष एवं मध्य शरीर शरीर में फैली सिरा का वेधन करें।

३. पार्श्व की सिरोवेध में बाहु से शरीर को थमा कर (लटका कर) वेध करे।

४. ग्रीवा के लिये स्तन से ऊपर यन्त्रण करे। हाथ में पत्थर पकड़, घुटनों पर लम्बा कर रखे तथा कुक्षी से ग्रीवा तक मले।

(ख) १—मेहन में सिरावेध करने के लिये उसे बिना झुकाये, स्तब्ध कर वेध करना चाहिए।

२—जिह्वा में वेधनार्थ जिह्वा को ऊपर उठा कर जिह्वाग्र दवा कर नीचे की सिरा का वेधन करे। इसमें जीभ को तालू से लगाकर दांत से दवाकर रखी जाती है।

३—तालू एवं दन्तमूल में वेधन के लिये मुख खोल कर तालू दन्तमूल स्थित शिरा का वेधन किया जाता है।

४—नासिका के अग्र भाग को अंगूठे से उठाकर नासा समीपस्थ जिह्वा का वेधन करना चाहिए।

प्रधान कर्म—

(क) १—मांसल प्रदेश में व्रीहीमुख द्वारा १ यव प्रमाण गहरा वेधन किया जाता है। शेष अमांसल स्थानों पर १/२ यव प्रमाण गहरा वेध किया जाता है।

२—अस्थि के ऊपर आई सिरा को कुठारिका द्वारा १/२ यव प्रमाण वेधन करना चाहिए।

(ख) १—व्रीहीमुख का प्रयोग तर्जनी एवं अंगुष्ठ द्वारा पकड़ कर करें।

२—कुठारिका को वाम हाथ से पकड़ वेध स्थान पर रख दाहिने हाथ की मध्यमा को अंगूठे से बलपूर्वक स्तब्ध कर कुठारिका पर आघात कर वेधन करना चाहिए। इसमें अंगूठे से पकड़ी झटका से छोड़ी वाम मध्यमा सिरा पर आघात किया जाता है। स्पर्श द्वारा अंगूठे से दवा कर उठी सिरा को जान वाम हस्त से फलक के पास दृढ़ता से पकड़ी कुठारिका द्वारा सिरा मध्य में अंकनपूर्वक वेधन किया जाता है। इसमें सिरा पर कुठारिका या मध्यमा से आघात एवं अंगूठे से सिरा को दवाते रहना चाहिए। साथ ही हाथ हिले नहीं इसका

ध्यान रखना चाहिए। जहां आवश्यकता हो वहां ब्रीहीमुख का प्रयोग करे।

(ग) १–धारा के रूप में रक्तस्राव हो और बाद में स्वयं रुक जाये, यह सुविद्ध का लक्षण है। इस प्रकार के वेधन द्वारा जैसे कुसुंभ में पहले पीला रंग आता है उसी प्रकार वेधन में प्रथम दूषित रक्त निकलता है।

२—मूर्च्छित, भीरु, श्रमित, तृषित, अनुत्थ, अवध्य में रक्त ठीक से नहीं निकलता।

३—बलवान, प्रचुर दोष युक्त एवं तरुण रोगी में अधिकतम विस्राव्य रक्त का प्रमाण १ प्रस्थ या ३।। पल कहा गया है (रक्तशोधन में १ प्रस्थ से सही मान लिया जाता है।)

४--२० प्रकार के दूषित विद्ध या दुर्विद्ध सिरा कही है।

पश्चात् कर्म—

१. सम्यक विद्ध में व्रणीतोपसनीय के अनुसार व्रणोपचार करे।

२—अतिरिक्त रक्तस्राव होने पर अभ्यंग, मांसरस, दूध, रक्त आदि का पान करें।

३—रक्तस्राव के बाद धीमे से शस्त्र को निकाल वर्फ जैसे शीतल जल से धोकर सिरामुख पर तैल पिचु रख कर बांध दें।

४—मूर्च्छा आने पर पंखे से हवा करे, संज्ञा आने पर पुनः रक्तस्राव कराये। यदि पुनः मूर्च्छा आये तो दूसरे दिन रक्तस्राव करे।

५—अवशिष्ट अशुद्ध रक्त को उसी दिन शाम को या अधिक अशुद्धि हो तो १५-१५ दिन पर निकालें।

६—अत्यल्प शेष दूषित रक्त का शमन उपचार करे तथा प्राकृत होने तक पथ्य पालन करे, अग्नि की रक्षा करे।

कतिपय वात विकारों में कर्म निम्नानुसार—

१. पाददाह–छिप्र मर्म से २ अंगुल ऊपर १/२ अंगुल प्रमाण में ब्रीहीमुख द्वारा
२. पाद हर्ष—छिप्रमर्म से २ अंगुल ऊपर १/२ अंगुल प्रमाण में ब्रीहीमुख द्वारा
३. वातकंटक—छिप्रमर्म से २ अंगुल ऊपर १/२ अंगुल प्रमाण में ब्रीहीमुख द्वारा
४. क्रोष्टुशीर्ष–गुल्फ से ४ अं. ऊपर १/२ अंगुल प्रमाण में ब्रीहीमुख द्वारा
५. सक्थि पीड़ा [उरुस्तम्भ ?]–गुल्फ से ४ अं. ऊपर १/२ अंगुल प्रमाण में ब्रीहीमुख द्वारा
६. खंज [उरुस्तम्भ ?]--गुल्फ से ४ अं. ऊपर १/२ अंगुल प्रमाण में ब्रीहीमुख द्वारा
७. पंगुत्व [उरुस्तम्भ ?]—गुल्फ से ४ अं. ऊपर १/२ अंगुल प्रमाण में ब्रीहीमुख द्वारा
८. वात वेदना (पाद)–गुल्फ से ४ अं. ऊपर १/२ अंगुल प्रमाण में ब्रीहीमुख द्वारा
९. गृध्रसी--जानुसंधि से ४ अं. ऊपर या नीचे १/२ अंगुल प्रमाण में ब्रीहीमुख द्वारा
१०. विश्वाचि—कूर्पर संधि से ४ अंगुल ऊपर या नीचे १/२ अंगुल प्रमाण में ब्रीहीमुख द्वारा
११. बाहुशोष--स्कन्ध मध्यस्थ सिरा १ यव ब्रीहीमुखद्वारा
१२. अवबाहुक--स्कन्ध मध्यस्थ सिरा १ यव ब्रीहीमुखद्वारा
१३. बाहु रोग—बाहुमूलस्थ ,, ,,
१४. वातरक्त--छिप्रमर्म से २ अं. ऊपर १/२ यव ब्रीहीमुख द्वारा
१५. कर्णशूल एवं बाधिर्य--कान के ऊपर चारों ओर ब्रीहीमुख द्वारा
१६. गंध अज्ञान, एवं नासाग्र पीनस में--नासा ललाट मध्य में ब्रीहीमुख द्वारा
१७. शिरःशूल--नासा समीपस्थ शिरा एवं ललाट, अपांग, शिर पर ऊपर चारों ओर ब्रीहीमुख द्वारा
१८. अधिमंथ जन्य शूल--ललाट अपांग शिर के ऊपर चारों ओर ब्रीहीमुख द्वारा
१९. पार्श्वशूल--वामकक्षा, कक्षा स्तन मध्य या पार्श्वस्थ सिरा के चारों ओर ब्रीहीमुख द्वारा
२०. उन्माद--शंख, अपांग, ललाट गत सिरा या केशान्त संधिगत, वक्षगत, सिरा के चारों ओर ब्रीहीमुख द्वारा
२१. अपस्मार--हनुसंधि मध्य स्थित सिरा, भ्रू मध्य गत सिरा के चारों ओर ब्रीहिमुख द्वारा।

—श्री पी. एस. अंशुमान एच. पी. ए., रीडर
शेठ जी प्र. आयु० कालेज, १४९७-ए कृष्णा नगर,
भावनगर (गुजरात)

वात व्याधि में बस्ति चिकित्सा — पृष्ठ १२५ का शेष लेख

कार्मुकता के आधार पर उत्क्लेशन, शोधन, शमन, लेखन, बृंहण, वाजीकरण आदि कार्य कई रूपोंमें करती हैं।

दूसरे प्रकार की स्नेहिक बस्ति का प्रमुख प्रसिद्ध नाम अनुवासन है। यह यदि शरीर के अन्दर रह भी जाय तो विकार नहीं करती अथवा यह प्रतिदिन ली सकने के कारण अनुवासन बस्ति कहलाती है—'अनुवसन्नपि न दुष्यति; अनुवासरं अनुदिवसं वा दीयते इति अनुवासन बस्तिः।' इस बस्ति द्वारा रोगानुसार सिद्ध किया हुआ स्नेह प्रयुक्त होता है। मात्रा के आधार पर इसके तीन भेद हैं—स्नेह बस्ति, मात्रा बस्ति तथा अनुवासन बस्ति। स्नेहबस्ति की मात्रा निरूह बस्ति की मात्रा का १/४ भाग, अनुवासन बस्ति की मात्रा स्नेह बस्ति का १/२ भाग तथा मात्रा बस्ति की मात्रा अनुवासन बस्ति की मात्रा का १/२ भाग देना चाहिए। प्रत्येक निरूह बस्ति के उपरान्त अनुवासन बस्ति देने का विधान है क्योंकि निरूह से वात प्रकोप का भय हो सकता है। निरूह बस्ति से पूर्व भी अनुवासन देने का विधान है। अतः निरूह बस्ति के पूर्व में तथा पश्चात् में स्नेह बस्ति अवश्य दें। वैसे चिकित्सक को रोगी-रोग दोषोल्बणता, का भलीभांति विचार कर स्वयं निश्चित करना चाहिये कि कब कौन सी बस्ति उपयुक्त हो सकती है।

आस्थापन बस्ति —

इसे अशीति वात विकारों को नष्ट करने वाली कहा गया है। मधुर स्कन्ध, अम्लस्कन्ध एवं लवण स्कन्ध की औषधियों से निर्मित आस्थापन बस्ति वातरोग को हरने वाली है।

अनुवासन बस्ति के प्रयोग द्वारा स्निग्ध शरीर वाले व्यक्ति को अनुवासन बस्ति प्रयोग के तीसरे या पांचवें दिन शुभ मुहूर्त में भोजन के जीर्ण होने पर मध्यान्हकाल के कुछ बीत जाने पर स्वस्त्ययन आदि मंगल क्रियामें करके उत्सृष्ट मल-मूत्र वाले रोगी को सारे शरीर पर अभ्यंग करा पोट्टली स्वेद से स्वेदन कर कुछ बुभुक्षित हो जाने पर आस्थापन बस्ति का प्रयोग करें।

प्राचीनोक्त बस्ति (मूत्राशय) के स्थान पर आजकल एनीमा हेतु जो इनैमिल का वर्तन आता है वह काम में लिया जा सकता है जिसमें रबर की नली लगाकर रबर मुख पर नौजिल लगाया जाता है।
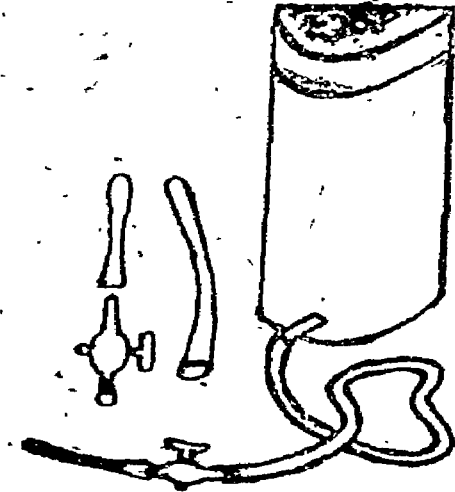
रोगी को बांई करवट लिटा दिया जाता है। भगवान् चरक ने वर्णन किया है कि वामपार्श्व में सोकर बस्ति लगाने से बस्ति द्रव्य ग्रहणी तक सुखपूर्वक पहुँच जाता है। इस विषय को चरक चतुरानन चक्रपाणि ने अधिक स्पष्ट किया है—

"वामाश्रये यस्माद् ग्रहणीगुदे, तेन वामपार्श्वसुप्तस्य ग्रहणीगुदे प्रकृतिस्थे भवतः, प्रकृतिस्थे च गुदे गुदस्य वस्तिनां सम्यगुपश्लेपाद् व्याप्तिर्भवति, तथा वलयश्चलीना भवन्ति, तेन सुखं वस्तिर्याति, ग्रहणीगुदयो प्रकृतिस्थतया च वस्तिर्व्याप्य सुखं ग्रहणीं भावयतीति बोद्धव्यम्।" अस्तु

★ वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक गोपेश भिष० ★

रोगी को सिर के नीचे तकिया नहीं लगाना चाहिये, वह अपनी भुजा लगा सकता है। वांया पैर सीधा रख कर, दाहिना पैर पेट और जानु पर मोड़ लेना चाहिये। गुद पर तैल या घृत चुपड़ देना चाहिये। यन्त्र को ३-४ फुट की ऊँचाई पर दीवाल में कील गाढ़कर टांग देवें। वस्ति नेत्र पर भी स्नेह चुपड़कर धीरे-धीरे दो-ढाई अंगुल गुद में प्रवेश कर देवें। यदि वस्ति द्रव अन्दर जाता मालूम न हो तो नली को धीरे-धीरे फिराने से अवश्य जाने लगता है। यह ध्यान रहे कि पात्र का सारा द्रव ही एकदम अन्दर न जाने पावे। सारा द्रव चला जाने से वायु भी अन्दर प्रविष्ट हो जाती है जिससे पेट में शूल उत्पन्न होने लगता है। इसके पश्चात् गुद प्रवेशिका को धीरे-धीरे निकाल कर थोड़ी देर तक रोगी को चित्त लिटाये रखना चाहिये। यदि वह द्रव को ५-१० मिनट रोक सके तो उपयुक्त है। कुछ देर फिर टहलना भी चाहिये। इसके पश्चात् मल त्याग के लिये रोगी को बैठा देना चाहिये। मल स्वाभाविक रीति से निकले, बल प्रयोग नहीं करना चाहिये। दी गई वस्ति लगभग ४५ मिनट में बाहर आ जानी चाहिये। इतने समय तक नहीं आने से शूल, आध्मानादि होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में पक्वाशय या पेडू पर सेक करना चाहिये। जितना द्रव अन्दर प्रविष्ट किया जाता है वह सारा बाहर निकल आता है किन्तु रूक्ष प्रकृति मनुष्य का मज्जाशय कुछ द्रव को शोख लेता है।

एक दिन में एक या दो बार वस्ति दी जा सकती है। इस प्रकार मल दोषों का विलोडन कर शरीर में स्नेहन कर पुरीषयुक्त दोषों को सम्यक् प्रयुक्त वस्ति बाहर निकाल देती है।

आस्थापन वस्ति से प्रायः निम्नांकित वातरोगों का शमन होता है—

आध्मान, उदरशूल, पार्श्वशूल, स्पर्शासह, अंगशोष, कंपवात, जाड्यता, अन्त्रकूजन, अर्द्धाङ्ग वात, अर्दित, हनुस्तम्भ, आमवात, अपस्मार आदि प्रायः सभी वातविकार।

आस्थापन की मात्रा—१८ वर्ष से ७५ वर्ष तक की अवस्था वाले व्यक्ति को ९६ तोला प्रमाण में वस्ति देनी चाहिये। वात रोगों में प्रयुक्त आस्थापन वस्ति के द्रव्यों की मात्रा इस प्रकार होनी चाहिये। अन्य दोषों की विकृति में प्रयुक्त मात्राओं का उल्लेख इस प्रकार है—

	दोष	क्वाथ	स्नेह	मधु	सैन्धव	कल्क	दूध-गोमूत्र आदि	कुल
१.	वात	४० तोला	२४ तोला	११ तोला	१ तोला	८ तोला	१२ तोला	९६ तोला
२.	पित्त	४० तोला	१६ तोला	१५ तोला	१ तोला	८ तोला	१६ तोला	९६ तोला
३.	कफ	४० तोला	१२ तोला	२३ तोला	१ तोला	८ तोला	१२ तोला	९६ तोला

आचार्य शार्ङ्गधर ने उत्तम मात्रा ८० तोला, मध्यम मात्रा ६४ तोला तथा हीन मात्रा ४८ तोला मानी है। आस्थापन वस्ति में कुछ त्रुटि रह जाने से कई व्यापत्तियां उत्पन्न हो सकती हैं उनका उपचार भी अनिवार्य हो जाता है—

योग	प्रमुख व्यापत्तियां	हेतु	प्रतिकार (चिकित्सा)
अयोग	१. विबन्ध (आध्मान, गुद शोथ, कण्डू, अग्निमांद्य आदि उपद्रवयुक्त लक्षण)	१. पूर्वकर्म (स्नेहन-स्वेदन) का अभाव २. वस्तिमिश्रण की शीतता ३. वस्तिमिश्रण की घनता	१. फलवर्ति २. स्वेदन ३. रेचन ४. विल्वमूल, निशोथ, देवदारु, यव, झड़वेर, कुल्थी के क्वाथ में मद्य और गोमूत्र डालकर पुनः वस्ति देवें। ५. पीपल, सोंठ, वच, धनियां, बड़ी हरड़ का क्वाथ। या नागरमोथा, कपूर, सोंठ और धनियां का क्वाथ पिलावें।

योग	प्रमुख व्यापत्तियां	हेतु	प्रतिकार (चिकित्सा)
अयोग	२. गौरव (अरति, हृच्छूल, सर्वांगदाह, अंगों का सूखना- ये लक्षण होते हैं)	१. आमदोष स्थिति में निरूहदान से प्रकुपित वात अग्निमांद्य कर गौरव उत्पन्न करता है।	१. स्वेदन २. पाचन शक्ति को बढ़ाने वाली रूक्ष वीर्य औषधियों का प्रयोग— छोटी पीपल, रोहिष तृण, खस, दारुहल्दी, मूर्वा के क्वाथ में कालानमक मिलाकर पिलावें। या वच, सोंठ, कचूर का सूक्ष्म चूर्ण दही के साथ, मधु के साथ या कुमार्यासव के साथ दें। या देवदारु, सोंठ, पीपल, हरड़, चित्रक, कचूर, कूठ का चूर्ण गोमूत्र के साथ दें। ३. दशमूल क्वाथ या गोमूत्र की वस्ति देवें। जब तक आम पाचन न हो जांय रेचन औषधि न दें
,,	३. आध्मान (हृच्छूल, गुददाह, उदरशूल, वंक्षणशूल आदि लक्षण)	१. दोषापेक्षया स्वल्प-शक्ति औषधि प्रयोग २. रूक्षकोष्ठ	१. सर्वांग स्नेहन २. स्वेदन ३. बिल्वमूल, काश्मरी मूल, एरण्ड मूल, पाढल मूल, श्योनाक मूल के क्वाथ में राई, गोमूत्र पीलूफल मिलाकर वस्ति देवें।
,,	४. शिरोरुक् (ग्रीवा-स्तम्भ, प्रतिश्याय, बधिरता, दृष्टिमोक्ष आदि लक्षण)	१. दोषापेक्षया मृदु औषधि प्रयोग २. अनुष्ण वस्ति प्रयोग ३. अल्प प्रमाण वस्ति प्रयोग	१. उष्णवीर्य द्रव्य सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग २. तीक्ष्ण धूम्रपान ३. तीक्ष्ण नस्य ४. लालास्रावी औषधियों का प्रयोग ५. उपयुक्त रेचन प्रयोग ६. वस्ति
,,	५. प्रवाहण किंवा प्रवाहिका (मूत्राशय, गुद शोथ)	१. स्नेहन-स्वेदन का अभाव	१. लंघन २. स्नेहन (अभ्यंग) ३. स्वेदन ४. शोधन, अनुलोमन निरूह वस्ति
,,	६. ऊर्ध्वग (वात की उर्ध्वगति) इससे तृषा, उत्क्लेश, मूर्च्छा आदि लक्षण होते हैं। उपद्रवस्वरूप वस्ति द्रव्य मुख से आने लगते हैं।	१. मल-मूत्र-वात वेगरोध २. वस्तिद्रव्य शीघ्र प्रविष्ट ३. स्नेहन्यूनता ४. लवण-न्यूनता	१. मुख पर शीतजल के जोर जोर से छींटे मारें। २. खस के पंखे से वायु करें। ३. प्राणायाम करने को प्रेरित करें। ४. सारे शरीर का मर्दन करें। ५. भय पैदा करें। ६. कूठ, सुपारी का कल्क, इमली, तक्र आदि पदार्थों के साथ देवें। ७. निशोथ, जंगी हरड़ को गोमूत्र के साथ पीसकर गोमूत्र में ही छानकर पिलावें। ८. यव, कोल, कुलथी तथा दशमूल क्वाथ कीवस्ति दें। ९. गिलोय, बांस के पत्ते, करंज की छाल और पत्ते, कचूर, देवदारु, रोहिषतृण को गोमूत्र में पकाकर वस्ति देवें। १०. बृहत्पञ्चमूल क्वाथ में निशोथ, हरड़ का कल्क, तैल, गुड, सैन्धव मिलाकर वस्ति देवें। ११. रेचक नस्य प्रयोग १२. धूम्रपान १३. सिर पर सरसों या राई का लेप करें।

योग	प्रमुख व्यापत्तियां	हेतु	प्रतिकार (चिकित्सा)
अतियोग	१. उदरशूल (मलाशयदाह, विरेचन-अतियोग के लक्षण हैं)	१. स्वल्पदोष या मृदुकोष्ठयुक्त व्यक्ति को उष्ण तीक्ष्ण अम्ल रस-युक्त बस्ति का प्रयोग	१. रेचक अतियोग सम उपचार २. पिठवन, गंभारी, कमल, सरिवन, मुलैठी, नीलोफर, मुनक्का, महुआ को तण्डुलोदक, गोदुग्ध में पीस-कर मुलैठी के हिम में मिलाकर तक्र, घृतयुक्त वस्ति प्रयोग
,,	२. अंगरुक् (अतिसार, शूल, स्तम्भ, जृम्भा)	१. स्नेहन-स्वेदन का अभाव २. वस्ति की अधिक मात्रा ३. तीक्ष्ण गुणों की विशेषता	१. तिल तैल + सैन्धव अभ्यङ्ग २. स्वेदन ३. वातघ्न औषधियों से सिद्ध तैल की अनुवासन बस्ति दवें।
,,	३. हिक्का	रोगी दुर्बल एवं मृदुकोष्ठ होने पर तीक्ष्ण औष-धियों की वस्ति देने से	१. हिक्कारोगाधिकार चिकित्सा २. शक्तिवर्धक औषधि प्रयोग ३. वातघ्न औषध सिद्ध अनुवासन ४. वातघ्न धूम्रपान ५. वातघ्न आहार ६. वातघ्न औषधि सिद्ध दुग्धपान
,,	४. हृत्पीड़ा	१. तीक्ष्ण औष-धियों की अधि-कता २. बस्ति द्वारा वायु प्रवेश ३. वस्तिपुट का योग्य रीति से न दबाना	१. झड़वेरी, करीर के फल, तक्र आदि अम्ल पदार्थों से निर्मित वस्ति २. वातघ्न औषधि सिद्ध स्नेह की अनुवासन बस्ति
,,	५. परिकर्तिका	दोष संचय अल्प एवं मृदु कोष्ठ रोगी को रूक्ष-तीक्ष्ण वस्ति अधिक प्रमाण में देने से	१. मधुर शीतवीर्य औषधि सिद्ध दुग्धवस्ति २. दूध, भात का पथ्य ३. श्वेत राल, मुलैठी और काला सुरमा के कल्क को दूध में मिलाकर पिच्छिल वस्ति देवें।
,,	६. परिस्राव (गुददाह, गुदविकार, रक्तस्राव)	पित्त प्रकृति व्यक्ति को क्षार, अम्ल, लवण एवं तीक्ष्ण गुणों की वस्ति देने से	१. रक्तातिसार, पित्तातिसार की चिकित्सा २. शालमली के कोमल पत्र को बकरी के दूध में पकाकर घृत मिलाकर वस्ति देवें। ३. वट, गूलर के ताजे डण्ठलों को पीस दुग्ध मिला-कर वस्ति देवें। ४. शीत मधुर पदार्थों का गुद प्रदेश पर लेप।

इन व्यापत्तियों से वचने के लिये विधिपूर्वक वस्ति देना आवश्यक है तथा वस्ति देने से पूर्व दोष औषध आदि का भलीभांति विचार कर लेवें—

समीक्ष्यदोषौषधीदेशकाल-
सात्म्याग्निसत्त्वादिवयोवलानि ।
वस्तिं प्रयुक्तो नियतं गुणाय
स्यात् सर्वकर्माणि च सिद्धिमन्ति ॥
—चरक सि० ३/६

सम्यक् आस्थाप्य में निम्नाङ्कित लक्षण होते हैं—

स्वयमेव मलप्रवृत्ति, मूत्रप्रवृत्ति, वातप्रवृत्ति क्रमानुसार मल पित्त, कफ, वायु का विसर्जन, शरीर लाघव, भोजन में रुचि, अग्निदीप्ति, आशयों में हलकापन, रोग शान्ति, स्वास्थ्य लाभ तथा वल वृद्धि। सामान्यतया सम्यग्विरक्त के समान ही सम्यक् आस्थाप्य के लक्षण होते हैं। ये लक्षण हो जाने पर रोगी को आराम करावें, फिर हल्के गर्म जल से स्नान करावें, फिर क्रमानुसार दोषानुसार आहार दें। आहार पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है—

ज्ञानवान् सुमिताहारो वैद्यशुश्रूपुरेवच ।
यस्तु वस्तिमुपासीत स जीवेच्छरदां शतम् ॥
—भेल संहिता सि० ५।३४

वस्तिकर्म करते समय स्निग्ध, रूक्ष, तीक्ष्ण-मृदु, शीत, उष्ण आदि वस्ति के विभिन्न प्रकारों में से उपयुक्त वस्ति का चिकित्सक को ध्यान रखना चाहिए। गोमूत्र, विल्व, चित्रक, यवक्षार, सैंधव और सिरस की छाल का कल्क मिलाने से वस्ति तीक्ष्ण हो जाती है तथा दूध और घृत के मिश्रण से वह मृदु हो जाती है। कफसंसर्ग की स्थिति में तीक्ष्ण वस्ति का प्रयोग हितावह है। कृश, दुर्वल एवं मूर्च्छा ग्रस्त रोगी को वृहण वस्ति तथा स्थूलकाय रोगी को शोधन वस्ति देनी चाहिए।

अव कुछ उपयुक्त वस्तियों का वर्णन अपेक्षित है—

१—दशमूल का क्वाथ सिद्ध कर उसमें तक्र, मांसरस, अजवाइन, मैनफल, विल्वगिरि, कूठ, वच, सौंफ, नागरमोथा, छोटी पीपल का कल्क एवं यथा योग्य स्नेह मिला कर एकल एक वार वस्ति देवें। यह वस्ति वात के सर्व विकारों पर श्रेष्ठ लाभदायक है।

२—कटु तोरई, कटु पटोल, कटु तुम्बी, देवदाली, मैनफल, श्वेत निशोथ और काली निशोथ, दन्तीमूल, श्रीवल्ली (शीकाकाई) नील, कमीला और लोध्र जिनमें प्रधान हों ऐसी वस्ति आध्मान, उदावर्त, विवन्ध आदि में देवें।

३—मुनक्का, मुलैठी आदि मधुर द्रव्यों के द्वारा सिद्ध क्वाथ में मांसरस, घृत मिलाकर वस्ति देने से वृंहण कार्य होता है।

४—गौ दुग्ध १६ तोला, मधु, तैल और घृत ८-८ तोले कुल ४० तोले की वस्ति वातघ्न तथा शक्तिवर्धक है।

५—गुडूची-१ पल (४८ ग्राम) त्रिफला ३ पल, रास्ना १ पल, दशमूल १० पल, वला १ पल, पलल १६ पल। इन द्रव्यों को १३६ पल जल में क्वाथ कर ३२ पल जल शेष रहे तो छान कर उसमें से ८ पल क्वाथ एक वार में प्रयुक्त करे। उक्त क्वाथ में प्रियंगु, सैन्धव, रसौत, सोया, वचा, पिप्पली, अजवाइन, कुष्ठ, विल्वगिरि गुड़ १-१ तोला, मदनफल आधा पल (२४ ग्राम) पीसकर कल्क वनाकर मिलावें। फिर मधु ३ पल, घृत या तैल ३ पल, दुग्ध २ पल, सिरका आधा पल, कांजी, आधा पल, दही का तोड़ आधा पल, मूत्र आधा पल डालकर वस्ति देनी चाहिए। इसे महर्षि सुश्रुत ने सर्ववातरोगघ्नं कहा है।

६—माधुतैलिक वस्ति—मधु १६ तोले, तिल तैल १६ तोले एकत्र कर एरण्ड का सिद्ध क्वाथ ३२ तोले में मिलाकर उसमें सौंफ २ तोले, सैंधानमक १ तोला का कल्क मिलाकर वस्ति दी जाती है। यह सार्वकालिक वस्ति है। इससे दीपन—पाचन एवं वृंहण होता है।

७—अर्धमात्रिक वस्ति—यह वस्ति माधुतैलिक वस्ति का ही रूपान्तर मात्र है।

दशमूल का क्वाथ १ तोला, सौंफ का चूर्ण १ तोला, सैंधानमक, मधु, तैल २-२ पल, तथा १ पल मैनफल का चूर्ण मिलाकर वस्ति देवें। इसमें स्नेह, स्वेद एवं आहार का परहेज नहीं। इस वस्ति को चक्रपाणि ने आशयानुमत एवं सर्व रोग निवारक कहा है। इससे क्रिमि, शूल, वात शोणित आदि रोग नष्ट होते हैं।

८—वैतरण वस्ति—इमली ४ तोले, सैंधानमक १

तोले, गौ मूत्र ३२ तोले तथा कुछ तिल तैल मिलाकर वस्ति देने से शूल, आध्मान तथा आमवात आदि रोग नष्ट होते हैं।

६—क्षार वस्ति—गोमूत्र ३२ तोला सुपक्व इमली का गूदा ८ तोले, पुराना गुड़ ८ तोले, सैंधानमक १ तोले और सोंये के वीजों का चूर्ण १ तोला—इनका मिश्रणकर वस्त्र से छानकर यथाविधि सुखोष्ण वस्ति देने से आध्मान, शूल, विवन्ध, उदावर्त, मूत्रकृच्छ्र आदि रोग नष्ट होते हैं। वैतरण एवं क्षार वस्ति का प्रयोग भोजन के पश्चात् करना चाहिए।

१० माधुतैलिक वस्ति के ३ भेद किये गये हैं—यापन, सिद्ध एवं युक्तरथ। इनमें भगवान् चरक ने यापन वस्ति को वड़ा महत्व दिया है। आयुर्वेद गौरव रत्न पंचकर्म विशेषज्ञ वैद्य श्री हरिदास श्रीधर कस्तुरे ने भी वस्ति चिकित्सा में यापन वस्ति की विशिष्टता प्रकट की है। यह वस्ति मैथुन जात व्याधियों को नष्ट करने हेतु कही गई है किन्तु मुस्तादिराज यापन वस्ति (चरक. सि. १२। १६) को श्री कस्तूरे ने अपस्मार, गृध्रसी, कुक्षिशूल के आतुरों में प्रभूत प्रयोग किया और अनुभव किया कि अपस्मार तथा शिरोभिघात के आतुरों में और कटिगत वात के रोगों में आश्चर्यकारक रीति से लाभप्रद हैं।—

(सचित्र आयुर्वेद जून १९७२)

११—वस्ति संख्या (Course) भेद से कर्म, काल, योग तीन प्रकार की होती हैं।

१. कर्म वस्ति—१ स्नेह वस्ति + १२ अनुवासन वस्ति + १२ आस्थापन + ५ स्नेह, वस्ति = ३० वस्ति (१८ अनुवासन और १२ आस्थापन)
२. काल वस्ति—१ स्नेह वस्ति + ६ स्नेह वस्ति (लगातार + ५ आस्थापन + ३ स्नेह वस्ति = १५ वस्ति
३. योग वस्ति—१ स्नेह वस्ति + ३ स्नेह वस्ति + ३ आस्थापन + १ स्नेह वस्ति = ८ वस्तियां

अनुवासन वस्ति—

अनुवासन वस्ति आस्थापन वस्ति के वाद दी जाती है। विरेचन कर्म के सात दिन पश्चात् जव रोगी में वल आजाय तब उसे स्नेहाभ्यक्त कर उष्ण जल से शनैःशनैः स्वेदन कर उचित आहार देना चाहिए। आवश्यक आहार का चतुर्थांश ही देना चाहिए। भोजन कराये विना स्नेह वस्ति कदापि न दें। इससे स्नेह के सूक्ष्म होने के कारण रिक्त कोष्ठ में स्नेह शीघ्र ऊपर पहुँच जाता है। आहार के पश्चात् रोगी को कुछ टहलने देना चाहिये।

यहां पर यह स्मरण रखें कि वस्ति रात्रि में कभी न दें। रात्रि में शीत की प्रधानता के कारण दोष अपने स्थान से चलायमान हो जाते हैं जिससे आध्मान, जाड्यता, ज्वरादि विकार उत्पन्न हो सकते हैं। अतः अनुवासन वस्ति दिन में भोजन के ३-४ घन्टे वाद देनी चाहिए। जिससे भोजन का कुछ पाक भी होजाय और रोगी वात-मल-मूत्र का उत्सर्जन भी कर सके। वह आहार जो अनुवासन योग्य रोगी को दिया जाय उष्ण, लघु और पतला हो। वह अतिस्निग्ध भी न हो। अतिस्निग्ध आहार से आहारगत स्निग्धता तथा वस्ति प्रदत्त स्निग्धता के कारण स्नेह का अतियोग हो जाता है जिससे अग्निमांद्य, उत्क्लेश, छर्दि आदि उपद्रव हो जाते हैं। अनुवासन वस्ति की योजना इस प्रकार करें—

रोगी को वांई करवट सुला दें। उसकी वांई जंघा फैला दें उसके ऊपर दूसरी जंघा संकुचित कर दें। गुदा पर स्नेह चुपड़ दें। वांये हाथ में परिचारक वस्ति यंत्र को लेकर दाहिने हाथ से वस्तियंत्र के नेत्र को गुदा में मन्द भाव से (न बहुत शीघ्रता से और न बहुत देर से) एक वार में ही प्रविष्ट कर दें। जम्भाई, खांसी, छींक न आने दें। (चित्र पृष्ठ १२६ पर देखें)

इसके पश्चात् रोगी को सीधा लिटाकर नितम्ब प्रदेश को चार-पांच वार थपथपावें। रोगी अपनी एड़ियों को नितम्ब पर वार वार पटके। रोगी की शय्या को पैताने की ओर से उठावें। इसके पश्चात् उसे यथेच्छ सोने दें।

यह अन्दर पहुँचाया गया स्नेह लगभग १ से लेकर ४ घंटे के वाद वाहर निकल आया करता है। यदि किसी कारणवश वह विना मल के साथ ही शीघ्र निकल आवे तो वस्ति दुवारा देनी चाहिए क्योंकि अन्दर पर्याप्त समय तक नहीं रुकने से स्नेह वस्ति का कार्य पूरा नहीं हो पाता है।

यदि २४ घन्टों के व्यतीत हो जाने पर भी स्नेह बाहर न निकले तो संशोधन बस्ति का प्रयोग करें। निशोथ, दन्तीमूल आदि द्रव्यों से निर्मित वत्तियां गुद द्वार में रखें।

यदि १ से ६ घण्टों तक स्नेह अन्दर रहकर स्वाभाविक रीति से मल एवं अपान वायु के साथ निरूपद्रव (दाह-वेदना-तृषा रहित) लौट कर बाहर आजावे तो जानना चाहिए कि अनुवासन का प्रयोग यथास्थित उत्तम हुआ है। अनुवासन के अयोग में उदर शूल, अर्धांगशूल, वातमूत्रमलसंग एवं रूक्षता आदि लक्षण होते हैं। तथा अतियोग में हृल्लास, मोह, क्लम, साद, मूर्च्छा, विकर्तिका आदि लक्षण होते हैं।

सम्यगनुवासित के लक्षण प्रकट होने पर अग्नि के प्रदीप्त होने पर रोगी को लघु आहार दें। लघु आहार में दूध, मण्ड आदि न दें अन्यथा कफ वृद्ध होने का भय रहेगा। दूसरे दिन प्रातःकाल धनियां और सोंठ का पटक विधि से साधित कषाय अर्ध मात्रा में दें। अथवा अन्य उष्णवीर्य औषधि डालकर पकाया हुआ पानी देवें। यदि व्यक्ति पित्त प्रधान हो तो सुखोष्ण जल ही देवें।

अनुवासन में स्नेह की मात्रा उत्तम, मध्यम और निकृष्ट भेद से ३ प्रकार की है। उत्तम मात्रा ६ पल या २४ तोले की है। जिससे इसका क्रम इस प्रकार होना चाहिए—पहले दिन दो पल, दूसरे दिन दो पल, तीसरे दिन २।। पल, चौथे दिन २।। पल, पांचवे दिन ३ पल इस तरह २-२ दिनों बाद आधा पल बढ़ाते हुए १७ वें दिन ६ पल तक दी जाती है। मध्यम मात्रा में ३ पल स्नेह तथा निकृष्ट मात्रा में १।। पल इसी क्रम से दिया जाता है। अनुवासन बस्ति की मात्रा प्रायः निरुह बस्ति की चौथाई प्रमाण में होती है।

एक बार अनुवासन कराने के बाद तीसरे या पांचवें दिन पुनः अनुवासन करना चाहिए—

त्र्यहे त्र्यहे वाऽप्यथ पञ्चमे वा
दद्यान्निरूहादनुवासनञ्च।

वातवृद्धि की अवस्था में प्रतिदिन भी अनुवासन किया जा सकता है। यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि स्नेहन बस्ति तथा आस्थापन बस्ति में से किसी एक का लगातार सेवन करना उचित नहीं है—

स्नेहवस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत्।
स्नेहात् पित्त कफोत्क्लेशो निरूहात्पवनाद्भयम्॥

वात रोगों में उपयुक्त कतिपय अनुवासन बस्ति के प्रयोग यहां दिये जाते हैं—

१—दशमूल, खिरैंटी, त्रिफला, रास्ना, असगंध, पुनर्नवा, गिलोय, एरण्डमूल, निर्गुण्डी, भारंगी, वासा, रोहिष तृण, शतावरी पियाबांसामूल ४-४ तोला, उर्द, यव, अलसी और कुलथी ८-८ तोला लेकर सबको जौकुट कर ३ मन ८ सेर जल में पकावें, १६ सेर जल शेष रहने पर उसमें जीवनीय गण की औषधियों का कल्क और ४ सेर तिल तैल मिलाकर मन्दाग्नि पर पकावें। तैल मात्र शेष रहने पर अनुवासनार्थ उपयोग में लावें। यह सब प्रकार के वात विकारों पर श्रेष्ठ लाभकारी अनुवासन बस्ति है।

२—चित्रकादि तैल—चित्रक, अतीस, पाढलमूल, दन्तीमूल, बिल्वमूल, वच, गूगल, देवदारु, सरिवामूल, रास्नामूल, नील, अमलतास, स्वर्णक्षीरीमूल, अजवाइन, असगंध, शतावरी, पुनर्नवा, रेणुका बीज, मंजाठ, कचूर, पुष्करमूल, खुरासानी अजवाइन प्रत्येक १-१ तोले लेकर जौकुट कर ६ सेर जल में पकावें। १।। सेर शेष रहने पर छानकर उसमें ३० तोले तिल तथा उतना ही गौदुग्ध मिलाकर तैल सिद्ध कर लेवें। यह अनुवासन सर्व वात रोग नाशक है। विशेषतः गृध्रसी, पंगुवात, कुब्जवात, वातरक्त और उदावर्त पर यह परम लाभदायक है।

३—गुडूच्यादि तैल—गुडूची, एरण्डमूल, पूतिकरंज, भारंगी, वासा, रोहिष तृण, शतावरी, पियावांसा, काकनासा १-१ पल, यव, उड़द, अलसी, बेर, कुलथी २-२ पल सबको कूटकर ४ द्रोण (१६६ कि. ६०८ ग्राम) जल में पाक करे। १ द्रोण शेष रहने पर छानकर उसमें एक आढक (३ कि. ७२ ग्राम) तैल मिलाकर जीवन्ती, मूर्यपर्णी, काकोली, क्षीर काकोली, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा तथा यष्टीमधु इन जीवनीय द्रव्यों के १-१ पल कल्क को डालकर स्नेहपाक विधि से तैल सिद्ध करें।

इस कल्प को आचार्य शार्ङ्गधर ने पूर्वोक्त (न० १)

कल्प में परिवर्तन कर लिखा है। यह भी सब सब प्रकार के वात रोगों को नष्ट करने में उपयुक्त है।

४—केवल सैन्धव नमक के ढेलों को आग पर खूब तपाकर घृत में बुझावे और इस घृत की अनुवासन वस्ति देने से भी वात रोग नष्ट होते हैं।

५—शठी, पुष्करमूल, पिप्पली, मदनफल, देवदारु, शतपुष्पा, कुष्ठ, यष्टी, वचा, विल्व, चित्रक पीसकर कल्क बनावें। इसका चार गुना तैल दो गुना दूध तथा चार गुना जल डालकर पकालें। यह मूढवात का अनुलोमन कर कटि-ऊरु, पृष्ठ, कोष्ठगत वातरोगों को नष्ट करता है।

६—वच, पुष्करमूल, कुष्ठ, एला, मदनफल, देवदारु, सैन्धव लवण, काकोली, क्षीर काकोली, मेदा, महामेदा, पाठा, जीवक, जीवन्ती, भारङ्गी, कट्फल, चन्दन, सरल, अगरु, विल्व, सुगन्धवाला, अश्वगन्धा, चित्रक, वृद्धि, विडंग, आरग्वध, काली निशोथ, पिप्पली, ऋद्धि के कल्क में चार गुना तैल, तैल से चार गुना दुग्ध तथा उतना ही पंचमूल क्वाथ डालकर पाक करे। यह आनाह, गुल्म, अर्श, मूत्ररोग तथा वातरोगों को नष्ट करता है।

७—मात्रा वस्ति एवं पिच्छावस्ति अनुवासन वस्ति के महत्वपूर्ण भेद हैं। पिच्छा वस्ति अतिसार में उपयोगी है। मात्रा वस्ति स्नेहन एवं वल्य हैं। वात प्रकोप से गुदस्थित मल का शोषण होकर कड़ा हो जाता है, ऐसी स्थिति में मात्रा वस्ति अत्यन्त उपयोगी है। यह बालक, वृद्ध, स्त्री, सुकुमार प्रकृति के व्यक्तियों के लिये भी उपयोगी है। इसमें कोई व्यापत्ति होने की संभावना नहीं रहती है तथा न कोई विशेष पथ्यापथ्य का झंझट है।

स्नेहपान की कनिष्ठ मात्रा (दो याम में पचने वाली) ही जिस वस्ति की मात्रा (प्रमाण) है उसे मात्रा वस्ति कहते हैं। प्रकृति मान के अनुसार लगभग ८ से १० तोले तक तैल, घृत, वसा, मज्जा में से कोई एक स्नेह लेकर उसमें ४ तोले से ८ तोले तक सुखोष्ण जल मिलाकर यह वस्ति दी जाती है।

इससे शौच की शुद्धि होकर दोष नष्ट होते हैं। बल और कांति की वृद्धि होती है। वातरोग ग्रस्त रोगी को इस वस्ति से अत्यधिक लाभ मिलता है। सहचर तैल, बला-तैल, माष तैल, सैन्धव सिद्ध तैलादि वातघ्न तैलों का इस वस्ति द्वारा प्रयोग कर वातजन्य व्याधियों पर सफलता प्राप्त की जा सकती है। इस निमित्त एरण्ड स्नेह भी औषधि सिद्ध कर काम में लिया जा सकता है।

यह वस्ति आमावस्था या अजीर्ण की स्थिति में न दें। स्नेह पक्व तथा सुखोष्ण हो तथा रोगी को दिन में सोने न दें।

गृध्रसी में वातहर स्नेह

महारास्नादि क्वाथ में एरण्ड तैल (castor oil) को तैलपाक विधि से सिद्ध कर लें तो यह तैयार हो जाता है।

यह उष्ण, स्निग्ध एवं रेचक है। इससे एरण्ड तैल का रेचक गुण कुछ हीन हो जाता है इस कारण से 'वातहर स्नेह' का प्रयोग अधिक दिनों तक करने पर भी दस्त या मरोड़ का भय नहीं रहता।

विधि—एक छोटे चम्मच से एक बड़े चम्मच तक की मात्रा में प्रातः और रात्रि को इसे इच्छानुसार दूध में मिलाकर कर दें, या वैसे ही सेवन करायें। यह वाताशय को साफ रखता, ऊष्मा तथा स्निग्धता द्वारा वायु के प्रकोप को शमन करता है तथा यही वातरोगों की मुख्य चिकित्सा है।

स्व० पं० शिव शर्मा आयुर्वेदाचार्य

(धन्वन्तरि के 'वात रोगांक' से उद्धृत)

वैद्य बनवारीलाल गौड़ भिष०, आयु० वृह०

अनुज श्री बनवारी लाल गौड़ उदीयमान प्रतिभाशाली नवयुवक हैं। आपने इस विशेषांक में सर्वाधिक सहयोग दिया है। लेखन हेतु एक विषय दिया गया था—"संसृष्ट एवं आवृत वात के कारण, लक्षण एवं चिकित्सा"। इस विषय पर आपने तीन उत्कृष्ट लेख प्रेषित किये जो धन्वन्तरि के पाठकों के लिए एक विशेष सौगात हैं। आपके लेखों में एक नवीनता मिलती है। अन्वेषणपरक तथ्यों के प्रस्तुतीकरण में आपकी विशेष अभिरुचि है। आयुर्वेद जगत की प्रायः सभी पत्रिकाओं में आपके मौलिक लेख प्रकाशित होते रहते हैं। उच्च कोटि के लेखक के अतिरिक्त आप एक सफल चिकित्सक तथा सफल शिक्षक भी हैं—

रोगापहर्ता बहुग्रन्थकर्ता शिक्षा प्रदानाय च यो नियुक्तः।
सुधिः सुशीला गुणग्राहकश्च वैद्योऽयमच्छः बनवारि गौडः॥

"वातव्याधि में संसर्ग" एक प्रश्न है जिसका समुचित समाधान विद्वान वैद्य ने प्रकट किया है। जिसे पढ़ कर पाठक लेखक की अन्वेषण बुद्धि से प्रभावित होगा। श्री गौड़ से आयुर्वेद जगत को बहुत कुछ आशायें हैं। भगवान धन्वन्तरि इन्हें इस निमित्त सतत प्रेरित कर हमें लाभान्वित करते रहेंगे—यही आशा है।

—विशेष सम्पादक

चरक संहिता काय चिकित्सा प्रधान-ग्रंथ है। इसमें चिकित्सा सम्बन्धी सिद्धान्त योग और उपक्रमों तथा अन्य सहायक विशेषताओं का विस्तार से वर्णन है। इस वर्णन को व्यवस्थित रूप से विभक्त करके आठ स्थानों तथा १२० अध्यायों विस्तार से कहा गया है। अतः चिकित्सा सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान इसमें उल्लिखित है। अनेक ऐसे रोग या उपक्रम जो कि वर्तमान में विश्लेषित और विवर्धित हैं, वे भी सूत्र रूप में इसमें निर्दिष्ट हैं। लेकिन इस ग्रन्थ को पूर्णरूप से समझने में अनेक क्लिष्टताओं में एक क्लिष्टता अथवा दुविधा यह भी है कि इस ग्रन्थ के वर्तमान स्वरूप के कर्ता एक न होकर तीन हैं (अग्निवेश, चरक और दृढ़बल)। यद्यपि इन तीनों के कर्तृत्व से ग्रंथ की उपयोगिता बढ़ी ही है, तथापि कहीं-कहीं कुछ भ्रान्तियां रह गयी हैं जिनके कारण तो अनेक हो सकते हैं, पर यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि इसमें भ्रान्तियां हैं। वातव्याधि में पित्त और कफ का संसर्ग मानने या न मानने में भी भ्रान्ति है। यहां शास्त्र के विभिन्न उद्धरणों का ऊहापोहात्मक मनन करते हुए ये विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं कि वातव्याधि में पित्त-कफ का संसर्ग माना जाय या नहीं? यदि माना जाय तो उसका स्वरूप क्या है?

वात व्याधि का वर्णन—

चरक संहिता में चिकित्सा स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें प्रारम्भ में रसायन वाजीकरण के अध्यायों का (चिकित्सा पूरक) वर्णन करने के बाद अवशिष्ट अध्यायों (विष-चिकित्सा को छोड़कर) प्रायः प्रमुख

स्थूल रोगों का वर्णन किया है, यहां स्थूल का तात्पर्य उन रोगों से है जो ज्ञात हैं, प्रसिद्ध हैं, अधिक प्रचलित हैं तथा किसी न किसी संज्ञा से लोक में व्यवहृत हैं। सूत्र स्थान में कहा है—

व्यवस्थाकरणं तेषां यथास्थूलेषु संग्रहः।—च.सू.१८/४२

······व्यवस्थाकरणं चिकित्सा-व्यवहारार्थं संख्या-कथनम्। यथास्थूलेष्विति ये ये स्थूला उदरमूत्रकृच्छ्रादयस्तेषु संग्रहः अष्टोदरीय संगृहे इत्यर्थः। (चक्रपाणि)

इस प्रकार से उदर मूत्रकृच्छ्रादि अष्टोदरीय में निर्दिष्ट रोगों की चिकित्सा स्थान में चिकित्सा निर्दिष्ट की है। अष्टोदरीय में वातव्याधि की गणना नहीं की गई, अपितु आगे च० सू० २०/१० में रोगों का द्विविधत्व कहा है—सामान्यज और नानात्मज। वात, पित्त एवं कफ के परस्पर सहयोग से एक दोषज, द्विदोषज एवं त्रिदोषज व्याधियों की उत्पत्ति होती है तो इसे सामान्यज व्याधि कहा जाता है[1], लेकिन जब वात, पित्त या कफ स्वतन्त्र रूप से किसी रोग को उत्पन्न करते हैं तो वह रोग नानात्मज कहलाता है।[2] नानात्मज व्याधियों के ही वात, पित्त एवं कफ के पृथक् हेतुत्व से क्रमशः ८०, ४० एवं २० रोग कहे गये हैं। इसी स्थल पर आचार्य ने कहा है कि—तत्र सामान्यजाः पूर्वमष्टोदरीये व्याख्याताः, नानात्मजांस्त्विहाध्यायेऽनुव्याख्यास्यामः (च. सू. २०।१०)

अर्थात् सामान्यज रोगों का उल्लेख अष्टोदरीय में किया जा चुका है यहां नानात्मज रोगों का उल्लेख किया जा रहा है। इसी प्रसङ्ग को चिकित्सा स्थान से सम्पृक्त करके देखते हैं तो पाते हैं कि वहां अष्टोदरीय में कहे गये स्थूल रोगों (सामान्यज) का ही वर्णन है। नानात्मज व्याधियों में वात व्याधि का ही वर्णन है। जिसकी उपयोगिता एवं औचित्य की पुष्टि के लिये चक्रपाणि का मानना है कि तीनों दोषों में वात का प्राधान्य है अतः वातव्याधियों का ही वर्णन किया गया है।

वात व्याधि नानात्मज व्याधि है—

उपर्युक्त वर्णन में यह संकेतित है कि वातव्याधि नानात्मज व्याधि है। यह ऐसी विशुद्ध वात व्याधि है जिसमें अन्य दोष संपृक्त नहीं हैं,यह सूत्रस्थानोक्त चक्रपाणि कृत व्याख्या से सुस्पष्ट है। अतः वातव्याधि के विभिन्न भेदों में पित्त और कफ के संसर्ग को मानना या कल्पना भी करना कहां तक उचित है ? यदि संसर्ग मान लेते हैं तो इसका नानात्मजत्व कैसे रहेगा ?

संसर्ग का उल्लेख—

किसी विषय की मानसिक अवधारणा अथवा लोक व्यवहार में प्रचलन यों ही नहीं हो जाता। उसका कोई न कोई आधार अवश्य होता है। वातव्याधियों में संसर्ग की कल्पना या प्रचलन भी यों ही नहीं है, इसका भी शास्त्रीय आधार है। चरक संहिता के इसी वातव्याधि प्रसङ्ग में पित्तादि का संसर्ग उल्लिखित करते समय मूल लेखक-आचार्य अथवा प्रतिसंस्कर्ता आचार्य (अधिक मान्यता यही है कि इस अध्याय के लेखक दृढ़बल ही थे) की क्या धारणा थी ? यह तो नहीं कहा जा सकता पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस उद्धरण के माध्यम से आचार्य ने वातव्याधि में संसर्ग सम्बन्धी मान्यता का गम्भीर मनन करने की ओर संकेत किया है। संसर्ग सम्बन्धी (वातव्याधि चिकित्साध्यायोक्त) वर्णन निम्न लिखित उपशीर्षकों में वर्णनीय है—

१—रोगों में संसर्ग का उल्लेख

२—चिकित्सा में संसर्ग का उल्लेख

१. रोगों में संसर्ग का उल्लेख—

वातव्याधि चिकित्साध्याय में वर्णित अनेक रोगों में केवल गृध्रसी ऐसा रोग है जिसमें स्पष्टतः वात और कफ का हेतुत्व स्वीकृत किया है। इसके अतिरिक्त कोई सा भी ऐसा रोग नहीं जिसमें अन्य किसी दोष का संसर्ग स्पष्टतः उल्लिखित हो। इसका कारण स्पष्टतः यही है कि ये नानात्मज रोग हैं, इनमें संसर्ग नहीं होता। लेकिन इसकी हम स्पष्टतः उद्घोषणा नहीं कर सकते, क्योंकि केवल वात से उत्पन्न होने वाले अतिवल वातविकारों के वर्णन के तत्काल बाद कही गई एक ही पंक्ति इस धारणा

[1] सामान्यजा इति वातदिभिः प्रत्येकं मिलितैश्च ये जन्यन्ते। —(च० सू० २०।१० पर चक्रपाणि)
[2] नानात्मजा इति ये वातादिभिर्दोषान्तरासंपृक्तैर्जन्यन्ते। —(च० सू० २०।१० पर चक्रपाणि)

का विरोध करती है । इस पंक्ति में कहा गया है कि इन सभी वात विकारों में पित्तादि का संसर्ग जानना चाहिये ।

सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताद्यैरुपलक्षयेत् । (च.चि. २८।५८)

२. चिकित्सा में संसर्ग का उल्लेख—

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि वातव्याधियों में पित्तादि का संसर्ग होता है (भले ही उसका स्वरूप कुछ भी हो) । इसके बाद पित्त और कफ के संसर्ग का उल्लेख या संकेत चिकित्सा के प्रसङ्ग में चार जगह मिलता है—

अ—क्रिया साधारणी सर्वा संसृष्टे चापिशस्यते ।
(च० चि० २८।१८३)

ब—संसृष्टे कफ पित्ताभ्यां पित्तमादौ विनिर्जयेत् ।
(च० चि० २८।१८८)

स—आमाशयगतमत्वा कफं ···.उरःस्रोतोऽनुगोऽनिलः ।
(च. चि. २८/१८९-१९३)

द—यद्यनेन सदोषत्वात् कर्मणा न प्रशाम्यति ।
(च. चि. २८/८३)

इन चारों में प्रथम ३ ही ऐसे हैं जिनमें संसर्ग का उल्लेख है । अवशिष्ट चतुर्थ उद्धरण में उल्लेख न होकर संकेत मात्र है, जिसकी प्रसङ्गानुरूप व्याख्या करने पर स्पष्ट हो जाता है । चक्रपाणि ने २८/८३ की व्याख्या यों की है—"···अत्र केवलो निरुपस्तम्भश्च वायुश्चिकित्स्यत्वेनाधिकृतः, तस्य सदोषत्वमनुपपन्नं, ततः सदोषत्वं कर्मणि योजनीयम्, तेन कर्मणोऽविशुद्धत्वात् वायुर्न प्रशाम्यति··· ··· । (चक्रपाणि)

चक्रपाणि की उपर्युक्त व्याख्या का सारांश यही है कि वायु का सदोषत्व न होकर कर्म का सदोषत्व है । अर्थात् वायु को दूर करने के लिये किये गये उपक्रम यदि दोषयुक्त हैं तो वायु का प्रशमन नहीं होता है । इस प्रकार 'सदोषत्वात्' की व्याख्या कर देने के बाद अवशिष्ट तीन का स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है ।

संसर्ग का स्वरूप—

रोगों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में दोषजस्वरूप को स्पष्ट करते समय यदि संसर्ग शब्द का प्रयोग होता है तो वह वात, पित्त और कफ में से किन्हीं दो का संयोग माना जाता है तथा यह संयोग रोगोत्पत्तिमूलक ही होता है । दूसरा संसर्ग का स्वरूप और होता है जिसमें रोगोत्पादक दोष एक ही होता है लेकिन स्थानगत प्रभाव या अन्य किसी कारण से उस रोगोत्पादक दोष के साथ कोई दूसरा दोष (जोकि पहले में ही वृद्ध है) रोगोत्पत्ति के बाद संसृष्ट या संयुक्त हो जाता है । अतः संसर्ग को उसके संयोग-भेद के आधार पर दो भेदों में विभक्त किया जा सकता है—संसर्गावस्था, अनुगतावस्था ।

वातव्याधि में संसर्ग का स्वरूप—

वात व्याधि स्पष्टतः नानात्मज व्याधि है अतः इसमें रोगोत्पत्ति में समान-हेतुत्व रूप में किसी अन्य दोष का संसर्ग नहीं माना जा सकता, ऐसा मान लेने पर यह व्याधि नानात्मज न होकर सामान्य मानी जायेगी । अतः एक ही रास्ता है कि दोषों की यहां (वातव्याधि में) संसृष्टावस्था न होकर अनुगतावस्था है । यह चरक के उन वाक्यों का सर्वात्मना विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है । दोषों की अनुगतावस्था को सिद्ध करने के लिए निम्न उपशीर्षक दिये जा रहे हैं—

१. मूलतः संसर्ग का महत्व नहीं—वातव्याधि चिकित्साध्याय में विभिन्न संज्ञान्तरों के द्वारा नानात्मज अशीति वात विकारों का ही वर्णन है[1] अतः दोषों के किसी भी प्रकार के संसर्ग या सन्निपात का यहां महत्व नहीं है ।

२. वर्णन क्रम में संसर्ग नहीं—अध्याय के शीर्षक और प्रारम्भिक वर्णन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि विशुद्ध वात रोगों के विवेचनार्थ ही इस अध्याय की योजना है, फिर भी स्वयं आचार्य ने अपनी धारणा स्पष्ट कर दी है कि यहां जिन ८० वात विकारों का वर्णन किया जायेगा उन्हें दो भागों में विभक्त करके कहा जायेगा[2]—(क) केवल वातज रोग
(ख) आवरणजन्य वातज रोग

1 अशीतिर्निखभेदाद्या रोगाः सूत्रे निदर्शिताः । तानुच्यमानान् तैर्यैः सहेतूपक्रमाञ्छृणु ॥ —च.चि.२८/१३-१४
2 केवलं वायुमुद्दिश्य स्थानभेदात्तथाऽऽवृतम् ॥ —च० चि० २८/१४

केवल वात के वर्णन में ही स्थानभेदात् को ग्रहण कर लिया है। अतः केवल वात से उत्पन्न होने वाले अतिबल वातविकार (अर्दित, बहिरायाम आदि) तथा 'तत्र कोष्ठाश्रिते...' आदि से कहे जाने वाले केवल वात के स्थानगत विकारों का वर्णन किया गया है। इसके बाद आवृत वात विकारों का वर्णन है। वर्णन क्रम में संसर्ग नहीं कहा गया है।

३. चक्रपाणि द्वारा संसर्ग को महत्व—यद्यपि चरक संहिता के मूल पाठ में भी संसर्ग का उल्लेख है तथापि चक्रपाणि जैसे चरक मर्मज्ञ ने भी इस प्रसंग को वैसे ही उल्लिखित करके व्याख्या कर दी, यह विचारणीय है। होना तो यह चाहिये था कि चक्रपाणि स्वयं इस स्थान पर होने वाले संसर्ग में संशय उत्पन्न करते तथा इसके बाद प्रसङ्गानुरूप इसकी व्याख्या करते। लेकिन ऐसा न करके उन्होंने संसर्ग को महत्व प्रदान करने वाली व्याख्या की है। यथा—

'...साधारणीति या वाते सा संसर्गिणि च पित्तादौ समानासंसर्गहितेति यावत्, न केवलं संसृष्टे वायौ साधारणी, किन्तु पित्तादिभिः स्रोतःस्वावृतेष्वपि साधारणी कर्तव्या।......—च. चि. २८।१८३ पर चक्रपाणि।

यहां चक्रपाणि ने स्पष्टतः संसर्गवात और आवृत वात के रूप में दो विभाग कर दिये, जो उनके स्वयं के वाक्यों एवं धारणाओं के विपरीत हैं जो 'वदतो व्याघातः' कहे जा सकते हैं। क्योंकि स्वयं चक्रपाणि ने ही पहले कहा है—

अ—च० सू० २०/१० की व्याख्या में वातपित्तादि से असंपृक्त विशुद्ध दोषज रोगों को नानात्मज कहा है।

ब—च० चि० २८ के प्रारम्भ में यह स्पष्ट किया है कि यह नानात्मज वातव्याधि वर्णनात्मक अध्याय है, सामान्यज नहीं। यथा'...यतः पित्तकफकृतानां नानात्मजानां व्याधीनां न तथा प्राधान्यं यथा वातजानां, तेन वातजानामेवाविष्कृततमानां पृथक् चिकित्सोच्यते...।

(च० चि० २८/१-२ पर चक्रपाणि)

स—चरक संहिता के मूलपाठ 'केवलं वायुमुद्दिश्य ...' की व्याख्या करते हुये चक्रपाणि लिखते हैं कि—'कथं पुनस्तेऽशीतिनखभेदाद्या उपदिष्टाः? उच्यते—केवलं वातमुद्दिश्य केचिद्गदा वेपथ्वादय उक्ताः, तथा चावृतं वातमुद्दिश्य केचिदुक्ताः 'लिङ्गं पित्तावृते दाहस्तृष्णा' इत्यादिना। (च. चि. २८/१४ पर चक्रपाणि)

यहां चक्रपाणि ने स्पष्टतः यह अभिव्यक्त किया है कि ८० वातविकारों का यहां केवल वात और आवृत वात के रूप में द्विधा विभाजन कर वर्णन किया गया है।

उपर्युक्त तीनों उदाहरण इस बात के पर्याप्त आधार हैं कि चक्रपाणि भी वातव्याधि को नानात्मज मानते थे अतः संसर्ग का स्वरूप परिस्थितिवश स्वीकृत किये जाने पर भी भिन्न प्रकार का था।

द—'क्रिया साधारणी...' (च. चि. २८/१८३) की व्याख्या में ही चक्रपाणि ने संसर्ग का उल्लेख किया है, इसके अतिरिक्त कहीं भी संसर्ग की स्पष्टतः स्वीकारोक्ति नहीं है।

ई—संसर्ग का वर्णन मुख्यरूप से आवृतवात के प्रकरण में है, लेकिन वहां व्याख्या करते हुए चक्रपाणि ने संसर्ग का उल्लेख कहीं नहीं किया। अपितु 'आमाशयगतं मत्वा कफं' की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—'...वातानुबन्धि कफस्यैवेयं चिकित्सा...। (च. चि. २८/१८९ पर)। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यहां कफ का वातानुबन्धिस्वरूप है।

४. चिकित्सा प्रकरण में संसर्ग का वर्णन सामान्य है—संसर्ग के अस्तित्व की अनुभूति क्रिया साधारणी... (चि. २८/१८३) तथा संसृष्टे कफ पित्ताभ्याम्...(चि. २८/१८८) मात्र इन दो पंक्तियों से होती है। इसके अतिरिक्त १८९-१९४ के श्लोकों में किया गया वर्णन भी इससे सम्बद्ध है, लेकिन इन दो पंक्तियों को हटा दिया जाय तो बाद के श्लोकों से संसृष्टावस्था की अभिव्यक्ति नहीं होती। इससे यह स्पष्ट है कि चिकित्सा-प्रकरण में संसर्ग का वर्णन सामान्य है। १८९ से १९४ तक के श्लोक तो स्थानगतस्वरूप को ही अभिव्यक्त करते हैं।

५. संसर्ग का उल्लेख स्वतन्त्र नहीं—यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आचार्य ने अध्याय के प्रारम्भ में केवलवात और आवृतवात का वर्णन करने की प्रतिज्ञा 'केवलं वायुमुद्दिश्य...' के द्वारा की है। इसी के अनुरूप

वर्णन भी किया है। लेकिन जब आवृतवात का वर्णन कर रहे हैं तभी पित्त और कफ के आवरण की चिकित्सा के वाद तथा रक्तावृत की चिकिन्सा के पहले पित्त और कफ के संसर्ग का भी उल्लेख कर दिया। इससे पहले आवृतवात के वर्णन प्रसङ्ग 'लिंग पित्तावृते'''२८/६१-७१ में कहीं भी पित्त या कफ के संसर्ग का उल्लेख नहीं है। चिकित्सा के प्रसङ्ग में किया गया यह उल्लेख संसर्ग सम्बन्धी किसी विशेष स्वरूप को संकेतित नहीं करता, केवल पित्त कफ के स्थानगत विशेष स्वरूप की ओर संकेत करता है। जेज्जट तो स्थानगत स्वरूप को आवरण का ही पर्याय मानते हैं, अतः १८८-१९४ तक का प्रसङ्ग आवरण सम्बन्धी ही है—

स्थानापेक्षया चिकित्सतमुच्यते।
'आमाशयगतं मत्वा कफं वमनमाचरेत् ॥
स्थानशब्देनावरणमाचष्टे ॥
(च. चि. २८/१९०-१९९ पर जेज्जट)

६. सन्निपात का उल्लेख क्यों नहीं ?—वात व्याधि में पित्त एवं कफ के संसर्ग को सामान्यज व्याधियों की तरह नहीं माना जा सकता। इसमें सबसे बड़ा तर्क यह है कि यदि वात में संसर्ग स्वीकृत किया जा सकता है तो सन्निपात क्यों नहीं ? यह पूर्णतया स्पष्ट है कि वात व्याधि में सन्निपात का उल्लेख कहीं भी नहीं है तथा किसी भी तरह से स्वीकृत नहीं किया जा सकता।

७. अनुगतावस्था—वात व्याधि के प्रसङ्ग में कही गई संसृष्टावस्था का तात्पर्य अनुगतावस्था है। यह सुस्पष्ट है कि संसर्ग की चिकित्सा पित्तावृत और कफावृत के प्रसङ्ग में कही गई है। अतः वह पित्तावृत और कफावृत स्वरूप ही जब आमाशयगत हो अथवा पक्वाशयगत हो तो उस स्थान के अनुरूप चिकित्सा करे। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इस स्थिति में कहा गया संसर्ग आवरण स्वरूप ही है। जिसे अनुगतावस्था के रूप में 'श्लेष्मणानुगतं वातम्'''(२८/१९१) कहकर भी व्यक्त किया गया है। अतः इस आवरण के प्रसङ्ग में आवरण, संसर्ग और अनुराग ये तीन अवस्थायें दिखाई देती हैं तथा तीनों ही एक भाव को अभिव्यक्त करती हैं, वह भाव है आवरण। आवरण में दूसरे दोष गमन करके वात को आवृत करते हैं अतः उनका अनुगत स्वरूप भी हो सकता है, इसलिए १८८ से १९४ तक के प्रसङ्ग को अनुगतावस्था का स्वरूप भी कहा जा सकता है। संसृष्टावस्था का स्वरूप भी सामान्यज विकारों की तरह का न होकर उपर्युक्त प्रकार का है। इस विषय को चक्रपाणि ने यहां स्पष्ट किया है, पर गङ्गाधर की टीका से उपर्युक्त धारणा को वल मिलता है। यथा—

'''सर्वत्रगे पित्ते विरेकमादिशेत्। स्वेदैरित्यादि। स्वेदैर्विष्यन्दितः द्रवीभूतः श्लेष्मा यदा, पक्वाशयस्थितः स्यात् पित्तं वा स्वलिंगं दर्शयेत् तदा तौ पित्तकफौ वस्तिभिर्विनिर्हरेत्। श्लेष्मणेत्यादि, श्लेष्मानुगतं वातमुष्णैरूक्षद्रव्यकृतैर्निरूहैर्गोमूत्रयुतैर्निर्हरेत्। पित्तसंसृष्टं वातं मधुरौषधसिद्धैः क्षीरसंयुतैर्निरूहैर्निर्हरेत्। तैलैश्च मधुरौषधसिद्धैस्तं पित्तसंसृष्टं वातमनुवासयेत्। शिरोगतेत्वित्यादि। सकफेवाते। हृत इत्यादि। हृते पित्ते च कफे च यद्भिः उरःस्रोतोऽनुरोऽनिलः स्यात् तदा सर्वेषां वातानां केवलवातिकी क्रिया कार्य्या। कारयेदित्यादि। रक्तसंसृष्टे वाते वातरक्तक्रियाम्''' । (च.चि. २८/१९०-१९४ पर गंगा.)

उपर्युक्त विवरण में यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां संसृष्टावस्था आवरणावस्था को ही कहा गया है। 'रक्तसंसृष्टे वाते वातरक्तक्रियाम्''''' से प्रारम्भ होने वाली व्याख्या रक्तावृत वात की चिकित्सा है अतः इसे रक्तसंसृष्टे कहना पीछे के वर्णन में कहे गये संसृष्ट को अधिक स्पष्ट करना है। यह स्पष्टीकरण आवरण के रूप में ही है। अन्यथा आचार्य गंगाधर 'रक्तसंसृष्टे' न कहकर 'रक्तावृते' कहते।

८. साधारणी क्रिया—'क्रिया साधारणी सर्वा संसृष्टे चापि शस्यते' में संसर्ग का उल्लेख है जिसकी चक्रपाणि और गंगाधर ने अलग-अलग प्रकार से व्याख्या की है। चक्रपाणि यह कहते हैं कि जो क्रिया साधारण वात के लिये है वही संसृष्ट और आवृत वात के लिये भी है। यथा—

'साधारणीति या वाते सा संसर्गिणि च पित्तादौ समाना संसर्गहितेति यावत्, न केवलं संसृष्टे वायौ साधा-

रणी, किन्तु वातपित्तादिभिः स्रोतःस्वावृतेष्वपि साधारणी कर्तव्या । (च. चि. २८/१८३ पर चक्रपाणि)

उपर्युक्त विवरण में चक्रपाणि ने स्पष्टतः साधारण वात, संसर्गवात और आवृतवात, ये तीन स्वरूप स्वीकृत किये हैं । इसी प्रसङ्ग की व्याख्या गंगाधर ने दूसरे प्रकार से तो की है पर साधारण वात, संसर्गवात और आवरणवात की धारणा की पुष्टी तो वे भी करते हैं—

'साधारणवातोक्ता क्रिया तथा संसृष्टा चापि या क्रिया सा वाताद्यावृतेषु स्रोतः सु विशेषतः शस्यते ।

(गङ्गाधर)

उपर्युक्त व्याख्याओं से तीसरे प्रकार का स्वरूप एक अलग ही प्रकार में प्रकट होता है । इसमें यह कहा गया है कि वातादि से आवृत स्रोतस् में साधारणवातोक्त तथा संसृष्ट स्वरूप क्रिया करनी चाहिये । यह बात गंगाधर और चक्रपाणि दोनों ही स्वीकृत करते हैं । अतः यह कहा जाना चाहिये कि 'आमाशयगतं मत्वा' से कही जाने वाली चिकित्सा आवृतवात में ही संसर्ग को स्पष्ट करती है । यह संसर्ग 'स्रोतःस्वावृतेषु' के स्वरूप में संस्थित है, अर्थात् विभिन्न स्थान या स्रोतोगत एवं आवरण को प्राप्त वात तत्स्थानगत दोष के संसर्ग को करता है ।

यद्यपि उपर्युक्त विवरण को अपने दृष्टिकोण से स्पष्ट तो कर दिया है, पर उलझन इससे नहीं सुलझती । उलझन तो तभी सुलझेगी जब स्पष्टतः यह मान लिया जाय कि वातव्याधि नानात्मज विकार होने के कारण इसमें संसर्ग होता ही नहीं । जो संसर्ग होता है वह स्थानगत वात में तत्स्थानस्थित दोष का संसर्ग मात्र है ।

उपसंहार—

उपर्युक्त विवरण के आधार पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि—

१. संसर्ग सामान्यज विकारों में ही होता है ।

२. वातव्याधियां नानात्मज विकार हैं ।

३. चि. २८ वें अध्याय के प्रारम्भ में केवल वात और आवृतवात का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई है ।

४. आगे वर्णन भी इसी रूप में किया गया है ।

५. संसर्गवात का वर्णन क्रम में उल्लेख नहीं ।

६. आवृतवात का वर्णन करते समय भी संसर्गवात का उल्लेख नहीं किया गया ।

७. संसर्गवात का सर्व प्रथम उल्लेख चिकित्सा का विवरण प्रारम्भ करते समय किया गया है । इसी से संसर्गवात का भ्रम होता है ।

८. पित्त और कफ के आवरण के बाद तथा रक्त के आवरण के पहले किया गया संसर्गपरक विवरण पित्त और कफ के आवरण का ही अंग है। जेज्जट इसे स्पष्टतः आवरण सम्बन्धी विवरण ही मानते हैं ।

९. वातव्याधि में होने वाला संसर्ग अनुगत स्वरूपक है ।

अन्त में यह भी कहा जा सकता है कि किसी भी रोग में स्थानविशेष के कारण होने वाले दोषों के संसर्ग की तदनुरूप चिकित्सा की जाती है उसी प्रकार वात-व्याधि में भी ऐसी व्यवस्था है[1] । इसी सन्दर्भ में संसर्ग सम्बन्धी विवरण उद्धृत हुए हैं । यदि ये नहीं भी होते तो भी चि० २८।१०४ के अनुसार चिकित्सा की जा सकती थी । अतः यदि यह कहा जाय कि श्लोक संख्या १८८ से १९४ तक के श्लोक प्रक्षिप्त हैं तो कोई गलत नहीं होगा । यदि इन्हें प्रक्षिप्त न माना जाय तो इनका अर्थ आवरणपरक ही होगा जो कि ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है। यह विवरण वातादि के स्थानगत संसर्ग को ही स्पष्ट करता है तथा स्थानगत का अर्थ इस प्रसंग में आवरणपरक ही होगा ।

[1] प्रत्येकं स्थान दूष्यादि क्रिया वैशेष्यमाचरेत् । (च० चि० २८।१०४)

संसृष्ट वात-चिकित्सा

वातव्याधि चिकित्सा का स्वतन्त्र वर्णन चरक, सुश्रुत और वाग्भट तीनों ने किया है। तीनों में ही इसका सम्पूर्ण वर्णन इसके नानात्मजत्व स्वरूप को स्पष्ट करता है। किसी ने भी इसे सामान्यज व्याधि नहीं माना। अतः वातव्याधि में अन्य रोगों की तरह पित्त और कफ का संसर्ग नहीं माना जाता। किन्तु स्थान के प्रभाव एवं अन्य परिस्थितियों के कारण पित्त एवं कफ के संसर्ग का निषेध भी नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त दोनों तथ्य परस्पर विरोधी प्रतिभासित होते हुए भी विरोधी नहीं हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि प्रथम प्रकार का संसर्ग दोष-दूष्य संमूर्च्छना के पहले तथा निदान सेवन के बाद प्रकुपित होने वाले दोष के कारण होता है। बाद में होने वाला संसर्ग रोग के प्राथमिक निदान सेवन के कारण न होकर स्थानस्थित दोष के प्रकोप या सम्पर्क के कारण ही होता है। अतः वातव्याधि को नानात्मज मानते हुये भी द्वितीय प्रकार का दोष संसर्ग मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। इस द्वितीय प्रकार के संसर्ग को हीं यहां संसृष्टवात शीर्षक से उपवर्णित किया जा रहा हैं।

वात व्याधि में संसर्ग का स्वरूप—

चरक संहिता में वातव्याधि के प्रसङ्ग में आया हुआ संसृष्ट शब्द मूलतः वात दोष से उत्पन्न व्याधि में स्थान प्रभाव से होने वाले पित्त एवं कफ के संसर्ग का परिचायक है। इसके अतिरिक्त संसर्ग का अर्थ इसी प्रसंग में आवरण परक भी किया जा सकता है, यह अर्थ जेज्जट ने स्पष्ट स्वीकृत किया है जबकि अन्य आचार्यों ने एतन्मूलक भावाभिव्यक्ति प्रकारान्तर से ही की है। संसृष्टवात के उपर्युक्त अर्थ को ही प्रस्तुत लेख में स्वीकृत करते हुए इसके कारण, लक्षण एवं चिकित्सा का उल्लेख करने से पहले सुश्रुत एवं वाग्भट के विचारों का अवलोकन भी आवश्यक है—

सुश्रुत संहिता में वातव्याधि को निदानस्थान में पहले ही अध्याय में स्थान दिया है। इसके बाद चिकित्सा स्थान के चौथे पाँचवें अध्याय में इसका चिकित्सा सम्बन्धी विवरण दिया गया है। तीनों अध्यायों की योजना और उसमें वर्णित विषयों को देखने से यह स्पष्टतः प्रतिभासित होता है कि इन्होंने भी वात दोष को प्रमुख-दोष मानते हुए उससे उत्पन्न व्याधियों का उल्लेख किया है। इन्होंने वातव्याधि प्रसंग में पित्त एवं कफ के संसर्ग को चरक की तरह अस्पष्ट नहीं रहने दिया, अपितु अनेक व्याधियों के साथ उनके संसर्ग का उल्लेख भी किया है। जिन रोगों के लिये चरक ने 'सर्वेष्वेतेषु पित्ताद्यैरुपलक्षयेत्' कहा है, उन्हीं रोगों में सुश्रुत द्वारा पित्त या कफ के संसर्ग का उल्लेख करना स्पष्टोक्ति तो है, पर संसर्ग का स्वरूप भी स्पष्ट है, यह नहीं कहा जा सकता। ऊपरी तौर पर यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः सुश्रुत भी चरक की तरह स्थानादि के प्रभाव से ही संसर्ग मानते हैं। स्पष्ट निष्कर्ष के लिये तो उपर्युक्त विषयों का गम्भीर मनन आवश्यक है।

सुश्रुत के विभिन्न वातज रोगों (गृध्रसी, अपतानक, पक्षाघात आदि) के वर्णन को देखने से भी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि होती है। क्योंकि उन्होंने इन रोगों का पहले शुद्धवातज स्वरूप में वर्णन किया है, उसके बाद पित्तादि के संसर्ग का उल्लेख किया है। स्वतन्त्र रूप से संसर्ग का या संसर्गज वातव्याधियों का उल्लेख सुश्रुत ने भी नहीं किया है।

वाग्भट वातव्याधि के संसर्ग विषयक वर्णन में प्रायः मौन से ही दिखाई देते हैं। इन्होंने चिकित्सा के प्रसंग में एक सामान्य निर्देश अवश्य दिया है—'संसृष्ट दोषे संसृष्टम्' (अ० हृ०चि० २१।३५)। इसके अतिरिक्त कोई विशेष उल्लेखनीय विवरण प्राप्त नहीं होता।

संसर्ग के जानने का उपाय—

चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट के वातव्याधि में (वातज रोगों में) संसर्ग सम्बन्धी विचार भले ही अस्पष्ट (या किञ्चित् स्पष्ट) रहे हों, पर चिकित्सा में सभी का मंतव्य दिखाई देता है। अतः कारण एवं लक्षणों के सन्दर्भ में अस्पष्टोक्त विवरण को सामान्य सिद्धान्तों के द्वारा ज्ञात किया जा सकता है जिसमें पित्त एवं कफ के सामान्य प्रकोपक हेतुओं और विकृति-परक सामान्य लक्षणों को

★ वैद्य बनवारीलाल गौड़ भिष०, आयु० बृह० ★

उन-उन वातज व्याधियों में देखकर उस-उस दोष के संसर्ग का विनिश्चय किया जा सकता है। एवं कफ के प्रकोपक हेतुओं और उत्पन्न विकृतिपरक लक्षणों की सूची चरक-सूत्रस्थान के बीसवें अध्याय में विस्तार से दी है, अतः उसका सहारा लेते हुए पित्त एवं कफ के संसर्ग की मात्रा का ज्ञान किया जा सकता है। रोगज्ञान के उपाय सम्प्राप्ति के भेद 'विकल्प' की व्याख्या करते हुये चक्रपाणि कहते हैं कि सम्मिलित दोषों के अंशांश के उत्कर्षापकर्ष स्वरूप का ज्ञान ही विकल्प है।[1] अतः चक्रपाणि के उपर्युक्त वाक्यों के आधार पर सूत्रस्थानोक्त पित्त एवं कफ के सामान्य निदान एवं सामान्य लक्षणों की विकल्पता करते हुए वातव्याधि में उनके संसर्ग को जाना जा सकता है।

संसृष्ट वात के कारण—

ऊपर अनेक प्रकार से यह स्पष्ट कर दिया है कि संसृष्टवात के कारण स्पष्टतः कहीं उल्लिखित नहीं हैं। फिर भी निम्न कारण माने जा सकते हैं—

क—वातव्याधि काल में दोष प्रकोपक अन्य हेतु

ख—स्थान-प्रभाव

क—वातव्याधि काल में दोष प्रकोपक अन्य हेतु—

(१) दोष जनक हेतु—वातप्रकोप हेतुओं के सेवन के बाद दोष प्रकोपक (पित्त-कफ जनक) हेतुओं के सेवन से भी पित्त या कफ का संसर्ग हो सकता है। इस संसर्ग के अपनयन के लिये वात व्याधि चिकित्सा सिद्धांत को ध्यान रख पहले विशेष व्यवस्था करनी पड़ती है। इस सन्दर्भ में प्रमेह चिकित्सा के उस प्रकरण को याद किया जा सकता है जिसमें कहा गया है कि पित्तज और कफज प्रमेह में वायु प्रकुपित हो जाती है तो उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। क्योंकि आचार्य ने वातज प्रमेह की चिकित्सा का उल्लेख किया है जबकि वातज प्रमेह असाध्य होता है। अतः उसकी चिकित्सा का निर्देश नहीं करना चाहिये था। लेकिन आचार्य ने चिकित्सा का उल्लेख कर दिया तो अपना स्पष्टीकरण इस प्रकार दिया है—

या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्वणानां विहिता क्रिया सा। वायुर्हिमेहेष्वतिकर्शितानां कुप्यत्यसाध्यान् प्रतिनास्ति चिन्ता (च० चि० ६।५२)

···वातोल्वणत्वमेव कुतः कफजेषु पित्तजेषु भवतीत्याह—वायुरित्यादि। असाध्यानिति उत्पत्तितः। (चक्रपाणि)

यहाँ इस प्रसंग को उद्धृत करने का एकमात्र उद्देश्य यही था कि आचार्य ने इस प्रकार के संसर्ग भी स्वीकृत किये हैं जो रोगोत्पत्ति के बाद में हुए हों। यह बात चक्रपाणि के 'उत्पत्तितः' शब्द से भी हो जाती है। ऐसे संसर्ग चिकित्सा के दृष्टिकोण से जानने आवश्यक भी हैं। अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वातव्याधि के उत्पन्न होने के बाद ऐसे सभी कारण जोकि पित्त एवं कफ को प्रकुपित करते हों, उनके सेवन से उस वातव्याधि में पित्त या कफ अथवा दोनों का भी संसर्ग हो जाता है, (यह ध्यान रहे कि पित्त एवं कफ का एक साथ संसर्ग होने पर भी यहां यह सन्निपात नहीं कहलाता)। इस संसर्ग से तत्तद् दोषजन्य लक्षणों की उत्पत्ति होती है जिनका विशेष व्यवस्था के द्वारा निवारण किया जाता है।

(२) दोषानुकूल प्रकृति—विशुद्ध वातज रोग भी यदि पित्तज या कफज प्रकृति के व्यक्ति में उत्पन्न होते हैं तो उनकी चिकित्सा व्यवस्था में पित्त या कफ के संसर्ग को स्वीकृत करते हुए उपक्रम किये जाते हैं।

(३) दोषानुकूल देश काल आदि—नानात्मज व्याधि यदि आनूप प्रदेश में उत्पन्न होती है अथवा वात व्याधि ग्रस्त व्यक्ति उस प्रदेश में आजाता है तो उसमें कफ का संसर्ग हो सकता है। इसी प्रकार वात व्याधि के उत्पन्न होने के बाद यदि शरत्काल आता है तो पित्त के संसर्ग की तथा वसन्तकाल आता है तो कफ के संसर्ग की सम्भावना रहती है।

[1] ······समवेतानामित सर्वेषां, तेन, एकशो द्विशो मिलितानां च दोषाणां ग्रहणम्। अंशमंशं प्रति बलमंशांशबलं, तस्य विकल्प उत्कर्षापकर्षरूपोंऽशांशबल विकल्पः, एवं भूतो दोषाणामंशांशबलविकल्पोऽस्मिन्नर्थे। इति अस्मिन प्रकरणे विकल्प उच्यते। (च. नि. १।१२ पर चक्रपाणि)

ख—स्थान प्रभाव—

स्थान प्रभाव का तात्पर्य यहां पर शरीर के अवयव या स्थान विशेष से है। अर्थात् विशुद्ध वातज रोग का अधिष्ठान यदि कफ स्थान में है तो कफ का संसर्ग होगा। यदि पित्त के स्थान में रोग होगा तो वहां पित्त का संसर्ग होगा। इसके अतिरिक्त इसी सन्दर्भ में यह भी विचारणीय है कि-यदि पूर्वोक्त पित्त एवं कफ प्रकोपक हेतुओं से प्रकुपित पित्त या कफ किसी स्थान विशेष पर पहुँचते हैं (या किन्हीं कारणों से वहां पहले से ही प्रकुपित है) तथा उत्पन्न वातव्याधि का अधिष्ठान भी यही है तो भी पित्त एवं कफ का संसर्ग होगा जिसकी चिकित्सा व्यवस्था विशेषरूपेण करणीय है।

संसृष्ट वात के लक्षण—

जिस प्रकार कारणों के सम्बन्ध में विशेषेण उल्लेख न किया जा कर एक सामान्य वर्णन किया गया है, उसी प्रकार लक्षणों के सम्बन्ध में भी एक सामान्य स्वरूप जानना चाहिये। यथा—

पित्त का संसर्ग होने पर—उत्पन्न वातव्याधि के अपने लक्षणों के साथ-साथ दाह, पाक, स्वेद, क्लेद, कोथ, कण्डू, स्राव एवं राग आदि पित्तजन्य लक्षणों में से कुछ लक्षणों की प्राप्ति हो तो उसमें पित्त के संसर्ग को मान कर उसके निवारण के उपाय किए जाते है।

कफ का संसर्ग होने पर—उत्पन्न वातव्याधि के अपने लक्षणों के साथ-साथ श्वैत्य, शैत्य, स्थैर्य, गौरव, स्नेह, सुप्ति, उपदेह एवं स्तम्भ तथा अरुचि, उत्क्लेश, क्लम आदि लक्षणों की प्राप्ति होने पर उसमें कफ के संसर्ग को मान कर उसके निवारणार्थ तदनुकूल उपाय किए जाते है।

संसृष्ट वात की चिकित्सा—

वातव्याधि में संसर्ग का उल्लेख चिकित्सा प्रसंग में ही किया गया है। क्योंकि दोषों का संसर्ग रोगोत्पत्ति के समय हो या बाद में, उसके निवारण के उपाय तो करने ही पड़ते हैं। कारण एवं लक्षणों की तरह ही संसृष्ट वात की चिकित्सा में भी सामान्य निर्देश ही प्राप्त होते हैं फिर भी कारण एवं लक्षणों की अपेक्षा कुछ स्पष्ट निर्देश चिकित्सार्थ प्राप्त होते हैं। संसृष्ट वात की चिकित्सा के लिये निम्न सिद्धान्त निश्चित किये जा सकते हैं—

१—संसृष्ट में संसृष्ट चिकित्सा
२—रक्षणीय वात
३—गुल्मोक्त-निर्देश अवधेय
४—दोषों के सामान्य उपक्रम (संसर्ग में)
५—संसर्ग में विशेष-उपक्रम

१. संसृष्ट में संसृष्ट चिकित्सा—

संसृष्ट रोगों में सभी आचार्यों ने (न केवल वात व्याधि में अपितु सामान्यज व्याधियों में भी) संसर्ग चिकित्सा का निर्देश किया है। वाग्भट ने केवल 'संसृष्टे संसृष्टम्' (अ० हृ० चि० २१।३५) कह कर ही एतद्विषयक निर्देश की इतिश्री कर दी है, जबकि सुश्रुत में कुछ अधिक निर्देश प्राप्त हुए है—यथा—

क—अविरोधी चिकित्सा—सुश्रुत में चि० ४।११ में यह सामान्य निर्देश है कि-'बलासपित्तरक्तैस्तु संसृष्टमविरोधिभिः' अर्थात् श्लेष्मा, पित्त और रक्त से संसृष्ट वात व्याधि में वात के अविरोधी उपक्रम करने चाहिये। ऐसे उपक्रम जो श्लेष्मादि को दूर करने के लिये हों पर वायु के कहे गये उपक्रम के विरोधी नहीं हों। यह डल्हणकृत व्याख्या मे स्पष्ट है। डल्हण की यह व्याख्या यहां न हो कर चि. ५।२९ पर है। वहां आचार्य ने कहा है कि संसृष्ट एवं आवृत वात को लक्षणों एवं ऊहापोह के द्वारा जानना चाहिए तथा उनकी चिकित्सा वातोक्त क्रम से अविरुद्ध हो—

केवलो दोषयुक्तो वा धातुभिर्वाऽऽवृतोऽनिलः।
विज्ञेयो लक्षणोहाभ्यां चिकित्सा चाविरोधतः॥
—सु० चि० ५।२९

यहां डल्हण कहते है कि—'......अत्र संयुक्तस्यैव चिकित्साविधि रुच्यते न 'तु केवलस्य' उक्तत्वादविरोधत इति वचनाच्च, न हि केवलस्य वायोश्चिकित्सायां विरोधोऽस्ति, एक मुरुगत्वात्। (डल्हण)

(ख) संसृष्ट चिकित्सा—अन्य आचार्यों की तरह सुश्रुत ने भी संसृष्ट में संसृष्ट चिकित्सा करने का निर्देश किया है। यह पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि सुश्रुत ने विभिन्न मुख्य वातव्याधियों में शुद्ध स्वरूप के साथ संसर्ग भी माना है। आचार्य सुश्रुत ने अपतानक की चिकित्सा में ही 'संसृष्टे संसृष्टम्' का निर्देश दिया है। यथा—

"...एतच्छुद्धवातापतानकमुक्तम्, संसृष्टे संसृष्टम् कर्तव्यम्। (सु. चि. ५/१८)

इस स्थल की डल्हण कृत व्याख्या भी महत्वपूर्ण है—

"...संसृष्टे संसृष्टं कर्तव्यमिति अनुबन्धभूतयोः पित्तकफयोः संसर्गमुपलभ्य पित्तकफहरं ससृष्टं तदेव कर्तव्यम्। जेज्जटस्तु संसृष्टे वातरक्तवच्चिकित्सा कर्तव्येत्याह।

(डल्हण)

उपर्युक्त व्याख्या में डल्हण ने संसृष्ट चिकित्सा का ही उल्लेख किया है, पर साथ ही बिना किसी टीका-टिप्पणी के जेज्जट का यह मत भी प्रकाशित कर दिया कि संसृष्टे वात में वातरक्त की चिकित्सा करनी चाहिये।

२. रक्षणीय वात—

'संसृष्टे संसृष्टम्' के प्रधान सिद्धान्त में यह संकेत कर दिया गया है कि वात के उपक्रमों के अविरोधी उपक्रम करने चाहिये। अतः वात के उपक्रमों से भी बीच-बीच में सहयोग लिया जा सकता है। यह अनुमान उपर्युक्त उद्धरणों से लगाया जा सकता है। यदि इससे मिलता-जुलता दूसरा रोग 'गुल्म' निदान-चिकित्सापूर्वक इसी प्रसङ्ग में स्मृतिगत करें तो उपर्युक्त धारणा की पुष्टि होती है। आचार्य चरक गुल्म में वात का ही प्रधान हेतुत्व स्वीकृत करते हुये कहते हैं कि—सर्वेष्वपि खल्वेतेषु गुल्मेषु न कश्चिद्वातादृते सम्भवति गुल्मः। (च. नि. ३/१६)। इसी के आगे चिकित्सार्थ सामान्य निर्देश भी है—

'गुल्मिनामनिल शान्तिरुपायैः,
सर्वशो विधिवदाचरितव्या।
(च. नि. ३/१७)

अर्थात् गुल्म में अनिल शान्ति के उपाय प्रमुख रूप से करने चाहिये। जब आगे गुल्म की चिकित्सा में संसृष्ट दोषों की चिकित्सार्थ कहे गये वाक्य पढ़ते हैं तो संसृष्ट चिकित्सा के आदि, मध्य और अन्त में वायु के संरक्षण का विधान प्राप्त होता है। यथा—

यथोल्वणस्य दोषस्य तत्र कार्यं भिषग्जितम्।
आदावन्ते च मध्ये च मारुतं परिरक्षता॥
(च. चि. ५/२८)

गुल्म में कहे गये उपर्युक्त वाक्यों को वातव्याधि चिकित्सा के संसृष्ट स्वरूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। क्योंकि गुल्म में भी यह चिकित्सा विधि बाद में प्रकुपित पित्त कफ के लिये[1] प्रयुक्त है जो सर्वथा वातव्याधि में होने वाले संसर्ग से साम्य रखती है। संसृष्ट वातव्याधि में वात का यह संरक्षण वातव्याधि की सामान्य चिकित्सा प्रक्रिया से सम्भव है। इसीलिये चरक में कहा है कि संसृष्ट वातव्याधि में भी साधारण क्रिया ही की जानी चाहिये।[2]

३. गुल्मोक्त निर्देश अवधेय—

क्रम संख्या २ में गुल्म चिकित्सा में कहे गये एक सिद्धान्त से संकेत प्राप्त किया गया है। उसी प्रकार गुल्म चिकित्सा के अन्य सिद्धान्तों से भी संकेत प्राप्त किया जा सकता है। एक प्रसङ्ग के अन्त में 'प्रयोज्या वात गुल्मेषु कफपित्तानुरक्षिणा' (च. चि. ५/२१-२६) कहा है। इस स्थल पर मुख्यरूपेण स्नेहपान का विधान है लेकिन उसमें भी कफ एवं पित्त की अभिवृद्धि न हो जाय, उस प्रकार प्रयोग करने का निर्देश है।[3] इससे यह सिद्ध होता है कि असंसृष्ट वात व्याधि में कफ और पित्त का संसर्ग न हो जाय, यह ध्यान भी (गुल्मवत्) रखा जाना चाहिये।

इसके अतिरिक्त गुल्म चिकित्सा प्रकरण में च. चि. ५/३३-३५ में पित्तज गुल्म तथा च. चि. ५/६०-६३ में कफज गुल्म की चिकित्सा में जो उपक्रम कहे हैं वे भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं। आवृतवात के प्रकरण (चि. २८/१८९-१९३) ऐसी ही व्यवस्था है।

---

[1] यथोल्वणस्येति वातचिकित्सया य उल्वणो दोषो भवति कफादिः, तस्यचिकित्सा कर्तव्या, तस्यामपि चिकित्सायां वातवृद्धिर्यथा न भवति तथा कर्तव्यमिति दर्शयन्नाह—आदावित्यादि। (चक्रपाणि)

[2] क्रिया साधारणी सर्वा संसृष्टे चापि शस्यते। (च. चि. २८/१८३)

[3] कफपित्तानुरक्षिणेति तथा स्नेहः कर्तव्यो यथा कफपित्ते न वर्धेते। (च. चि. ५/२७ पर चक्रपाणि)

४. सामान्य सिद्धान्तानुसार उपक्रम—

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वात व्याधि में वात का परिरक्षण करते हुए संसर्ग की चिकित्सा सामान्य क्रमानुरूप करनी चाहिये। इसके अनुसार पित्त के लिये मधुर, तिक्त, कषायरस प्रधान तथा शीतल उपक्रम विधेय हैं। इसके अतिरिक्त स्नेह प्रयोग, विरेचन, प्रदेह, परिषेक और अभ्यङ्ग भी किये जाने चाहिए। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि तिक्त, कषाय एवं शीतल उपक्रमों से वात की अभिवृद्धि होती है तथा विरेचन भी (अतिमात्र प्रयुक्त) रूक्षता उत्पन्न करता है। अतः इन उपक्रमों का प्रयोग करते समय वात का परिरक्षण आवश्यक है। सर्पिःपान, अनुवासन और क्षीरयुक्त निरूहण अधिक उपयोगी हैं।

कफ के लिये—

कटु, तिक्त, कषाय रस प्रधान तथा तीक्ष्ण, उष्ण एवं रूक्ष उपक्रम विधेय हैं। इसके अतिरिक्त स्वेदन, वमन, शिरोविरेचन एवं व्यायाम भी किये जाते हैं। इनमें तिक्त, कषाय, रूक्ष, वमन, शिरोविरेचन और व्यायाम वात के उपक्रमों के विरुद्ध हैं तथा वात की अभिवृद्धि करते हैं, अतः इनका प्रयोग करते समय सावधानी रखनी चाहिये। कफ के संसर्ग में स्नेहन-स्वेदन, उष्णवीर्य द्रव्य, गोमूत्र प्रयोग और निरूहण अधिक उपयोगी हैं, इनसे वात का परिरक्षण भी हो जाता है।

५. विशेष उपक्रम—

पित्त-कफ के संसर्ग में विशेष उपक्रम परिस्थिति के अनुसार विधेय हैं। यदि पित्त एवं कफ का एक साथ संसर्ग हो तो पहले पित्त का अवजयन किया जाना चाहिये—

संसृष्टे कफपित्ताभ्यां पित्तमादौ विनिर्जयेत्। (च. चि. २८/१८८)...पित्तमादौ विनिर्जयेदिति वचनेन कफापेक्षया पित्तस्याशुकारितया पित्तजयमेवोपदिशति।

(चक्रपाणि)

आवृतवात के प्रसङ्ग में कहे गये कुछ विशेष उपक्रम (जोकि परिस्थिति के अनुरूप हैं) संसर्ग में विधेय हैं। इनका यहां (च. चि. २८/१८९-१९३) उल्लेख किया जा रहा है।

क—आमाशय में यदि कफ गया हुआ हो अर्थात् विशेष अभिवृद्ध हो तो वमन करवाना चाहिये।

ख—यदि कफ पक्वाशय में स्थित हो तो विरेचन करवाना चाहिये।

ग—पित्त यदि संम्पूर्ण शरीरगत हो तो विरेचन करवाना चाहिये।

घ—स्वेदन क्रिया के द्वारा द्रवीभूत होकर जब कफ पक्वाशय में स्थित हो जाय अथवा प्रकुपित पित्त अपने लक्षणों से वहीं पक्वाशय में स्थित होना प्रदर्शित करे तो पित्त और कफ को वस्ति के द्वारा निकाल देना चाहिये।

ङ—यदि वात के अनुबन्ध रूप में कफ हो तो गर्म गोमूत्र मिलाकर निरूह वस्ति देनी चाहिये।

च—यदि वात के साथ पित्त अनुबन्धित हो तो दूध के साथ निरूह वस्ति देनी चाहिये।

छ—उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं में मधुर वर्ग की औषधियों से सिद्ध तैल की अनुवासन वस्ति दें।

ज—यदि कफ के साथ वात शिरः प्रदेश में चला गया हो तो धूम, नस्य आदि शिरोरोगनाशक विधियों का प्रयोग करना चाहिये।

उपसंहार—

वातव्याधि में दोषों का संसर्ग उत्पत्तितः न होकर बाद में होता है, अतः दोष के संसर्ग को लक्षणों द्वारा जानकर उपक्रम किये जाने चाहिये। इन उपक्रमों का प्रयोग करते समय वात का परिरक्षण आवश्यक है। कुछ उपक्रम परिस्थिति के अनुसार किये जाते हैं।

—वैद्य बनवारीलाल गौड़ भिषगा०, आयु०बृह०
राष्ट्रीय आयु० संस्थान, जयपुर।
८० सेनापति हाउस के पीछे,
मोटवाड़ा, जयपुर (राज०)
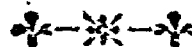
आवरण वात और उसकी चिकित्सा

वैद्य बनवारीलाल गौड़ भिष० आयु० वृह०

त्रिदोष में प्रधान वातदोष के प्रकोपक हेतुओं का संक्षेप में निर्देश करते हुए चरक संहिता में कहा गया है कि 'वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च' (च. चि. २८।५९) अर्थात् धातुक्षय और मार्ग के आवरण के कारण वायु का प्रकोप होता है। वायु के प्रकोपक ये दो ही हेतु हों ऐसी बात नहीं है, अपितु अन्य प्रकोपक हेतुओं के साथ ये दो हेतु भी हैं। प्रस्तुत लेख में द्वितीय हेतु 'मार्गस्यावरणेन च' से सम्बन्धित विषय को उल्लिखित किया जा रहा है।

आवरण का शाब्दिक अर्थ है-आच्छादन। आयुर्वेद में उपर्युक्त प्रसंग में आवरण का अर्थ मार्गावरोध माना गया है। च. चि. २५।५९ की चक्रपाणिकृत व्याख्या से इस मान्यता की पुष्टि होती है। यथा—'...मार्गावरणन वेगप्रतिबन्धादेव कुपितो भवति। अथ भवतु मार्गरोधाद्वातकोप...। (चक्रपाणि)

अतएव यह अर्थ किया जाना चाहिये कि पित्त, कफ एवं रक्त आदि से मार्ग आवृत हो जाने पर वायु की गति प्रतिबन्धित होजाती है, जिसके कारण तत्रस्थित वह वायु प्रकुपित होकर विभिन्न व्याधियों एवं विकृतिपरक लक्षणों की उत्पत्ति करता है। आवरणजन्य वात प्रकोप से उत्पन्न होने वाली विकृतियों एवम् लक्षणों में आवृत करने वाले पित्त कफादि के लक्षणों का भी अस्तित्व होता है। अतः यदि भ्रमवश केवल पित्त कफादि का ही ध्यान रखते हुये चिकित्सा करदी जाय अथवा आवरण की उपेक्षा करके केवल वात की चिकित्सा करदी जाय तो अनेक दुष्परिणाम सामने आते हैं। अतः आवरण का सम्यक् ज्ञान अत्यावश्यक है।

आवरण-भेद का वर्णन दोषपूर्ण—

आवरण का अर्थ और स्वरूप ऊपर स्पष्ट कर दिया है। लेकिन ऊपर आवरण करने वाले दोषादि की संख्या नहीं कही गई है। यदि मूल रूप से आवरण स्वरूप दोषादि की गणना करें तो ये कुल ११ (ग्यारह) हैं। यथा—पित्त, कफ, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, अन्न, मूत्र और मल। चरकसंहिता में आवरण प्रकरण को जिस ढंग से प्रस्तुत किया गया है, उसमें सम्पादन कला की त्रुटि दिखाई देती है। आवरण के सम्पूर्ण प्रकारों का उल्लेख एक साथ न करके खण्डित रूप में किया गया है। पहले पित्तादि के आवरण से उत्पन्न लक्षणों का उल्लेख कर दिया, उसके बाद साध्यासाध्य वातज रोगों का उल्लेख करते हुए केवलवात की स्वतन्त्र और स्थानानुरूप चिकित्सा कह दी है। इसके अनन्तर वात प्रशमन के अनेक उपक्रमों और योगों का विस्तार से वर्णन करने के बाद पित्त और कफादि के उपर्युक्त ११ आवरणों की चिकित्सा का उल्लेख कर दिया है।

उपर्युक्त क्रम को देखने से यह पता चलता है कि प्रारम्भ में 'केवल वायुमुद्दिश्य स्थानभेदात्तथाऽऽवृतम्' के माध्यम से केवल वात और आवृतवात के वर्णन की प्रतिज्ञा करने वाले आचार्य ने आगे 'इत्युक्तमावृते पित्तादिभिर्यथायथम्' (च. चि. २८।१९९) इस स्थल पर अपना वात सम्बन्धी वर्णन समाप्त कर दिया, जो कि सूची के अनुसार उपयुक्त है। इसके बाद जब 'मारुतानां हि पञ्चानामन्योऽन्यावरणे शृणु' (च. चि. २८।१९९) के द्वारा पुनः आवरण का प्रकरण प्रारम्भ होता है तो यह संशय होना स्वाभाविक है कि या तो यह वर्णन बाद में प्रक्षिप्त है, अथवा सम्पादन-कला की त्रुटि का द्योतक है। यह भी हो सकता है कि उपर्युक्त ग्यारह आवरणों को ही प्रमुख मानकर इनका सम्पूर्ण वर्णन कर देने के बाद अवान्तर या गौण भेदों का वर्णन किया गया हो, पर यह भी इस ग्रन्थ

में इस वर्णन के पहले तक वर्णित शैली से भी मेल नहीं खाता, अतः एक सामान्य व्यक्ति को आवरण के सम्पूर्ण भेदों की एकरूपता करने में अत्यधिक क्लिष्टता दिखाई देती है। पुनः प्रारम्भ किये गये वर्णन में केवल वायु के ही अन्योऽन्यावरण कहे गये हों ऐसी बात नहीं है। अपितु पित्त और कफ के भी ग्यारह अवान्तर आवरणों का वर्णन किया है।

आवरण-भेद—

चरक में वातव्याधि-चिकित्साध्याय में कहे गये सम्पूर्ण आवरणों को निम्न प्रकार से एक स्थल पर प्रकट किया जा सकता है—

[१] स्वतंत्र आवरण [२] अन्योऽन्यावरण

१. स्वतन्त्र आवरण (अवान्तर भेदों सहित)—

इसमें पित्त-कफ आदि पूर्वोक्त ग्यारह के द्वारा स्वतन्त्र रूप से होने वाले आवरणों की गणना की जा सकती है। आवरणों का अवशिष्ट वर्णन करते हुए च. चि. २८।२२-२३२ में ग्यारह आवरण और कहे गये हैं, जो पित्त और कफ के आवरण के ही अवान्तर भेद हैं।

[क] ग्यारह स्वतन्त्र आवरण—पित्तावृत वात, कफावृत वात, रक्तावृतवात, मांसावृतवात, मेदसावृतवात, अस्थ्यावृतवात, मज्जावृतवात, शुक्रावृतवात, अन्नावृतवात, मूत्रावृतवात, मलावृतवात।

[ख] ग्यारह अवान्तर आवरण—स्वतन्त्र आवरणों में कहे गये प्रारम्भिक दो आवरणों (पित्त और कफ) का अधिक विश्लेषण करते हुए ग्यारह अवान्तर भेद कहे गये ते। यथा—

पित्तावरण (पित्तावृतवात)	कफावरण (कफावृतवात)
१. पित्तावृत प्राण	६. कफावृत प्राण
२. पित्तावृत उदान	७. कफावृत उदान
३. पित्तावृत समान	८. कफावृत समान
४. पित्तावृत व्यान	९. कफावृत व्यान
५. पित्तावृत अपान	१०. कफावृत अपान
	११. द्वन्दावृत वात

इस प्रकार पित्त और कफ के आवरण के ग्यारह भेद किये गये हैं। लेकिन ये अवान्तर आवरण यहां न कर आगे अन्योऽन्यावरण के वर्णन के बाद में किये गये हैं।

[ग] सम्भावित अन्य आवरण—जिस प्रकार से पित्त और कफ के आवरणों की गणना वायु के प्राणोदानादि पांच भेदों के साथ की गई है, उसी प्रकार द्वन्दावृत वात की भी प्राणोदानादि पांच भेदों के साथ गणना की जा सकती है।

अन्य आवरणों के अवान्तर भेद क्यों नहीं ?

जिस प्रकार पित्त और कफ के अवान्तर भेद किये गये हैं, वैसे भेद रक्तावृत, मांसावृत आदि क्यों नहीं किये गये ? यह विद्वानों के द्वारा विवेचन की अपेक्षा रखता है। मेरी दृष्टि से तो यह कहा जा सकता है कि—

अ—आवरण का मूल हेतु भी वायु ही है, वही कुपित होकर पित्त और कफ को उदीरण कर आवरणार्थ उद्वेलित करता है। पित्त और कफ उदीरण होकर किसी भी स्थल पर वायु के किसी भी भेद को आवृत करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार की सामर्थ रक्तादि में नहीं है।

ब—पित्त और कफ के द्वारा प्राणोदानादि के आवरण को जानकर चिकित्सा में तदनुरूप परिवर्तन किया जा कर शीघ्र लाभ प्राप्त किया जा सकता है—जैसे प्राणवायु के कफ का आवरण होने पर छींक, उद्‌गार और श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया में अवरोध होने पर सामान्य वायु के उपक्रम निरूहण अनुवासन (गोमूत्रयुक्त) करने की अपेक्षा श्वसन संस्थान से कफ और वायु के निर्हरण या प्रशमन के प्रयास किये जायेंगे। इसलिये पित्त और कफ के प्राणोदानादि प्रत्येक के साथ होने वाले पृथक्-पृथक् आवरण के वर्णन की आवश्यकता जितनी अधिक है उतनी रक्तादि के आवरण में नहीं क्योंकि उन-२ आवरणों में उस-उस द्रव्य और वात को ध्यान में रखकर चिकित्सा करना ही पर्याप्त है, वहां वायु के विभिन्न भेदों के साथ रक्तादि के आवरण को जानने से विशेष उपलब्धि नहीं होती।

२. अन्योऽन्यावरण—

एक बार ग्यारह आवरणों का लक्षण-चिकित्सात्मक सम्पूर्ण वर्णन कर देने के बाद पुनः वायु के परस्पर आवरणों (अन्योऽन्यावरण) का भी लक्षण और चिकित्सा सहित वर्णन किया गया है। ये आवरण २० हैं—

१—प्राण से आवृत उदान

२—प्राण से आवृत समान
३—प्राण से आवृत व्यान
४—प्राण से आवृत अपान
५—उदान से आवृत प्राण
६—उदान से आवृत समान
७—उदान से आवृत व्यान
८—उदान से आवृत अपान
९—समान से आवृत प्राण
१०—समान से आवृत उदान
११—समान से आवृत व्यान
१२—समान से आवृत अपान
१३—व्यान से आवृत प्राण
१४—व्यान से आवृत उदान
१५—व्यान से आवृत समान
१६—व्यान से आवृत अपान
१७—अपान से आवृत प्राण
१८—अपान से आवृत उदान
१९—अपान से आवृत समान
२०—अपान से आवृत व्यान

अत्यधिक उलझन—

इस लेख में मैंने दो-तीन जगह यह लिख दिया है कि आवरण का वर्णन अस्तव्यस्त है। पहले ग्यारह आवरणों के लक्षण और चिकित्सा समाप्त कर देने के बाद २० अन्योऽन्यावरण कहे गये हैं। इन आवरणों का वर्णन देखने के बाद तो उलझन और भी बढ़ जाती है। क्योंकि—

यथा स्थूलं समुद्दिष्टमेतदावरणेऽष्टकम्।
सलिङ्गभेषजं सम्यग्बुधानां बुद्धिवृद्धये ॥
(च. चि. २८।२१६)

ये वाक्य इस बात को प्रदर्शित करते हैं कि यहां तक आठ आवरण लक्षण और चिकित्सा सहित कहे गये हैं, जबकि यहां तक कहे गये अन्योऽन्यावरणों की संख्या बारह हो जाती है। केवल यही नहीं आगे भी—

स्थानान्यवेक्ष्य वातानां वृद्धिं हानिं च कर्मणाम्।
द्वादशावरणान्यन्यान्यभिलक्ष्य भिषग्जितम् ॥
(चि. २८/२१७)

इस श्लोक में यह कहा है कि अन्य बारह आवरणों को भी स्थान, कर्म और वृद्धि तथा हानि के आधार पर विचारित कर चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिये।

इन दोनों श्लोकों (२१६ एवं २१७) से यह स्पष्ट होता है कि आठ आवरणों का ही लक्षण और चिकित्सात्मक वर्णन किया गया है, तो फिर अन्य ४ आवरणों का वर्णन कहाँ से आ गया। मजे की बात तो यह है कि इन स्थलों पर व्याख्याकार आचार्य भी मौन हैं। चक्रपाणि ने 'आवरणेऽटकम्' और 'द्वादशावरणान्यन्यानि···' इन दो पंक्तियों की व्याख्या नहीं की, इसलिये हम यह कह सकते हैं कि चक्रपाणि ने इसे प्रक्षिप्त माना है, लेकिन इनके पूर्ववर्ति-व्याख्याकार जेज्जट ने 'अष्टकम्' की व्याख्या तो नहीं की पर 'द्वादशावरणानि···' की व्याख्या करते हुए '···बहुत्वेन च द्वादशानां चापरेषां स्थानान्यवेक्ष्य (यथास्वं प्राणादिभेदेन)··' कहा है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन्होंने जिस दूसरे टुकड़े की व्याख्या की है, उस टुकड़े को चक्रपाणि ने क्यों छोड़ दिया। इस संशय का निवारण ही करना हो तो हम यों कर सकते हैं कि आचार्य ने द्वादश आवरणों की चिकित्सा को संग्रह रूप में पुनः कहा है तथा वहीं पर अवशिष्ट आवरणों की चिकित्सा के लिये संकेत भी कर दिया है। जेज्जट के वचनों से यह अर्थ आसानी से किया जा सकता है, फिर भी 'अष्टकम्' वाली पंक्ति को या तो पूर्णतः हटाना पड़ेगा अन्यथा वहाँ संशोधन अपेक्षित है।

समीक्षा आवश्यक—

मूलरूप से मैं आचार्यों के संहितोक्त पाठ तथा संस्कृत व्याख्याकारों के विपरीत टिप्पणी करना पसन्द नहीं करता, पर वर्तमानकाल में हमें ये स्थल जिस रूप में प्राप्त हो रहे हैं उनमें साङ्कर्य के संशय का निषेध नहीं किया जा सकता। अतः यथासम्भव हमें इनके वचनों से यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। यदि इसमें सफलता न मिल सके तो विद्वत्समूह के द्वारा पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद इनमें संशोधन कर देना चाहिये।

आवरण के कारण—

आवरण के उपर्युक्त विवरण तथा आगे कहे जाने

वाले लक्षण समूह और चिकित्सा को देखते हैं तो यह भ्रम होता है कि आवरकों (आवरक पित्तादि)' का ही प्राधान्य है, अतः कारण भी ऐसे ही होंगे जिनसे इन पित्त कफादि की वृद्धि होती है तथा बढ़े हुये ये पित्तादि वायु को आवृत कर लेते हैं, लेकिन वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। इस सन्दर्भ में हम निःसन्देह यह कह सकते हैं कि—

"आवरण का मूल हेतु वायु ही है"

मोटे तौर पर अल्पज्ञ व्यक्ति भी यह तर्क उपस्थित कर सकता है कि—नानात्मज रोग 'वातव्याधि' प्रसङ्ग में किया गया आवरण का वर्णन नानात्मज स्वरूप का ही होगा। अतः सामान्यज नहीं होने से उसमें पित्त और कफ का हेतुत्व नहीं होता, पर आवरण के लक्षण और चिकित्साक्रम में आवरण कर्ता पित्त और कफ को जिस प्रकार से प्राथमिकता दी गई है, उसे देखते हुए यह भ्रम हो सकता है कि सम्भवतः पित्त और कफ भी स्वयं प्रकुपित होते होंगे। पर आवरण प्रकरण के प्रारम्भ में ही आचार्य के द्वारा इसके मूल हेतु को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—

वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष शरीर में सम्पूर्ण स्रोतस् में अनुसरण करते हैं। (उन सबमें मूल कारण वायु ही है, क्योंकि) वायु ही सूक्ष्म होने के कारण पित्त और कफ को उभाड़ने वाली होती है।[1] आवरण के मूल हेतु को स्पष्ट करते हुए आचार्य आगे लिखते हैं—'कुपित हुई वात अन्य दोनों दोष पित्त और कफ को उभाड़ कर शरीर में भिन्न-भिन्न स्थलों पर उन्हें फैंकते हुये रोगों को उत्पन्न करती है। क्षिप्त ये दोष मार्ग को आवृत कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में यह वायु मार्गावरोध के कारण अधिक विकृत होती हुयी रसादि धातुओं का उपशोषण करती है'[2]

इस प्रसङ्ग को देखकर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि आवरण का मूल हेतु भी प्रकुपित वात ही है। अतः वात-प्रकोपक जितने भी हेतु हैं वे सभी आवृत-वात के भी हेतु हैं। आवृत-वात में पित्त, कफ, रक्त आदि को आवरण स्वरूप प्रदान करने का मूल हेतु यह वायु ही है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि स्थान विशेष में वायु का प्रकोप होने पर वहां पर पहले से ही स्थित (वृद्ध या अवृद्ध रूप में स्थित) पित्त और कफ के द्वारा आवरण होता है। रक्तादि के द्वारा होने वाला आवरण विचारणीय है, क्योंकि इसे रक्तगत, मांसगत-वात आदि संज्ञा नहीं दे सकते। इसका मुख्य कारण यह है कि इन संज्ञाओं के रूप में तो पहले वर्णन किया जा चुका है। अत आवृतवात में तो रक्तादि का स्वरूप दूसरे ही प्रकार का होगा। इस सम्पूर्ण सन्दर्भ में संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि आवरण रूप होने से ही पहले रक्तादि भी दूषणोन्मुख होते हैं।

आवृत वात के लक्षण—

सामान्यतया आवृतवात के लक्षणों में यह विशेषता होती है कि जिस किसी का भी आवरण होगा उस दोष या धातु के लक्षण वात के विकृत्यात्मक लक्षणों के साथ प्रमुख रूप से प्रकट होंगे। वात के लक्षणों के साथ प्रकट होने वाले इन प्रमुख लक्षणों से ही आवरण का ज्ञान होता है।

यहां क्रमशः सभी आवरणों के लक्षणों का उल्लेख किया जा रहा है—

१. पित्तावृतवात—जब वायुपित्त से आवृत होती है तो दाह, तृष्णा, शूल, भ्रम, तम (नेत्रों के आगे अन्धकार छा जाना) आदि लक्षण होते हैं। कटु, अम्ल एवं लवण रस, प्रधान द्रव्यों तथा उष्ण द्रव्यों के सेवन से विदाह होता है तथा वह व्यक्ति शीतवीर्य द्रव्यों की कामना करता है। यह पित्तावरण का उपशयानुपशयात्मक ज्ञान है।

२. कफावृतवात—शैत्य एवं गौरव की अनुभूति के साथ-साथ शूल होना तथा कटु, अम्ल, लवण-रस प्रधान द्रव्यों से तथा उष्ण वीर्य द्रव्यों के सेवन से उपर्युक्त लक्षणों की शांति होना तथा लङ्घन एवं परिश्रम करने की तथा रूक्ष एवं उष्ण वस्तुओं के सेवन की इच्छा बनी रहना इसके प्रमुख लक्षण हैं।

[1]—वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः। वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद् द्वयोस्तत्राप्युदीरणः॥ (च. चि. २८।५९)

[2]—कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र तत्र क्षिपन् गदान्। करोत्यावृत मार्गत्वाद्रसादींश्चोपशोषयेत्॥ (च. चि. २८।६०)

३. रक्तावृतवात—वायु से आवृत होने पर त्वचा और मांस-पेशियों के मध्य में दाह और अधिक वेदना होती है। इसके अतिरिक्त लालिमायुक्त शोथ और मण्डल (चकत्ते) उत्पन्न हो जाते हैं।

४. मांसावृतवात—कठिन और विवर्ण पिड़काओं की उत्पत्ति, शोथ, रोमांच एवं शरीर पर चींटियों के चलने जैसे प्रतीति होती है।

५. मेदसावृतवात—विभिन्न-अङ्गोंमें चलत्व, स्निग्धत्व, मृदुत्व और शैत्य की अनुभूति होना तथा भोजन में अरुचि और अङ्गों में शोथ होना मेदसावृत के लक्षण हैं। यह कष्ट साध्य है तथा चरक ने इसे आढ्यवात कहा है, सुश्रुत ने ऊरुस्तम्भ को आढ्यवात कहा है।

६. अस्थ्यावृवात—वात के अस्थ्यावृत होने पर उष्ण स्पर्श और अङ्गों को दबाने (पीड़न) की आकांक्षा करता है। अङ्गों के टूटने और सूई चुभोने के समान पीड़ की अनुभूति करता है।

७. मज्जावृतवात—मज्जा से आवृत होने पर शरीर का टेढ़ा होना एवं जम्भाई का आना अधिक होता है। शरीर में ऐंठन और शूल होता है, हाथों से शरीर को दबाने पर सुख की अनुभूति होती है।

८. शुक्रावृतवात—जब वायु शुक्र से आवृत होती है शुक्र में वेग नहीं होता या शुक्र में अतिवेग होता है। इन दोनों अवस्थाओं के साथ-साथ शुक्र में निष्फलत्व (गर्भ धारण कराने में असमर्थ) होता है।

९. अन्नावृतवात—भोजन करने के बाद उदर में शूल होना तथा भोजन के जीर्ण हो जाने पर शूल का होना ही अन्नावृतवात का प्रमुख लक्षण है।

१०. मूत्रावृतवात—जब वायु मूत्र से आवृत होजाती है तो वस्ति में आध्मान और मत्र की अप्रवृत्ति होती है

११. विड़ावृत वात—विड़ावृत वात में मल की प्रवृत्ति नहीं होती। पक्वाशय में कैंची से काटने की सी पीड़ा होती है। भोजन के स्निग्धांश या स्नेह का शीघ्र पाचन हो जाता है तथा आनाह हो जाता है। अन्न से पीड़ित मल दुःखपूर्वक, अत्यन्त शुष्क रूप में, अत्यधिक देर से निकलता है। श्रोणि, वंक्षण और पृष्ठ प्रदेश में वेदना होती है, वायु सर्वदा प्रतिलोम रहती है। हृदय भी अस्वस्थ रहता है; क्योंकि आनाह और प्रतिलोमगत वायु से इसका पीड़न होता रहता है।

अन्य अवान्तर भेद—

१२. पित्तावृत प्राण—पित्तदोष से प्राणवायु के आवृत होने पर मूर्छा, दाह, भ्रम, शूल, विदाह, शीत पदार्थों एवं संस्पर्शादि की कामना, अन्न का विदग्ध स्वरूप में वमन के द्वारा निकलना आदि लक्षण होते हैं।

१३. पित्तावृत उदान—पित्त से उदान वायु के आवृत होने पर मूर्च्छा, दाह, भ्रम, शूल आदि तथा नाभि और उरःप्रदेश में विशेष दाह, क्लम, ओजोनाश और अवसाद की स्थिति उत्पन्न होती है।

१४. पित्तावृत समान—समान वायु जब पित्त से आवृत हो जाती है तो अत्यधिक स्वेद आना, अधिक प्यास तथा अधिक दाह होने के साथ-साथ मूर्च्छा और अरुचि होती है। इसके अतिरिक्त उस व्यक्ति की जठराग्नि का भी नाश होता है।

१५. पित्तावृत व्यान—सर्वांग में दाह एवं क्लम होता है तथा शरीर की विक्षेप क्रिया अर्थात् अंग संचालन (हाथ-पैर चलाना) आदि में अवरोध होता है। सन्ताप और वेदना की अनुभूति होती है तो व्यान वायु को पित्तावृत समझना चाहिए।

१६. पित्तावृत अपान—हरिद्रा के समान मूत्र और पुरीष का होना तथा गुदा और लिंग में ताप होना अपान वायु के पित्तावृत होने के लक्षण हैं। स्त्रियों में पित्तावृत अपान में मासिक स्राव की अधिक प्रवृत्ति होती है।

१७. कफावृत प्राण—बार-बार थूकना तथा छींक, उद्गार और श्वास प्रश्वास प्रक्रिया में रुकावट होना, भोजन में अरुचि और वमन होना ये सभी लक्षण कफावृत प्राणवायु में होते हैं।

१८. कफावृत उदान—कफ के द्वारा उदान वायु के आवृत होने पर शरीर में विवर्णता, वाणी और स्वर का अवरोध, दुर्बलता, गुरु गात्रता और अरुचि आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

१९—कफावृत समान—स्वेद का अभाव, अग्निमांद्य,

लोमहर्ष और अतिशैत्य आदि लक्षण 'कफावृत-समान' के हैं।

२०. कफावृत व्यान—सम्पूर्ण शरीर में गुरुता, सम्पूर्ण अस्थिसंधियों में वेदना तथा गति का अवरोध 'कफावृत-व्यान' के लक्षण हैं।

२१. कफावृत अपान—अपान वायु के कफ से आवृत होने पर पतला तथा आम और कफ से मिश्रित गुरु मल की प्रवृत्ति होती है तथा रोगी कफजन्य प्रमेह से भी पीड़ित हो जाता है।

२२. द्वन्दावृत वात के लक्षण—पित्त और कफ के लक्षणों के मिश्रित स्वरूप को (आवरण के सन्दर्भ में) देख कर मिश्रित आवरण (द्वन्दावरण) का ज्ञान करना चाहिए।

अन्योऽन्यावरण—

२३. प्राण से आवृत उदान—आवरण के इस भेद में शिर में भारीपन एवं प्रतिश्याय का होना तथा श्वास-प्रश्वास में अवरोध, हृद्रोग, मुखशोष आदि लक्षण होते हैं।

२४. प्राण से आवृत समान—जड़ता, गद्-गद् वाक्य बोलना या मूक हो जाना ये लक्षण प्राणावृत समान में होते हैं।

२५. प्राण से आवृत व्यान—सम्पूर्ण इन्द्रियों में शून्यता का अनुभव होना तथा स्मरण शक्ति एवं बल का क्षय होना प्राणावृत व्यान वायु को द्योतित करता है।

२६. उदान से आवृत प्राण—शारीरिक कर्म अर्थात् चेष्टायें, ओज, बल और वर्ण का नाश हो जाता है, मृत्यु भी हो सकती है।

२७. उदान से आवृत व्यान—अङ्गों में जकड़ाहट, जठराग्निमान्द्य, स्वेदाभाव, चेष्टहानि, नेत्रों को बन्द रखने में ही सुखानुभूति आदि लक्षण उदानवृत व्यान के हैं।

२८. उदानावृत अपान—उदान से अपान के आवृत होने पर वमन, श्वास, कास आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

२९. समान से आवृत व्यान—समान वायु के आवृत होने पर मूर्च्छा, तन्द्रा, प्रलाप, अंगसाद, अग्निनाश, ओज और बल का नाश हो जाता है।

३०. समान से आवृत अपान—ग्रहणी दोष, पार्श्व में पीड़ा, हृद्रोग एवं आमाशय में शूल होता है।

३१. व्यान से आवृत प्राण—अत्यधिक स्वेद, लोमहर्ष, त्वचा के दोष (अथवा त्वचा में सिकुड़न, कृष्णत्व आदि) एवं अंगों में सुप्तता आदि लक्षण होते हैं।

३२. व्यान से आवृत अपान—वमन, आध्मान, उदावर्त, गुल्म और परिकर्तिका आदि की उत्पत्ति व्यानावृत अपान के कारण होती है।

३३. अपान से आवृत उदान—मोह, अग्निमान्द्य, अतिसार आदि लक्षण अपानावृत उदान को सूचित करते हैं।

३४. अपान से आवृत व्यान—अपान वायु से व्यान के आवृत होने पर मल, मूत्र और शुक्र की अति प्रवृत्ति होती है।

३५ से ४२—चरक संहिता में अन्योऽन्यावरण के २० भेदों का उल्लेख है, पर लक्षण एवं चिकित्सा १२ की ही कही गई है, अवशिष्ट आठ के लक्षण और चिकित्सा वैद्य अपनी बुद्धि के अनुसार जाने, ऐसा निर्देश किया गया है। ये अवशिष्ट ८ आवरण निम्नलिखित हैं—

प्राणावृत अपान, उदानावृत समान, समानावृत प्राण, समानावृत उदान, व्यानावृत उदान, व्यानावृत समान, अपानावृत प्राण, अपानावृत समान।

इस प्रकार अवान्तर भेद आदि को एक साथ गिन लिया जाय (यद्यपि इस तरह गिनना उपयुक्त नहीं है, फिर भी) तो आवरणों की कुल संख्या ४२ हो जाती है। ग्यारह अवान्तर भेदों के गिनने पर उनके मूल दो भेदों [पित्तावृत वात और कफावृत वात] को नहीं गिनना चाहिये अतः साथ साथ सभी भेदों की गणना से ४० भेद ही सामने आते हैं।

आवरण की चिकित्सा—

आवरण चिकित्सा में सर्वप्रथम आवरण का सम्यक् ज्ञान करके उसको दूर करने के प्रयत्न करने चाहिये। आवरण को दूर करते समय वात-दोष की अभिवृद्धि न हो जाय, यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है। यहाँ क्रमशः विभिन्न आवरणों की चिकित्सा का उल्लेख किया जा रहा है—

सामान्य सिद्धान्त—

दोषों के संसर्ग और आवरण में साधारण चिकित्सा करनी चाहिए। अर्थात् पित्त, कफ, दोषों अथवा अन्य

धातुओं से आवृत होने पर उन पित्तकफादि को दूर करने के जो साधारण उपक्रम अन्यत्र कहे गये हैं वे सभी आवृत वात में किए जाने चाहिये—

क्रिया साधारणी सर्वा संसृष्टे चापि शस्यते ।
वात पित्तादिभिः स्रोतःस्वावृतेषु विशेषतः ॥
(च. चि. २८/१८३)

१. पित्तावृत वात की चिकित्सा—बारी-बारी से शीत और उष्ण क्रियायें करनी चाहिये तथा वातरक्ताधिकारोक्त जीवनीय घृत का प्रयोग करना चाहिये। मधुयष्टी तैल, बलातैल, दुग्ध एवं लघु पंचमूल के क्वाथ को एकत्र मिलाकर परिषेचन करना चाहिए। केवल दुग्ध, लघु पञ्चमूल क्वाथ या शीतल जल से भी परिषेचन करना लाभप्रद है। विरेचन देना चाहिये तथा यापनवस्ति और क्षीर वस्तियां दी जानी चाहिये। पित्तावृत वात में ये द्रव्य पथ्य रूप में दिये जाने चाहिए—जाङ्गल पशु पक्षियों का मांस, जौ, शालि चावल तथा लघु पंचमूल एवं बला से शुद्ध दुग्ध। पित्त का सर्वाङ्ग कुपित स्वरूप हो तो विरेचन सर्वोत्कृष्ट है। यदि पित्त का प्रकोपस्थल पक्वाशय हो तो दूध के साथ निरूह वस्ति देनी चाहिये तथा मधुरवर्ग की औषधियों से सिद्ध तैल से अनुवासन वस्ति देनी चाहिए।

२. कफावृत वात की चिकित्सा—कफावृत वात में खपयुक्त स्थिति देखकर सर्वप्रथम वमनयोग्य व्यक्ति को वमन कर्म करवाना चाहिये। आमाशयस्थ कफ के लिए वमन सर्वोत्कृष्ट है, लेकिन यदि कफ का प्रकोपस्थल पक्वाशय हो तो विरेचन करवाना चाहिए। इसके अतिरिक्त कफावृत वात का अधिष्ठान यदि अधो आमाशय या पक्वाशय है तो गर्म गोमूत्र मिलाकर निरूह वस्ति देनी चाहिये। इसके बाद मधुरवर्ग से सिद्ध तैल से अनुवासन दिया जाना चाहिए। यदि कफ के साथ वात शिरःप्रदेश में चला गया हो तो तो धूम, नस्य आदि शिरोरोगनाशक विधियों का प्रयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त तीक्ष्णस्वेदन, वमन, विरेचन, नस्य एवं वस्ति का आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जा सकता है। कफावृत वात में जौ से बने हुये आहार, जांगल पशु-पक्षियों का मांस, घृत एवं तैल का प्रयोग पथ्य रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

३. रक्तावृत वात चिकित्सा—वातरक्त चिकित्सा में किये जाने वाले उपक्रमों (संशोधन, रक्त मोक्षण, स्नेहपान, अभ्यङ्ग, अनुवासन, उपनाह आदि) का प्रयोग तथा वातरक्तोक्त योगों का प्रयोग करना चाहिये।

४. मांसावृत वात की चिकित्सा—स्वेदन, अभ्यङ्ग का प्रयोग तथा मांसरस, दुग्ध एवं घृत-तैल आदि स्नेहों का प्रयोग उपयुक्त है।

५. मेदसावृत वात-चिकित्सा—प्रमेह, वात और मेद को नष्ट करने वाली औषधियों और उपक्रमों का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिये।

६. ७. अस्थि एवं मज्जावृतवात चिकित्सा—इनमें महास्नेह (घृत, तैल, वसा एवं मज्जा) का पान, अभ्यंग एवं वस्ति आदि के द्वारा प्रयोग करना चाहिये।

८. शुक्रावृत वात चिकित्सा—बल एवं शुक्र तथा हर्षण करने वाले अन्नपान का प्रयोग करना चाहिये, यदि मार्गावरोध होने से शुक्र अवरुद्ध हो तो शुक्र का विरेचन करने वाले द्रव्य एवं उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए।

९. अन्नावृतवात चिकित्सा—अन्न से वात के आवृत होने पर वमन द्वारा उस अन्न को निकाल देना चाहिये तथा दीपन एवं पाचनात्मक उपक्रम एवं योग प्रयुक्त करने चाहिये। ऐसे रोगी को लघु-अन्न देना चाहिये।

१०. मूत्रावृत वात चिकित्सा—मूत्र से वात के आवृत होने पर मूत्रल औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त स्वेदन तथा उत्तरवस्ति भी दी जानी चाहिये।

११. विड़ावृत वात चिकित्सा—पुरीष से वात के आवृत होने पर एरण्ड तैल पिलाना चाहिये। स्निग्ध द्रव्यों का निरन्तर सेवन करने के अतिरिक्त उदावर्तहर उपक्रम (अनुलोमन, स्नेहन, वर्ति आदि) करने चाहिये।

१२ से २२ पित्तावृत प्राण से लेकर द्वन्द्वावृत वात तक के ११ (ग्यारह) आवरणों के लक्षण चरक में कहे गये हैं पर इनकी चिकित्सा का स्पष्टतः

उल्लेख नहीं किया गया है। अतः लक्षणों को देखकर तदनुरूप चिकित्सा करनी चाहिए। वातव्याधि की सामान्य चिकित्सा में कहे गए उपक्रम भी आवरण वात के लिए उपयोगी हैं।

२३. प्राण से आवृत उदान की चिकित्सा—ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों में किए जाने वाले धूम्र, नस्य, अञ्जन, परिषेक एवं शिरोविरेचन आदि उपक्रमों का प्रयोग प्राणावृत उदान में किया जाना चाहिए।

२४. प्राण से आवृत समान की चिकित्सा—यापन वस्ति तथा स्नेह के चार प्रयोग (पान, अभ्यङ्ग, नस्य और अनुवासन) प्राणावृत समान में उपयोगी हे।

२५. प्राण से आवृत व्यान चिकित्सा—ऊर्ध्वजत्रु गत रोगों किये जाने वाले धूमादि उपक्रम किये जाने चाहिए।

२६. उदान से आवृत प्राण की चिकित्सा—शीतल जल से परिषेक, आश्वासन तथा विश्राम एवं सन्तर्पण-कारक लघु द्रव्यों, विशेषकर फलों का प्रयोग किया जाना चाहिये।

२७. उदान से आवृत व्यान की चिकित्सा—लघु, अल्प भोजन का प्रयोग तथा वातविकारनाशक सामान्य उपक्रमों का प्रयोग परिस्थिति के अनुसार विधेय है।

२८. उदान से आवृत अपान की चिकित्सा—निरूह और अनुवासन आदि का प्रयोग तथा वात का अनुलोमन करने वाले आहार औषध द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

२९. समान से आवृत व्यान की चिकित्सा—व्यायाम तथा लघु भोजन के साथ साथ वात व्याधि-नाशक साधारण उपक्रम उपयोगी हैं।

३०. समान से आवृत अपान की चिकित्सा—इसमें अग्निदीपक घृत परमोपयोगी होते हैं।

३१. व्यान से आवृत प्राण की चिकित्सा—स्नेह मिलाकर विरेचन औषधि का प्रयोग करना चाहिए।

३२. व्यान से आवृत अपान की चिकित्सा—स्निग्ध द्रव्यों को खिलाकर वातानुलोमक द्रव्यों एवं उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए। आध्मान, गुल्म और परिकर्तिका रोगों में कहे गये उपक्रम भी विधेय हैं।

३३. अपान से आवृत उदान की चिकित्सा—परिस्थिति का पूर्ण अवलोकन कर सर्वप्रथम वमन करवाना चाहिए। आहार में अग्निदीपक और ग्राही अन्नपान उपयोगी हैं।

३४. अपान से आवृत व्यान की चिकित्सा—इसमें संग्राहक औषधि और अन्नपान का प्रयोग करना उपयुक्त रहता है।

३५. से ४२. पीछे आवरण के ऐसे आठ भेदों का उल्लेख कर दिया गया है जिनके लक्षण और चिकित्सा चरक में उल्लिखित नहीं हैं अतः लक्षण एवं दोष की स्थिति के अनुसार वैद्य को स्वयं बुद्धि के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

उपसंहार—

१—आवरणवात वातव्याधि की एक विशिष्ट अवस्था है अतः आवृत और आवरणकर्ता दोनों को ध्यान में रखते हुए चिकित्सा की जाती है।

२—चरक में आवरण का वर्णन अनेक प्रकार से किया गया है, जो आवरण के सूक्ष्मेक्षण में उपयोगी है, अतः सम्पूर्ण आवरण भेदों को ध्यान में रखकर ही चिकित्सा विधेय है।

३—आवरण का मूल हेतु वायु ही है अतः चिकित्सा भी मूलतः वात की ही की जाती है, पर उस तक पहुँचने के लिए पहले आवरण को दूर किया जाना आवश्यक होता है।

४—आवृत वात में आवरण की चिकित्सा प्रथम तथा मूल हेतु वायु की चिकित्सा बाद में की जाती है। जिसके लिए वात व्याधि चिकित्सा के सामान्य सिद्धांत, उपक्रम और आहार तथा औषध उपयोगी हैं।

—:※:—

★ वैद्य बनवारीलाल गौड़ भिषगा०, आयु० बृह०

वात दोष से स्वतन्त्र रूप में उत्पन्न होने वाले विकार नानात्मज वात व्याधि के अन्तर्गत आते हैं। आयुर्वेदिक शास्त्रों में इनकी संख्या अपरिसंख्येय मानी गयी है। (च० सू० २०/१०) लेकिन चिकित्सा सौकर्य की दृष्टि से इनकी संख्या को सीमित (अस्सी प्रकार) माना गया है। (च० सू० २०/१०) शार्ङ्गधर ने भी वात के नानात्मज विकार अस्सी ही गिनाये हैं परन्तु वे अधिक स्पष्ट और प्रसिद्ध हैं। (शा० पूं० ७/१०५-११५)

इन सब वात विकारों में वात के स्वाभाविक स्वरूप तथा कर्म के परिचायक निश्चित लक्षण होते हैं यथा—रूक्षता, शीतता, लघुता, विशदता, अदृश्यता, गति और अस्थिरता। ये लक्षण न्यून या अधिक सम्पूर्ण सर्वांग अथवा एकांग में उपस्थित हों तो निःसंशय वातिक विकार का निर्णय करना चाहिए।

वृद्धावस्था में वात की अधिकता से शरीर के अन्दर एवं बाहर रूक्षता आ जाती है। इस रूक्षता के कारण शरीर की कोमलता में न्यूनता आ जाती है। स्निग्धांश रूक्षता के कारण सूखने लगते हैं। सन्धि बन्धन ढीले और विकृत हो जाते हैं। सन्धि स्थानों में पीड़ा होती है जिससे गमनात्मक कार्यों में कष्ट होता है। शरीर में तेज, कांति, सौन्दर्य का ह्रास होने लगता है। वायु के लघु गुण के कारण शरीर की दृढ़ता, पुष्टि और भारीपन में अल्पता आने लगती है। रक्त की संवहनशीलता क्षीण पड़ने लगती है जिससे रक्तचाप के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। अच्छी निद्रा के लिये तृप्ति और शांति की अति आवश्यकता होती है। किन्तु इनकी कमी से निद्रानाश के लक्षण पैदा होने लगते हैं। मांसपेशी, शरीर के आशय, अवयव, नाड़ियां, शिरा धमनी सब में रूक्षता और संकोच की प्रवृत्ति बढ़ने लगती है जिससे शरीर में थकान, गात्र पीड़ा, शिथिलता, श्रोणिभेद, भ्रम, विषाद, शङ्ख भेद, ललाट भेद, शिरो वेदना आदि विकार पैदा होने लगते हैं। सन्धियों में रूक्षता के कारण उनकी शक्ति में क्षीणता आने लगती है और घ्राणनाश, अरसज्ञता, बधिरता, कर्णनाद, कर्णशूल, तिमिर आदि लक्षणों की उत्पत्ति होती है। शीत की वृद्धि के कारण और पित्त दोष की अल्पता से जठराग्नि अपना कार्य सुचारु रूप से नहीं कर पाती, जिसके कारण विड्भेद, उदावर्त, विबन्ध, बद्धकोष्ठ और कालान्तर में अर्शरोग से वृद्ध पुरुष आक्रान्त हो जाते हैं। वायु के चल गुण के कारण गमनात्मज कार्यों की प्रवृत्ति होती है लेकिन तदनुरूप क्रिया नहीं होती और आक्षेपक, कम्प, दण्डक, पक्षाघात, अर्दित आदि रोग उत्पन्न होने लगते हैं। अन्य भी—

[१] स्रंस भ्रंश व्याससंगभेद, ··· वायोःकर्माणि।
तैरन्वितं ········ वातविकारमेवाध्यवस्येत् ॥
—[च० सू० २०/१२]

[२] स्रंसव्यासव्यास्वापसाद ··· ।
··· कर्माणि वायोः ॥
—[अ० हृ० सू० १२/४९-५१]

स्रंस (संधि शैथिल्य), भ्रंश (संधिच्युति,) व्यास (हाथ पैर आदि फटना), संग (मूत्र-पुरीषादि मलों का रुद्ध होना व वाणी आदि का बन्द होना), भेद (अङ्ग में फाड़े जाने की सी वेदना), साद (अङ्गों का अपने-अपने

—शेषांश पृष्ठ १५८ पर देखें।

वातज शिरोरोगों पर शिरोवस्ति

कवि० डा० हरिवल्लभ मन्नूलाल सिलाकारी द्विवेदी आयु०

शिरोरोग ग्यारह प्रकार का है—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज, क्षयज, कृमिज, सूर्यावर्त, अनन्तवात, अर्द्धावभेदक, शङ्खक ।

वातज शिरोरोग के लक्षण—

यस्यनिमित्तंशिरसोरुजश्चभवन्तितीव्रानिशिचातिमात्रम् ।
बन्धोपतापैः प्रशमश्चयत्र शिरोभितापः ससमीरणेन ।२।
—मा० नि० ।

जिस मनुष्य के शिर में अकारण तीव्र पीड़ा हो तथा रात्रि में पीड़ा अधिक हो और शिर को बांधने एवं सेकने से आराम मिले । यह वातज शिरोरोग के लक्षण है ।

सर्वप्रथम कारण का प्रतिकार करना चाहिये । यदि रोगी को मलावरोध हो तो अवस्थानुसार कवोष्ण गौदुग्ध में एरण्ड तैल प्रातः पिलाना चाहिए । अथवा रात्रि में सोते समय अनुकूल मात्रा निर्धारित कर पंचसकार चूर्ण उष्ण जल के साथ देना चाहिए । रोग तथा रोगी की अवस्थानुसार शिरोविरेचन और नस्य का प्रयोग भी करना उचित है, तभी वस्ति प्रयोग का पूर्ण लाभ होगा ।

१. नस्य—गौघृत ६ माशा, केशर १ माशा, देशी कपूर ४ रत्ती । कपूर और केशर को महीन पीसकर पतले घृत में मिलाकर रोगी की नासिका में नस्य दें ।

२. षड्बिन्दु तैल [भैषज्य रत्नावली कथित]—की ६-६ बूंद नासिका में प्रविष्ट करनी चाहिए ।

३. शिरःशूलादि वज्ररस [भैषज्य रत्नावली कथित]—मात्रा २ से ६ रत्ती तक, अनुपान—मधु में मिश्रित कर चाटना और ऊपर से सुंठ-मिश्री मिलाकर पकाया हुआ गौदुग्ध पिलाना । समय—दिन में दो बार अथवा आवश्यकतानुसार देना ।

सन् १९२५ में मैंने अपने पिता स्व. राजवैद्य पण्डित मन्नूलाल जी सिलाकारी तथा स्व० गुरुवर्य श्री १०८ स्वामी निरञ्जन देव सरस्वती जी महाराज के वातज शिरोरोग को नष्ट करने के लिए शिरोवस्ति का प्रयोग लगभग एक मास किया ।

शिरोवस्ति की प्रयोग विधि—

रोगी के शिर के नाप की मृगचर्म की वस्ति चर्मकार से सिला लेनी चाहिए । वस्ति की चौड़ाई बारह अंगुल की हो और उसके रोम बाहर की ओर हों । रोगी के शिर को उस्तरे से मुंडवाना चाहिए । वस्ति का उपयोग खाली पेट प्रातःकाल करना चाहिए । रोगी को कोमल आसन पर बैठाकर, वस्ति शिर पर लगाकर वस्ति की सन्धि को चारों ओर से उड़द की पिण्ठी से बंद कर शुद्ध काली तिली के आधा लीटर तैल में शुद्ध बादाम का तैल २५ ग्राम मिलाकर भर दें तथा वस्ति एक

घण्टे तक लगा रखें। इसके पश्चात् वस्ति के तैल को हटाकर वस्ति निकालकर शिर को स्वच्छ कपड़े से पोंछ दें और आधा घण्टे तक शैया पर लेट कर विश्राम करने को कहें। तदोपरान्त स्नानादि नित्य कर्म करना। सुपाच्य एवं घृतयुक्त पौष्टिक-पदार्थ सेवन करना तथा गरिष्ठ भोजन, आलू, प्याज, वातकारक आहार का परित्याग करना। धूम्रपान को सर्वथा त्यागना चाहिए। इस प्रकार शिरोवस्ति के नियमित उपयोग से वातज शिरोरोग नष्ट हो गए।

इसी प्रकार सन् १९३४ में पूज्य गुरुवर्य की तार द्वारा बम्बई से सूचना प्राप्त हुई। मुझे सेठ भगानदास जी के शिरोरोग के उपचारार्थ बम्बई पहुंचना है। मैं गुरुदेव के आदेशानुसार बम्बई पहुंचा। सेठ जी शिरोवेदना [वातज शिरोरोग] द्वारा पीड़ित (बेचैन) थे। बम्बई के प्रसिद्ध डाक्टरों की चिकित्सा से कोई लाभ न था। मैंने सेठ जी को रात्रि में सोते समय पंचसकार चूर्ण गुनगुने जल से दिया। प्रातःकाल एरण्ड तैल की वस्ति (एनिमा) दी। कोष्ठशुद्धि के उपरांत दूसरे दिन से शिरोवस्ति का उपरिलिखित विधि द्वारा उपयोग किया। शिरःशूलादि वज्र रस ४ रत्ती, प्रवाल भस्म २ रत्ती, कपर्दिक भस्म २ रत्ती, यह एक मात्रा, ६ माशा मधु में मिलाकर प्रातः सायंकाल दी। रात्रि में चंद्रप्रभावटी (शारंगधर) ४ रत्ती और महावात विध्वंस रस (रसयोगसागर) २ रत्ती, एक मात्रा गुनगुने दुग्ध एक पाव के साथ प्रयोग की गई। शिरोवस्ति और औषधि तीन सप्ताह चालू रहीं, जिसके फलस्वरूप सेठ जी का वातज शिरोरोग नष्ट हो गया।

★ वृद्धावस्था के वातविकार — पृष्ठ १५६ का शेषांश ★

कर्म में अशक्त होना), हर्ष (रोमांच,) प्यास, कम्पन, वर्त (मल आदि का शुष्क हो गुलिका रूप हो जाना), स्पन्दन (फड़कन), तोद (चुभने की सी वेदना), वेष्टन (अङ्गों के मरोड़े जाने का सा अनुभव), अङ्गों में खरता, परुषता, विषदता, सछिद्रता, त्वचा-नख आदि का वर्ण श्याव व अरुण होना। मुख का रस कषाय व फीका होना। शोष, शूल, सुप्ति (सुन्न होना), संकोच स्तम्भ (संधियों का जकड़ना), पंगु—लंगड़ाना इत्यादि इन लक्षणों को देख शास्त्र में अनुक्त विकारों को वातिक निश्चित कर तदनुरूप चिकित्सा करनी चाहिए।

वर्तमान विज्ञान के अनुसार वातिक रोगों का कारण नाड़ियों के विकार हैं यह विकार कई प्रकार के हैं यथा—नाड़ी दौर्बल्य, नाड़ीपाक, सुषुम्नापाक, नाड़ी शोष आदि। वृद्धों में सुधा (Calcium) के संचय के कारण शुद्धरक्त केशिकायें खर हो जाती हैं जिससे उनका मार्दव (स्थिति स्थापकता) न्यून हो जाती है। ऐसी दशा में उन पर रक्तचाप, मानसिक या शारीरिक श्रम आदि के कारण रक्त का अति भार आ पड़े तो मस्तिष्क की सूक्ष्म केशिकायें विदीर्ण हो जाती हैं। इनसे क्षरित रक्त का जिन अवयवों के केन्द्र पर दवाव पड़ता है उनमें संज्ञा तथा चेष्टा सम्बन्धी पक्षाघात आदि विकार पाये जाते हैं। शीत लगने के कारण केशिकाओं के संकुचन से नाड़ी सूत्रों में रक्त वहन अल्प हो जाता है तथा शीत के नाड़ी सूत्रों पर साक्षात प्रभाव से नाड़ियों में पाक, संकोच होकर शूल आदि होते हैं। उदर शूल, आध्मान, श्वास, हृद्द्रवः आदि कई विकार स्पष्ट ही अन्त्रगत दूषित वायु के अन्त्र, फुफ्फुस आदि अवयवों पर साक्षात दवाव के कारण अथवा प्रति सक्रमण के कारण होते हैं। बहुधा इस संचित वायु का उदर गुहा में उसके बाहर होकर निकलने वाले नाड़ी सूत्रों पर दवाव पड़ता है। इस कारण उन सूत्रों से अधिष्ठित उरु आदि अवयवों में पीड़ा होती है। कई बार पृष्ठवंश की कोई कशेरुका स्थान भ्रष्ट या पाक युक्त हो तो समीप से निकलने वाली नाड़ियों पर दवाव पड़ने से उस अवयव या अंग में शूल, संकोच और झनझनाहट होती है। उदर कृमियों के कारण आक्षेप आदि अनेक वात रोग होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि वृद्धावस्था में वात की एक स्वभाविक प्रक्रिया है जिसके कारण प्रत्येक जीव काल क्रमानुसार प्रभावित होता ही है। आधुनिक विद्वानों एवं चिकित्सकों के लिए यह एक चेतावनी का विषय हो गया है कि वह इस प्रक्रिया की गति पर किस प्रकार ठोस नियन्त्रण रख सकें। ★

वैद्य श्री सीताराम शर्मा भिषगाचार्य, आयु० बृह०
अधीक्षक–राज० आयु० चिकित्सालय, खैरथल (अलवर) राजस्थान ।

—★★★—

सुहृद्वर श्री सीताराम जी शर्मा आयुर्वेद के मर्मज्ञ विद्वान् हैं । अध्ययन काल में ही आप मुझे उद्‌बोधित कर सत्कार्यों हेतु प्रेरित करते रहते थे । आज भी वह उद्‌बोधन संबल सिद्ध होता है । आपका मानस सर्वभूतदया तीर्थ से विशुद्ध है—

सुधी सुशील विशुद्धमन सज्जन सुहृद् सुनाम ।
स्पृहाशून्य सौहार्दमय श्रीयुत सीताराम ।।

आपका, आक्षेप, नामक लघु निबन्ध मनन करने योग्य है । —वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'

हस्तपादादि अथवा सर्वांग की मांसपेशियों में पुनःपुनः आक्षेप (झटके) आना और आँखों की पुतलियों का ऊपर चढ़ जाना जिस व्याधि में हों उसे 'आक्षेपक' के नाम से जाना जाता है । माधवकर ने कहा है—

यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः ।
तदाऽऽक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः ।।
मुहुर्मुहुश्चाक्षेपणादाक्षेपक इति स्मृतः ।।

व्याख्याकार विजय रक्षित ने आक्षेपक की तुलना चलते हुए हाथी पर आरुढ व्यक्ति के हिलने से की है । यह रोग एक स्वतन्त्र व्याधि न होकर अनेक व्याधियों का लक्षण है । सुतरां महामति माधवकर ने मुख्य वात रोगों के वर्णन प्रसंग में सर्व प्रथम आक्षेपक का वर्णन किया है । आक्षेपक निम्न रोगों में पाया जाता है—

१. अपस्मार २. धनुर्वात (Tetanus), ३. अपतानिका (Tetani), ४. अपतन्त्रक (Hysteria) ५. सगर्भता तथा मासिक धर्म के समय में होने वाली पीयूष ग्रन्थि की हीनावस्था ।

६. मस्तिष्कगत रोग—मस्तिष्कार्बुद, मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis), जलशीर्ष, मस्तिष्क प्रदाह, मस्तिष्क विद्रधि, फिरंगज मस्तिष्क विकार, रक्तस्राव, रक्तवाहिनियों में घनास्रता, धमनीस्तम्भ, धमन्यभिस्तीर्णता, रेनॉड का रोग आदि ।

७. विषाक्तता (Toxic Condition)—मूत्र विषमयता (Uraemia), क्षारमयता, उपमधुमयता (Hypoglycaemia), जीर्ण मदात्यय, यकृत शोथ, गर्भ विषमयता, तीव्र संक्रामक ज्वर, साक्षेप सूतिका सन्निपात (Eclampsia) तथा कुचला, क्लोरोफार्म, कपूर, संखिया, कोकीन, नाग, तम्बाखू सत्व, अर्गट, सेन्टोनीन आदि विषों का दुष्प्रभाव ।

८. मूर्च्छा एवं सन्यास जैसे रक्तवह संस्थान के रोग ।

९. चिन्ता शोक आदि मानसिक उद्वेगों के आधिक्य से तथा वात प्रकोपक कारणों से भी शरीर में एक प्रकार का विष उत्पन्न होता है जो निश्चित समय पर संचित होकर रक्तप्रवाह द्वारा मस्तिष्क, सुषुम्ना व सर्व शरीर में व्याप्त व्यान वायु में विकृति उत्पन्न कर आक्षेपक रोग को उत्पन्न करता है।

१०. बच्चों में दूषित जलवायु, दूषित दुग्ध सेवन, तीव्र ज्वर, कृमिरोग, कुक्कुर कास, कोष्ठवद्धता आदि कारणों से आक्षेपक रोग उत्पन्न होता है।

यहां पर यह उल्लेख कर देना समीचीन होगा कि शुद्ध रक्त का वहन करने वाली नलिका को ही धमनी कहा जाता है किन्तु उक्त श्लोक में प्रयुक्त धमनी से नाड़ी (नर्व) ही समझना चाहिए। पंडित गंगाधर शास्त्री जोशी के मतानुसार तो धमनी मस्तिष्कसुषुम्ना से निकलने वाली नाड़ियाँ (Cerebro spinal neres) हैं किंतु यह सर्वत्र उपयुक्त नहीं। रसयोगसागरकार ने इस श्लोक के सम्बंध में स्पष्ट लिखा है—यदा तु धमनीः सर्वा...आक्षेपक इति स्मृतः (सुश्रुत निदान १) इत्यत्र ज्ञानतन्तुषु ... शब्द प्रयुक्तः (रसयोगसागर उपोद्घात १२८)। ... कार डल्हण ने भी यही लिखा है—"धमन्यो नाड्यः ...म्येति व्याप्नोति...इदमाक्षेपकस्य सामान्यलक्षणमुक्तम्।

आक्षेपक सर्व शरीरव्यापी व्यान वायु की विकृति का ही परिणाम है। मस्तिष्कगत वात विकृति इसमें प्रधानतया होती है। आक्षेप की उत्पत्ति मस्तिष्क शल्क (Cerebral Cortex) में प्रक्षोभ होने से होती है। निम्न चेष्टावह नाड़ियों पर शल्कीय (Cortical) नियमन समाप्त होने से ही अनैच्छिक गतियाँ प्रारम्भ होती हैं। आधुनिक परिभाषा के अनुसार अनैच्छिक (Involuntary) एवं स्तम्भिक (Spasmodic) शारीरिक गतियां ही आक्षेप कही जाती हैं। ये गतियां निरन्तरित, सान्तरित एवं अपतानिक (Tetanoid) हो सकती हैं।

सभी प्रकार के आक्षेपों में संज्ञानाश होना अनिवार्य नहीं है। मस्तिष्क का सीमित भाग प्रभावित होने से संज्ञानाश नहीं होता किन्तु अधिक भाग प्रभावित होने से संज्ञानाश के लक्षण प्रकट होते हैं। जितना भाग अधिक-

प्रभावित होगा उतना ही संज्ञानाश अधिक होगा। आक्षेपक रोगी के मुख की आभा रक्ताभ हो जाती है। दांत जकड़ जाते हैं। कभी कभी जीभ भी बाहर निकल आती है। सांस लेने में ...ट हो जाती है। रोगी सुख दुःख का अनुभव तो कर...ा है किन्तु मस्तिष्क में तीव्र रक्त संचार होने के कारण शरीरगत चेष्टाओं पर नियन्त्रण नहीं कर पाता है।
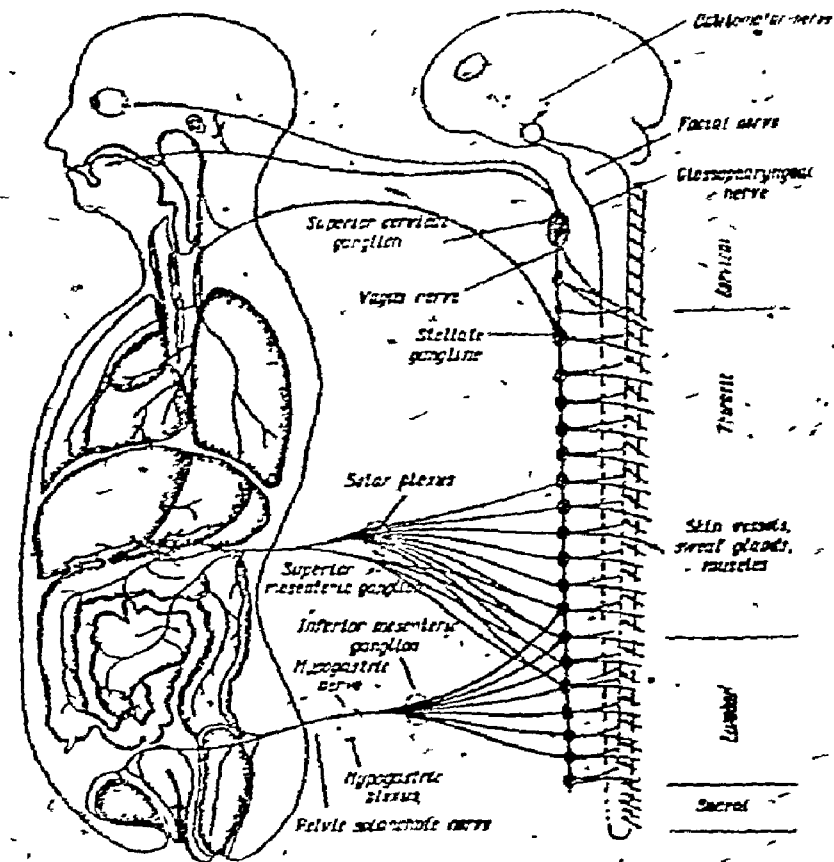
बच्चों में आक्षेपक होने से वह सोया हुआ होने पर डरकर चीखने लगता है और आक्षेप प्रारम्भ हो जाते हैं। कभी किसी कारण से बच्चा रोते रोते थककर मूर्च्छित हो जाता है तथा आक्षेप आने लगते हैं। बालक की गल ग्रन्थियां फूल जाती हैं तथा नथुने कड़े हो जाते हैं। बालक दम घुटने की सी विकलता अनुभव करता है। कठिन प्रयत्न करने पर कहीं वह श्वास ले पाता है।

आक्षेपक के ये दौरे प्रारम्भ में आठ आठ घण्टों तक रहते हैं। दिन में भी २-३ बार दौरे पड़ जाते हैं। समुचित चिकित्सा से दौरों की अवधि कम होने लगती है। समुचित चिकित्सा के अभाव में अत्यधिक दौरों के कारण दम घुटने से मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—

दौरे के समय रोगी को होश में लाने हेतु सरसों के तैल की २-३ बूंद नाक में डाल दें। पोटेशियम परमेंग्नेट या श्वासकुठार का भी नस्य दिया जा सकता है। कायफल, बंदाल एवं नकछिकनी का वस्त्रपूत चूर्ण भी इस निमित्त काम में लाया जा सकता है। माहेश्वर धूप का धुंवा भी नाक से सूंघना उत्तम है। आभ्यन्तर प्रयोग हेतु निम्नाङ्कित औषधियां यथावश्यक प्रयुक्त की जानी चाहिये—

ब्राह्मी वटी, वृ० कस्तूरीभैरव रस, वात-कुलान्तक रस, समीरपन्नग रस, वृहद्वात चिन्तामणि, योगेन्द्र रस, स्वर्ण भूपति रस, चिन्तामणि चतुर्मुख, प्रवाल पंचामृत, दशमूलारिष्ट, अश्वगन्धारिष्ट, सारस्वतारिष्ट, दशमूल क्वाथ, महारास्नादि क्वाथ, मांस्यादि क्वाथ, पंचगव्यघृत महा चैतस घृत, कल्याण घृत आदि।

सिर पर हिमसागर तैल, हिमांशु तैल, पुराण शतधौत घृत की कई बार मालिस करें तथा सम्पूर्ण शरीर पर महानारायण तैल, बलातैल, माष तैल आदि की मालिस करें।

कतिपय अन्य उपयोगी प्रयोग—

१—प्रवाल पिष्टी १० ग्राम, रससिंदूर षड्गुण १० ग्राम, छोटी पीपल १० ग्राम, शुद्ध शिलाजीत १० ग्राम, अभ्रक भस्म (शतपुटी) ५ ग्राम, सन्निपात भैरव रस ५ ग्राम, स्वर्ण पर्पटी ५ ग्राम, रौप्य भस्म ५ ग्राम, मुक्ता-पिष्टी २ ग्राम—इन समस्त औषधियों को पक्के खरल में अच्छी प्रकार घोटकर कार्कयुक्त शीशी में भरलें।

ऋतु के अनुसार, रोग के बलाबल अनुसार, रोगी आयु एवं शक्ति के अनुसार २-४ रत्ती तक प्याज, लहसुन, तुलसीपत्र, मधु, दशमूल क्वाथ आदि से दिन में ४ वार सेवन करावें।

—आयु० वृह० पं० शिवकुमार जी शास्त्री

२—स्वर्ण भस्म आधा तोला, गोमेदरत्न भस्म १ तोला, हिंगुल भस्म १ तोला, मुक्ता भस्म १ तोला, अकीक भस्म १ तोला, संग यशद भस्म १ तोला, वच ४ तोला, सर्पगंधा ८ तोला, सत्व कुचला २ तोला।

समस्त द्रव्यों को स्वच्छ पत्थर के खरल में डालकर अर्जुन की ताजी छाल के स्वरस की भावना देकर ७२ घण्टे तक अविराम गति से घुटाई करें। जब समस्त औषधियां मक्खन की तरह मृदु हो जांय और खरल को छोड़ दें तब उसकी २-२ रत्ती की गोलियां बनालें तथा छाया में सुखाकर स्वच्छ, सूखी शीशी में भरकर डाट लगाकर रख दें।

१ से २ गोली तक (बच्चों को आधी गोली) रोग के अनुसार दिन रात में प्रति ४ घण्टे के अन्तर से ४ वार तक गरम जल या गरम दुग्ध से रोगी को सेवन करायें। इससे १२ घण्टे में आक्षेपक का दौरा रुक जाता है।

—प्राणाचार्य श्री हर्मुल जी मिश्र

३—चरक फार्मास्युटीकल्स का पेटेण्ट योग (वटी) नेड भी आक्षेपक की उत्तम औषधि है—प्रति टिक्की में अकीक १२८ मि०ग्रा०, ब्राह्मी स्वरस ३२ मि०ली० तथा उग्रगन्धा ३२ मि०ग्रा० होती है। २-२ टिकिया दिन में ३-४ वार मांस्यादि क्वाथ से देनी चाहिये। बच्चों को १-२ टिक्की दिन में २-३ बार दी जा सकती है। इसके साथ फ्रुटलेक्स (चरक) अवलेह भी रात्रि मे सोते समय दुग्ध तथा पानी से देना चाहिए। साधारण अवलेह की मात्रा १५-२० ग्राम तथा विशेष की ५-१० ग्राम है। बच्चों को कम देना चाहिए।

४—दशमूलभवं क्वाथं सममानीय जीवनी।
वातजानखिलान् रोगान्निहन्त्येव दशहन:॥

—सञ्जीवनी साम्राज्यम्

५—बलारिष्ट के अनुपान से सर्पगन्धाघन वटी ३००-४०० मि०ग्रा० देने से भी लाभ होता है।

६—ब्राह्मी वटी २५० मि०ग्रा०, स्मृतिसागर रस २५० मि०ग्रा० एवं अश्वगन्धादि चूर्ण २ ग्राम को मधु में चाटकर भारंग्यादि क्वाथ (सि. यो. सं.) पिलाना भी हितावह है।

—श्री कृष्णदत्त जी

७—मल्ल चन्द्रोदय १ ग्रेन, कस्तूरी १ ग्रेन मिलाकर मधु से चटावें। इससे नाड़ीशूल, धनुर्वात एवं वातज उपद्रव तथा आक्षेप का शमन होता है।

८—चतुर्भुज रस १२५ मि०ग्रा०, त्रिपाण (अर्जुन भावित) ५०० मि०ग्रा० शर्बत अनार के साथ प्रयोग से लाभ होता है।

श्री गोपीनाथ् पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य

प्रचलित "हिस्टीरिया" नामक रोग-विशेष को आयुर्वेदीय नाम देने में विवाद है। इसे योपापस्मार, योपापस्मार, योपोन्माद, स्मरोन्माद, कामोन्माद आदि नाम दिये गये हैं। आयुर्वेद के प्रसिद्ध लेखक श्री दौलतराम जी सोनी को इसका "कामोन्माद" नाम उपयुक्त लगा—" कुछ अंशों में कामोन्माद उपयुक्त पर्याय हो सकता है किन्तु काम शब्द का सीमित अर्थ न लेकर व्यापक अर्थ लेना आवश्यक होगा।" इसके विरोध में आचार्य श्री गयाप्रसाद जी शास्त्री ने यह भी लिखा है कि "काम की दश दशाओं में से एक उन्माद दशा होती है। कई वार उक्त कामोन्माद को ही वैद्य महानुभाव हिस्टीरिया समझ बैठते हैं किन्तु यह उपयुक्त नहीं है।"

अमृतधारा आविष्कारक वैद्य पं० ठाकुरदत्त जी शर्मा ने इसको "उन्मादक अपतन्त्रक" एक नवीन नाम दिया है। अनेक ग्रन्थों के लेखक एवं शिक्षा शास्त्री श्री रणजीत राय जी ने योपापस्मार संज्ञा को रोग की यथार्थ सम्प्राप्ति के विषय में भ्रमण उत्पन्न करने वाली कहा है। उन्होंने हिस्टीरिया को शास्त्रीय संज्ञा "अपतंत्रक" देना ही समीचीन समझा है। माधव निदान के प्रसिद्ध हिन्दी व्याख्याकार श्री सुदर्शन जी शास्त्री ने भी अपतन्त्र को कण्ठरव से हिस्टीरिया ही स्वीकार किया है। आयुर्वेद शास्त्राचार्य पं श्री राजेश्वरदत्त जी शास्त्री का भी यही अभिमत है। अतः आधिक्येन विद्वानों के मतानुसार यहाँ अपतन्त्रक व हिस्टीरिया को एक मानकर ही वर्णन किया जाना अपेक्षित समझा गया है। सुश्रुतसंहिता की टिप्पणी में आचार्य यादव जी त्रिविक्रिम जी ने जैसा कि उल्लेख किया है—

अपतन्त्रको युनानी वैद्यके 'इखतीनाक डलरहम' इति नाम्ना, आङ्ग्लभाषायां च 'हिस्टेरिया' (Hysteria) इति नाम्ना प्रसिद्धः।

'अपतन्त्रक एक प्रमुख वात व्याधि है। यह एक मानसरोग है और 'मनोनात्रस्तु मारुतः" के अनुसार वातरोगों में वर्णन किया गया है। महर्षि सुश्रुत ने इसका पूरा वर्णन किया है। सुश्रुतसंहिता के व्याख्याकार डल्हणाचार्य ने यहां लिखा है कि 'केचिदपतन्त्रकमेनं न पठन्ति, अपतन्त्रकापतानकयोरैक्यात" । इसी आधार पर आचार्य वाग्भट ने भी इन दोनों को एक ही माना है। किन्तु यह उपयुक्त नहीं है। अपतानक एक स्नायुगत वातरोग है जबकि अपतन्त्रक वातकफ जन्य मानसिक रोग है। सुतरां आचार्य शार्ङ्गधर ने दोनों का पृथक उल्लेख किया है—

अपतानको व्रणायामो वातकाटोऽपतन्त्रकः।'

महामति माधवकर ने इन दोनों का पृथक् पृथक् वर्णन किया है। यह व्याधि स्त्रियों में ही नहीं अपितु पुरुषों में भी पाई जाती है। डा० मार्शल का कथन है कि 'जब किसी पुरुष या वालक में हिस्टीरिया देखा जाय तो
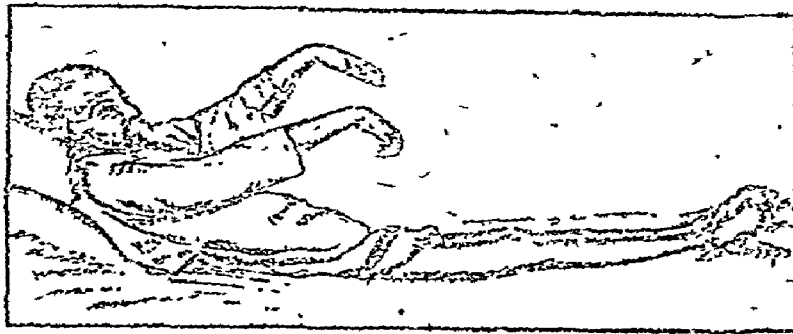
अपतन्त्रक का पुरुष रोगी

यह समझा जाता है कि वह व्यक्ति मानसिक किंवा नैतिक रूप में स्त्री के समान है। वस्तुत: स्त्रियों में यह दमनमूलक तथा पुरुषों में अभावमूलक होता है। कतिपय चिकित्सकों का मत है कि धनी और मध्यम वर्ग में अपतन्त्रक स्त्रियों को तथा निर्धन परिवार में पुरुषों को अधिक होता है।

कारण —

१. काम सम्बन्धी अतृप्ति इसका मुख्य कारण है।

२. दाम्पत्य प्रेम के अभाव में उत्पन्न चिन्ता, भय, शोक अवसाद आदि।

३. स्त्रियों में ऋतुदोष या गर्भाशय की विकृति।

४. विलासिता पूर्ण जीवन

५. मिथ्याहारविहार जन्य प्रकुपित वात

६. ज्ञान तन्तुओं की दुर्बलता

७. मानसिक क्षोभ

८. सुकुमारता

९. वंशगत मानसिक दुर्बलता

लक्षण —

प्रकुपित वायु स्वमार्गगामी न होकर अवरोधवश ऊर्ध्वभाग की ओर प्रसरित होती है। रोग तब निम्नाङ्कित लक्षण उत्पन्न होते हैं—

१. हृदयपीड़ा—अपतंत्रक के रोगी को कभी कभी हृदयरोग, दिल धड़कना, सांस घोंटने वाली हृदय की पीड़ा आदि हो जाते हैं। इनका रूप वास्तविक रोगों से भिन्न होता है, कारण ये जोश और थकावट के पश्चात् होते हैं और कुछ काल तक विद्यमान रहते हैं। इनका प्रभाव रक्त नलिकाओं पर भी पड़ता है जिससे मुख पीला और सफेद हो जाता है। मन का अधिष्ठान हृदय होने से प्रथम वायु हृदय को पीड़ित करता है।

२. शिर:शंखपीड़ा—हृदय को पीड़ित करने के पश्चात् इन्द्रियों के अधिष्ठान शिर एवं शंख को वायु पीड़ित करता है।

३. धनुवन्नमन—इन अङ्गों में वायु स्थान संश्रय कर शरीर को धनुष के समान आगे पीछे या पार्श्व में झुका देता है। यह वेगकाल तक ही सीमित रहता है।

४. आक्षेप—विविध अङ्गों में वातजन्य आक्षेप (झटके) दिखलाई देते हैं। यह आवश्यक नहीं कि अपतंत्र के रोगी में सभी लक्षण एक साथ दृष्टिगोचर हों।

५. मोह—प्रकुपितवात सर्वाङ्ग में मोह उत्पन्न कर संज्ञानाश किंवा ऐच्छिक चेष्टाओं का अभाव उत्पन्न करता है। यह दौरा साधारण रूप से तो कुछ ही समय तक रहता है किन्तु कभी कभी दीर्घकालिक भी हो जाता है। इसके पश्चात् रोगिणी थक कर सो जाती है।

६. कृच्छ्र उच्छ्वास—वेगकाल में रुग्ण को श्वास लेने में कठिनाई का अनुभव होता है। उदर की पेशियों की अकड़न से वायुगोला उत्पन्न होता है।

७. स्तब्धाक्ष, निमीलक—रुग्ण नि:संज्ञ होने के अतिरिक्त या उसकी आंखें खुली हुई रहती हैं जो स्थिर रहती हैं अथवा वह आंखों को बन्द कर पड़ा रहता है।

८. कण्ठ कूजन—कण्ठ में स्थित स्वर तन्त्रियों के स्तब्ध हो जाने से बाहर निकलने वाला वायु टकराकर अव्यक्त ध्वनि प्रकट करता है। यह ध्वनि कबूतर के कूजन के सदृश होती है।

वेगोत्तरकाल में प्राय: मानसिक विकृति प्रमुखतया रहती है। छोटी छोटी बातों का अधिक महत्व दिया जाता है। रोगी को विस्मृति बार बार होती है। यह जरासी बात को बढ़ा चढ़ा कर बखान करता है। रोगी में अन्य व्यक्तियों से सहानुभूति प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा रहती है। अत्यधिक उद्गार, हृल्लास, छर्दि, हिक्का, अग्निमांद्य, मूत्रावरोध, स्वेद प्रवृत्ति आदि लक्षणों में से एकाधिक लक्षण पाये जा सकते हैं। सामान्यतया ज्वर भी हो जाता है किन्तु कोई उपद्रव नहीं होते हैं। अनेक त्वचा-रोग भी पाये जा सकते हैं। स्त्रियों में

योनि स्तम्भ (शिश्न का स्पर्श होते ही योनि का अत्यधिक संकुचित हो जाना), मैथुन के प्रति अत्यधिक घृणा या भय आदि तथा, पुरुषों में नपुंसकता पायी जाती है। चेष्टाओं में तीव्रता आजाती है तथा ऐच्छिक चेष्टाओं में न्यूनता आ जाती है। कभी शरीर का कोई अङ्ग चेतना शून्य हो जाता है।

हाथों का अपतानक

चरक चतुरानन चक्रपाणिदत्त ने इनके वातज तथा कफज दो भेद किये हैं। उन्होंने वातज को अपतानक तथा कफज को अपतन्त्रक कहा है किन्तु एक रोग के दो भेदों की दो संज्ञायें उपयुक्त नहीं हैं। आतंकदर्पणकार ने दोष भेद से तीन प्रकार के अपतन्त्रक का उल्लेख किया है—

१. पित्तानुबन्धी अपतन्त्रक—प्रलाप, मुख के रस की कटुता, भ्रम, मूर्च्छा, अरुचि, तृषा, स्वेद, त्वचा का पीला होना, शीत वस्तुओं के स्पर्श किंवा सेवन की इच्छा होना ये लक्षण होते हैं।

२. कफानुबन्धी अपतन्त्रक—सर्वाङ्ग में, विशेषतया सिर में भारीपन, हर्ष का अभाव, शीत वस्तुओं के सेवन के प्रति अप्रीति, शरीर में मन्द वेदना, अङ्गसाद, शरीर का स्पर्श शीत होना, ठण्ड लगना और हृदय प्रदेश पर जकड़ाहट होना—ये लक्षण होते हैं।

३. वात प्रधान अपतन्त्रक—अङ्गों में फड़कन, शिर, मन्या तथा कटि में शूल, धैर्य आदि का नाश, मन का उदास होना एवं विषयों के ग्रहण मे चित्त स्थिर न होना, ये लक्षण होते हैं।

चरक और वाग्भट के वर्णन में साम्यता है। यही वर्णन माधव ने भी किया है। चरक सि० ९/१५ में चक्रपाणि ने जतुकर्ण का मत लिखा है उन लक्षणों में तथा सुश्रुत के लक्षणों में साम्यता है। माधवनिदान के टीकाकार आतङ्कदर्पणकार ने एक वाक्य उद्धृत कर यह स्पष्ट कर दिया कि यह अपतन्त्रक एक मानसिक रोग है—

कुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः अपानो नाभिसंश्रयः।
संदूष्य हृदयस्थं च मनो व्याकुलयेत्ततः॥

अपने प्रकोपक कारणों के योग से नाभि जिसका स्थान है वह अपान वायु प्रकोप को प्राप्त होकर ऊर्ध्वगति कर अन्य अवयवों के अतिरिक्त हृदयस्थ मन को अभिदूषित कर उसे क्षुभित कर देता है।

एतावता इस रोग में मानसिक तथा शारीरिक दोनों ही लक्षण प्रकट होते रहते हैं।

चिकित्सा—

सामान्यतया इसकी चिकित्सा में इन दो बातों का ध्यान अवश्य रखें—

(१) रोगी को मानसिक चिन्ताओं से दूर रखने का प्रयास करना चाहिए।

(२) शारीरिक शुद्धि बराबर करते रहना चाहिए। स्त्रियों में रजावरोध को दूर करें।

वेगकालिक चिकित्सा—

१. नृसार, चूना समभाग लेकर थोड़ा कपूर मिलाकर हिलाकर सुंघावें।

२. रीठे के सूक्ष्म चूर्ण को परिश्रुत जल में मिलाकर २-३ बूंद नाक में डालें।

३. श्वास कुठार या कट्फल का सूक्ष्म चूर्ण भी संज्ञा प्रबोधनार्थ उपयोगी है।

४. प्याज के रस की दो बूंदें नासिका में डालें।

५. राई को कूटकर बारीक मलमल के वस्त्र में बांध कर सुंघावें।

६. जुन्दवेदुस्तर, बकरी के बाल व नख में से किसी एक की धूनी किसी नलकी के द्वारा पहुंचावें।

वेग को दूर करने के विषय में बहुत से यशस्वी चिकित्सकों का यह भी मत है कि वेग को शीघ्र दूर करने का प्रयास न कर उसे कुछ काल चालू रहने देना चाहिए। इससे रुग्ण के हृदय का भार कम हो जाता है।

अवेगकालिक चिकित्सा—

चिकित्सा प्रारम्भ करने से पूर्व पंचकर्म करना आवश्यक है। सम्भव न होने पर प्रकृति के अनुसार विरेचन द्वारा उदर शुद्धि तो अवश्यमेव कर लेनी चाहिए।

इस रोग में मल्ल सिंदूर (सि० भै० सं०), अपतन्त्रकारि वटी (सि० यो० सं०), ब्राह्मी वटी, कस्तूरी भैरव रस, वातकुलान्तक रस, योगेन्द्र रस, वृ० वातचिन्तामणि रस, चिन्तामणि चतुर्मुख (चतुर्भुज रस), मांस्यादि क्वाथ (सि. यो. सं.), सारस्वतारिष्ट, अश्वगन्धारिष्ट, दशमूलारिष्ट, ब्राह्मीघृत, सैन्धवादि घृत, पंचगव्य घृत, कल्याण घृत, द्विरुत्तर हिंग्वादि चूर्ण (चरक), दीनदयालु चूर्ण (सि. भै. मणि), तिक्ताक्षार पाचन (भर्जिक, कुटकी, सर्जक्षार, हिंग्वाष्टक समभाग) आदि लाभप्रद है। गर्भाशय विकार में प्रतापलंकेश्वर एवं कष्ट रज में रजःप्रवर्तनी दें। बाह्य प्रयोगार्थ (अभ्यङ्ग हेतु) नारायण तैल, हिमांशु तैल, हिमसागर तैल, महाशतावरी तैल या शतधौत घृत उपयोगी है।

कतिपय उपयोगी चिकित्सा व्यवस्था—

१. उन्मादगजकेशरी रस २ रत्ती, वातकुलान्तक रस २ रत्ती, चतुर्भुज रस १ रत्ती। कुल १ मात्रा।

ऐसी १ मात्रा प्रातः ६ बजे एवं सायं ६ बजे मधु से चटाकर त्रिफला क्वाथ से दें। १५-२० दिन यह प्रयोग चालू रखें। —वैद्य पं० ठाकुरदत्त जी शर्मा

२. स्मृतिसागर रस ६ ग्राम, स्वर्णमाक्षिक भस्म ६ ग्राम, रजतसिंदूर ६ ग्राम, गिलोय सत्व १२ ग्राम।

चारों द्रव्यों का मिश्रित योग २५ मात्रा, सुबह शाम दो बार मधु से चाटकर ऊपर से ४ औंस जटामांसी का का हिम या फांट पीवें।

—रसायनाचार्य श्री हरिप्रपन्न जी

३. मल्ल चन्द्रोदय, शु० कुचला, केशर तीनों १-१ तोला, कस्तूरी १ माशा। समस्त औषधियों को १ पाव पान के रस में खरल कर २-२ रत्ती की गोलियां बनालें। १-१ गोली प्रातःसायं दूध या जल से दें। साथ में भोजन के पश्चात् सारस्वतारिष्ट भी देते रहें। अथवा एक समय हिमांशु रस भी देते रहें।

—आचार्य श्री गयाप्रसाद जी शास्त्री

४. प्रातः ब्राह्मी वटी २ रत्ती मधु से चाटकर मांस्यादि क्वाथ पियें। मध्याह्न में वृहद्वातचिन्तामणि २ रत्ती, शङ्खपुष्पी या ब्राह्मी स्वरस १ तोला में मधु मिलाकर देवें। सायं अपतन्त्रकारि वटी मांस्यादि क्वाथ से तथा भोजनोत्तर पूर्ववत् सारस्वतारिष्ट पिलावें। साथ में हिमांशु तैल की माथे पर तथा नारायण तैल की सारे शरीर पर मालिश करें। माहेश्वर धूप का धुंवा शरीर भर में लगाना तथा उस धुंवा को नाक से सूंघना भी उत्तम है। —वैद्य पं० राजेश्वरदत्त जी

५. प्रातःसायम्—हृदयार्णव रस १२५ मि.ग्रा., स्मृतिसागर रस १२५ मि.ग्रा., चिन्तामणि चतुर्मुख १२५ मि. ग्रा., गिलोय सत्व २५० मि.ग्रा., वंशलोचन २५० मि. ग्रा., पंचगव्य घृत १० ग्रा.। १×२

मध्याह्न में—ब्राह्मी चूर्ण १ ग्रा.+वचा चूर्ण १ ग्रा. +सर्पगन्धा चूर्ण १ ग्रा.—मधु एवं त्रिफला क्वाथ से।

भोजनोपरान्त—सारस्वतारिष्ट २० मि.ली., अश्वगन्धारिष्ट १५ मि.ली.।१×२ समभाग जल मिला।

रात्रि में सोते समय—अपतन्त्रकारि वटी १—मांस्यादि क्वाथ+एरण्ड स्नेह से

अन्य प्रभावशाली प्रयोग—

१—मुसब्बर, मोचरस ५-५ तोला, अकरकरा, केशर मोंगरा २॥-२॥ तोला, हींग अंगूरी (घी में भुनी हुई) १ तोला, लोह भस्म ६ माशा और स्वर्णमाक्षिक १ माशा।

—शेषांश पृष्ठ १६८ पर देखें।

योषापस्मार

श्री अरविन्द गोपाल जंगले बी.ए.एम.एस.
दत्त जोशी चाल, नवापाड़ा,
डोंबी वली (ठाणे)

वातादि त्रिदोष, व रजादि मानव दोष ऊर्ध्व भाग में (मस्तिष्क में) जाकर मस्तिष्क को विकृत करके मद उत्पन्न करते हैं। अर्थात् अपथ्य से दूषित बने हुए वातादि रजादि दोष अल्प गुणी व्यक्ति के ज्ञान संचयक हृदय (मेंदू Brain) को दूषित बनाकर मनोवह स्रोतसों में जाकर उस व्यक्ति के मन को मोहित करते हैं। इसलिए इसे 'योषापस्मार या उन्माद' कहा गया है।

रोगोत्पादक हेतु—

विरुद्ध आहार सेवन, अरुचि (अपवित्रता), भोजन, द्विज (ब्राह्म), देवता, गुरु (श्रेष्ठ) का अपमान करना, तथा अधिक भय, शोक; हर्ष से होने वाले मानसिक अभिघात तथा विषम चेष्टायें, मन बुद्धि, चेतना ज्ञान, स्मरणशक्ति, भक्ति, शील, शारीरिक हालचाल (चेष्टायें) आचार (कर्तव्य का पालन), इनका वैषम्य इसके 'रोगोत्पादक हेतु' होते हैं।

पूर्वरूप—

मन मोहित होना, मन चंचल होना, कानों में आवाज होना, शरीर और अवयव कमजोर बनना, अरुचि, अहित कर अन्न सेवन की इच्छा, वायु से क्षोभ होना, चक्कर आना, ये सब योषापस्मार (Hysteria) के पूर्वरूप हैं।

इस रोग में स्मरणशक्ति, बुद्धि, संज्ञा (ज्ञान) के नष्ट होने से उस मुढ़चेता (विकृत मन वाले पुरुष) को सुख, दुःख सदाचार, धर्म का ज्ञान नहीं होता है। और ज्ञान न होने के कारण उस व्यक्ति का मन चञ्चल बनता है।

भेद—

योषापस्मार (उन्माद) के आयुर्वेद में पांच भेद किये हैं। १. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. आगन्तुक।

१. वातज योषापस्मार (उन्माद) के हेतु—रूक्ष, अल्प और अतिशीतल भोजन, धातुओं का क्षय होना और अत्यधिक उपवास आदि कारणों से अत्यन्त बढ़ा हुआ वात, चिन्ता आदि कारणों से पहले ही दूषित हृदय को पुनः दूषित करके बुद्धि और स्मरणशक्ति को नष्ट कर देता है।

वातज योषापस्मार के लक्षण—वातज योषापस्मार का रोगी अस्थान में हँसता है, मुस्कराता है, नाचता है, गाता है, अपने अंगों से विविध चेष्टायें करता है, बोलता है, अकारण रोता है, उसका शरीर लाल (अरुण) वर्णीय, कृश और कठोर होता है। आंखें लाल बनती हैं, भोजन पचने के बाद विकार तीव्र होता है।

२. पित्तज योषापस्मार के हेतु—अजीर्ण, कटु, अम्ल, विदारी तथा उष्ण भोजन द्वारा संचित पित्त, उदीर्ण वेग (उन्मार्गगामी तथा अधिक वेगयुक्त) होकर मिथ्या आहार-विहार करने वाले अजितेन्द्रिय पुरुष के हृदय (मेंदू) में आश्रित हो जाता है और वह हृदय (मेंदू) में आश्रित पित्त बुद्धि और स्मरणशक्ति नष्ट कर देता है।

पित्तज योषापस्मार के लक्षण—असहनशीलता, नेत्रों में लालिमा, नग्न हो जाना, दूसरों को दुखाना या धमकाना, दौड़ना, शरीर गरम रहना, क्रोध आना, छाया (शीतल), शीतल अन्न, शीतल जल की इच्छा करना, शरीर की कान्ति पीतवर्णीय होना, ये पित्तज योषापस्मार के लक्षण हैं।

३. कफज योषापस्मार के हेतु—परिश्रम न करते हुए भी जो व्यक्ति अधिक मात्रा में पूर्ण भोजन करता है ऐसे व्यक्ति के शरीर में पित्त (ऊष्मा) के साथ कुपित

कफ हृदयरूप मर्मस्थान में जाकर वृद्ध होता है, हृदय प्रदेश का बढ़ा हुआ वह कफ पित्त के साथ बुद्धि और स्मरणशक्ति को नष्ट कर देता है।

कफज योषापस्मार के लक्षण—कफज योषापस्मार से पीड़ित रोगी कम बोलता है, शारीरिक, मानसिक चेष्टायें कम करता है, भोजन में उसे अरुचि होती है। मुख से लार गिराता है, स्त्रियां और एकांत स्थान उसे अधिक प्रिय होता है. उसे निद्रा अधिक लगती है, भोजन करने के बाद शीघ्र ही कफज योषापस्मार का वेग बढ़ता है, नख (नाखून), नेत्र, जिह्वा, शरीर की कांति सफेद वर्णीय होती है। ये सब कफज योषापस्मार के लक्षण हैं।

४. सन्निपातज उन्माद—जो त्रिदोषयुक्त योषापस्मार होता है उसे सन्निपातज योषापस्मार (उन्माद) कहा जाता है। इसमें वातज, पित्तज और कफज ऐसे तीन प्रकार के योषापस्मार के लक्षण हैं।

५. आगन्तुक उन्माद के हेतु—प्रज्ञापराध से जो व्यक्ति देवता, ऋषि, पितृ (पितृज), गन्धर्व, पिशाच, राक्षस, गुरु, सिद्ध, आचार्य इनका अपमान करने से तथा अनुचित रूप से नियम, व्रत, पूजा पाठ आदि करने से तथा पूर्वदेह से किये गये अनुचित कर्म आगन्तुक योषापस्मार के हेतु होते हैं।

आगंतुक योषापस्मार के लक्षण—आगंतुक योषापस्मार से पीड़ित जिन व्यक्तियों का वचन, पराक्रम, शक्ति और चेष्टायें मनुष्य के समान न हों अर्थात् मनुष्य से बढ़ कर हों और ज्ञान, विज्ञान और बल भी मनुष्य के समान न हों, योषापस्मार के वेग आने का समय अनिश्चित हो उस योषापस्मार को आगन्तुक योषापस्मार कहते है।

ऊपर लिखे हुये प्रकारों के अलावा वाग्भट्टाचार्य ने अपने अष्टाङ्ग हृदय नामक ग्रन्थ में मानसिक दुःखोन्माद और विषोन्माद ऐसे दो प्रकार बताये हैं।

मानसिक दुःखोन्माद के लक्षण—मानसिक दुःखोन्माद से पीड़ित रुग्णा हाय-हाय कहकर विलाप (शोक) करती है। बार-बार मूर्च्छित होती है। जिस चीज या व्यक्ति का नाश हुआ है। उस चीज या उस व्यक्ति का गुणगान करती है, उसे नींद नहीं आती, सर्वदा (सदैव) चिन्तित रहती है, उसका मुँह निस्तेज बनता है।

विषोन्माद का लक्षण—इसमें रोगी का मुँह काला पड़ता है, उसकी कांति शक्ति, इन्द्रियां (इन्द्रियों की विषय ग्रहण करने की शक्ति) नष्ट होती हैं। इसका वेग जाने पर भी पीड़ित व्यक्ति भ्रमिष्ट रहती है। उसकी आखें लाल होती हैं।

चिकित्सा -

वातज योषापस्मार की चिकित्सा—वातज योषापस्मार में सर्वप्रथम स्नेहन करावें किन्तु यदि कफ और पित्त से वायु का मार्ग रुका हुआ हो तो स्नेह के साथ शोधन अर्थात् वमन या विरेचन का प्रयोग करें।

कफज और पित्तज योषापस्मार की चिकित्सा—कफज और पित्तज योषापस्मार में स्नेहन, स्वेदन के बाद वमन और विरेचन सर्वप्रथम करना चाहिए। अर्थात् कफज उन्माद में वमन और पित्तज उन्माद में विरेचन करना चाहिए। जब शरीर शुद्ध हो जाय तब पेया विलेपी आदि संसर्जन क्रम का पालन कराते हुए रोगी को प्रकृतिस्थ बनावें। पंचकर्मों के बाद औषधि प्रयोग करावें। योषापस्मार में पंचकर्म करना आवश्यक होता है।

उन्माद रोग में मन, बुद्धि, स्मृति और संज्ञा का उद्बोधन करने वाले प्रदेह, उत्सादन (उबटन), अभ्यङ्ग, धूम्रपान तथा घृत का पान कराना चाहिये।

चरक संहिता में योषापस्मार के लिये—(१) हिंग्वादि घृत, (२) कल्याण घृत, (३) महाकल्याणक घृत, (४) लशुनाद्य घृत, (५) महापैशाचिक, (६) अपर घृत ऐसे ६ प्रकार के घृत लिखे हैं। अष्टांगहृदय में ब्राह्मी घृत और ऊपर लिखे हुए छः प्रकार के घृत ऐसे सात घृत लिखे हैं।

१. कुन्दरु (बिम्बी), पुनर्नवा या कसौंदी (कासमर्द) के स्वरस में एक या दो कड़वी पिया-तुरई (नेनुआ) मसलकर रोगी को पिलाने से लाभ होता है।

२. सिरस का बीज, मुलेठी (यष्टीमधु), हींग, लहसुन, तगर, बच और कूट इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर बकरे के मूत्र में पीसकर नस्य तथा अञ्जन के रूप में प्रयोग करें।

३. सोंठ, मिर्च, पीपर, हल्दी, दारुहल्दी, मजिष्ठा, हींग, पीली सरसों, सिरस बीज, इन सभी को समभाग

लेकर बकरे के मूत्र में पीसकर नस्य और अंजन दें।

४. अपामार्ग का बीज, हींग, हरताल, हिंगुपत्री, सभी समान भाग, मिर्च एक भाग के आधे भाग, इन सबको गोपित्त और शृगाल (स्यार) पित्त से महीन पीसकर वर्त्ती बनाना। इस वर्त्ती को घिसकर उन्माद, अपस्मार, भूतोन्माद और ज्वर पीड़ित के नेत्र में अंजन लगायें।

५. शिरा मोक्षण करना—उन्माद, अपस्मार में शङ्ख प्रदेश और केशान्त-प्रदेश की संधिस्थित शिरा का वेध करने से लाभ होता है।

६. हिप्नोटिज्म द्वारा भी मानसिक दुःखोन्माद नष्ट किया जाता है।

७. योपापस्मार में कस्तूरी, केशर, कुचला, सफेद मिरच और अकरकरा के साथ मल्लसिंदूर देकर ऊपर से जटामांसी का अर्क पिलाना।

८. योपापस्मार में मल्लसिंदूर मधु के साथ देवें।

९. मल्लसिंदूर जटामांसी के अर्क के साथ या समभाग कस्तूरी, केशर, जायफल और मरिच मिलाकर देना।

१०. ब्रह्ममण्डूकी और मधु के साथ मल्लसिंदूर देना

११. जिन रुग्णाओं को आर्तव से यह विकार होता है उन्हें बादाम ७ नग, छुआरा १ नग दोनों को सायंकाल पानी में डालकर प्रातःकाल निकाल बादाम का छिलका उतार दें और छुआरे की गुठली निकाल साफ करके एक पत्थर पर पीस लें। बाद में इसमें मिश्री १० ग्राम, मक्खन २५ ग्राम मिला दें। मल्लसिंदूर १२५ मिलीग्राम, तथा केशर १२५ मिलीग्राम मिलाकर सूक्ष्म पीसकर एकत्र करके चाट लेना। ऊपर से अश्वगन्धारिष्ट तथा सारस्वतारिष्ट मिलाकर पिला दें। यदि मासिक धर्म विकृत न हो तो मल्लसिंदूर तथा सिद्ध मकरध्वज समभाग मिलाकर मधु के साथ दें। ऊपर से अश्वगन्धारिष्ट और सारस्वतारिष्ट पिला दें।

१२. पित्तज और कफज़ उन्माद में स्वर्ण भस्म को घमासे का क्वाथ या अर्क के साथ देने से लाभ होता है।

१३. वातज उन्माद तथा स्त्रियों के भूतज उन्माद पर रौप्य भस्म का प्रयोग अच्छा रहता है।

—श्री अरविन्द गोपाल जंगले बी०ए०एम०एस०,
दत्त जोशी चाल, नवापाड़ा, डोंबी वली (ठाणे)।

★ पृष्ठ १६५ का शेषांश ★

समस्त औषधियों को पीस मधु या जल के साथ भलीभांति खरल कर मटर बराबर गोलियां बनालें। ये गोलियां ऋतुविकार तथा गर्भाशय दोषजन्य अपतन्त्रक में लाभप्रद हैं। —आचार्य श्री गयाप्रसाद जी शास्त्री

२—भुनी हींग २ तोले, बच २ तोले, जटामांसी २ तोले, कूठ ४ तोले, काला नमक ४ तोले, बायविडङ्ग १६ तोले सबको मिलाकर बारीक कपड़छन चूर्ण कर लेना। १-३ माशे तक दिन में ३ बार निवाये जल से दें।

—रसतन्त्रसार

३—सर्पगन्धा ४ तोला, ब्राह्मी २ तोला, जटामांसी १ तोला, श्वेतचन्दन, गुलाब के फूल, इलायची बड़ी तीनों आधा-आधा तोला का कपड़छन चूर्ण कर १-२ माशा दूध के साथ सेवन करते रहने से लाभ होता है।

४—एक यूनानी माजून—मरवारीद ना सुफता (अनविन्ध मोती) मूंगा, कहरवा शमई, दरोनज अकरवी, आबरेशम, नर कचूर, बहमन सुर्ख, बहमन सफेद, केशर, रूमीमस्तङ्गी, सफेद चन्दन, लालचन्दन, वंशलोचन, धनियां प्रत्येक ७-७ माशा, लौंग, छरीला, बालछड़, छोटी इलायची, तगालपत्र, दालचीनी, जुन्दबेदुस्तर, अम्बर अशहब प्रत्येक ३॥-३॥ माशा, कस्तूरी असली १॥ माशा, देशी मिश्री १६ तोला, असली शहद १७ तोला। नियमानुसार माजून बना लें और चीनी के पात्र में रखें। २ माशे से ४ माशे तक गुलाब और गावजबान के अर्क के साथ २ मास तक सेवन करावें।

५—शुद्ध हींग, कालानमक, सोंठ, मिर्च, पीपल। सबको समान भाग लेकर गोमूत्र में एक सप्ताह मर्दन करें। फिर चतुर्थ भाग पारद भस्म मिलाकर बकरी के घृत तथा दूध के साथ दो दिन तक मर्दन कर २-२ रत्ती की गोलियां बनावें। १-१ गोली सवेरे, शाम, रात को तीन बार बकरी के दूध से, ब्राह्मी के काढ़े से या गरम पानी से देवें। सात दिन में दौरे पड़ने समाप्त होते हैं, स्थायी लाभ के लिए दो मास तक सेवन करें।

डा० चांदप्रकाश मेहरा बी.एस-सी., आयु. वारिधि, यौन चिकित्सा संस्थान, ५५७ मन्टोलास्ट्रीट, नई दिल्ली

'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः' इस मल्लीनाथोक्त सदुक्ति के किंवा काम के सर्जनात्मक पक्ष के उद्बोधक यौन रोग विशेषज्ञ डा० श्री चाँद प्रकाश जी मेहरा को कौन नहीं जानता ? आप बहुमुखी प्रतिभा के धनी विशेषतया यशस्वी चिकित्सक हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराणोक्त वैद्य के लक्षण आप में सम्पूर्ण दृष्टिगोचर होते हैं—

आयुर्वेदस्य विज्ञाता चिकित्सासु यथार्थवित्।
धार्मिकश्च दयालुश्च तेन वैद्यः प्रकीर्तितः॥

आपके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर वैद्य समाज अनुभव करता है कि 'गुन न हिरानो गुनगाहक हिरानो है।' हम आपके यशस्वी एवं उपयोगी जीवन की शताधिक शरद् पर्यन्त कामना करते हैं।

आपने 'धनुर्वात' पर सारगर्भित उत्तम लेख प्रेषित कर कृतार्थ किया है।

—वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य

धनुर्वात को हनुस्तम्भ, अपतानक अथवा धनुष्टंकार या टीटेनस के नाम से भी जाना जाता है। यह वात प्रधान रोग है। इस रोग में वायु से प्रकुपित होकर शरीर धनुष की तरह पेट या पीठ की ओर झुक जाता है। इसमें जबड़ा जकड़ जाता है और आंखें स्तब्ध हो जाती हैं। यदि शरीर पेट की ओर मुड़ता है तो उसे 'आभ्यन्तरायाम धनुर्वात' कहते हैं। पीठ की ओर पीछे मुड़ता है तो उसे 'वाह्यायाम धनुर्वात' कहते हैं और यदि शरीर पार्श्व की ओर मुड़ता है तो उसे 'पार्श्वयाम ध ुर्वात' कहते हैं।

सर्वप्रथम रोगी के गले में दर्द होता है और गर्दन जकड़ जाती है, दांत भिच जाते हैं, जबड़ा अकड़ जाता है। मुख के स्नायु खिचकर अकड़ जाते हैं। ऐंठन के कारण रोगी टकटकी लगाकर देखता है तत्पश्चात् उसका सारा शरीर धनुष की तरह मुड़ जाता है। सिर पीछे को मुड़ जाता है। आंखें चढ़ जाती हैं और शरीर रह रह कर शिथिल और निर्जीव सा हो जाता है। सारा शरीर पसीने से तर हो जाता है। इस रोग में रोगी को बुखार चढ़ जाता है। उसका तापमान १०२° से १०७° तक पहुँच जाता है। थोड़ी-थोड़ी देर बाद रोगी को दौरा पड़ता है। सिर, छाती, पीठ आगे या पीछे की ओर टेढ़ा होकर ऐंठ जाते हैं। दौरों के साथ रोगी को

बहुत दर्द होता है। दौरों का जल्दी-जल्दी, बारम्बार पड़ना रोगी की बिगड़ती हुई हालत का सूचक है।

शरीर का कोई अङ्ग कुचल जाने से, कट या छिल जाने से, अधिक देर तक खून बहते रहने से, घाव खुला रह जाने से या स्त्रियों द्वारा गर्भपात कराने से बहुत अधिक खून बहने से या गर्भस्थ शिशु के गर्भ में मर कर जहर फैल जाने से, बच्चा पैदा होने के समय दाइयों द्वारा गन्दे या जंग लगे चाकू या छुरी से नाल काटने पर, कभी कभी क्विनीन या ज़िलेटीन का सूची भेद त्वचा के नीचे लगने के बाद भी 'अपतानक' या टीटेनस रोग होते हैं।

एलोपैथी वाले इस रोग का कारण 'बैसिलस टीटेनस' अथवा क्लोस्ट्रिडियम टिटेनी नाम के सूक्ष्म कीटाणु को मानते है। यह कीटाणु पशुओं की लीद या धूल, मिट्टी में बहुतायत से होता हैं। यदि कोई सड़क पर रगड़ खा जाये या गिर कर चोट खा जाये या कांटा लग जाये या सुई चुभ जाये या जंग लगा चाकू अथवा ब्लेड लग जाये, गन्दी कील हाथ-पांव में चुभ जाये या गन्दे कनस्तर की खरोंच अथवा गन्दे बर्तन की चोट से उत्पन्न घाव या तारकोल की सड़क पर हुई दुर्घटना से उत्पन्न दूषित क्षत हो जाये तो टीटेनस के कीटाणु द्वारा क्षत स्थान से रक्त में प्रवेश कर वातदोष को प्रकुपित कर हनुस्तम्भ या टीटेनस रोग के हो जाने की सम्भावना रहती है।

आगे तालिका में टीटेनस से मिलते-जुलते लक्षणों वाले (विभिन्न सापेक्ष) रोगों के लक्षणों का विस्तृत विवरण लिपिबद्ध किया गया है ताकि पाठकगण और चिकित्सकों को टीटेनस का अन्य रोगों से भेद करने में सहूलियत हो जाये।

गर्भापस्मार १	धनुर्वात २	कुचला-विष ३	अर्दित ४
१—रोग होने से एक-दो दिन पहले रोगी को भयानक सिर दर्द और जी मिचलाता है।	रोग होने से दो या तीन दिन पहले रोगीकी टांगों में दर्द होता है।	कुचला अधिक मात्रा में सेवन करने से कुछ क्षणों बाद ही रोगी का सिर चकराने लगता है। उसे जमीन घूमती नजर आती है।	इस रोग का आरम्भ कभी धीरे-धीरे, कभी एकाएक होता है।
२—रोग धीरे-धीरे होता है।	रोग का आक्रमण धीरे-धीरे प्रारम्भ होता है।	दौरा एकाएक आरम्भ होता है।	—
३—चोट लगना आवश्यक नहीं। गर्भावस्था के आठवें या नवें महीने में यह रोग होता है।	रोगी को प्रायः चोट लगी होती है या कील, कांटा, गन्दा टीन चुभा होता है।	किसी प्रकार की चोट लगना जरूरी नहीं है। कुचला सेवन का इतिहास मिलता है।	—
४—रोगिणी के स्नायु अकड़ जाने पर भी वह उन्हें थोड़ा बहुत सिकोड़ या फैला सकती है।	सबसे पहले गर्दन और नीचे के जबड़े के स्नायु प्रभावित होते हैं। रोगी के स्नायु इस हद तक अकड़ जाते हैं कि वह अपनी टांगें न तो सिकोड़ सकता है और ना ही फैला सकता है।	एक साथ ही सारे शरीर के स्नायु प्रभावित होते हैं। रोगी के स्नायु अकड़ जाते है लेकिन वह उनका थोड़ा बहुत संकोच और विकास कर सकता है।	चेहरे के किसी एक ओर दायीं या बायीं ओर के स्नायु प्रभावित होते हैं। अतः चेहरा एक तरफ को टेढ़ा हो जाता है।

गर्भापस्मार १	धनुर्वात २	कुचला-विष ३	अर्दित ४
५—रोगिणी को खड़ा नहीं किया जा सकता।	रोगी को खड़ा करने में कठिनाई होती है।	रोगी को खड़ा करने में कठिनाई होती है।	खड़े होने में कोई कठिनाई नहीं
६—साधारणतया कब्ज रहता है।	प्रायः कब्ज रहता है।	कब्ज जरूरी नहीं है।	कब्ज जरूरी नहीं।
७—रोगिणी का मुख बिल्कुल बंद रहता है। वह बोल नहीं पाती।	रोगी का जबड़ा (हनु) कम या अधिक खुला रहता है। रोगी बोल नहीं पाता।	रोगी का जबड़ा कम या अधिक खुला रहता है और वह मरते दम तक बोल सकता है। बोली साफ निकलती है।	पक्षाघात के कारण बोली साफ नहीं निकलती और लार बहती रहती है।
८—रोगिणी का बुखार १०००फा. तक आ जाता है। अन्तिम अवस्था में बुखार एकदम उतर कर शरीर ठंडा पड़ जाता है।	रोगी का बुखार १०५ से १०८० फा. तक चला जाता है। इसमें बुखार का बढ़ना मौत की घण्टी है और बुखार का कम होना रोग आराम होने का सूचक है।	रोगी का बुखार १०० से १०२० फा. से अधिक नहीं बढ़ता है।	बुखार प्रायः नहीं होता
९—मृत्यु कई कारणों पर निर्भर करती है। प्रायः रोगिणी मौत और जिंदगी के बीच कई दिन तक लटकती रहती है।	मृत्यु कुछ घण्टों में हो जाती है। यदि छः घण्टों में मृत्यु न हो तो बचने की आशा की जाती है।	मृत्यु कुछ घण्टों में ही हो जाती है। यदि छः घण्टे में मृत्यु न हो तो रोगी के बचने की आशा हो जाती है।	मृत्यु प्रायः कम होती है और रोग रूपी तोता सदा के लिये पलता है।

आयुर्वेदिक उपचार—

रोगी को दसमूल क्वाथ एरण्डी का तैल मिलाकर वस्ति देकर उसका कोठा साफ कर दें। मार्तण्ड का 'रासोन' या जी. ए. मिश्रा का लहसुन की सूचीभेद एक से दो मिली. प्रत्येक ८ घण्टे के बाद मासान्तर्गत दें।

दर्द दूर करने के लिए मार्तण्ड का 'शूलान्तक' सूचीभेद त्वचा में लगायें।

दौरे तथा ऐंठन को रोकथाम के लिए निम्नलिखित कोई एक योग सेवन करायें—

(१) सूतिकाभरण रस (योगरत्नाकर) २५० मिग्रा. ब्राह्मी घृत या अश्वगन्धा घृत से सेवन करायें और ऊपर से निम्नलिखित क्वाथ पीने को दें—

क्वाथ—जायफल, जावित्री, लौंग, सोंठ, दालचीनी और कालीमिर्च प्रत्येक समभाग लेकर मोटा चूर्ण बनालें। १० ग्राम चूर्ण को ५०० ग्राम पानी में क्वाथ पकाओ। एक चौथाई रह जाने पर छानकर अनुपान के रूप में प्रयोग में लायें। ऐसी एक मात्रा प्रत्येक तीन घण्टे बाद दिन में चार बार सेवन करायें।

(२) महावात विध्वंस रस १२५ मिग्रा., प्रताप-लंकेश्वर रस १२५ मिग्रा., अश्वकञ्चुकी रस २५० मिग्रा., एकांगवीर रस १२५ मिग्रा., ताप्यादि लौह २५० मिग्रा. । इन सबको मिलाकर एक मात्रा । ऐसी एक मात्रा २० ग्राम (२ तोले) महारास्नादि क्वाथ के साथ दिन में चार बार, प्रत्येक ३ घण्टे के बाद सेवन करायें ।

रोगी मुँह से औषधि लेने की दशा में न हो तो भी उसके मुँह में चम्मच अड़ाकर नित्य प्रति किसी न किसी तरह दवा उसके हलक में उतार दो ।

रोगी की ऐंठन दूर हो जाये तो उपरोक्त नुस्खे में अश्वकञ्चुकी रस के स्थान पर आरोग्यवर्धिनी वटी मिला लें । यदि उपरोक्त नुस्खे के सेवन से रोगी को लाल रंग का पेशाब होवे और पेशाब कठिनाई से उतरे तो उसमें ताप्यादि लौह के स्थान पर वंग भस्म मिला लें ।

(३) सुबह, शाम सूतिका-भरण रस सेवन करायें और दोपहर तथा रात को महावात विध्वंस-रस आदि नं० २ योग सेवन करायें ।

यदि रोगी को बुखार कम हो जाये तो सुबह उठने पर और रात को सोने से पहले गर्म पानी से स्पञ्ज करके फिर महाविषगर्भ और महानारायण तैल (समान मात्रा में लेकर) की मालिश करें । याद रखें तेज बुखार में मालिश करना हानिकारक होता है ।

(४) क—सूतिकाभरण रस ६० मिग्रा., वातकुलान्तक रस ६० मिग्रा. और बृहद् वातचिन्तामणि रस ६० मिग्रा., नवायस लौह २५० मिग्रा., असगंध चूर्ण १ ग्राम, इन सबको मिलाकर एक मात्रा हुई । ऐसी एक मात्रा दिन में चार बार महारास्नादि क्वाथ के साथ सेवन करायें ।

ख—मल्ल चन्द्रोदय ६० मिग्रा., कस्तूरी ६० मिग्रा. सुबह शाम शहद से चटायें ।

प्रतिषेधक उपाय—

एलोपैथी वाले सदैव अनिवार्य तौर पर किसी प्रकार की चोट, खरोंच या घाव लगने पर ए.टी.एस. का इन्जेक्शन टीटेनस के प्रतिषेधार्थ लगाते हैं । आयुर्वेद में निम्नलिखित योग को घाव या चोट के ठीक हो जाने के एक हफ्ते बाद तक महारास्नादि क्वाथ के साथ या दूध में १५ मिली. एरण्डी का तेल मिला उसके साथ दिन में तीन बार सेवन कराते रहने से 'टीटेनस या धनुर्वात' होने की सम्भावना नहीं रहती । इसे ए. टी. एस. का प्रतिनिधि कहा जा सकता है ।

प्रताप लङ्केश्वर रस—१२५ मिग्रा., ताप्यादि लौह १२५ मिग्रा., आरोग्यवर्धिनी वटी २५० मिग्रा., इन तीनों को मिलाकर एक मात्रा हुई ।

तान्त्रिक टोटिका—वाराणसी के पं० अरुणकुमार शर्मा तांत्रिकाचार्य ने एक बार मुझे बताया था कि जब धनुर्वात के रोगी की हालत बिगड़ती चली जाये और कोई दवा असर न करे तो एक निम्नलिखित उपाय भी करके देख लें—

उनके अनुसार धनुष्टंकार के रोगी की पीठ पर रीढ़ की हड्डी के निचले सिरे पर का भाग फूला हुआ (हवा से भरा हुआ) सा दीख पड़ेगा बस उसी स्थान पर किसी विसंक्रमित ब्लेड से चीरा लगा दें । वहां से हवा का बुलबुला बाहर निकलता है, रोगी बहुत तड़पता है । लेकिन कुछ समय बाद ठीक हो जाता है, ऐसा उनका अपना अनुभव है । चीरा लगाने के बाद रोगी का तड़पना उसके अच्छा होने की निशानी है । उनके विचार से सुषुम्ना के अन्तर्गत वायु का बुलबुला फंस जाने से धनुर्वात की स्थिति पैदा होती है । चीरे से उत्पन्न घाव की मरहम पट्टी कर दें ।

जब रोगी के बचने की आशा न रहे तो यह टोटका करके भी देख लें । घाव ठीक करने के लिये आयुर्वेद में अपामार्ग के तेल का फोया या हल्दी-घी का फोया रख कर पट्टी बांध देते हैं ।

एलोपैथी चिकित्सा—

प्रतिषेधात्मक चिकित्सा—चूंकि धनुर्वात के कीटाणु प्रायः सड़क, बाग, बगीचे तथा अन्य गंदे स्थानों में पाये जाते हैं अतः इन स्थानों पर गिरने पर, खरोंच लग जाने पर या घाव हो जाने पर या अन्य किसी भी कारण से घाव हो जाने पर तुरन्त घाव को स्प्रिट से साफ करके एक्रीफ्लेविन लगाकर पट्टी बांध दें और यदि मामूली

खरोंच हो तो उसे स्प्रिट से साफ करके टिंक्चर आयोडीन का लेप उस पर कर दें। साथ ही रोगी की सहनशीलता देखकर ए. टी. एस. का १५०० इ. यू. की मात्रा का शिरा में सूचीवेध लगा दें। इससे घायल व्यक्ति को टीटेनस होने की आशंका नहीं रहती है।

टीटेनेस या हनुस्तम्भ का निश्चय करने के पश्चात् तत्क्षण सर्वप्रथम ए. टी. एस. का १५०० ई. यू. की मात्रा (बच्चों को ७५० ई. यू. की मात्रा) का सूचीवेध त्वचा में लगा दें। आधा से घण्टा भर ठहर कर उसका प्रभाव देखें कि सूचीवेध लगाने के स्थान की त्वचा लाल होकर कोई विषैली प्रतिक्रिया तो नहीं हो रही है। यदि ऐसी प्रतिक्रिया हो जाय तो उसको दूर करने के लिए एड्रीनलिन का सूचीवेध त्वचा या मांसपेशी में या शिरा में लगायें। यह प्रतिकूल प्रतिक्रिया इस बात की सूचक है कि रोगी को धनुष्टंकार या टीटेनस का रोग नहीं है। अतः ए. टी. एस. की सुई न लगायें बल्कि रोग पर पुनर्विचार करके यथोचित उपचार करें।

धनुर्वात का निश्चय हो जाने पर तुरन्त रोगी को २५००० ई. यू. का एम्पुल का शिरा या मांस में सूचीवेध लगायें। इसके बाद बारह घण्टे बाद रोगी को ५० हजार ई. यू. की दूसरी मात्रा शिरा में दें (बच्चों को उनके शरीर के भार के अनुसार शिरा या मांस में १० से २५ हजार ई. यू. का सूचीवेध दें)।

इसके बाद रोगी को प्रत्येक ४ घण्टे बाद २५००० ई. यू. का ए. टी. एस. का सूचीवेध शिरा में ३-४ बार लगायें जब तक कि रोग के लक्षण समाप्त होकर उसे आराम न मिल जाये।

आक्षेप और ऐंठन दूर करने के लिए पहले रोगी को नार्मल सेलाइन के ५-१० मिली. की मात्रा में शिरा में धीरे-धीरे चढ़ायें, तत्पश्चात् पैरेल्डीहाइड ५ से १५ मिली. धीरे-धीरे शिरा में सूचीवेध लगायें। इसके बाद फिर नार्मल सेलाइन ५ से १० मिली. की मात्रा में शिरा में लगायें। इस प्रकार एक के बाद दूसरी औषधि का इन्जेक्शन क्रमानुसार लगायें तथा धीरे-धीरे बढ़ावें। यह धनुर्वात के दौरे दूर करने में अमोघ अस्त्र का कार्य करेगा।

यदि आवश्यक समझें तो ल्युमिनल सोडियम १ से २ मिली. का सूचीभेद प्रति छः घण्टे पर लगाये। यह भी ऐंठन और दर्द दूर करता है। अथवा मैग्नीसियम सल्फेट २५% वाला २ से ६ मिली. के एम्पुल का सूचीवेध त्वचा में दिन में दो-तीन बार-प्रतिदिन लगावें। यदि ५०% वाला सूचीवेध लगायें तो शिरा में दिन में दो बार ही लगायें। जरूरत पड़ने पर इसे ५०% की शक्ति में सुषुम्णान्तर्गत भी लगा सकते हैं। इसके सूचीवेध देने के १५-२० मिनट के अन्दर ही रोगी को दस्त हो जाता है और उसका कोठा साफ हो जाता है। मैग्नीसियम सल्फेट का इन्जेक्शन रक्त को अधिक क्षारीय बनाकर नाड़ी एवं मांसपेशियों को मूर्च्छित (शान्त) कर देता है। इससे मस्तिष्क में अर्द्ध निद्रित अवस्था उत्पन्न हो जाती है। सुषुम्णा मार्ग से देने पर यह मूर्च्छा उत्पन्न करता है।

सोडियम एमाइटल—एक शक्तिशाली वेदनाहर और निद्राजनक औषधि है। इसका सूचीवेध शिरा मे देने से रोगी कुछ क्षणों में ही संज्ञाहीन हो जाता है जिससे टीटेनस के रोगी को दर्द, दौरा व ऐंठन की अनुभूति नहीं होती है। इसका १०% का एम्पुल बहुत धीरे-धीरे (एक मिनट में अधिक से अधिक १ मिली. की गति से) दिन में एक बार लगायें।

कोरामीन या कारडियाजोल या सिकाल्टन का इन्जेक्शन भी जरूरत पड़ने पर हृदय को बल देने के लिए दे सकते हैं। पिट्यूटरीन का सूचीवेध जरूरत के अनुसार लगायें।

पेशाब रुक जाये तो उसका औषधि द्वारा यथोचित उपचार करें। जरूरत पड़े तो उचित नम्बर के कैथीटर से पेशाब करा दें। यदि रोगी मुख से कुछ न खा सके तो स्टमक ट्यूब से या नाक द्वारा दूध पिलावें। यदि रोगी को श्वासावरोध हो तो उसे कृत्रिम श्वसन पर रखें या ट्रैक्योटोमी करें।

स्नायुओं की ऐंठन दूर करने के लिये स्नायु ढील करने वाले (Muscle Relaxant) योग देते हैं। क्लोरल हाइड्रेट, बारबीच्यूरेट्स, ब्रोमाइड्स आदि प्रयोग

—शेषांश पृष्ठ १७६ पर देखें।

बाल धनुर्वात की सफल चिकित्सा

वैद्य चैतन्य स्वरूप दाधीच बी० एस-सी०, बी० एड, आयुर्वेद-रत्न, आयुर्वेद वृहस्पति (M.Sc.A,)
आयुर्वेद वारिधि (D. Sc. A.) श्री मारुती चिकित्सालय, कोटा (राज०)।

वैद्य श्री चैतन्यस्वरूप दाधीच ने मेरे आग्रह पर अनुभूतिपरक 'बाल धनुर्वात की सफल चिकित्सा' नामक लेख प्रेषित किया। आप एक सिद्ध हस्त वैद्य हैं जिनके चिकित्सा कौशल से अनेक आतुरों ने स्वास्थ्य लाभ प्राप्त किया है। यद्यपि आतुर को स्वास्थ्य लाभ पहुँचाना ही चिकित्सा का परम ध्येय होता है किन्तु रुग्ण के आयुष्य हेतु किये गये इन उपायों में हिंसा बाधक है। महर्षि सुश्रुत ने उद्बोधित किया है— आयुष्यं भोजनं जीर्णे वेगानां चाविधारणम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च साहसानां च वर्जनम्॥ —सुश्रुत. चि. २८-२९
आज पुनः बालकों के विकार प्रशमनार्थ किंवा स्वास्थ्य संरक्षणार्थ इस मन्त्र में निहित शक्ति को उजागर करने की आवश्यकता है—अन्नाधाय व्यूहध्वं, दीर्घायुत्वया व्यूहध्वम्। ब्रह्मचर्यसाय व्यूहध्वम् दीर्घायुरहं मन्त्रादो ब्रह्मवर्चसी भूयासम्॥" —विशेष सम्पादक।

धनुर्वात रोग ही जब बच्चों को हो तो बाल-धनुर्वात कहलाता है।

पर्याय—बाल-धनुर्वात अपतानिका प्रान्तीय भाषा में आंकड़ी जमोघा अंग्रेजी में Intantile Tetany Covulsi on कहते हैं।

आयुर्वेद इसे वात व्याधि के अन्तर्गत मानता है। यह व्याधि बहुधा शिशुओं को जन्म लेते ही या बाद को होजाया करती है और प्रायः प्राणघातक सिद्ध होती है। इसमें रोगी के हाथ और पांव में विशेष प्रकार के संकोचन के दौरे पड़ते ही रोगी की हाथ की अंगुलियाँ मुड़कर एक कोण सा बन जाता है। रोग की तेजी में शरीर की सभी पेशियों में संकोचन होने लगता है। शिशु मुट्ठी बांधकर रोता है।

कारण—

प्रसूतिग्रह की अव्यवस्था, शुद्धता का अभाव, परिचारिका दाई अथवा नर्स की अकर्मण्यता, पूतिकरण के अभाव से कीटाणुओं की उत्पत्ति या नाल-छेदन के दूषित प्रकार से, शिशु के एक ही करवट पर अधिक लेटने से गर्भाशय जन्य विकार, दूषित दुग्धपान, बालक के नाभि प्रदेश पर दाह उत्पन्न होना यह महा-व्याधि जन्म लेते ही शिशुओं को कभी—२ हो जाया करती है।

पूर्वरूप—आक्षेप से पूर्व झुन्झुनी, शून्यता, बेचैनी बाहु में कड़ापन आदि पूर्वरूप के लक्षण होकर हाथ कलाइयों पर मुड़ जाते हैं।

लक्षण—

शिशु दूध-पीना बन्द कर देता है, जबड़े बैठ जाते हैं, आंखों की पुतलियां फिरने लगती हैं या एक दम स्थिर हो जाती हैं, हाथों की अंगुलियां अन्दर की ओर मुड़कर एक कोण सा बन जाता है और मुट्ठियां बन्ध जाती हैं, बालक मुट्ठी भींच-भींचकर रोता है और फिर बेहोश हो जाता है। शरीर हिलता सा प्रतीत होता है। एकदम आक्षेप या ऐंठन का वेग सा आता है। गर्दन पीछे की ओर मुड़कर टेढ़ी हो-जाती है। हाथ पांव ऐंठते हुए पेट की ओर आते हैं और बालक धनुषाकार बन जाता है। ज्वर भी विशेष रह सकता है। बेहोशी काफी रहती है। इस प्रकार के आक्षेप शिशुओं में ५-१५ मिनिट तक या कुछ अधिक देर रह कर शांत हो जाते है। अथवा ये आक्षेप लगातार आते भी रह सकते हैं।

चिकित्सा-क्रम—

प्रथम रोगी को होश में लाने का प्रयास करें। इसके लिये श्वास-कुठार रस किंचित सा लेकर नासिका में मल दें या फूंक देवें। अथवा—नौसादर, चूना और कलमी शोरा समभाग अलग-२ पीसकर एक शीशी में भर उसमें थोड़ा

सा कर्पूर मिला डाट लगाकर अच्छी तरह हिला दें। बस दवा तैयार है। डांट खोलकर इसकी गैस रोगी की नासिका में प्रविष्ट करावे। तत्काल मूर्च्छा शमन होगा।

२. दन्तोद्गम की विकृति में कुमार कल्याणघृत दें।

३. मलावरोध हो तो तुरन्त दूर करने का प्रयास कर—रेंडी का तैल (Castor-oil) मन्दोष्ण दुग्ध से पान करावें अथवा न पी सकने की अवस्था में रेंडी तेल, शहद मिलाकर अंगुली से थोडा थोडा चटावें। अथवा बस्ति के लिए बला तेल या प्रसारणी तैल भी प्रयोग कर सकते हैं।

४. कृमियों का सन्देह हो तो कृमि कुठार रस की योजना करें।

५. शिशु के मसूढ़े यदि शोथयुक्त हों तो तुरन्त ही ही उसमें चीरा लगावें।

६. कफ वृद्धि हो तो दूर करें—टंकण आधी रत्ती + वच आधी रत्ती शहद में चटावे। कफ दूर होकर मूत्र शुद्धि होगी।

७. आक्षेप का वेग शान्त करने का प्रयास करें।

१. इसके लिए मुख्य औषधि टंकण। स्वेदल, स्नायु-शैथिल्य कर, ज्वरघ्न, आध्यमानहर, आमपाचक यह औषधि आक्षेप में अति लाभदायक है। सुहागे का फूला महीन चूर्ण कर २-२ रत्ती को मात्रा में माता के दूध अथवा शहद के साथ १-१ घण्टे से चटाते रहने से शीघ्र ही आक्षेपों का वेग शान्त हो जाता है।

२. प्याज काट-काट बारम्बार सुंघाना भी विशेष लाभदायक रहता है।

३. हींग—१ रत्ती, कस्तूरी १ रत्ती, पीसकर मधु २ माशा में मिलाकर दिन में तीन चार बार चटावे। आक्षेप निवृत हो जायेगा।

विशेष चिकित्सा—

(१) लक्ष्मी नारायण रस (यो० र०)—टंकण युक्त यह योग इस रोग के लिए विशेष रूप से व्यवहृत होता है। सिर्फ ५-१० मिनट में ही परिणाम देता है। लक्ष्मी नारायण रस स्वेदल है लेकिन हृदय को कोई नुकसान नहीं पहुँचाता है। पूर्ण रोग निवारण हेतु प्रथम बस्ति देकर इस योग की १-१ रत्ती की मात्रा अद्रक स्वरस व मधु मिलाकर दिन में ३ बार चटावे। रोग शीघ्र ही शमन होगा। इस रोग हेतु इस रस को प्रयोग करने पर कभी कभी शिशु को पसीना खूब आने लगता है। ऐसी अवस्था में घबरायें नहीं। इस रस के साथ प्रवालपिष्टी आधी रत्ती, गिलोय सत्व १ रत्ती मिश्रित कर दें।

यह रस इस रोग की चिकित्सार्थ आयुर्वेदीय ब्रह्मास्त्र कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस रस का विशेष कार्य अन्त्र, यकृत प्लीहा, रस, रक्त, मांस (स्नायु) और त्वगगत स्वेदपिण्डों पर होता है। पित्त की तीव्रता शीघ्र शमन करता है।

(२) ताप्यादि लोह—इसके विषय में औषधि गुण धर्म शास्त्र में वैद्य गुणे शास्त्री जी लिखते हैं कि शिशुओं बालग्रह (धनुर्वात) रोग में यह औषधि विशेष लाभ पहुँचाती है। किन्तु इसके साथ मृदु विरेचन देना आवश्यक है। बाल धनुर्वात का प्रथम तीव्र आक्षेप आजाने के पश्चात इसका विशेष उपयोग होने के अनेक उदाहरण है। परन्तु अनेक रोगियों को इसकी मात्रा अधिक १ माशा तक देनी पड़ जाती है। जबकि मूल मराठी ग्रंथकार मात्रा १ से २ रत्ती ही लिखी है। इस योग में शिलाजीत विशेष प्रमाण है। शिलाजीत सेन्द्रिय द्रव्य है अतः मूत्रल, आमपाचक, रक्त दोषहर, संचित मूत्र के अद्भुतक्षारों का नियोजन करती है। शिलाजीत के इस गुण के कारण यह योग धनुर्वात जन्य स्नायु संकोच व वातवाहिनियों की शुष्कता आदि पर उत्तम कार्य करता है।

धनुर्वात के विष की तीव्रता के शमन करने के लिए प्रथम काल कूट रस का अल्प से अल्पमात्रा में सेवन कराने के पश्चात रोग की मन्दावस्था में रक्त प्रसादन करने वाली औषधि ताप्यादि लौह की योजना प्रशस्त होती है। इस रस के सेवन से रोग के अवशिष्ट लक्षण एवं विष नष्ट हो जाता है।

(३) अमृतार्णव रस (भै० र०)—यदि रोग के कारण आमाशय विकृति हो तो इस रस का प्रयोग प्रशस्त है। कभी कभी माता के विकृत दुग्ध के पान अथवा गोदुग्ध या बाह्य अन्य कृत्रिम दुग्ध विकृतावस्था में पान करने से आमाशय में कफ दुष्टि एवं सम्पूर्ण कोष्ठ में दोष विकृत होकर बालक को धनुर्वात के आक्षेप आने लगते है। वस्तुतः वात प्रधान स्थान पक्वाशय में वात विकृति होकर

उदर में वेदना, आध्यमान, ज्वर, मलावरोध या वारम्वार दुर्गन्ध युक्त थोड़ा थोड़ा काले रंग का दस्त होना वारम्वार आक्षेप तीव्रवेग पूर्वक आना तथा प्रत्येक आवेग के साथ वालक की जीवनीय शक्ति का लगातार ह्रास होते रहना आदि लक्षणजन्य अवस्था में इस रस का उत्तम प्रयोग है।

एलोपैथिक चिकित्सा—स्त्रियों को शिशुओं को दूध पिलाना वन्द करवा देते हैं। और स्वयं माता को आयरन, आर्सेनिक लिवरएक्सट्रेक्ट आदि वल्य औषधियाँ सेवन कराते हैं। आक्षेप शुरू होते ही कई चिकित्सक गुनगुने जल से स्नान कराते हैं। कब्ज हो तो ग्लीसरीन की पिच-कॉरी लगाते हैं या १ ग्रेन केलोमल जीभ पर रख देते हैं जिससे दस्त हो जाते हैं। पश्चात् निम्नवत चिकित्सा करें—

१—कैल्शियम लेक्टेट विद पैराथाइरोइड की १-१ टिकिया दिन में तीन या चार वार तक दें। अथवा कोलायडल कैल्शियम विद विटामिन डी को १-१ ड्राम दिन में चार वार तक नित्य दें।

२—साथ में मायेनेसीन (Myanesin) B. D. H. की २-२ टिकिया हर तीन चार घण्टे में दें।

३—ऐंठन व दर्द आक्षेप के लिए गार्डीनल सोडियम (Gardenal Sodium) को १-२ इंजेक्शन कर दें।

—अन्त में एक 'गुप्त'—अनुभूत-प्रयोग—

(प्रथम वार प्रकाशित)

काले (सम्पूर्णतः काला) हिरण का शिकार कर उसकी जवड़ी ले आवें। पश्चात् धो साफ कर रख ले। जब कभी शिशु इस महा भयङ्कर रोग से ग्रसित हो तत्काल उक्त प्राणिज द्रव्य का प्रयोग करें—

प्रयोग विधि—काले हिरन की जवड़ी साफ पत्थर पर जरा से पानी के साथ घिसकर पानी बनाकर कुछ मन्दोष्ण कर वालक को चटा देवें। २० मिनट वाद फिर चटा देवें। इस तरह अधिक से अधिक चार पांच वार पानी दे देवें। यही पर्याप्त होगा। ईश्वर-भगवान-मारुती की कृपा से शिशु इस दुर्दान्त व्याधि से शर्तिया बच निकलेगा। भगवान मारुती की कृपा से मात्र इस प्राणिज द्रव्य की वदौलत मेरे पूज्य पिता श्री आयुर्वेद मार्तण्ड वैद्य श्री रिपुसूदन लाल जी ने निःस्वार्थ भाव से सैकड़ों वच्चों की जान वचाई है। यह प्रयोग अभी भी मैं विना उनकी अनुमति प्राप्त कर पाये ही आयुर्वेद-हितार्थ प्रकाशित करवा रहा हूँ। यह प्रयोग मेरे पूज्य पिता जी को आज से लगभग ४५ वर्ष पूर्व किसी मुस्लिम बुजुर्ग दाई से प्राप्त हुआ था। विशेष सेवा देख एवं आयुर्वेद के प्रति असीम प्रेम की वदौलत उस दाई ने अपना गुप्त योग उस समय वता दिया था। जीव-हिंसा अवश्य है—परन्तु एक जीव के जीवन नष्ट होने से हजारों जीवों के नष्ट प्राय जीवन को संकट की घड़ी से उक्त प्रयोग से उवारा सुनिश्चित है।

पथ्यापथ्य—स्तन्यधात्री को लघु शीघ्रपाकी आहार देना चाहिए। जैसे—मूंग की दाल, अरहर की दाल मांसाहारी हो तो वकरी मुर्गी या पक्षियों के मांस का शुरवा। वच्चा यदि खाना खा सकता हो तो यही खानपान कम मात्रा में दें।

उड़द की दाल, गोभी, चावल, वैंगन, मूली लहसुन, प्याज मटर, मसूर की दाल आदि न दें।

धनुर्वात — पृष्ठ १७३ का शेषांश

में लाये जाते हैं। वी. डी. एच. का मायनेसिन सूचीभेद और गोलियों का प्रयोग भी किया जाता है।

ठीक होने के वाद रोगी को मल्टी विटामिन की गोलियां और टेरामासीन के कैपसूल देते रहें। एक हफ्ते वाद २५ ई. यू. का ए. टी. एस. का सूचीवेध देवें। यदि रोगी को वहुत शिर दर्द हो और ज्वर हो जावे तो उसकी दुर्वलता दूर करने के लिए सचेष्ट रहें। कोई विशेष लक्षण नजर आये तो सव ठीक समझें। दुर्वलता अधिक मालूम पड़े तो २५ मि.लीटर ग्लूकोज में २ से ४ मिली. कोरामीन मिलाकर इन्ट्रावीनस इन्जेक्शन दें।

रोगी का वुखार कम हो जाये, उसे पसीना धीरे-धीरे आये तो यह रोग की निवृत्ति का लक्षण है। किसी किसी की जीभ मोटी हो जाती है उस पर मैल की मोटी वह जम जाती है। कांटे-कांटे से लगते हैं। ऐसे में उसकी जीभ पर मैगसल्फ को शहद में मिलाकर मलें।

★ वाल धनुर्वात की सफल चिकित्सा ★

शिरोग्रह

विशेष सम्पादक

इस रोग के शास्त्र में शिरोग्रह एवं सिराग्रह दोनों ही नाम प्रचलित हैं। प्रकुपित वात रक्त में स्थित होकर शिर की शिराओं को रूक्ष, वेदनायुक्त तथा कृष्णवर्ण की कर देता है। इसे शिरोग्रह कहते हैं। महामति माधवकर ने इसे सिराग्रह नाम दिया है जिसकी व्याख्या में विजयरक्षित जी लिखते हैं। 'शिरोग्रह इति पाठान्तरे शिरोधारकसिरादुष्ट्या शिरोवेदनाकारित्वात् शिरोग्रह, इति व्यपदेशः, लक्षणं तु तदेव'। यह मस्तिष्कगत अन्तः शल्यता (Cerebral Embolism) है।

भगवान् चरक ने चिकित्सा अध्याय २८ में शिरोग्रह को प्राणावृत उदान विकृति कहा है। महर्षि सुश्रुत ने सिरागत वायु प्रकोप के लक्षणों में 'कुर्यात्सिरागतः शूल सिराकुञ्चनपूरणम्' कहा है। आचार्य वाग्भट ने सिराग्रह रोग का वर्णन किया है जिसे माधवकर ने उद्धृत किया है। वसवराज ने सिरावात एवं शिरोवात दोनों का पृथक् वर्णन किया है किन्तु इन रोगों में लक्षण भिन्नता है। यथा सिरावात सर्वाङ्ग व्याधि है और शिरोवात में हृच्छूलादि लक्षण निर्दिष्ट किये हैं—

> सर्वाङ्गं च सिरादुःखं शरीरं च चराचरम्।
> देहः पाण्डुश्च पीतश्च सिरावातस्य लक्षणम्॥
> शिरोवाते च हृच्छूलं रोमहर्षो विशोषणम्।
> दाहः सर्वाङ्ग नेत्रे च शिरोवातस्य लक्षणम्॥

योगरत्नाकर में शिरोगह ही कहा है। वलवत्तर वात रोगों के वर्णन में वसवराज ने अवश्य शिरोग्रह का उल्लेख किया है अतः शिरोगह ही हमने शीर्षक दिया है। इस रोग के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों के अनेक मत हैं। वस्तुतः यह गले के निचले भाग का विकार है जिसमें घनात्तता या अन्तः शल्यता के कारण सिरायें फूलकर काली पड़ जाती हैं। इसे असाध्य कहा गया है—"सोऽसाध्यः स्यात्सिराग्रहः'। एलावता इसकी चिकित्सा का वर्णन उपलब्ध नहीं होता है। इसकी सम्प्राप्ति के समान आधुनिक विद्वान् भी एक रोग मानते हैं जिसे अधिभ्रुव मसूरी (Herpes Supra-Orbitalis) कहते हैं। महर्षि सुश्रुत ने सिराओं के चार भेद किये हैं। वैसे सिराशब्द से अशुद्ध रक्तवाहिनी सिरा (Vein) का ग्रहण किया जाता है। आयुर्वेद में जो ४ भेद किये गये हैं वे हैं—

१. लोहिता सिरा—इससे धमनी (Artery) का ग्रहण किया जाता है जो शुद्ध रक्तवाहिनी है।

२. नीला सिरा—इससे सिरा (Vein) का ग्रहण किया जाता है। क्योंकि इनका वर्ण नीला होता है। उपर्युक्त वर्णन में सिरागत घनास्त्रता किंवा अन्तः शल्यता स्वरूप विकृति ग्रीवागत सिराओं में ही होती है।

३. गौरी सिरा—यह कफवहा होती है। इससे लसवाहिनी (Lymphatics) का ग्रहण किया जाता है।

४. अरुणा सिरा—यह वस्तुतः वातनाड़ी (Nerve) है। आभ्यन्तर रक्त के वात नाड़ी का वर्ण अरुण ईषद् रक्त होता है। एक प्रसिद्ध आयुर्वेदोक्ति है—

> न वातेन विना शूलं न कण्डूः श्लेष्मणा विना।
> न पित्तेन विना दाहः ना जीर्णेन विना ज्वरः॥

शूल का कारण वातनाड़ी ही होने से सिरा का अर्थ वात नाड़ी कर रक्त दोष के कारण त्रिशाखा (Trigeminal) नाड़ी विकृति को सिराग्रह किंवा शिरोग्रह कहा है। यह आयुर्वेदाचार्य श्री सुदर्शन शास्त्री जी का मन्तव्य है। इस नाड़ी की अधिभ्रुव शाखा प्रतान के मार्ग में ललाट की त्वचा में अत्यन्त पीड़ा और दाहयुक्त पिड़िकायें होती हैं। यह विकृति असाध्य तो नहीं कष्टसाध्य अवश्य है।

★ वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य ★

त्रिशाखा नाड़ी

(Trigeminal Nerve)
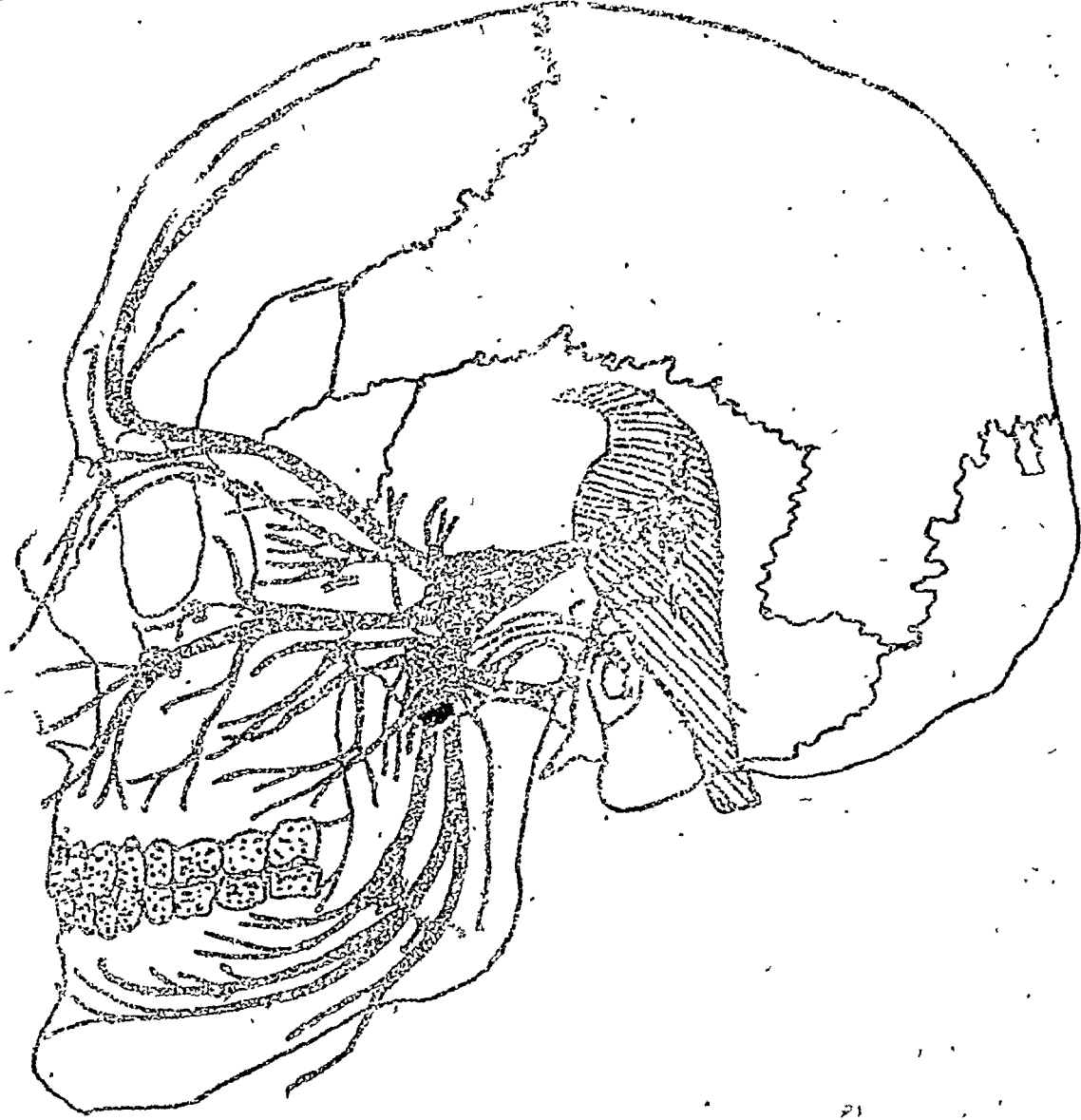
चिकित्सा —

आयुर्वेद में असाध्य व्याधियों की चिकित्सा का वर्णन नहीं मिलता है अतः निदान प्रकरण में इस व्याधि का उल्लेख होते हुए भी चिकित्सा प्रकरण में इसका उपक्रम वर्णन उपलब्ध नहीं होता है। किन्तु—

यावत्कण्ठगत प्राणस्तावत्कार्या प्रतिक्रिया।
कदाचिद्दैवयोगेन दृष्टिरिष्टोऽपि जीवति॥

के अनुसार उपयुक्त उपचार करना आवश्यक है। इसमें रक्त और वातशामक उपचार करने चाहिए। त्रैलोक्य चिन्तामणि रस रक्तवाहिनी तथा वात वाहिनी सिराओं पर विशेष कार्य करता है। अतः इसका प्रयोग लाभप्रद हो सकता है। स्वर्णभूपति रस भी इस निमित्त उपयोगी है। संचित सेन्द्रिय विष को बाहर निकालने में यह रस उपयोगी है। वातवाहिनी की विकृति से होने वाले वात रोग नष्टकर आमाशय, यकृत्, हृदय, मस्तिष्क आदि अवयवों को बल प्रदान करने में यह रस श्रेष्ठ है। वैद्य श्री केशवदेव शास्त्री प्रदिष्ट शैव रसायन अर्क भी इस व्याधि में उपयोगी हो सकता है—

सर्पगन्धा की जड़ २० तोला, शतावरी १० तोला,

—शेषांश पृष्ठ १८० पर देखें।

मन्यास्तम्भ

वैद्य सीताराम शर्मा भिषगाचार्य, आयुर्वेद बृहस्पति, राधा किशन पुरा (जयपुर) राज०

ग्रीवा के पिछले भाग को मन्या कहते हैं। इस भाग का अकड़कर स्थिर हो जाना ही मन्यास्तम्भ कहलाता है। यह कफावृत वातविकार है। इसकी उत्पत्ति में निम्नांकित कारण बनते हैं—

१. शीतवायु का स्पर्श, २. अभिघात, ३. दिन में अधिक सोना, ४. निम्नोन्नत (विषम) स्थान पर सोना, ५. मस्तिष्क सुषुम्ना की प्रदाहयुक्त व्याधियों यथा— मस्तिष्कावरण प्रदाह, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर, अपतन्त्रक (Hysteria) आदि के कारण, ६. घूमकर या ऊपर की ओर अधिक देखना।

उपर्युक्त कारणों से उरःकर्णमूलिका (Sternomastoid), शिरोग्रीवाविवर्तनी (Splenius), पृष्ठच्छदा (Trapezius) तथा ग्रीवा की अन्य गम्भीर पेशियों में कड़ापन आ जाता है। इसमें पेशियों के साथ नाड़ियों में भी विकृति आती है। यह एक पार्श्वीय तथा उभयपार्श्वीय भेद से दो प्रकार का है। एक पार्श्वीय में मुख एवं कन्धे ऊपर की ओर खिंच जाते हैं। उभयपार्श्वीय में सिर पीछे की ओर खिंच जाता है। ग्रीवा की पार्श्वीय

गति पूर्णतया अवरुद्ध हो जाती है। इसमें पीड़ा अधिक होती है। इनमें एक पार्श्वीय मन्यास्तम्भ भी दो प्रकार का होता है—१. स्थायी, २. अस्थायी। कुछ व्यक्तियों में स्वभावतः अथवा नेत्रविकार के कारण ग्रीवा को एक ओर झुकाकर रखने की आदत पड़ जाती है। यह एक पार्श्वीय मन्यास्तम्भ से सर्वथा भिन्न है।

(१) स्थायी एक पार्श्वीय मन्यास्तम्भ—अधिकतर भ्रूणावस्था में किसी कारणवश गले की पेशियों में रुकावट आ जाने से यह विकार होता है। क्वचित् प्रसव के समय अधिक दबाव पड़ने से भी पेशियों में स्थायी विकार आ जाता है। इस विकार में सामान्यतः गले की एक ओर की पेशियां छोटी एवं उभरी हुई रहती हैं तथा सिर दूसरी ओर झुका हुआ रहता है। अधिकांशतः मेरुदण्ड के बहुत से भाग में झुकाव पाया जाता है।

(२) अस्थायी एक पार्श्वीय मन्यास्तम्भ—इसके पुनः दो भेद है—

(अ) तीव्र अथवा प्रदाहयुक्त—अधिकतर शीत लग जाने से किंवा आमवात से प्रदाह होकर इसकी उत्पत्ति होती है। एक ओर की पेशियों में शोथ व संकोच होने से सिर दूसरी ओर झुक जाता है। गर्दन घुमाने से या प्रभावित स्थान को दबाने से पीड़ा होती है। कुछ काल में यह विकार स्वयमेव या सामान्य उपचार से शान्त हो जाता है।

(ब) स्तम्भिक—किसी अज्ञात कारण से दुर्बल किंवा वातप्रकृतिक व्यक्ति में यह विकृति उत्पन्न होतीहै जिससे यदाकदा ग्रीवा एक ओर झुक जाती है तथा सिर में झटके आते हैं।

चिकित्सा—

(१) मन्यास्तम्भ में वमन एवं नस्य अनुभवी वैद्य को करना चाहिए। अन्य वातनाशक चिकित्सा के अतिरिक्त

रूक्ष स्वेदन तथा पञ्चमूल या दशमूल का क्वाथ प्रातः सायम् पिलाना चाहिए। वातनाशक कोलादि लेप हितकर है—

कोलं कुलत्था सुरदारु रास्ना
माषातसी तैलफलानि कुष्ठम्।
वचा शताह्वा यवचूर्णमम्ल-
मुष्णानि वातामयिनां प्रदेहः॥
—चरक सू० ३/१८

स्तब्धता ग्रह की अन्तिम अवस्था है। मन्यास्तम्भ में उपर्युक्त उपचारों से स्तब्धता कुछ कम होजाने पर वातनाशक तैलों का अभ्यंग करना चाहिए। गुलेर्वास के पत्ते पर नारायण या विषगर्भ तैल को चुपड़कर सेक कर बांधना चाहिए। स्वेदनार्थ साल्वण स्वेद विशेष लाभप्रद है। सह लवणेन वर्तते इति साल्वणः (भै. र.)।

(२) मोथा, एरण्ड की जड़, हरड, अरलू, देवदारु, गिलोय, रास्ना, शतावरी, कचूर, कुटकी, अडूसा, सोंठ, दशमूल का क्वाथ भी हितकर है।

(३) योगराज गुग्गुलु या आभादि गुग्गुलु रास्नादि क्वाथ के अनुपान से।

(४) वातेगजांकुश रस या कृष्ण चतुर्मुख रस को दशमूल क्वाथ से दें। रस चन्द्रिका वटी (भै.र.)भी देवें।

(५) कटु तैल से अभ्यङ्ग कर अश्वगन्धा को गोमूत्र में पीसकर लेप करें।

(६) उड़द, बलामूल, कौंच, गन्ध तृण, रास्ना, अश्वगन्धा, एरण्डमूल, इन सबको मिलाकर १ तोला द्रव्यों का क्वाथ कर हिंगु, सैंधव डालकर कोष्ण ही पीने से मन्यास्तम्भ में आराम होता है। इसे नाक द्वारा पीने से अधिक लाभ होता है।

(७) पोदीना के ताजे पत्तों को एरण्ड पत्र स्वरस के साथ सिल पर बारीक पीसकर अग्नि पर गरम कर पीड़ित स्थान पर लेप करें।

(८) पिप्पली चूर्ण ५०० मिग्रा. अश्वत्थ स्वरस से।

(९) धत्तूर बीज १२ भाग, रेवन्दचीनी ८ भाग, सोंठ ७ भाग, फिटकरी की खील, सुहागा खील और गोंद बबूल ६-६ भाग सबका चूर्ण कर धत्तूर पत्र स्वरस की भावना देकर उड़द जैसी गोलियां बना लें। दिन में केवल एक बार रोगी के बलानुसार १-२ गोली जल से दें। वातकफ प्रधान रोग प्रतिश्याय, मन्यास्तम्भ आदि की अद्वितीय प्रभावजनक अव्यर्थ महौषध है।

(१०) जिङ्गनी गोंद के साथ गूगल को जल में पीस कर किंवा पीपल और सैंधव को पानी में पीसकर नस्य देना भी हितकारक है।

(११) तिक्त रस *मन्यास्तम्भकर* होने से सर्दैव अपथ्य है।

शिरोग्रह — पृष्ठ १७८ का शेषांश

शंखपुष्पी ५ तोला, ब्राह्मी ५ तोला, मेदा, महामेदा, अनन्तमूल, असगन्ध, सहदेई, मकोय और अर्जुन की छाल प्रत्येक २॥-२॥ तोला। चन्दन सफेद, गुलाब के फूल, गोरखमुण्डी, बड़ी इलायची, सालपर्णी, पृश्निपर्णी, गोखरु और गिलोय प्रत्येक १।-१। तोला—इन सबको जौकुट करके ८ सेर पानी में बारह घण्टे भिगोकर ४ सेर अर्क खींचलें।

महर्षि सुश्रुत ने "एकतस्तु क्रिया सर्वा रक्तमोक्षणमेकतः" कहकर रक्तदुष्टि की चिकित्सा में रक्तमोक्षण की महत्ता प्रकट की है। रक्त में वात के कारण विकृति होने से संतापयुक्त तीव्र वेदना, विवर्णता, व्रण, सुप्ति, अरुचि, भ्रम, कृशता आदि लक्षण होते हैं। वात से रक्त का वर्ण श्याव होता है। रक्तमोक्षण से रक्तगत अम्लता नष्ट हो जाने से रोग स्वयं नष्ट हो जाता है।

आयुर्वेद में चिकित्सा के अन्तर्गत जिन प्रयोग रत्नों का वर्णन उपलब्ध है उन प्रयोगों की गुणवत्ता अनन्त है उनके कर्म जानने का सामर्थ्य किसमें हो सकता है—

को नाम प्राणीतानां द्रव्याणां तत्त्वदर्शिभिः।
नानाविधानामेकत्वे तत्कर्म ज्ञातुमर्हति॥

सुतरां इस व्याधि की निम्नाङ्कित औषधव्यवस्था की जा सकती है—

प्रातः सायम्—त्रैलोक्य चिन्तामणि १२० मि. ग्रा., सूतशेखर रस १२० मि. ग्रा., त्रिवंग भस्म २४० मि. ग्रा., च्यवनप्राश १५ ग्राम। १×२ शैव— रसायन अर्क से या

—शेषांश पृष्ठ १८२ पर देखें।

हनुग्रह

श्री वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य

हनु दो होते हैं। ऊपरी हनुस्थिर और नीचे का हनु चलायमान होता है। दोनों की सन्धि कर्णमूल के पास होती है। इसे ही हनुमूल कहते हैं। यह सन्धि शंखहन्वीय संधि (Temperomandibular joint) कहलाती है। यह सन्धि अधिक मजबूत नहीं होती। दन्तधावन अथवा जीभ साफ करने के अन्य साधनों से, जीभ निर्लेखन करने से, सूखी वस्तुओं को अधिक खाने से तथा आघात से इस सन्धि में स्थित वात कुपित होकर हनुसन्धि का स्रंसन (Dislocation) करा देता है। यह सन्धि विच्युति साधारणतया एक ओर को होती है अतः माधवकर ने 'हनुम्' कहकर एक वचन का ही प्रयोग किया है। किन्तु कभी-कभी दोनों ओर की सन्धियों का भी विश्लेष हो सकता है। सुतरां वाग्भट ने द्विवचन का ही प्रयोग किया है। सन्धि-विच्युति की प्रकृति के अनुसार इसमें दो प्रकार मिलते हैं—

१. संवृतास्यता (मुख का वन्द होना)—हनुमुण्ड विच्युत होकर खात के पश्चात् भाग में चला जाता है तब खुल नहीं सकता है।

२. विवृतास्यता (मुख का पूर्णतया खुला होना)—विच्युति आगे की ओर होने से मुख पूर्णतया खुला रहता है और रोगी प्रयत्नपूर्वक भी उसे वन्द नहीं कर पाता।

इस सन्धि विश्लेष का कारण प्रारम्भिक वात दोष होने से चरक, वाग्भट, माधव आदि ने इसे वातव्याधि के अन्तर्गत कहा है। इसमें पीड़ा अत्यधिक होती है। रोगी चर्वण करने एवं बोलने में असमर्थ हो जाता है।

चिकित्सा —

१. संवृतास्यता में लेप और उपनाह हितकर हैं। स्नेहन स्वेदन से शनैः शनैः मुख खोलने का प्रयास करना चाहिए। विवृतास्यता में हनुस्थल पर स्वेदन करने के पश्चात् सन्धिमुक्त हन्वस्थि को अंगूठे से दबावें जिससे हड्डी अपने स्थान पर आ जाये। अंगूठों से दबाते समय ही दोनों तर्जनी अंगुली से हनु को ऊपर को उठा दें।

२. औषधोपचार में दारुहरिद्रा, लशुन और दशमूल का क्वाथ या पिप्पलीचूर्ण युक्त दशमूलक्वाथ हितकारी है।

३. आभादि गुग्गुलु या त्रयोदशांग गुग्गुलु का मधुरौषध सिद्ध प्रथम प्रसूता गौ के दुग्ध से सेवन करना लाभदायक है।

४. तिक्त द्रव्यों को दुग्ध से साधित कर वातघ्न तैल के साथ मिलाकर प्रमाणतः प्रतिदिन एक सप्ताह तक वस्ति देने से भी लाभ प्रतीत होता है।

५. सन्धि विच्युति में वातशमनार्थ अभ्यङ्ग उत्तम उपाय है। इस हेतु पञ्चगुण तैल (सि० यो० सं०), नारायण तैल, धुस्तूरादि तैल (शार्ङ्गधर), प्रसारिणी तैल, सिक्थ तैल (मणिमाला) आदि उपयुक्त हैं। महाविषगर्भ तैल या सैन्धव आदि तैल भी काम में लाया जा सकता है।

६. दूर्वाघृत (चरक चि० विसर्प.) भी पान अभ्यङ्ग, नस्य द्वारा प्रयोग में लावें।

संवृतास्यता   विवृतास्यता

७. डा. श्री सत्यनारायण जी

वैद्य (धन्वन्तरि अप्रैल ८१) का यह योग भी इस व्याधि में अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुआ है—

गोदन्ती भस्म १॥ रत्ती, आम्बा हल्दी १॥ माशा, लौंग १ नग, सेंधा नमक १ रत्ती। १×३ मधु से कुल सात दिनों तक दें।

८. बब्बूल की छाल, रास्ना, गिलोय, शतावरी, सोंठ, सोंफ, असगन्ध, झाऊबेर, विधारा, यवानी, अजमोद का चूर्ण उष्णोदक से सेवन करना चाहिए।

९. एरण्डबीज २५ ग्राम को घोटकर १०० ग्राम दूध में मिलाकर अग्नि पर पकावें। जब गाढ़ा हो जाय तो पीड़ित स्थान पर सुखोष्ण बांधने से वेदना शमन होता है।

१०. १०० ग्राम सरसों के तैल में ५० ग्राम लाख मिलाकर अग्नि पर चढ़ाने तथा पूर्णरूप से लाक्षा के विलीन हो जाने पर उतार कर पीड़ित स्थान पर मर्दन करने से पीड़ा शांत होती है।

११. भिलावा १ सेर, हरड़, बहेड़ा, आंवला ४०-४० तोले, सोंठ, कालीमिर्च और पीपल ३०-३० तोले, काले तिल १ सेर और पुराना गुड़ १ सेर लेना। सब वस्तुओं को बारीक कूट कर गुड़ मिलाकर छोटे बेर के समान गोलियां बनालें। १-२ गोली दिन में २ बार जल के साथ लेने से लाभ होता है।

१२. हल्दी और बीजाबोल समभाग पीसकर घी मिला कर दूध से खाने से सन्धिविश्लेष जन्य पीड़ा मिटती है।

१३. मकरध्वज, कस्तूरी भैरव रस १-१ रत्ती, प्रवाल भस्म २ रत्ती मधु में मिलाकर दें एवं भोजन के बाद विडंगारिष्ट दें।

१४. कायफल, नागरमोथा, वच, पाठा, पुष्करमूल, जीरा, पित्तपापड़ा, देवदारु, छोटी हरड़, काकड़ासिंगी, पीपल, चिरायता सोंठ, भारङ्गी, इन्द्र जौ, कुटकी, कचूर, रोहिष घास और धनियां ये सब समभाग लेकर जौकुट चूर्ण कर लें। फिर १० ग्राम चूर्ण का क्वाथ कर कुछ दिनों तक पिलावें। औषधि के अनुपान के रूप में भी इसका प्रयोग किया जा सकता है।

यह स्मरण रहे कि हनुग्रह अधिक दिनों का होने से असाध्य हो जाता है। कहा गया है—

हनुस्तम्भार्दिताक्षेप पक्षाघातापतानकाः।
कालेन महता वाता यत्नात्सिध्यन्ति वा नवा ॥

—योग रत्नाकर

सन्धि विच्युति में बुद्धि चातुर्य का विशेष महत्व है—

संधिश्च्युतविमुक्तांस्तु स्निग्धस्विन्नान्मृदूकृतान्।
उक्तैर्विधानैर्बुद्ध्या च यथास्वं स्थानमानयेत् ॥

सन्धि युक्त के बाद स्थापना करने पर निम्न लक्षणों की उपस्थिति हो तो उसे वृद्ध वाग्भट ने सम्यक् स्थापित कहा है—यदि सन्धिमुक्त स्थल अस्वाभाविक रूपेण कहीं से भी ऊंचा न हो, आकुलता रहित हो, अपने स्वाभाविक स्थान में स्थित हो और गति करने पर वेदनारहित हो तो वह सुसाधित या सम्यक् स्थापित सन्धियुक्त कहा जाता है। ★

शिरोग्रह — पृष्ठ १८० का शेषांश

पथ्यादि क्वाथ में बादामरोगन मिलाकर सेवन करायें।

मध्याह्न एवं रात्रि में सोते समय—आरोग्यवर्द्धिनी वटी २ गोली, कैशोर गुग्गुल २ गोली। १×२—महा-मंजिष्ठादि क्वाथ से।

देवदारु, कूठ, कायफल के स्थान पर समभाग चूर्ण में एरण्ड स्नेह मिलाकर पीड़ित स्थान पर लेप भी करना हितकर है।

उपर्युक्त औषधि व्यवस्था में त्रैलोक्यचिन्तामणि के स्थान पर स्वर्णभूपति एवं च्यवनप्राश के स्थान पर सेमर पाक भी प्रयोग में लाया जा सकता है। सेमरपाक का सेवन पृथक् से भी कर सकते हैं।

निर्माण विधि—सैमर की जड़ का छिलका आधा सेर छाया में सुखा कूट कपड़छन कर सात सेर दूध में पका खोवा करलें। पांच सेर मिश्री की चासनी कर इलायची, लौंग, पीपल, सोंठ नागकेसर, जटामांसी, जायफल, पिस्ता बादाम, चिरौंजी, केशर और भांग ये सब दवा १-१ तोले लेकर कूट कपड़छन कर घी में भून चासनी में सब दवा और खोवा मिला १-१ तोला नियमित सेवन करें।

★ हनुग्रह ★

डा० रवीन्द्र कुमार सिन्हा जी० ए० एम० एस

डा० श्री रवीन्द्रकुमार जी सिन्हा एक ऐसे लेखक हैं जो विषय को बोधगम्य बनाने में कुशल हैं। आपने अर्दित रोग पर विवेचनापूर्ण लेख प्रेषित कर कृतार्थ किया है। उत्साह और उमंग के साथ तथा साहस एवं साधना के साथ अपना मार्ग स्थिर करने वाले श्री सिन्हा जी के इस लेख से धन्वन्तरि के पाठक अनुग्रहीत होंगे। यह सदैव स्मरण रहे कि विश्व की भांति शरीर के शुभाशुभ करने में वायु ही मुख्य हेतु है सुतरां इसके दुष्ट न होने देने का प्रयत्न सदैव करना चाहिए—

तद् दुष्टौ प्रयत्नेन यतितव्यमतः सदा। —विशेष सम्पादक।

पर्याय—एकायाम, अर्दित, मुखमण्डल का लकवा Facial Paralysis, Bell's Palsy, Paralysis of 7th Nerve.

शारीर—सप्तम नाड़ी का प्रारम्भ उष्णीपक (Pons) के पार्श्व भाग तथा चतुर्थ गुहा (4th Ventricle) के तल से होता है। उष्णीपक तथा सुषुम्ना शीर्ष (Medulla) के संयोग स्थान के समीप यह मस्तिष्क से वाहर निकलकर अष्टम या श्रवण नाड़ी (Auditory Nerve) के समीप होते हुए कर्णान्तरीय द्वार (Internal auditory meatus) में प्रवेश करती है। अब यह रसग्रहा कर्णान्तिका (Chorda tympani) नाड़ी से मिलती है जिसमें जिह्वा के अग्रिम दो-तिहाई भाग के स्वाद संवेद के तन्तु रहते हैं। यहां से अब यह नाड़ी अस्थिमय नलिका से होते हुए कर्ण मूलास्थि (Mastoid) की अग्रसीमा और कर्ण के संयोग स्थान पर बाहर निकलती है। इस नाड़ी के अस्थिमय नलिका से जाने के कारण उस पर दवाव पड़ने की अधिक संभावना रहती है। सुरंगिका में प्रवेश करने पर इसमें से एक शाखा निकलती है जो पर्याणिकापेशी (Stapedius) को प्रदाय करती है।

कार्य—यह शुद्ध चेष्टावह नाड़ी है और निम्न पेशियों को प्रदाय करती है—
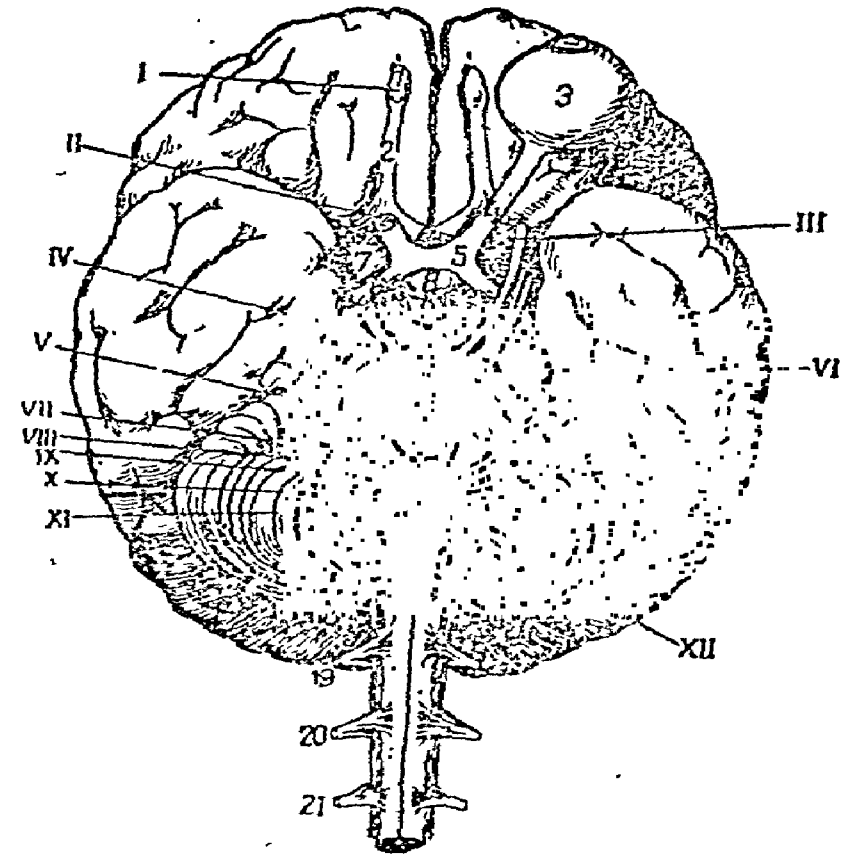
मस्तिष्क अधःतल

VII—मस्तिष्क से सातवीं नाड़ी का उद्गम दिखाया गया है जोकि मौखिकी नाड़ी (Facial nerve) कहलाती है तथा इसके प्रभावित होने से अर्दित होता है।
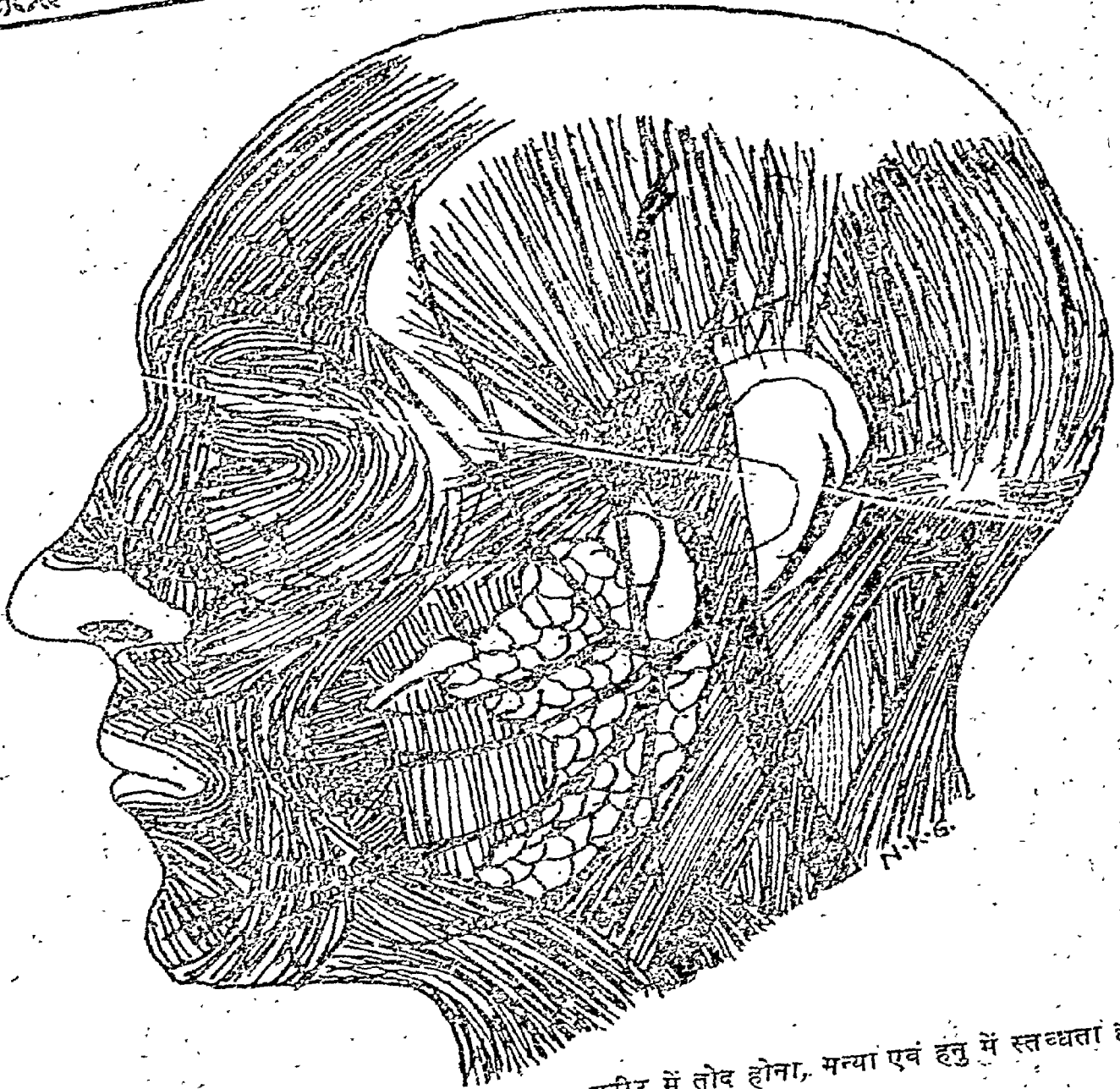
(क) नेत्रोन्मीलनी (Levator Palpebrae Superiosis) को छोड़कर चेहरे की अन्य समस्त पेशियां ।

(ख) गलपार्श्वच्छदा (Platysma)

पूर्वरूप—

तस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम् ।
वायुरूर्ध्वं त्वचि स्वप्नं तोद मन्याहनु ग्रहौ ॥ मा.नि.

रोमांच होना, कम्पन होना, नेत्र धूसर वर्ण का हो जाना, वायु ऊपर की ओर चलना, त्वचा में शून्यताहोना, शरीर में तोद होना, मन्या एवं हनु में स्तब्धता होना ।

निदान सम्प्राप्ति एवं लक्षण—

शिर के ऊपर बहुत भार उठाना, अत्यन्त हँसना, अत्यन्त बोलना, मुख को ऊपर करके रखना, छींकना, कठोर धनुष आदि को खींचना, शिर के नीचे वक्र एवं कठोर तकिया रखना, कठिन पदार्थों को चबाना तथा वातकारक आहार विहार करना, अभिघात, दिन में अधिक सोना, अधिक जिह्वा निर्लेखन करना, व्रणपाक होना, हाथ आदि का आघात होना, सिरामोक्षण करना,

मर्म स्थानों का छेदन होना, नेत्र कर्ण नासिका आदि के घर्षण, तीक्ष्ण वीर्य, तीक्ष्ण आसवारिष्ट के पान करना, मूत्रादि वेग धारण करना, इन कारणों से वायु कुपित होकर ऊपर की नाड़ियों में स्थित होकर आधे मुख को टेढ़ा कर देता है, जिससे हँसना, बोलना, अधोमुख के कार्य टेढे हो जाते हैं। मस्तक कांपता है, वाणी रुक जाती है, नेत्र जकड़ जाते हैं, दाँत चलायमान हो जाता है, स्वर का भ्रंश होना, श्रवण शक्ति की हीनता, छींक रुकना, गंध का ज्ञान न होना, स्मरण शक्ति का नाश होना, मुख से थूक गिरना, एक ओर की आंख सदा खुली रहना, ऊर्ध्व जत्रुओं से तीव्र पीड़ा होना, आधे शरीर एवं आधे अधर में तीव्र पीड़ा होना, गला हनु और दांतों में पीड़ा होना इन लक्षण वाले रोग को अर्दित कहते हैं।

विशिष्ट लक्षण—

(१) चेहरे के विकृत पार्श्व में भावहीनता होती है। (२) नासौष्ठवलि (Naso-labial fold) अस्पष्ट होती है (३) भ्रू के ऊपर की वलियां लुप्त हो जाती हैं। (४) विकृत पार्श्व का नेत्र सुविवृत रहता है। (५) स्वस्थ पार्श्व की दशा में मुख खिंच जाता है। (६) रोगी सीटी नहीं बजा सकता है। (७) दन्त एवं दन्तमांस के बीच में भोजन इकट्ठा होता है। (८) जल पीते समय विकृत पार्श्व से जल बाहर गिर जाता है। सप्तम नाड़ी के दो मुख्य भाग हैं और उन भागों के विक्षतानुसार उनमें भिन्न भिन्न विशेष विकार होते हैं—

(क) ऊर्ध्वन्यष्ठीलकीय भाग (Supranuclear)—इस भाग में विक्षत होने पर शरीर के विरुद्ध पार्श्व का घात होता है और चेहरे का अधोभाग अधिक विक्षत होता है।

(ख) अधोन्यष्ठीलकीय (Intranuclear)—इस भाग में विक्षत होने पर शरीर के समपार्श्व का घात होता है और चेहरे का ऊर्ध्व और अधोभाग बराबर विक्षत होते हैं।

ऊर्ध्वन्यष्ठीलकीय घात (Supranuclear Paralysis)—ऊर्ध्वन्यष्ठीलकीय विक्षत के कारण शरीर के विरुद्ध पार्श्व का घात होता है। यह घात ऊर्ध्व चेष्टावह कन्दाणु (U.M.N.) प्रकार का होता है। नाड़ी कीन्यष्ठीला उष्णीषक (Pons) में रहती है। इससे ऊपर के भाग अन्तःकूर्चवल्लिका (Internal capsule) मस्तिष्कीय शल्क (Cerebral cortex) अथवा मध्य मस्तिष्क (Mid brain) में रक्तस्राव या घनास्रता के कारण विकृति होने से मुख के विपरीत पार्श्व में विकृति दृष्टिगोचर होती है क्योंकि दोनों ओर के नाड़ीतन्तु उष्णीषक में एक दूसरे का लङ्घन कर जाते हैं। कभी-कभी इसी कारण अर्धाङ्ग घात भी पाया जाता है। इस अवस्था में मुख के निम्न भाग का ही घात होता है। इस घात में चेहरे की पेशियों का क्षय नहीं होता है तथा इन पेशियों में विद्युतकीय अपजनन प्रतिक्रिया (Electrical reaction of deneiveration) नहीं मिलती है। श्वसन क्रिया में विकृत पार्श्व का कपोल बाह्य भाग में फूलता है। अधोन्यष्ठीलकीय या बेल का घात (Infranuclear or Bell's Palsy) के कारण शरीर के समग्र पार्श्व का घात होता है। यह घात अधोचेष्टावह नाड़ी कन्दाणु प्रकार का होता है। विक्षत होने से मुखमण्डल के अधो तथा ऊर्ध्व दोनों भाग की पेशियों का घात हो जाता है।

इस अवस्था को वेल का घात कहते हैं। अधोवर्त्म तथा मुख का कोण झुक जाता है। मुख से लालास्राव तथा नेत्र से अश्रुस्राव होता रहता है। भृकुटियों को ऊपर चढ़ाने से ललाट पर रेखायें नहीं बनती हैं तथा नेत्र बन्द करने की चेष्टा करने पर विकृत पार्श्व का नेत्र बन्द न होकर ऊर्ध्व दिशा में घूम जाता है। दांत दिखाने के प्रयत्न में मुख विकृत पार्श्व में ठीक प्रकार से नहीं खुलता है और श्वास लेते समय विकृत पार्श्व का कपोल फूलता है। चेहरे की पेशियों में पोषण सम्बन्धी परिवर्तन तथा विद्युतकीय अपजननन प्रतिक्रिया मिलती है। अधोन्यष्ठीलकीय घात में निम्न चारों स्थानों में विक्षत हो सकता है—

(१) न्यष्ठीला (Nucleus) में या ठीक उसके नीचे के भाग में—इसमें चेहरे की पेशियों में क्षय तथा विद्युतकीय अपजनन प्रतिक्रिया मिलती है। उष्णीपक में विक्षत होने से मुख से विपरीत पार्श्व का अर्धाङ्गघात भी हो सकता है। छठी नाड़ी पर भी प्रभाव पड़ सकता है।

(२) सुरंगिका (Aque duct)—इसमें विक्षत के कारण रसग्रहा कर्णान्तिका (chorda tympani) नाड़ी विकृत होजाती है। इसलिए जिह्वा के अग्रिम दो तिहाई भाग में स्वाद संवेद नष्ट हो जाता है।

(३) सुरंगिका में प्रवेश करने के पूर्व—इस विक्षत के कारण पर्याणिका पेशी (Stapedius) का घात होता है। इसलिए रोगी को मृदुध्वनि भी तीक्ष्ण प्रतीत होती है।

(४) शिफाछिद्र (Stylo-masloid formen) के नीचे—इसमें तीव्र ध्वनि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

विक्षत स्थान, कारण एवं चिन्ह—

(१) प्रान्तस्था सुषुम्ना (Corticospinall etion) विक्षत। कारण—अर्बुद, विद्रधि, रक्तस्राव, घनास्रता

चिह्न—(१) व्यवहारतः सदैव एक पार्श्वीय होता है। (२) मुख का अर्ध्वभाग प्रभावित नहीं होता है। (२) अर्धाङ्ग घात सहित सामान्यतया मिलता है। (४) मुख के भावात्मक एवं सहयोगी गति पर प्रभाव नहीं पड़ता है। (५) मुख की पेशियों में क्षय नहीं होता है।

(२) उष्णीपकीय सेतु विक्षत—

कारण—अर्बुद, वर्धनशील कुन्दिक घात वाहिनी विक्षत, सिरिगोंवल्लिया, लेन्ड्री का घात, रोहिणी, विकीर्ण काठिन्य, धूसरमज्जाशोथ (Poliomyelitis)

चिह्न—(१) वाह्य गुदा के साथ अङ्गघात या एक ही तरफ का समपार्श्वीय नेत्रावर्त्तन, समपार्श्विक प्रायः हनु पेशियों का अङ्गघात। (२) सौषुम्न मार्ग एवं त्रिधारा नाड़ी की न्यष्टि के कारण विपरीत भाग में सांवेदनिक हीनता तथा मेरु चेतकमार्ग (Spinothalmic tract) का भी प्रभावित होना। (३) विपरीत भाग में उर्ध्व एवं अधोशाखा का अङ्गघात भी हो सकता है।

(३) पश्चखात के अन्तर्गत उष्णीपक एवं आभ्यन्तर कर्ण कुहर के बीच में—

कारण—कर्णातन्त्रिका अर्बुद, अनुमस्तिष्क सेतु कोणार्बुद।

चिह्न—(१) सहयोगी नाड़ी का वधिरापन सामान्यतः होता है। (२) जिह्वा के अग्रिम दो तिहाई भाग में स्वाद का नाश होना। मस्तिष्कान्तरीय दाव की वृद्धि सामान्यतः होना, शिरःशूल, भ्रम एवं वमन।

(४) शङ्खास्थि के अन्तर्गत—

कारण—करोटि भङ्ग, मध्यकर्ण एवं कर्ण मूलास्थि का संक्रमण, जानुक गण्डिका का परिसर्प।

(क) कर्णान्त द्वार एवं जानुक गण्डिका के बीच में—(१) स्वाद सामान्य रहता है। (२) लालास्रावग्रंथि के स्राव में कमी होना। (३) श्रवण नाड़ी की विकृति से बाधिर्य होना। (४) श्रवण नाड़ी की विकृति के अभाव में श्रवण अतिसंवेदिता एवं प्रतिक्षेपित अश्रुस्राव न होना।

(ख) जानुक गंडिका एवं कर्णान्तिक नाड़ी के बीच में मुख नाड़ी की नलिका में—

(१) अग्रिम दो तिहाई जिह्वा में स्वाद का नाश (२) लालास्राव की क्षति (३) श्रवण अति संवेदिता।

(ग) कर्णान्तरिका नाड़ी की शाखा एवं रसग्रहा कर्णान्तिका के बीच मुख नाड़ी नाल में—

१. जिह्वा में अग्रिम दो तिहाई भाग में स्वाद का नाश होना २. लालास्राव की क्षति ३. सामान्य अश्रुस्राव।

(घ) रसग्रहा कर्णान्तरिक नाड़ी के शाखा के दूरस्थ में—कारण—शीत, आमवातिक रूप (वेल अङ्गघात) कर्ण पूर्वग्रन्थिका अर्बुद, पूयमय ग्रंथि, मस्तिष्क शोथ अपतानक, संक्रमित वहुनाड़ी शोथ, प्रसवकालीन संदंश से दाव, कर्ण मूलास्थिच्छेदन के आघात, कर्णशोथ।

(ङ) मुखनाड़ी शोथ अपतानक में कुछ हो सकता है। बहुनाड़ी शोथ, कपालध्वंसन एवं सारकोडिसिस।

(५) प्रसवकालीन कपाल निष्कासन के बाद—

कारण—हनु कोण के पीछे पूयग्रन्थि से शोथ, कर्ण पूर्वग्रन्थि के अर्बुद के दबाव से, संदंश प्रसव के कारण, मुख का आघातीय विक्षत।

चिह्न—मुख नाड़ी का केवल घात।

भेद—वात, पित्त एवं कफ भेद से तीन प्रकार का होता है—

वातज अर्दित के लक्षण—अधिक लालास्राव, कम्पन, *गात्रस्फुरण, हनुस्तम्भ, होठों पर शोथ, शूल ये वातज* अर्दित के लक्षण हैं।

पित्तज अर्दित के लक्षण—मुख का वर्ण पीत होना, ज्वर, तृषा, मूर्च्छा और उष्मा अधिक मालूम होना।

कफज अर्दित के लक्षण—गाल, सिर और मन्या में शोथ एवं स्तब्धता होना।

असाध्य लक्षण—

क्षीणस्यानिमिषाक्षस्य प्रसक्तभाषिणः।
न सिध्यत्यर्दितंगाढं त्रिवर्ष वेपनस्य च॥

रोगी क्षीण हो गया हो, नेत्रों का संचालन नहीं होता हो, शक्तिहीन हो, वचन स्पष्ट न हो, तीन वर्ष का पुराना हो गया हो और शरीर में कम्पन हो तो वह अर्दित असाध्य होता है।

परीक्षा—सप्तम नाड़ी की परीक्षा करते समय रोगी को निम्न क्रियायें करने के लिये कहना चाहिए—

(१) दोनों नेत्रों को बन्द करना—इसमें विकृत नेत्र बन्द नहीं होता है।

(२) सीटी बजाना—रोगी सीटी नहीं बजा सकता।

(३) मुस्कराना तथा ऊर्ध्व दन्त पंक्ति दिखाना—इस क्रिया में मुख स्वस्थ पार्श्व की ओर झुक जाता है।

(४) भ्रकुटियों को ऊपर चढ़ाना—इस क्रिया में विकृत पार्श्व में ललाट पर रेखायें नही पड़ती हैं।

(५) जिह्वा को बाहर निकालना—जिह्वाग्र के अग्रिम २/३ भाग पर शर्करा रखकर उसका स्वाद पूछना

प्रयोग शालीय परीक्षा—

(१) W. R. & V. D. R. L. परीक्षा—फिरङ्ग एवं पूयमेह के लिए परीक्षा की जाती है।

(२) रक्त परीक्षा—रक्त के सकल एवं सपेक्ष गणना करते हैं।

(३) रक्त शर्करा परीक्षा—रक्तगत शर्करा के लिये परीक्षा की जाती है।

(४) मूत्र परीक्षा—शुक्लि शर्करा इत्यादि के लिये परीक्षा की जाती है।

विभेदक निदान—इस रोग के निदान में कठिनाई नहीं होती है। ऊर्ध्व चेष्टावह कन्दाणु एवं अधो चेष्टावह कन्दाणु को भी स्मरण करना चाहिये।

आनन—अंसफलक प्रगण्ड पेशी विकृति में प्रायः मुख के दोनों भाग एवं शरीर की अन्य पेशियां भी प्रभावित होती हैं। यह द्वि-आनन अङ्ग घात से विभेद करता है। आनन-अर्धाङ्ग शोष में माँसपेशियों का क्षय होता है किन्तु मुख के एक ओर के अङ्गघात में नहीं होता।

चिकित्सा—

अर्दिते नावनं मूर्ध्नि तैलं श्रोताक्षि तर्पणम्।
सशोफे वामनं मूर्ध्नि तैलं तर्पणमेव च॥
नाड़ी स्वेदो नाहाश्चाप्यानूपपिशितैर्हिता॥ च.चि२८

अर्दितातुरं बलवन्त मुपकरणवंतंच वातव्याधिविधाने नोपचरेद्वैशेषिकैश्चमस्तिष्कशिरोवस्ति नस्यधूमोपनाहस्नेह नाड़ी स्वेदादिभिः। सु. चि. ५/१२

नस्य देना, मस्तक पर वातनाशक तैल की मालिश करना, कान एवं नेत्रों में तैल डालना, शोथ रहने पर वमन कराना, दाह और लालिमा होने पर शिरावेध कराना चाहिये। रोगी बलवान और यत्न करने वाला हो तो वातव्याधि की चिकित्सा तथा धूम, उपनाह, नाड़ी स्वेद स्नेहकर्म करना चाहिये। संतर्पक आहार, जल किनारे रहने वाले पशुपक्षियों के मांस से उपनाह बांधना चाहिए।

स्वर्ण समीर पन्नग (सि.यो.सं.), समीर पन्नग (यो. र.) १२५ मि. ग्रा. आर्द्रक स्वरस या मधु से दो बार दें।

रसायन योगराज, बृ. योगराज गुग्गुलु, त्रैलोक्यचिन्तामणि, बृ. वात गजांकुश १-१ गोली २ बार निर्गुण्डी स्वरस एवं मधु के साथ देना चाहिए।

विषमुष्ट्यादि वटी (सि.यो.सं.)—१ वटी पान के रस के साथ देना चाहिए।

दशमूलारिष्ट ४ चम्मच+अश्वगन्धारिष्ट ४ चम्मच जल मिलाकर भोजनोत्तर दो वार देनी चाहिए।

श्रेयसी रसायन ४ चम्मच समजल से २ वार दें।

श्रेयसी रसायन का निर्माण—

सोंठ, वरियारा, पुनर्नवा, देवदारु, चाभ, जवासा, हरड़, कचूर, विधारा, एरण्ड की जड़, गोखरू, कटसैरैया, रेगनी की जड़, कंघी, स्याह जीरा, असगन्ध, अतीस, चोपचीनी, वासक की जड़, अमलतास का गूदा, शतावर, गोरखमुंडी, वेल की छाल, नागवला, सभी १-१ भाग, अजवाइन ८ भाग, रास्नामूल ३२ भाग, जल ८ गुना, २ दिनों तक भिगोकर अर्क उतार लें। यह वातव्याधि एवं अर्दित में लाभ करता है। लहसुन को पीसकर तिल तैल मिलाकर खाने से अर्दित रोगी को आराम होता है।

अभ्यङ्ग—महामाष तैल, नारायण तैल एवं विषगर्भ तैल का मर्दन आनप्र पेशियों पर प्रातः सायं ३० मिनट प्रतिदिन करना चाहिए। अधर एवं चिवुक से मर्दन प्रारम्भ कर ऊपर की ओर करना चाहिये। पेशियों में क्षमता आने पर दर्पण में देखकर विभिन्न गतियों का अभ्यास करना चाहिये।

स्वेदन—तैल मर्दन के वाद महुआ, वालू, सहिजन की छाल को कूटकर पोटली वनालें। उसे आग पर गर्म कर १५ मिनट सेकना चाहिये।

पान—महामाष तैल १२ ग्राम प्रतिदिन पान कराना चाहिये।

वस्ति—१२ ग्राम महामाष तैल वूंद-वूंद (Drip-method) गुदामार्ग में वस्ति देनी चाहिये।

नस्य—महामाष तैल को नाक में प्रतिदिन देवें।

कर्णपूरण—कान में महामाष तैल डाल कर रूई से कान को वन्द कर देना चाहिए।

अक्षिपूरण—महामाष तैल २ वूंद Eye droper से आंख में डालना चाहिये।

विरेचन—रास्नादि क्वाथ, महारास्नादि क्वाथ, दशमूल क्वाथ ९६ ग्राम एवं एरण्ड तैल २४ ग्राम प्रातः पिलाना चाहिये।

फिरङ्ग एवं पूयमेहजन्य में चिकित्सा—अमीर रस, मल्ल सिन्दूर इत्यादि औषधियों को देना चाहिये। रक्त शोधक औषधियां भी अच्छा काम करती हैं। अतः महामंजिष्ठादि क्वाथ, कैशोर गुग्गुलु इत्यादि का सेवन कराना चाहिये। मधुमेह भी मिले तो उसे वृ० योगराज गुग्गुलु (शारङ्गधर), महारास्नादि क्वाथ इत्यादि औषधों की योजना करनी चाहिये।

अर्बुदजन्य अर्दित में महायोगराज गुग्गुलु, कांचनार गुग्गुलु को महामंजिष्ठादि क्वाथ से सेवन कराना चाहिए। रक्तशोधक औषधियां भी देनी चाहिए।

पैत्तिक अर्दित—शीत स्नेहन का उपयोग, घृत वस्ति अथवा केवल दूध का सेवन करें।

कफज अर्दित—कफ क्षय करके वृंहण चिकित्सा करनी चाहिए। शोथ में वमन करायें।

व्यायाम—रोगी को गाल फुलाना चाहिए।

पथ्य—अभ्यङ्ग, मर्दन, वस्ति, स्नेहन-स्वेदन, वातहर क्वाथ में स्नान, संवाहन (दव वाना), संशमन औषध, प्रत्यक्ष वायु का परिवर्जन, कुलथी, उड़द, गेहूं, लाल शालिचावल, परवल, सहजन, वैंगन, अनार, फालसा, खांड़, घी (अतिरक्त दाव में वर्जित)। दूध, दही, वेर, लहसुन, मुनक्का, पान, नमक, चिड़िया, मुर्गा, मोर, तीतर, जङ्गली पशुपंक्षी, मछली इत्यादि।

अपथ्य—चिन्ता, रात्रि जागरण, वेगों को रोकना, वमन, थकावट, उपवास, चना, मटर, मूंग, तालाव एवं नदी का जल, कषाय, कटुतिक्त रस, हाथी-घोड़ा की सवारी, तेजयान से चलना, अधिक चलना, सोये रहना इत्यादि।

—डा. रवीन्द्र कुमार सिन्हा जी. ए. एम. एस. (पटना)
डी. ए.वाई.एम. (का. हि. वि. वि.) साहित्याचार्य
कल्पतरु चिकित्सालय, कुजापी (गया) ८२३००२
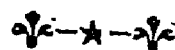
अर्दित

वैद्य हरिशंकर शाण्डिल्य भिष., डी० एस-सी० (आयु.) प्रभारी—राज. आयु. औष., वरिघा (भरतपुर)

अनुज श्री हरिशंकर शाण्डिल्य एक उदार विचारों के चिकित्सक तथा योग्य लेखक हैं। आपके लेखों में अनुभव का पुट होता है। मेरे आग्रह पर आपने अर्दित पर साङ्गोपांग वर्णन कर प्रेषित किया है।

आज आयुर्वेदज्ञ कहे जाने वाले नामधारी वैद्य ही आयुर्वेद के मूल सिद्धांतों को नहीं जानते और जानते भी हैं तो तदनुरूप आचारण नहीं करते। सुतरां आयुर्वेद को भुवन से परमादर नहीं मिल पाया है। आयुर्वेद एक चिकित्सा शास्त्र ही नहीं अपितु जीवन विज्ञान है। इसे समझने का अर्थ है भारतीय संस्कृति की आत्मा को पहचानना। श्रीयुत शाण्डिल्य सिद्धान्तानुसार आचरण करने वाले प्राणाभिसर हैं। आपने अपनी उत्कृष्ट चिकित्सा पद्धति से अनेक मृतप्राय मनुजों को जीवनदान देकर पुण्य प्राप्त किया है—

जिसने दुःखियों को अपनाया बढ़कर उनकी बांह गही।
परिहितार्थ जिनका वैभव है, है उनसे ही धन्य मही॥ —विशेष सम्पादक

उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि वा।
हसतो जृम्भतो वाऽपि भाराद्विषमशायिनः॥
—सु. नि. १/१५

आचार्य सुश्रुत के मतानुसार ऊँचे स्वर से बोलने से (राजनेता तथा भाषण देने वालों में) कठिन पदार्थ खाने (सुपारी बादाम, अखरोट आदि को जोर लगा कर दांतों से तोड़ने) से, ऊँचे स्वर में हँसने से (नाटकों आदि में अट्टहास करने वालों में) जम्भाई लेने से, विषम बोझ उठाने (सिर पर पत्थर कोयला खण्ड आदि ढोने वालों में)

अर्दित रोगी का मुख मण्डल

से, विषम आसन पर सोने से (खान मजदूरों में) मुख मण्डल या मस्तिष्कस्थ चेष्टावाही वा संज्ञावाही नाड़ियों पर संपीड़न आदि से विक्षत उत्पन्न होकर निम्न लक्षणों वाला अर्दित रोग उत्पन्न होता है।

पूर्व रूप—

यस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम्।
वायुरूर्ध्वंत्वचि स्वापस्तोदो मन्या हनुग्रहः॥
तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधिं ....सु. नि. १/५९-६०

अर्दित रोग के पूर्वरूपावस्था में—

(१) शरीर रोमाञ्चित एवं कम्पयुक्त होता है।
(२) नेत्रों में गीढ़ (मल) आता रहता है।
(३) मुख की त्वचा सुन्न सी व तोद होता है।
(४) मन्या तथा हनुप्रदेश में जकड़ाहट व खिंचाव सा महसूस होता है।

लक्षण—

शिरोनासौष्ठ चिबुक ललाटेक्षण सन्धिगः।
अर्दयत्यनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यतः॥
वक्रीभवति वक्त्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते।
शिरश्चलति वाक्संगो नेत्रादीनां च वैकृतम्॥
ग्रीवाचिबुकदन्तानां तस्मिन्पार्श्वे च वेदना॥
—सु.नि १/५७-५८

अर्दित रोग के लक्षणों का वर्णन करते हुए आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि उक्त कारणों से प्रकुपित वायु शिर

नासिका, औष्ठ, हनु, ललाट तथा नेत्र की सन्धियों में व्याप्त होकर मुख को पीड़ित करता है।

इस अवस्था में—

(१) मुख का आधा भाग टेढ़ा होजाता है।

(२) गर्दन (ग्रीवा) टेढ़ी हो जाती है। दूसरी ओर मुड़ जाती है।

(३) सिर में कम्पन होने लगता है।

(४) बोलने में बाधा उपस्थित होती है। अस्पष्ट आवाज निकलती है।

(५) नेत्र, नासिका, ग्रीवा, हनु, चिबुक, दन्त औष्ठ आदि में विकृति आजाती है अर्थात वर्णित अवयवों की मांसपेशियों की ऐच्छिक क्रियाऐं अवरुद्ध होजाती हैं।

(६) पीड़ित मुखार्ध में ग्रीवा आदि पीड़ा में होती है।

आधुनिक मतानुसार अर्दित रोग Facial Paralysis नाम से जाना जाता है तथा यह सातवीं शीर्षण्य नाड़ी (7 Facial Nerve) की विकृति का परिणाम है। तदनुसार इसका विकृतिक्षेत्र मुख मंडल ही है एवं आचार्य सुश्रुत ने भी इसका पीड़ा (विकृति) क्षेत्र मुखार्ध ही माना है। सातवीं शीर्षण्य नाड़ी मात्र एक नेत्रोन्मीलनी पेशी को छोड़कर मुखमण्डल की सम्पूर्ण पेशी समूह की गतियों को नियंत्रित करती है। वाम व दक्षिण मुखार्ध के लिए एक एक दोनों ओर स्वतंत्र नाड़ियाँ हैं। जिस ओर की नाड़ी विकृत हो उसी ओर अर्दित उत्पन्न होता है।

अर्दित रोग के वास्तविक लक्षण उत्पन्न होने से पूर्व कान के निम्न भाग में पीड़ा तथा स्पर्शासह्यता (Tenderness) होती है। तदनु अचानक मुख के एक पार्श्व में रोगरूप लक्षणों का प्रादुर्भाव होने लगता है।

१—मुख भाव रहित उदास सा हो जाता है।

२—रोगी आंखें बन्द नहीं कर पाता तथा देखने में भी कठिनाई होती है। आंखों से आंसू प्रायः बहते रहते हैं, आंखें लाल रहती हैं।

३—रोगी बोलने में असमर्थता व्यक्त करता है, मुखकुहर में रोग प्रभाव होने से रोगी पानी नहीं पी सकता, रुग्ण् पार्श्व कोण से पानी स्वतः बाहर निकलता है।

४—रोगी की रसनेन्द्रिय ठीक नहीं रहती है, उसे स्वाद में अन्तर नहीं अनुभव होता।

५—रोगी की मुखाकृति वीभत्स दिखाई देती है। ओष्ठों की चेष्टा नष्ट होने से दांत बाहर चमकते हैं, होंठ नीचे लटक जाता है।

६—श्रुतिनाड़ी पर प्रभाव होने से बधिरता भी हो सकती है।

७—पीड़ित मुखार्ध की त्वचा शीत उष्ण ज्ञान से रहित हो जाती है।

८—मांथे पर तेवरी नहीं पड़ सकती हैं।

साध्यासाध्यत्व—

क्षीणस्यानिमिषाक्षस्य प्रसक्ताव्यक्तभाषिणः॥
न सिध्यत्यर्दितं गाढं त्रिवर्षं वेपनस्य। सु. नि. १

१. अत्यन्त क्षीण (दुर्बल कृशकाय वृद्ध) हो

२. जो आंखों की पलकों को बन्द नहीं कर सके।

३. जो बिल्कुल बोलने में अक्षम हो

४. जिसके नाक, मुख और आंख से निरन्तर स्राव बहता हो

५. रोगी को कम्पवात भी हो

६. तथा रोगी तीन वर्ष पुराना हो

उक्त षडलक्षण युक्त अर्दित रोगी को आचार्य श्री सुश्रुत ने असाध्य कोटि का माना है।

कपालान्तर्गत रक्तस्राव होने से यदि सातवीं नाड़ी की विकृति हुई है तो वह अर्दित असाध्य होता है। तथा यदि कपाल के बाहरी भाग पर ही शैल्याघात आदि से अर्दित हो तो वह साध्य होता है।

चिकित्सा—

१. सर्व प्रथत वात सामान्यात् इस रोग में भी वातदोष के स्थान-पक्वाशय की शुद्धि हेतु विरेचनार्थ एरण्डस्नेह २०-२५ मि. ली. को २५० मि. ली. गर्म दूध में मिश्रित कर पिलाना चाहिए। इससे आंत्रगता रौक्ष्यता दूर होकर वातशमन में सहायता मिलती है।

२. चूंकि यह रोग एकाङ्गिक या आंशिक वातप्रकोप जन्य है अतः सद्यः लाभार्थ स्थानिक लेप सेक (स्वेदन) आदि का प्रयोग करना श्रेयस्कर है एतदर्थ—

(क) नागफनी पत्रस्वेदः—एक नागफनी का चौड़ा

सा पत्ता लेकर उसके कांटों को अग्नि सहयोग से जलाकर नष्ट करलें। तदनन्तर एक छुरी (चाकू) की सहायता से पत्ते को बीच में से चीर लें (द्विविभक्त करलें)। पत्र के अन्तःभाग पर हरिद्रा चूर्ण+सैन्धवचूर्ण का वारीक चूर्ण भुरक कर, अग्नि पर थोड़ा सेक कर पीड़ित मुखार्ध (कनपटी) पर रखकर बांध दें। इससे विकृत नाड़ी के सक्रिय होने में सहायता मिलती है। (स्वानुभूत)

(ख) अर्दितहर उपनाह—यह जन प्रचलित पुलटिस का रूप है।

घटक द्रव्य—[१] गोधूम चूर्ण ६० ग्राम, (गेहूँ का आटा) [२] गोघृत ६० ग्राम, [३] गुड़ ५० ग्राम, [४] दालचीनी (असली) ५ ग्राम, [६] जायफल ५ ग्राम, और [७] लौंग ५ ग्राम।

विधि—एक कढ़ाई में घृत गर्म करके उसमें गेहूं के आटे को बादामी रंग का होने तक भूनें, पश्चात गुड़ व थोड़ा पानी डालकर हलुवा जैसा बना लें। तदनन्तर क्र.सं. [४] से [७] पर्यन्त द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण मिला कर कढ़ाई को नीचे उतार लें। त्वचा पर सहने योग्य गर्म रहे, तब उसे पीडित कनपटी पर रखकर बांध दें। अर्दित रोग में उत्तम लाभप्रद सिद्ध हुआ है। (ग्रामीण सिद्ध चिकित्सक का अनुभूत प्रयोग सिद्ध)

(ग) माषरोटिका बन्धन—१००-१५० ग्राम उड़द का आटा लेकर जल या दुग्ध सहयोग से भली प्रकार गूंध लें। तथा रोटी के समान चौड़ा फैलाकर गर्म तवे पर तिल तेल डालते हुए उक्त माषरोटि को एक ओर से ही सेक लें तथा एक ओर कच्चा ही रहने दें। पश्चात कच्ची तरफ रोटी पर हल्दी+स्फटिक+सैन्धव के चूर्ण छिड़क कर पीड़ित भाग पर बांधे। उपरोक्त प्रयोगों की तरह ही फलप्रद है। (स्वानुभूत)

विशेष—उक्त स्वेद प्रयोगों से पूर्व पीड़ित भाग पर किसी सिद्ध तैल की मालिश करली जाय तो अत्युत्तम है।

कुचिला तैल—१०० ग्राम कुचिला को यवकुट करके चतुर्गुण जल में भिगोकर रखें। इस पात्र को एक लकड़ी के तख्ते पर खुली हुई जगह में रखें ताकि इस पर दिन में सूर्य की धूप लगती रहे तथा रात्रि को पर्याप्त चन्द्रकिरणें।

एक सप्ताह उपरांत इस पात्र में १ किलो तिल तैल डालकर मंदाग्नि पर पकावें शनैः शनैः पानी जल कर तैल मात्र अवशेष रहे तब भली प्रकार छानकर तैल सुरक्षित रखें।

गुण—अर्दित के अतिरिक्त इस तैल का मर्दनार्थ प्रयोग प्रत्येक वातरोग में उपयोगी सिद्ध होता है। विशेषतः पक्षाघात एवं वातनाड़ी शूलों पर प्रभावी है।

शास्त्रोक्त महाविषगर्भ तैल, महानारायण तैल, बला तैल, नारायण तैल, मल्लतैल, माष तैल एवं महाराजप्रसारिणी तैल आदि का आवश्यकतानुसार योग्यरीत्या प्रयोग प्रशस्त है।

३. आभ्यन्तर औषधि प्रयोग—

विकृत वातनाड़ी को बल्य तथा आयुर्वेदोक्त वात प्रकोप के शमनार्थ व रोगमूलोच्छेद की दृष्टि से आभ्यन्तर औषधों के प्रयोग का भी पर्याप्त महत्त्व है। एतदर्थ शास्त्रीय योगों के साथ साथ विद्वान चिकित्सकों द्वारा अनेकशः अनुभूत प्रयोग भी उपयोगी सिद्ध हुए हैं। जिनका विधिवत्त प्रयोग करने से, वर्त्तमान आधुनिक चिकित्सा की चकाचौंधपूर्ण युग में भी आयुर्वेद चिकित्सा का वात रोगों पर एकाधिकार सर्व विदित है।

[१] बृहत वात चिन्तामणि रस (भै. र.)—इसका प्रभाव क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वात व्याधि वर्गोक्त बहुशः रोगों व लक्षणों पर सफलता के साथ प्रयुक्त होती है। इसे वातरोगों हेतु तो ब्रह्मास्त्र कहना अधिक समीचीन होगा। इसे सभी प्रचलित फार्मेसियां बना कर विक्रय हेतु प्रस्तुत करती हैं। (यदि आप स्वयं न बनाते हों तो निर्मल आयु० संस्थान, अलीगढ़ से मंगाकर प्रयोग करें) मात्रा १२५ मि.ग्रा. दिन में २ बार।

[२] महावात विध्वंसन रस (रस चण्डांशु)—यह सभी प्रकार के वात रोगों पर सद्यः प्रभावी एवं सुप्रसिद्ध रसौषधि है। इसमें वेदनाशामक गुण उत्तम कोटि का है। इसे वायुविकारों में आर्द्रक स्वरस+मधु से १२५ मि.ग्रा.-२५० मि.ग्रा. की मात्रा में चटाकर महारास्नादि काढ़ा पिलाना चाहिए। इसमें वत्सनाभ होने से सुकुमार प्रकृति वालों को सावधानी से प्रयुक्त करना चाहिए।

[३] रसराज रस (भै० र०)—यह नाड़ियों को

बलदायक एवं हृद्य उत्तम योग रत्न है। यह पक्षाघात, अर्दित, अपतन्त्रक, आक्षेपक, कम्पवात आदि कठिन से कठिन वात रोगों में रामवाण की तरह अचूक कार्य करता है। इसे भी ६२ मि. ग्राम. से १२५ मि. ग्राम की मात्रा में दिन में दो वार मधु से चटा कर ऊपर से रास्नादि क्वाथ या दसमूल क्वाथ पिलाना श्रेष्ठ है।

[४] एकांग वीर रस (रस राज सुन्दर)—यह उग्र वातविकारों पर सफलता के साथ प्रयुक्त होने वाली सिद्ध रसौषधि है। पित्त प्रधान विकारों पर इसका प्रयोग यथा सम्भव नहीं करावें। यदि कराना आवश्यक ही हो तो प्रवाल पिष्टी, प्रवालपंचामृत आदि पित्तशामक औषधि के साथ योजना करनी चाहिए। इसे १२५ मि.ग्रा. से ३७५ मि. ग्रा. तक की मात्रा में दिन में दो वार रास्नादि अर्क या क्वाथ से सेवन करने पर सद्यः लाभप्रद है।

[५] अर्धांग वातारि रस (रस रत्नाकर)—यह अर्धांग या एकांगिक वातरोगों पर उत्तम फलप्रद औषधि है। वात रोगों में आने वाले आवेग इससे सद्यः शमित होते हैं। जीर्ण पक्षाघात, अर्दित आदि वात रोगों में इसे मधु के साथ १२५ से २५० मि.ग्रा. की मात्रा में चटाकर दशमूल क्वाथ या महारास्नादि क्वाथ २५ मि.ली में १ चम्मच नारायण या महानारायण तैल मिलाकर पिलाना उत्तम लाभकारी सिद्ध होता है। इस रसायन कृति को वृक्क दुष्टि वाले व पित्त प्रधान रोगियों व लक्षणों में उपयोग नहीं करें। इसके प्रयोग काल में रोगी को दूध नहीं देना चाहिए क्योंकि इस रसायन में ताम्र का संयोजन होने से दूध सेवन प्रतिकूल रहता है। दूध के स्थान पर तक्र देना उत्तम रहता है।

विद्वानों के अनुभूत प्रयोग—

१. विट् पिष्टी योग—घटकद्रव्य—कपोत विष्ठा १०० ग्रा., मल्लसिन्दूर २० ग्रा., कस्तूरी उत्तम १० ग्रा., हरिताल पुष्प ६ ग्राम। कपोत विष्ठा को सुखाकर श्लक्ष्ण चूर्णित कर वस्त्रपूत करलें। पश्चात शेष द्रव्यों को मिलाकर खरल में दृढ़ मर्दन कर ७२ घन्टे (३ दिन) तक घुटाई करें। मात्रा—१२५ से २५० मि. ग्रा. पर्यन्त दिन में तीन वार आर्द्रक रस + मधु से दी जाती है।

गुण—पक्षाघात, अर्दित तथा कम्पवात की तो अत्युत्तम औषधि है। इसको ४० दिन तक प्रयोग करें।

इसके मूल लेखक श्री गुलराज शर्मा वैद्य वाचस्पति जी ने इसे बहुशः प्रयुक्त किया जाना व ८७ % लाभप्रद बतलाया है। मेरी व्यक्तिगत चिकित्सा में भी मैंने इसे उत्तम फलदायी पाया है।

२. मल्ल वटिका—शुद्ध श्वेतमल्ल ३७५ मि.ग्रा., वंशलोचन ५ ग्राम, श्वेत कत्था ५ ग्राम तीनों को बारीक पीसकर शुण्ठी क्वाथ की भावना देते हुए घुटाई करें। श्लक्ष्ण पिष्टी तैयार होने पर १२५ मि. ग्रा. प्रमाण की गोलियां बना छाया शुष्क कर सुरक्षित रखें।

मात्रा—१-१ गोली भोजनोत्तर दोनों समय जल से दें।

प्रयोग काल—एक सप्ताह पर्यन्त।

विशेष—दवा सेवन के ३ दिन बाद, दवा सेवन के उपरांत मिश्री का शर्बत पिला दिया जाय तो रोगी को दस्त साफ आजाता है। जिससे अवशिष्ट दोषनिर्हरण होकर देहशुद्धि हो जाती है।

गुण—अर्दित और पक्षाघात में इसका सेवन अतीव गुणकारी है। (संकलित)

३. समीर सुधा—एरण्डस्नेह में शोधित कुचला का वस्त्रपूत चूर्ण ३० ग्राम, पीपलामूल २० ग्राम, सोंठ २० ग्राम, दालचीनी २० ग्राम, सुहागा २० ग्राम और कृष्ण मरिच २० ग्राम लेकर एकत्र कर खरल में मिलावें। पुनः श्लक्ष्ण पिष्टी होने पर उत्तम कस्तूरी ७ ग्राम, अम्बर ४ ग्राम, स्वर्ण भस्म ३ ग्राम डालकर दृढ़ मर्दन कर शीशी में सुरक्षित रखें। (वैद्य ताराचन्द जी लोढ़ा)

मात्रा—५०० मि.ग्रा. निर्बीज मुनक्का के अन्दर रखकर खिलावें। दिन में ३-४ वार देवें। ऊपर से दूध पिलावें। एक वार में एक सप्ताह (७ दिन) से अधिक सेवन नहीं करावें। २-३ कोर्स इस प्रकार थोड़े थोड़े दिनों के अन्तर से देने पर गृध्रसी, पक्षाघात, कटिवात, अर्दित आदि वात रोग नष्ट हो जाते हैं।

डा० वी० एन० गिरि आयु० विशारद, ए.एम.वी.एस., एस.सी.डी.
डंगरा (गया) विहार।

मान्यवर श्री गिरि जी ने इस विशेषांक हेतु पक्षाघात जैसे महत्वपूर्ण रोग पर अपना विस्तृत लेख प्रेषित किया है। लेख में उपयुक्त विवेचना उपलब्ध है किन्तु लेखन शैली में परिमार्जन की आवश्यकता है।

आप डंगरा (गया) में वैद्यकीय वृत्ति चलाते हुये सफल चिकित्सक के नाते तथा एक लेखक के रूप में अपनी सेवायें आयुर्वेद जगत के लिये अर्पित कर रहे हैं। आपके उज्ज्वल भविष्य की कामना हृदय से चाहता हूँ।

—वैद्य गोपीनाथ पारीक गोपेश भिषगाचार्य

पर्याय—पक्षाघात, पक्षवध, अर्दित, एकाङ्गवध, अर्द्धाङ्गघात, सर्वांगघात, लकवा, शैशविक पक्षाघात, एकायाम, अर्द्धांगवात। शरीर के किसी भी अंग का अपना स्वाभाविक क्रियाशीलता से निष्क्रिय हो जाना ही अंगघात अथवा पक्षाघात कहलाता है। जव यह शरीर के एक ही अंग में होता है और सीमित रहता है तव उसे एकांग घात (Manoplegia) कहते हैं और जव शरीर के आधे अंग को निष्क्रिय वना देता है तव उसे अर्द्धांगघात (Hemiplegia) अथवा पक्षाघात कहा जाता है। शरीर के दोनों पैरों और दोनों हाथों को निष्क्रिय वना देता है तव उसे सर्वांगघात (लकवा) कहा जाता है। चेहरे का आधा भाग टेढ़ा अथवा वेकार हो जाय तो उसे अर्दित कहते हैं।

कारण —

रूक्षशीताल्पलध्वन्न व्यवायाति प्रजागरैः।
विषमादुपचाराच्च दोषासृकस्रवणादपि ॥
लङ्घनप्लवनात्यध्व व्यायामाति विचेष्टितैः।
धातूनां संक्षयाच्चिन्ता शोक रोगाति कर्षणात् ॥
दुःख शय्यासनात्क्रोधात् दिवास्वप्नात् भयादपि।
वेगसंधारणाद आमाद अभिघाताद भोजनात् ॥
मर्माघाताद गजोष्ट्राश्व शीघ्रया नावर्त सनात्।
देहेस्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलोवली ॥
करोति विविधान व्याधिन् सर्वांगैकांग संश्रितान्।

—च० चि० अ० ८

रूक्ष, शीत, लघु, अल्प, गुरु, ठण्डा, वासी अन्न का सेवन, अत्यधिक मैथुन में प्रवृत रहना, रात-रात भर जागे रहना, विषमोपचार, दोषों का शरीर से अत्यधिक मात्रा में वाहर जाना, अति रक्तस्राव होना, अति उपवास करना, नदी-तालाव में अधिक देर तक तैरना, अधिक पैदल चलना, अधिक परिश्रम करना, उल्टी, सीधी कसरत करना अथवा सर्कस की भांति कलायें
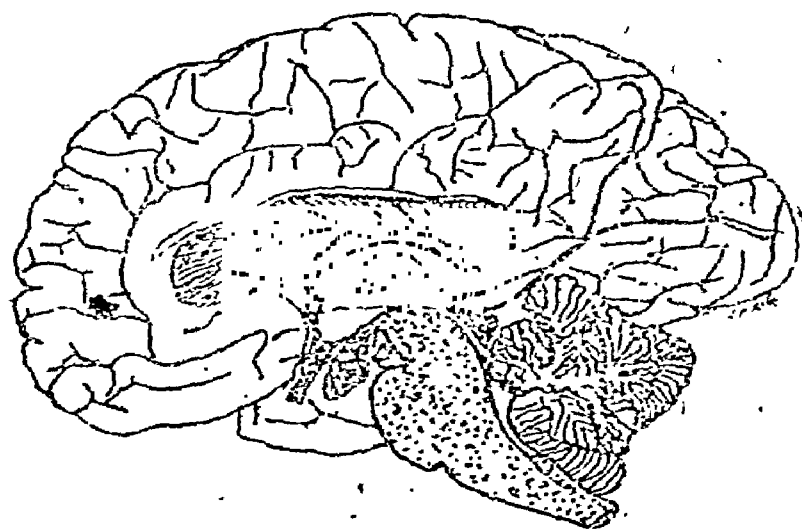
करना, रस, रक्त, मांस-मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र आदि धातुओं में से किसी एक का अथवा कई धातुओं का क्षीण हो जाना, अत्यधिक चिन्ता शोक से ग्रस्त रहना, शोक-दुख मनाना, किसी रोग के कारण अति दुर्बल-कमजोर होना, कष्टदायक शैय्या पर सोना, कष्ट देने वाले आसन पर अधिक समय तक बैठना-विश्राम करना, अधिक क्रोध करना, दिन में सोना, किसी अज्ञात भय के कारण वेगों को रोकना, मल-मूत्रादि-आंसुओं को रोकना, आमदोष, चोट लगना, अनुकूल भोजन का न मिलना, शिर, वस्ति, हृदय, मर्मस्थान आदि पर चोट लगना, हाथी, घोड़े, ट्रैक्टर आदि कष्टदायक सवारी पर लगातार यात्रा करना अथवा करते रहना या गिर जाना इन सभी विभिन्न कारणों में से किसी एक अथवा कई कारणों के मिल जाने से कुपित हुआ वायु (बलवान वायु) रिक्त स्रोतों को भरता हुआ एकांगवात से लेकर सर्वांगवात तक विभिन्न वात रोगों की उत्पत्ति करता है। आचार्य सुश्रुत के शब्दों में (सु. नि. अ. १) इस रोग की उत्पत्ति इस प्रकार है—

जब अधोगामी, तिर्यग्गामी एवं ऊर्ध्वगामी धमनियों में अत्यधिक प्रकुपित वायु प्राप्त होती है तब वह वायु दूसरे पक्ष के सन्धि बन्धनों को प्रथक करके उस पक्ष का घात कर देती है, इसी को पक्षाघात कहते हैं। जिस रोगी का पूरा शरीर अथवा आधा शरीर क्रियारहित तथा अचेतन हो जाता है तब वह वायु रोग से पीड़ित व्यक्ति गिर जाता अथवा पड़ा रहता है या प्राणों को त्याग देता है।

आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिकों ने इस रोग की उत्पत्ति के निम्न कारणों का उल्लेख किया है। प्रथम वह कारण जिससे तत्काल रोग उत्पन्न होते हैं और दूसरा वह कारण जिससे विलम्ब से रोग की उत्पत्ति होती है। रक्तवाहिनी सम्बन्धी कारण, अभिघात, उच्च रक्त दबाव, मस्तिष्क सम्बन्धी रोग इत्यादि। मस्तिष्क की धमनी में रक्त संचालन की क्रिया के व्यतिक्रम अथवा मस्तिष्क में रक्तस्राव, मस्तिष्क की झिल्ली में प्रदाह, अर्बुद आदि के कारण, कपाल भग्न अथवा संन्यास रोग के दौरा के कारण पक्षाघात होता है। कोई धमनी काठिन्यजनित विदीर्ण होकर मस्तिष्क के अन्दर रक्तस्राव होता है और परिणामस्वरूप पक्षाघात उत्पन्न होता है।

रक्त विकृतियां, अभिघातें, विषाक्त पदार्थ एवं अन्य संस्थानिक व्याधियां इस रोग का मुख्य कारण मानी जाती हैं। रक्त का घनास्रता अथवा थक्का बनकर रक्त वाहिनियों में रक्त प्रवाह को रोक देता है जिसके कारण धमनी काठिन्य का विदीर्ण हो जाना, फिरङ्ग के कारण छोटी-छोटी धमनियों में पाक होने से उत्पन्न घनास्रता, शिराजन्य घनास्रता पक्षाघात का कारण होती है। मस्तिष्कगत विद्रधि, मस्तिष्कगत अर्बुद, मस्तिष्क कला शोथ, मेनिनजाइटिस, मस्तिष्क शोथ, फिरङ्गजन्य कारण, मस्तिष्क वाहक घनास्र शिरा शोथ, धातु क्षय, शिरा घनास्रता, मस्तिष्क की सूक्ष्म वाहिनी में घनास्रता का टुकड़ा रुककर मार्ग अवरुद्ध हो जाता है जिसके कारण उस क्षेत्र की रक्त आपूर्ति रुककर अंगघात होता है।

शारीरिक विकृति

इस रोग में सुषुम्ना नाड़ी के आगे वाले सेल के अन्दर धूसर भाग में ही सूजन उत्पन्न होती है। आंतों की श्लैष्मिक कला से नाड़ियों द्वारा ही सुषुम्ना एवं मस्तिष्क में पहुँच कर प्रथम रक्त की केशिकाओं में सूजन उत्पन्न कर फिर उनसे फैलकर इधर-उधर की धूसर सेलें भी सूज जाती हैं। यह शोथ कभी नीचे से ऊपर की ओर और कभी ऊपर से नीचे की ओर, यह शोथ कभी सुषुम्ना के सिरे से प्रारम्भ होकर ऊपर नीचे की ओर फैल जाती है। इन्हीं शृङ्गों में गति उत्पन्न करने वाली सैलें उपस्थित रहती हैं।

अतएव उनके प्रभावित होने के उपरान्त उन सेलों के तार जिन जिन मांसपेशियों से सम्बन्ध रखते हैं उन सभी की गति में आघात उत्पन्न होता है। यदि यह सेलों में शोथ होकर ही रह जाय एवं सेलें मृत न हो पाये और स्वस्थ होने लगे तब उनके साथ-साथ जिन मांसपेशियों का घात हुआ था वे सभी गतिशील होने लगते हैं। परन्तु यदि सेल मृत हो जाय तो मांसपेशियों का घात हमेशा के लिये बना रह जाता है। रोग की प्रारम्भिक अवस्था में घात बहुत व्यापक स्थानों में होता है, परन्तु कुछ काल बीत जाने पर उचित उपचार से अनेक मांसपेशियां पुनः अपना कार्य करने लगती हैं और जिनका सम्बन्ध टूट जाता है वह हमेशा के लिये निष्क्रिय रह जाती हैं। यह आघात यदि १८-२० महीने के उपरान्त भी रह जाय तो स्थायी समझना चाहिये, क्योंकि प्रथम ३-४ महीनों के पश्चात् स्वास्थ्य की प्राप्ति होने लगती है। सुषुम्ना नाड़ी के आगे वाले शृङ्ग के साथ लगी हुई पीछे की ओर जो शृङ्ग होती है उसे पार्श्व शृङ्ग कहते हैं। पार्श्व शृङ्ग की सेलें ही अंग की वृद्धि करने वाली होती हैं। मस्तिष्क सुषुम्ना के आघात के साथ सुषुम्ना जल में भी परिवर्तन हो जाता एवं उसकी राशि तथा दबाव की वृद्धि होजाती है। इसमें श्वेत की संख्या प्रारम्भ में लगभग दो हजार तक वृद्धि कर जाते है। इस रोग का सम्बन्ध विशेषकर नाड़ी संस्थान से रहता है परन्तु इस रोग के कारण अन्य अंगों में भी विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं, जैसे यकृत, प्लीहा की वृद्धि एवं फेफड़े में शोथ, रक्त की अधिकता हो जाती है।

निदान हेतु विविध प्रयोगशालीय परीक्षण—

१. कटि वेधन—रक्तस्राव, मस्तिष्कावरण शोथ, मस्तिष्क विद्रधि और नाड़ी फिरङ्ग (Neurosyphilis) आदि की परीक्षा।

२. छाया चित्र (एक्स-रे)—ग्रीवा, पृष्ठ, वक्ष, कपाल, अन्तः मस्तिष्कीय वाहिनी असंशयित अर्बुद, वक्ष हृदय का आकार आदि।

३. इलैक्ट्रो कार्डियोग्राम—हृत्पेशी, अन्तःस्फान, मस्तिष्कीय लक्षणों के साथ मिलता है।

४. रक्त परीक्षा—रक्त गणना बहुरक्त कायाणुमयता, पोलिसिथेमियां, पोलिमार्फ न्यूक्लियर, ल्यूकोसाइटोसिस अति तीव्र मस्तिष्कीय रक्तस्राव सोवियर, सेरीब्रल हैमोरेज (रक्तस्राव) तथा इन्फार्कशन सिद्ध होते हैं।

५. मूत्र परीक्षा—रक्त शर्करा (मधुमेह छोड़कर) अन्य रोग के लिये, रक्तगत यूरिया, नाइट्रोजन, वृक्क रोगों में बढ़ता है।

६. वासरमैन टैस्ट अथवा वी. डी. आर. एल. (V. D. R. L.) की परीक्षा से फिरङ्ग एवं उपदंश विष ज्ञात करने अति आवश्यक हैं।

७. इकोएन्सेफैलोग्राफी—इस परीक्षा से मध्य रेखा स्थित मस्तिष्क की विकृतियों का ज्ञान होता है। चिकित्सक आवश्यकतानुसार परीक्षा करवा सकते हैं।

भेद—

वैज्ञानिकों ने अंग विभाग को दृष्टि में रखते हुये इसके कई भेद किये हैं जो इस प्रकार हैं—

(क) सौषुम्ना प्रकार का (Spinal form)—लगभग ७०% रोगियों में यही विशेष कर होता है। रोगी रात में स्वस्थ होता है और प्रातः उठने पर उसे पक्षाघात हो गया होता है।

(ख) मस्तिष्कगत (Cerebral)—इसमें मस्तिष्क के धूसर अंग पर जीवाणु का विष प्रभाव होकर ग्रीवा स्तम्भ, सिर दर्द, गरदन का पीछे की ओर अकड़ना, मूकता, पक्षाघात आदि होते हैं।

(ग) मस्तिष्क स्कन्धगत (Bulbar form)—इसमें सुषुम्ना शीर्ष उष्णीय और मध्य मस्तिष्क में विकृति एवं दशवीं से बारहवीं नाड़ियों की अधोपेशियों में विकृति उत्पन्न होती है।

(घ) अनुमस्तिष्क प्रकार के (Cerebrellar or atoxic form)—इसमें सिर का एक तरफ घूमना, ग्रीवा अकड़ जाना, धमनी की विकृति, वमन, दुर्बलता, सुस्ती आदि होते हैं।

(ङ) मस्तिष्कावरणिक (Meningitic)—इसमें एकाएक अकस्मात आक्रमण होकर सिर दर्द, कै, मूर्च्छा, आक्षेप, ग्रीवा अकड़ना, अधोशाखा की पेशियों में स्तम्भन इत्यादि लक्षण होते हैं।

★ डा० बी० एन० गिरि ए.एम.बी.एस. ★

(च) नाड़ीगत (Neuritic)—इसमें सम्बन्धित नाड़ियों की अधिक विकृति हो तो जिसके कारण नाड़ी-शूल, पेशियों का छुआ न जाने लायक दर्द, हिलने-डुलने में अत्यधिक वेदना आदि लक्षण होते हैं।

पक्षाघात के लक्षण—

इसमें शरीर की शक्ति अचानक घट जाती, रक्त में अकस्मात परिवर्तन होकर मांसपेशियों में कड़ापन आ जाता है। चेहरे में विकृति दिखाई पड़ना, शरीर का सम्पूर्ण भाग अथवा एक अंग का निष्क्रिय हो जाना, अकस्मात् आक्रमण के बाद प्रथम लक्षण गति रहित अंग घात का उत्पन्न होना इत्यादि होते हैं। यह बात अधिकांश चेहरे से प्रारम्भ होकर ग्रीवा और पीछे का मेरुदण्ड वक्र गति हो जाता है अर्थात् टेढ़ा हो जाता है। इसके बाद जिह्वा पर प्रभाव होता है। ऐसी स्थिति में शरीर का अंग-घात भयानक होता है। जिह्वा से शब्दों का उच्चारण स्पष्ट रूप में नहीं हो पाता। ग्रीवा की सारी धमनियां रस्सी की भांति तन कर कड़ी हो जाती हैं। यदि रोगी पीछे की ओर देखना चाहे तो वह सहज प्राकृतिक ढंग से गर्दन घुमाकर नहीं देख सकता है। आँखें घुमाने में भी तकलीफ होती है एवं इधर-उधर देखने के लिए मुड़ना पड़ता है। कारण यह है कि आंखें अथवा उसके सूक्ष्म तन्तु कड़े पड़कर एक ओर को वक्र हो जाता है।

यदि अपना हाथ और कन्धा घुमाना चाहें तो अपनी पूर्ण शारीरिक शक्ति लगाकर जिस ओर का भाग पूर्ण स्वस्थ है इस पर पूरा भार रखकर ही उधर घुमा सकता है। यही

पक्षाघात रोगी को दो आदमी पकड़े हैं तथा वह आगे बढ़ने का प्रयास करते हुये।

छोड़ देने पर पक्षाघात रोगी पीछे को गिर पड़ता है।

पक्षाघात रोगी को इस प्रकार सम्हालें।

स्वस्थ पुरुष सोकर इस प्रकार उठता है।

पक्षाघात रोगी कुछ ठीक होने पर सोकर इस प्रकार उठता है।

हाल अन्य अंगों का होता है जिसमें पक्षाघात का आक्रमण हुआ रहता है। लगता है जैसे कि वह अंग ही मृत और बेकार हो गया है। जैसे-जैसे यह रोग जीर्ण होता जाता है वैसे-वैसे उनमें तनाव की वृद्धि होती जाती और वे कड़ी पड़ जाती हैं। इसी प्रकार अंगूठा सभी अंगुलियों से प्रथक रहकर वक्रगति में हथेलियों की ओर टेढ़ा पड़ जाता है। दुर्बलता एवं कमजोरी अत्यधिक अनुभव होती है। अधिकांश रोगियों के घात वाले अंग में झुंन-झुंनी एवं कम्प का अनुभव होता है। मांसपेशियों में एक प्रकार का भारीपन लिये हुये दर्द की अनुभूति होना, ठण्डक एवं गर्मी की सहज अनुभूति होती, रोगी न तो आग की गर्मी और न ठण्ड ही सहन कर सकता है।

साध्यासाध्यता—

आयुर्वेदीय संहिताओं में पक्षाघात की चार अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। वातज—कष्टसाध्य, वात-पित्तज—साध्य, वात कफज साध्य, धातु क्षयजन्य वातज—असाध्य होते हैं। संहिता ग्रंथ में लिखा है—

दाह संताप मूर्च्छाः स्युर्वायो पित्त समन्विते।
शैत्य शोथ गुरुत्वानितस्मिन्नेव कफान्विते॥
शुद्धवातहतं पक्षं कृच्छ्र साध्यतमं विदुः।
साध्यमन्येन संसृष्टमसाध्यं क्षय हेतुकम्॥
गर्भिणी सूतिका बाल वृद्ध क्षीणेष्वसृक्स्रुतौ।
पक्षाघातं परिहरेद्वेदना रहितो यदि॥ मा. नि.

पक्षाघात का कुपित वायु कफ पित्त युक्त रहता है तब दाह सन्ताप मूर्च्छा होती है और वही वायु जब केवल कफयुक्त रहता है तब शीत, सूजन, भारीपन ये लक्षण होते हैं। केवल वायु से उत्पन्न पक्षाघात अत्यन्त ही कष्टसाध्य होता है।

पित्त से अथवा कफ से संसृष्ट होने के कारण पक्षा-

घात साध्य होता है। क्षय अथवा धातुक्षय से उत्पन्न पक्षाघात असाध्य होता है। गर्भिणी, प्रसूत, बालक, वृद्ध और बल क्षीण मनुष्य का एवं रक्तस्राव के कारण उत्पन्न पक्षाघात, पीड़ा रहित हो तो उसे असाध्य ही समझें। आचार्य सुश्रुत तथा अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी यही मत व्यक्त किये हैं—

शुद्ध वातहृतं पक्षं कृच्छ्रं साध्यतमं विदुः।
साध्यमन्यं न संसृष्टं असाध्यं क्षय हेतुकम्। सु.नि.१
शुद्ध वात हृतः पक्षः कृच्छ्र साध्यतमोमतः।
कृच्छ्रस्त्वन्येन संसृष्टो विवर्ज्यः क्षयहेतु कहः॥
—अ० हृ० नि० १५

यदि शरीर के किसी भाग में केवल कुपित वायु के कारण अथवा मार्ग अवरुद्ध जन्य कुपित वायु के कारण उत्पन्न पक्षाघात कष्ट साध्य होता है। अन्य दोषों के कारण वात पथ के अवरोध से उत्पन्न पक्षाघात कालान्तर में ठीक हो जाता है। क्षय के कारण अथवा धातुओं के क्षय के कारण से होने वाला पक्षाघात असाध्य होता है।

आरोग्य चिकित्सा कर्म—

पक्षाघात में मलावरोध एवं मूत्र विषमयता उत्पन्न हो जाते हैं जिसके कारण कष्टकर स्थिति हो जाती है और कभी-कभी तो गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

एक ही स्थिति में पड़े रहने के कारण रोगी को शय्याव्रण हो जाता है जिससे रोगी को अपार कष्ट होता है। इसके लिए भी विशेष प्रबन्ध करना चाहिए ताकि शय्या व्रण की उत्पत्ति नहीं होने पाये। अति रक्तचाप बेहोशी तथा प्रमस्तिष्कीय शोफ, अन्तः शल्यता के कारण अनेक प्रकार के उपद्रव होते हैं। इन सारे मूल कारणों को दूर करने के लिए शीघ्र उपाय एवं चिकित्सा व्यवस्था करनी चाहिये।

पक्षाघात समाक्रान्तं सुतीक्ष्णैश्च विरेचनैः।
शोधयेद् वस्तिभिश्चापि व्याधिरेवं प्रशाम्यहि॥—भै. र.

पक्षाघात से पीड़ित रोगी को सर्व प्रथम तीक्ष्ण विरेचन देकर कोष्ठ की शुद्धि करे। पश्चात् वात नाशक वस्तियाँ देकर कोष्ठ का शोधन करने से यह व्याधि शीघ्र शांत हो जाती है। आचार्य वाग्भट कहते हैं—

स्नेहनं स्नेह संयुक्तं पक्षाघाते विरेचनम्।
घृतं तिल्वक सिद्धं वा सातला- सिद्धमेववा।
पयसैरण्ड तैलं वा पिबेद्दोषहरं शिवम्॥
—अ० हृ० चि० अ० २१

पक्षाघात में स्नेह तथा स्नेहयुक्त विरेचन का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि स्नेहयुक्त मृदु शोधन द्रव्यों से रोगी को विशेष लाभ मिलता है और कष्ट नहीं हो पाता है।

तिल्वक सिद्ध अथवा शिकाकाई से सिद्ध घृत को पिलायें एवं दूध के साथ शुद्ध एरण्ड तैल मिश्रित कर पिलायें। यह द्रव सभी दोषों को निष्कासन करने वाले हैं।

स्नेह शुष्क धातुओं को पुष्ट करता, शरीर में बल वृद्धि करता और जठराग्नि को दीप्त करता है। इसलिए स्नेहन चिकित्सा अवश्य करनी चाहिए। इसके लिये गो घृत, वसा, मज्जा, तैल में से रोगी जो भी सुविधापूर्वक ले सके उसका पान (पिलाना) कराना अति आवश्यक है। मूंग की खिचड़ी, ग्राम्य एवं आनूप तथा जांगल पक्षियों के मांस और मांस रस के साथ स्नेह मिश्रित कर देना चाहिये। पक्षाघात से पीड़ित रोगी को आवश्यकतानुसार अनुवासन एवं निरूह वस्तियों का प्रयोग अवश्य कराना चाहिये। निरूह वस्ति क्वाथ प्रधान एवं अनुवासन वस्ति स्नेह प्रधान होती है। निरूह वस्ति आयु का स्थापन करती है। इस रोग में दोनों वस्तियों का प्रयोग होता है।

१—लहशुन (रसोन) कल्क एवं तिल तैल मिलाकर खाने से अर्दित रोग में अमृत तुल्य लाभ करता है।

रसोन कल्कं तिल तैल मिश्रं
खादेन्नरो योऽर्दित रोग युक्तः।
तस्यार्दितं नाशमुपैति शीघ्रं
वृन्दघनानामिव वायुवेगात्॥—भा.प्र. वातरोग

२—लहशुन की कली (जो) ५० ग्राम को महीन पीसलें। उसमें सेंधानमक, सौंचर नमक, त्रिकुटा और शुद्ध हींग प्रत्येक ५ ग्राम कूटपीस कपड़ छन चूर्ण मिला दें और १ ग्राम की मात्रा में प्रातः प्रतिदिन खाकर ऊपर से महारास्नादि क्वाथ २० मि.लि. पिला दें। पक्षाघात, अर्दित एवं अन्य वात रोगों में आराम हो जाता है।

३—कृष्णधतूरे के पत्ता ३० ग्राम, सफेद कनेर की मूल के छाल ३० ग्राम, सफेद चिरमिटी ३० ग्राम इसे

सिल पर पीसकर लुगदी बनालें और इसी में २५० ग्राम तिल तैल देकर २ से ३ घन्टे तक खरल करें। पश्चात् कढ़ाही में डाल अग्नि पर मन्दाग्नि से पकायें। जब दवा जल जाय तब उतार कर छान लें। इस तैल के मर्दन से अर्दित, पक्षाघात, एकांग घात इत्यादि आरोग्य होजाता है।

४—उड़द (माष), कौंच की जड़, एरण्ड मूल, खिरैंटी की जड़ में सभी को कुचल कर २५ ग्राम की मात्रा में ४००मि.लि. पानी में काढ़ा बनायें। जब चौथाई जल शेष रहे तब छानकर इसमें थोड़ी हींग और सेंधा नमक मिलाकर ६०० ग्राम की मात्रा में रोगी को दिन में दो बार पिलायें। इसे माषादि क्वाथ कहते हैं, नियमित सेवन से पक्षाघात नष्ट हो जाता है।

५—विरेचनार्थ—महारास्नादि क्वाथ में २० से ३० मि० लि० एरण्ड तैल मिलाकर देने से कोष्ठ की शुद्धि होने के साथ-साथ कुपित वायु शान्त हो जाते हैं। प्रतिदिन प्रातः देना चाहिए।

६—माष तैल की शृङ्खला में कई प्रकार के माष तैल हैं जिनमें महामाष तैल, महाविषमाष तैल, निरामिस महामाष तैल, माष तैल इत्यादि जो कई आयुर्वेदिक फार्मेसियों द्वारा बने बनाये उपलब्ध हो जाते हैं। इनका प्रयोग अभ्यंग (मालिस), पीने के लिए, नस्य, वस्ति द्वारा प्रयोग किया जाता है। इस तैल के नियमित उपयोग से पक्षाघात, अर्दित, बाल पक्षाघात, पोलियो, अर्दित से उत्पन्न कर्णशूल बहरापन, हस्त एवं अङ्गशोष शिरकम्प तथा अन्य सभी प्रकार के वात व्याधियों में सफलता पूर्वक लाभ मिलता है। शास्त्रीय बहु परिक्षित योगों में यह प्रसिद्ध तैल है।

पाने वस्तौ तथाभ्यंगे नस्ये कर्णाक्षि पूरणे ॥ —भै. र.

७—प्रसारणी तैल की शृंखला में भी कई प्रकार के प्रसारणी तैलों का वर्णन आयुर्वेदीय संहिताओं में है। एकदंशि शतिक प्रसारणी तैल, पुष्प राज प्रसारणी तैल, प्रसारणी तैल इत्यादि इसके प्रयोग नस्य, अभ्यंग (मर्दन) वस्ति पीने आदि के द्वारा किया जाता है।

८—नारायन तैल—इस तैल की शृङ्खला में भी कई प्रकार के तैल हैं जिनमें महानारायन तैल, मध्यम नारायन तैल, नारायन तैल इत्यादि हैं। परन्तु शार्ङ्गधर संहिता में उल्लिखित नारायन-तैल का प्रयोग महामाषादि तैल बराबर भाग मिश्रित कर, मैंने अपने चिकित्सा काल में अनेकों बार किया है और अच्छी सफलता प्राप्त की है। इस तैल का व्यवहार नस्य, पान, अभ्यंग (लगाने) वस्ति आदि के द्वारा किया जाता है।

अभ्यं स्वेदनं वस्तिर्नस्यस्नेह विरेचनम्।
स्निग्धाम्ल लवणं स्वादु वृष्यवातामयापहम् ॥ यो.र.

तैल मर्दन, स्वेदन, वस्ति, नस्य, स्नेह, विरेचन चिकित्सकगण विचार कर प्रयोग करें और अम्ल, लवण युक्त पदार्थ, स्निग्ध मधुर, वृष्य (बलकारक) एवं वात नाशक पदार्थों का प्रयोग आवश्यकतानुसार जो जहां उपयुक्त हो वहां पर करना चाहिए। पीने के लिये १२ से १५ ग्राम तक महामाषादि तैल अथवा अन्य उपयोगी तैल प्रतिदिन देना चाहिये। वस्ति के लिये १५ से २० ग्रा. तैल बूंद बूंद करके (Drip method) गुदामार्ग में वस्ति द्वारा देना चाहिये। साथ ही प्रभावित अङ्गों पर दिन रात में उपर्वणित तैलों की मालिस दो तीन बार तक धीरे-धीरे करना अति आवश्यक है और मर्दन करने के पश्चात् हल्के सेंक भी कर देना चाहिए।

६—स्वानुभूत तैल—शुद्ध सरसों तैल २ किलो, एरण्ड तैल २५० ग्राम अर्क दुग्ध (अकवन) १ किलो।

क्वाथद्रव्य—धतूरबीज, रास्ना, खिरैंटी, पियाबांसा, एरण्ड मूल की छाल, छोटी कटेरीमूल एवं फल, नागरमोथा, जवासा, पुनर्नवा, कलिहारीमूल, अपामार्गमूल, चित्रक, असगंध, सतावर प्रत्येक ५० ग्राम सभी को जवकुट कर चौगुने जल में क्वाथ बनायें। चौथाई रहने पर छानकर रख लें।

कल्क द्रव्य—तेलिया विष, कुचला, अतिविषा, लालजड़ (लालपत्ती) देवदारु, सेन्धानमक, जायफल, कायफल, गुन्जा, वनप्याज़, अजवायन, रक्त चन्दन, लहशुन, तम्बाकू, दारुहल्दी, कचूर, कालीमिर्च, तज, गन्धाविरोजा, मुसबर नीला थोथा, रस कपूर, संखिया, अफीम, मैनसिल, जावित्री लौंग, स्याह जीरा, दालचीनी प्रत्येक २५ ग्राम, कपूर १०० ग्राम, इनमें गन्धाविरोजा, मुसबर, तथा कपूर, लाल जड़ी, संखिया, रस कपूर, मैनशिल छोड़ कर सभी का कल्क बनालें।

निर्माण विधि—धतूर बीज कल्क में दें क्वाथ में नहीं एवं धतूर स्वरस २५० ग्राम, अकवन दुग्ध, एरण्ड तैल सरसों तैल मूर्च्छित, तथा क्वाथ और कल्क द्रव्य लालजड़ी छोड़ कर सभी एक साथ डालकर तैल पाक करें। जब जलीय अंश जल जाय और तैल मात्र रहजाय तब लाल-जड़ी डालकर १० मिनट के बाद उतार कर तैल छान लें और छाने हुए तैल में कपूर चूर्ण मिला सीसी में बन्द कर रखलें।

रोगनिर्देश—इसके नियमित आधा घण्ट तक दिन में दो से तीन बार तक धीरे-धीरे मालिस करके सेक दें। इससे पक्षाघात, दर्द, अर्दित, अङ्ग घात, कटिशूल, बाल पक्षाघात, पोलियो कर्णशूल, धनुर्वात, हृदयशूल, चोट-मोच इत्यादि में रामबाण है। यह तैल केवल बाहरी प्रयोग के लिए ही है। लगाने के बाद मिट्टी अथवा साबुन से अच्छी तरह हाथ धोलें क्योंकि यह घातक विषों के द्वारा तैयार होता है।

१०—वृ० छागलादि घृत (चि० चन्द्रोदय)—१० से ३० ग्राम तक अवस्थानुसार दिन में दो बार।

रोग निर्देश—समस्त वात रोग, अर्दित, पक्षाघात, एकांगवात, कर्ण-शूल, बहरापन गूँगापन, बोली लड़खड़ाना, तुतलाना, पागलपन, खंजवात, कुब्जापन, अपतानक, अपतंत्रक, गर्भस्राव, बांझपन इत्यादि में अति उपयोगी है।

११—विषमुष्टियादि वटी (सि.यो.सं.) १२५ मि.-ग्राम पान स्वरस के साथ दिन में दो बार।

१२—सुवर्ण समीरपन्नग रस—१२५ मि. ग्राम से २५० मि० ग्राम सहस्र पुटी लौह भस्म ५० मि. ग्रा. आदि स्वरस और मधु से दो बार प्रातः सायं प्रयोग करें।

१३—एकांगवीर रस (वृ. नि. र.) २५० मि. ग्राम, वृ. वात चिन्तामणि १२५ मि.ग्रा., कांत लौह भस्म २५० मि.ग्रा. लहशुन स्वरस अथवा अदरख स्वरस एवं मधु के साथ चाटकर ऊपर से महारास्नादि अर्क ३० मि. लि. पिलायें। इसके सेवन से पक्षाघात, पोलियो, मस्तिष्क की ज्ञान वाहिनी नाड़ियों के दोष से उत्पन्न होने वाली बीमारियाँ आदि शीघ्र दूर होती हैं।

१५—रसराज रस (भै. र.) २५० मि०ग्रा०, त्रैलोक्यचिन्तामणि रस १२५ मि०ग्रा०, समीर पन्नग रस १२५ मि०ग्रा०, सम्भालू स्वरस और मधु से खाकर ऊपर से रास्नादि क्वाथ पिलायें। दिन में दो बार तक इसके सेवन से पक्षाघात, पोलियो, अङ्गों का अकड़ना, स्नायुविक दुर्बलता दूर करता तथा अग्नि कीवृद्धि कर सप्त धातुओं का पोषण करता है। अर्दित कान में आवाज होना तथा चक्कर आना इत्यादि में अति उपयोगी औषधि है।

१५—अश्वगंधारिष्ट २५० मि० लि०, दशमूलारिष्ट २५० मि०लि०, बलारिष्ट २५० मि० लि० तीनों को एक साथ मिलालें और १५ से ३० मि०लि० तक बराबर जल मिलाकर पिलायें। परन्तु इसका प्रयोग जभी करें जब रोगी खाने पीने लायक हो और कुछ न कुछ अन्न का भाग खाता हो। इसके प्रयोग से अग्नि प्रदीप्त होती एवं धमनियों में रक्त का संचार ठीक ढंग से होता और स्नायुविक दुर्बलतायें ठीक होती हैं।

१६—महायोगराज गुग्गुल २५० मि० ग्रा०, मल्लसिन्दूर १२५ मि० ग्रा, वृहत् वात गजांकुश रस २५० मि० ग्रा० इसे मधु अथवा निर्गुण्डी स्वरस के साथ दो से तीन बार तक देना चाहिए।

१७—अग्नितुण्डी वटी २५० मि. ग्रा. रसराज रस ५० मि.ग्रा., वृ. वातचिन्तामणि रस ५० मि.ग्रा., वृ. वात गजांकुशरस १२५ मि. ग्रा. सभी मिलाकर एक मात्रा, प्रातः सायं १-१ मात्रा मिलाकर ऊपर से महारास्नादि क्वाथ २० मि.लि. पिला दें। सम्पूर्ण वात व्याधि, पक्षाघात अर्दित, कटिशूल आदि में विशेष लाभदायक है।

१८—वैक्रान्त भस्म १२५ मि.ग्रा. त्रिवंगभस्म १२५ मि.ग्रा. को लहसुन स्वरस अथवा अदरख स्वरस में दो से तीन बार तक दें और ऊपर से महारास्नादि क्वाथ अथवा अर्क १५ से २० मि. लि. तक दें।

१६—आधुनिक चिकित्सा के (Vit. B1, Vit. B 6, Vit. B.12 के मिश्रित इंजेक्शन) निरोवियोन ट्रेडिसोल स्टेन प्लेक्स, निरोक्सिन फोर्ट, मैक्राबेरिन फोर्ट, निरोबल एच इत्यादि विभिन्न कम्पनियों द्वारा बने उपलब्ध हैं। वर्तमान में इन औषधियों का प्रयोग बड़ा ही महत्व का है। इससे नाड़ीशूल, घातक रक्ताल्पता, बहु वात नाड़ीशूल, सुषुम्ना के अपजनन के रोग, अर्धावभेदक,

—शेषांश पृष्ठ २०८ पर देखें।

★ डा० बी० एन० गिरि ए.एम.बी.एस. ★

पं० श्री नन्दकिशोर शर्मा वैद्य रत्न पो० आगर (मालवा) वाया उज्जैन (म० प्र०)

तन्त्र मन्त्र जन्त्र विशेषज्ञ पं. श्री नन्दकिशोर जी शर्मा दैवव्यपाश्रय चिकित्सा के पक्षपाती हैं। आप यज्ञ द्वारा रोगों का उपचार करने का निर्देश करते हैं। पक्षाघात जैसे प्रमुख वातरोग की औषधीय चिकित्सा के अतिरिक्त दैवी चिकित्सा का अनुभवपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया है। वातरोगों में हवन द्रव्यों का भी उल्लेख कर लेख को तदनुरूप बनाने का प्रयास किया गया है। आपने धन्वन्तरि के यज्ञ चिकित्साङ्क का भी सफल सम्पादन किया है। आप युग निर्माण योजना के कर्मठ सदस्य हैं।

—वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिष०

वैद्यक मतानुसार यह रोग वात व्याधि के अन्तर्गत वातज रोग है। इसकी डाक्टरी में हीमोप्लेजिया तथा हिकमत में फालिज के नाम से संबोधित किया है। जिसके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) जब कुपित वायु शरीर के अर्धभाग में फैल जाती है, तथा उस हिस्से के स्नायु एवं शिरा सुकड़ जाते हैं अथवा ढीले हो जाते हैं। इस स्थिति में मनुष्य का अर्ध भाग बेकार हो जाता है स्पर्श ज्ञान नहीं रहता। यह रोग किसी को दाहिने हिस्से में, किसी को बांये भाग में, किसी को कमर के ऊपर किसी को कमर के नीचे होता है। मनुष्य का आधा शरीर बेकार हो जाता है। जब रक्त परिस्राव रोग का कारण हो तो प्रातः काल उठते ही यकायक एक तरफ सर में दर्द होता है जिसके साथ ही कुछ विक्षिप्तता सी होजाती है तथा नमन होकर पक्षाघात हो जाता है। आवाज बंद हो जाती है, चेहरा टेढ़ा और रोगग्रस्त मुंह की तरफ का होठ लटका हुआ हो जाता है। आंखों में कोई हानि नहीं होती। यदि रोग का प्रबल आक्रमण हो तो आंखें भी चपेट में आजाती हैं, परन्तु आंख, गर्दन, पीठ, छाती और पेट की ज्ञान शक्ति, गमन शक्ति और परिचालन शक्ति के केंद्र एक ही स्थान पर हैं अतः जब तक समस्त केन्द्र दूषित न हो जाय तब तक उक्त स्थानों में रोग नहीं होता। जिस भाग में अकस्मात यह रोग होता है उसकी स्पर्श ज्ञान शक्ति और एच्छिक स्थान परिवर्त्तन शक्ति नष्ट हो जाती है। आग तथा सुई से भान नहीं होता है। कई बार यह रोग अतिसार या ज्वर के साथ अपने आप चला जाता है।

चिकित्सा—

१—लालमिर्च १ किलो, प्याज (कांदा) ५०० ग्राम, लहसुन ५०० ग्राम, अदरक २५० ग्राम, अर्क दुग्ध २५० ग्राम, कुचला का चूर्ण ७५ ग्राम, अफीम १० ग्राम उक्त वस्तुओं को एकत्रित कर रखें। अर्क दुग्ध के अतिरिक्त सबको जौकुट कर जल में दो दिन तक। औटावें फिर

५ किलो तिली के तेल में डाल तैल विधि से सिद्ध करें। इस तैल की मालिस करने से सब प्रकार के वात रोगों में अपूर्व लाभ होता है।

(२) कुचला ५० ग्रा., मीठा तेलिया १० ग्रा., अकरकरा १० ग्रा., अफीम १० ग्रा., संखिया १० ग्रा., धतूरा बीज १० ग्रा., माल कांगनी ५० ग्रा., जावित्री १० ग्रा., सफेद कनेर की छाल १० ग्रा., त्रिकुटा ३० ग्रा., अजमोद १० ग्रा., मीठा तैल ७५० ग्रा.। तैल विधी से सिद्ध कर लेवें। इसकी मालिश से सम्पूर्ण वायु रोग, गठिया, फालिज, लकवा, हाथ पैर की सूजन, पसली का दर्द, टांगों का चींसना, किसी स्थान से वदनका सुन्न होजाना, घुटनों का दर्द, हाथ पैर सीधे न होते हों तो आराम होता है।

(३) मालवा क्षेत्र में गेहूँ तथा चनों के खेतों में एक बूटी होती है इसे प्रचलित भाषा में तितली बूटी कहते हैं। क्षुप १ वालिश्त या इससे कुछ बड़ा होता है पत्ती मुलायम चिकनी तथा लम्बी होती है। माघ मास में छोटे-२ गोल दाने लगते हैं। अत्यन्त कड़वी पत्ती होने के कारण इसे मवेशी नहीं खाते, भेड़ बकरियां चरती हैं। यह पत्ती १० ग्राम, काली मिर्च ११ दाना पानी से पीसकर भांग की तरह दोनों समय खाया करें। पथ्य—गेहूँ की रोटी मूली आदि पत्तों का साग। अपथ्य—मीठा, मिर्ची आदि न खावें। २१ दिन में आरोग्यता प्राप्त होती है। स्थाई लाभार्थ ४० दिन सेवन करना चाहिये। वायु विकार, पांडु, शोथ, यकृतदोष, आमवात।

दैवी चिकित्सा विधि—

कुशापामार्जन स्तोत्र के पाठ द्वारा पक्षाघात के रोगी पर मार्जन करना चाहिये। इसके लिये विशेष द्रष्टव्य है कल्याण गोरखपुर 'अग्नि पुराण अङ्क' पृष्ठ ५५ पर पूर्ण विधान है। इसके लिये 'कल्याण दिसम्बर ८१ में पृष्ठ ६५५ पर श्रीयुत जगदीश चन्द्र जी आर्य विद्या रत्न एवं विशारद लिखते हैं— सन् ७७ की बात है सर्वाङ्ग पक्षाघात की कष्टदायक व्याधि से, मेरे पूज्य पिता जी बुरी तरह से पीड़ित थे। हाथ पैर जकड़ गये थे और मुंह भी एक तरफ को लटक गया था। इस भीषण रोग से उनकी चेतना भी सुप्त हो गई थी, नाड़ी क्षीण हो चुकी थी। फलतः मैंने कल्याण का अग्निपुराण अङ्क उठाया और ५५ वें पृष्ठ के कुशापामार्जन स्तोत्र पाठ द्वारा पूज्य पिता जी का मार्जन किया। मैंने अपने पुत्र से भी धूपवत्ती जला कर रामायण की निम्न चौपाई सात बार पिताजी की परिक्रमा करते हुए पाठ करने को कहा—

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज नहीं काहुहि व्यापा॥

कुछ क्षणों के पश्चात् मेरे पिता जी ने जकड़े हुये अपने हाथ पैर को एकदम सीधे कर दिये, उनकी जकड़न समाप्त होगई। इतने शिथिल हो गये कि वे जिधर चाहें उधर लटकने लगें। उनकी गर्दन भी लटकने लग गई थी और उनका रुका हुआ बन्द मुंह भी स्वतः खुल गया था। सभी ने सोचा कि प्राणांत हो चुका है, परन्तु उनके पेट तथा हृदय स्थल पर पर्याप्त गर्मी थी। मैंने तत्काल कुशा को गंगाजल भरे पात्र में डाला और तीन बार गायत्री मन्त्र पढ़कर छोटे चम्मच से वह अभिमन्त्रित गंगाजल मुंह में डाला तो उन्होंने तुरन्त आंखें खोल दीं और कहा कि मुझे संभालकर बैठाओ। वे कहने लगे कि मैं अब कहां आ गया हूँ ? सभी ने एक ही प्रश्न किया कि अब आपका स्वास्थ्य कैसा है। उन्होंने बताया कि मैं अब ठीक हूँ। सभी लोग प्रसन्नचित्त हो गये और सबने भगवान को बहुत बहुत धन्यवाद दिया। वे अब पूर्ण स्वस्थ हैं और सामान्य काम भी करते हैं।

कुशापामार्जन का प्रयोग रोगी के लिये महौषधि है जो विश्वास एवं श्रद्धा से सद्यः फलदायक होती है।

वात रोगों पर हवन द्रव्य प्रयोग—

रास्ना एरण्ड मूल, बासा (अडूसा) पियावांसा, देवदारु, शतावरी, सोंठ, समस्त औषधियों को समभाग लेकर कूट लेवें। सबके बराबर गूगल और उससे आधी शक्कर मिला कर एरण्ड तैल डालें और ढाक की लकड़ियों से हवन करें। इसका धूम मुख, नाक द्वारा और प्रभावित स्थान पर ग्रहण करना चाहिये। इससे आमवात, जांघ, घुटने, पीठ और कुक्षिगत वात की वेदना भी शांत होती है। (यज्ञ से रोग निवारण)

विशेष—पूर्ण विधान देखिये हमारे द्वारा सम्पादित यज्ञ चिकित्सांक धन्वन्तरि अलीगढ़ जून १९७५ में। ★

★ श्री पं. नन्दकिशोर शर्मा वैद्य रत्न ★

❀ पक्षाघात

डा० भगवान सिंह राजपूत, अस्पताल सारंगपुर
पो० प्रतापपुर वाया नवागढ़ (दुर्ग) म०प्र०
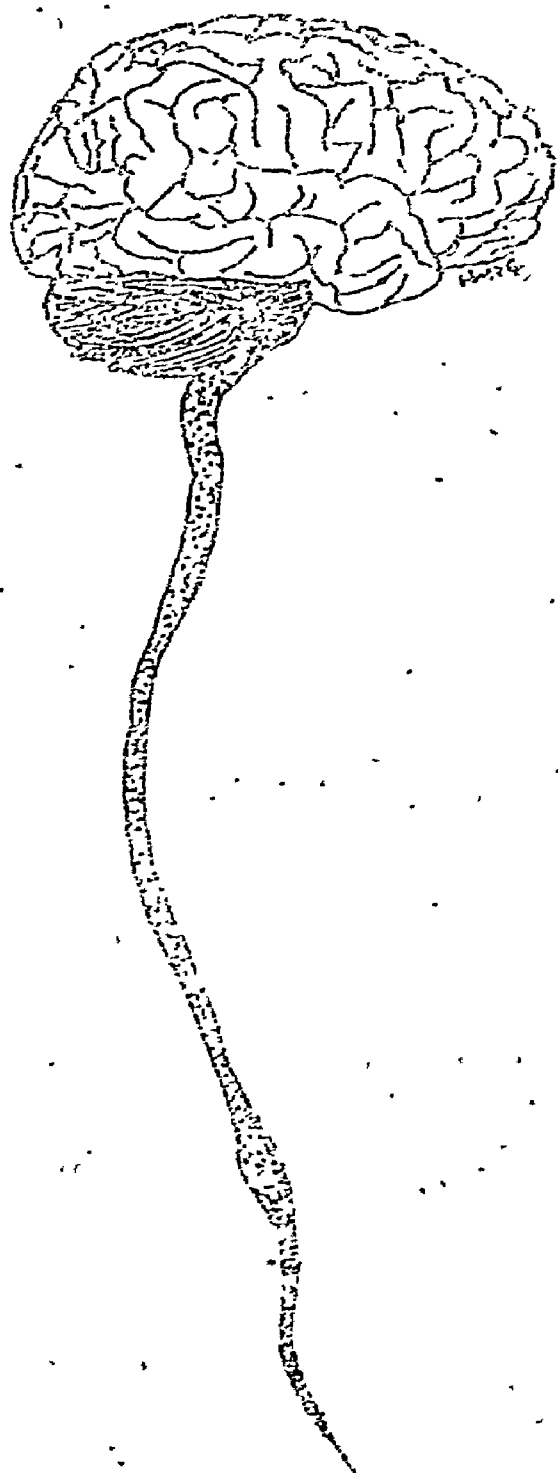
अकर्मण्यचेतनम्...। किसी अंग स्नायु की कार्य शक्ति या चालना शक्ति इसमें नष्ट हो जाती है। सम्पूर्ण शरीर अथवा शरीर के भाग या किसी विशेष अंग पर इस रोग का आक्रमण होता है।

कारण—

आधुनिक चिकित्सा पद्धति में इस रोग का कारण एक जीवाणु से उत्पत्ति मानते हैं जो कि भोजन, पानी, दूध, आइस्क्रीम, सड़े-गले पदार्थ के खाने से हो जाया करता है। होम्योपैथी साइकोसिस दोष के कारण इस रोग की उत्पत्ति मानते हैं। आयुर्वेद इस रोग को वातादि दोषों के कुपित होने से मानता है। मिथ्या आहार-विहार, रूक्ष, लघु द्रव्यों का अधिक सेवन करने, बहुमैथुन करने से, शुक्र का क्षय हो जाने से, अप्राकृतिक मैथुन करने से, मल-मूत्र के वेग को रोकने से, वर्षा में भीगने से, अधिक ठण्डे जल में देर तक स्नान करने से, पारा शीशा का सेवन करने से, रक्त-विकार—अधिक रक्तचाप, अति निम्न रक्तचाप हो जाने से और शरीर से अधिक रक्त निकल जाने से, तीव्र प्रकार का रोग, मेरुरज्जू पर आघात लगने से, तीव्र माइलाइटिस, ग्रीवा कसेरुक का शोथ (Cervical spondulitis) सुषुम्ना की धमनियों का सिफिलिस होने से अन्य विकृतियां, दुर्दम अर्बुदों (neoplasms) कैंसर तथा सुषुम्ना पर दबाव एवं Cauda efuina and Pons) की विकृति से होता है। स्नायु मण्डल को शून्य एवं संज्ञाहीन करने वाली आधुनिक औषधियां, एण्टीबायोटिक दवाओं के प्रभाव से होता है। युग्म स्नायु मण्डल के विकृत होने से एवं आमदोष की शरीर में वृद्धि होने से, धातु का अत्यधिक क्षति होने से, क्रोध, भय, डरने से, चिन्ता से, अधिक मानसिक परिश्रम करने से, एलर्जि अधिक समाप्त होने के कारण, मानसिक आघात लगने से बहुधा पक्षाघात की उत्पत्ति हो जाया करती है। स्नायु के वातज रोग के कारण मल और मूत्र में गड़बड़ी होने से यह रोग होता है। रक्तवाहिनियां फटकर अधिक रक्तस्राव हो जाने से एवं अपान वायु की विकृति के कारण पक्षहत में मूत्रवह स्रोत में विबन्ध के कारण भी यह रोग होता है।

आधुनिक चिकित्सा के अनुसार भेद—

इस रोग को दो भागों में विभाजित किया गया है—

१. सर्वांगिक २. स्थानिक।

१. सर्वांगिक या जनरल—इसके भी निम्न प्रकार व भेद हैं—

[अ] पैराप्लाजिया—तीव्र प्रकार की पेशियां शिथिल हो जाती हैं तथा संवेदना **एवं** कार्यशक्ति लुप्त हो जाती है। मूत्राशय-मलद्वार पर रोग का आक्रमण होता है जिससे पेशाब, पाखाने में तकलीफ होती है। यदि कारण

ग्रीवा भाग में हो तो चारों हाथ-पैर समान रूप से प्रभावित हो सकते हैं। रोग का आक्रमण तीव्र होने पर श्वसन का अवसाद हो सकता है। अगर साधारण आक्रमण रहा तो पेशियों की शक्ति एकदम नष्ट नहीं होती और काफी दिनों पर सूखती हैं। यहां तक कि उन्हें स्वयं नहीं फैला सकता। घुटने और टखने के प्रतिवर्त लुप्त हो जाते हैं। रोगी पैर घसीट कर चलता है। प्रायः कब्ज रहता है लेकिन वेग आने पर रोगी रोक नहीं पाता। कठिन प्रकार में वायु विकार के साथ रोगी संज्ञाहीन हो जाता है जिससे मृत्यु भी हो जाती है। इसमें मूत्राशय पर रोग का आक्रमण बहुत बाद में होता है।

[ब] माइलाइटिस (Myelitis)—इसे मेरु मज्जा प्रदाह भी कहते है। उपदंश वाले रोगी जो बहुत शुक्रक्षय कर चुके होते हैं उन्हीं को यह रोग अधिकांशतः होते देखा गया है। इसमें भी धीमी गति से लक्षण प्रकट होते हैं जिसे क्रीपिंग पाल्सी कहते हैं।

[स] हैमीप्लाजिया—शरीर के आधे भाग (बांये या दाहिने) की पेशियों की कार्यशक्ति समाप्त हो जाती है। एक ओर के समूचे अवयव मुँह, हाथ-पैर अवश हो जाते हैं। मुँह का आधा भाग टेढ़ा हो जाता है। प्रायः स्मरण शक्ति का भी ह्रास हो जाता है। जिस ओर की पेशियां प्रभावित होती हैं उस ओर के उदर के प्रतिवर्त्त लुप्त हो जाते हैं तथा पादतल का प्रतिवर्त्त प्रसारक हो जाता है। शरीर के प्रभावित भाग की सुन्नता, आंख के आधे भाग में दिखाई न देना (Hemiaropia) तथा बच्चों में अनैच्छिक गतियां होती है। स्वाभाविक ताप में भी पसीना आ जाता है। शरीर के आक्रान्त स्थान को छूने से स्पंदन या आक्षेप पैदा होती है। यह अधिक भयानक प्रकार है, चलते समय प्रभावित अंग मुड़ता नहीं और पंजों को भूमि से रगड़ता हुआ आगे खिंचता जाता है। बोलते या हँसते समय चेहरे के प्रभावित भाग में दुर्बलता दिखाई देती है, आंखों से आंसू निकलता है तथा आंख की पलक झपकने से असमर्थ रहता है। भोजन के समय चबाया हुआ पदार्थ मुँह में एक ओर एकत्र हो जाता है एवं उस ओर से कुछ बाहर भी निकल आता है।

[द] बच्चों का पक्षाघात—यह भी मेरु मज्जा की बीमारी है। इसमें मेरु मज्जा या शिखर प्रान्त निष्क्रिय होता है।

२.—स्थानिक या लोकल—

[अ] चेहरे का पक्षाघात—

[ब] उंगलियों का पक्षाघात (Writer's paralysis)—पहिले दाहिने हाथ का अंगूठा एवं तर्जनी उंगलियां प्रभावित होती हैं। इस रोग के आक्रमण के बाद किसी वस्तु को पकड़ कर उठाने पर उंगलियों एवं हाथों में कंप होता है। इसे राइटर्स क्रैम्प भी कहते हैं।

[स] संकपवात पक्षाघात (Paralysis Agitans)—यह मस्तिष्क के व्यपजनन (Digeneraton) से उत्पन्न होने वाला रोग है। यह रोग धीरे-धीरे प्रारम्भ होता है। रोगी कांपता हुआ सा चलता है, शरीर में कंप होता है। हाथ की उंगलियां इस तरह हिलाता है मानो गोली बना रहा हो, आंख बन्द करने पर पलकें कांपती हैं, रोगी के चलने का ढंग विशेष प्रकार का होता है। उसे अगर घूमना हो तो पूरा शरीर एक साथ घुमाता है। जल्दी घूम नहीं सकता, उसकी सभी ऐच्छिक क्रियायें मन्द हो जाती हैं, बिस्तर पर करवट बदलना कठिन हो जाता है। गर्मी का अनुभव, पसीना आना, कोष्ठबद्धता, पेट का फूलना, बेचैनी होना, मानसिक अवसाद और अन्तिम अवस्था में तन्द्रा आदि होते हैं। कंपन प्रधान लक्षण है। हाथ-पैर अनवरत कंपन से ग्रस्त रहते हैं।

अन्य पक्षाघात—क्षयकारी पक्षाघात (Wasting paralysis)—यह पेशियों का पक्षाघात है जिसमें केवल मांसपेशियां सूखती जाती हैं। डिप्थेरिक पक्षाघात, हिस्टीरिकल पक्षाघात, रिह्यूमैटिक पक्षाघात—वात या गठिया के रोगियों के हाथ-पैरों में यह लकवा होता है।

उपद्रव—

प्रायः देखा गया है कि पक्षाघात में मूर्च्छा, आक्षेप, ऐंठन, कम्पन एवं दर्द, नाड़ी मन्द अनियमित, रुग्ण की संज्ञा एवं गति समाप्त हो जाती है। उदान वायु की विकृति से विस्मृति, अपान वायु की विकृति से बिस्तर में मल-मूत्र, मूत्रवह में अवरोध, दाह, गर्मी, चक्कर, वाचा-

घात, सुन्नता एवं चुनचुनाहट, पेशियों में तनाव, कड़ापन, पेशियों में संकोच आदि पक्षाघात में उपद्रव होते रहते हैं।

पक्षाघात में आयुर्वेद चिकित्सा—

वात व्याधियों में—समीर पन्नग रस १-१ रत्ती भोजनोत्तर दो बार अनुपान-मधु या रास्नादि क्वाथ से।

महाविध्वंसन रस (रस चण्डांशु) १-१ गोली अदरख स्वरस के साथ सुबह-शाम एकांगवीर रस वात कफ प्रधान व्यक्ति को।

पित्तज व्याधि में—सूतशेखर रस, प्रवाल पिष्टी १-१ गोली ३ बार शहद से।

कफज व्याधि में—महावात विध्वंस रस ४ रत्ती, समीर पन्नग रस १ रत्ती, बृ० वात चिन्तामणि रस ३ बार मधु या अद्रक स्वरस में। जटामांसी, केशर, पीपल, सोंठ, काली मिर्च, अजवायन, कायफल, अकरकरा प्रत्येक समभाग लेकर कूट कपड़छन करके अद्रक स्वरस की भावना देकर चने की मार्फिक गोली बनाकर सुबह शाम अद्रक स्वरस के साथ दें।

अन्य औषधि—त्रैलोक्य चिन्तामणि रस, रौप्य भस्म, रसराज रस। अनुपान-मधु से ३ बार। कपिकच्छु पाक, भल्लातकावलेह, माषमोदक, एरण्ड पाक इत्यादि।

पक्षाघात में बायोकैमिक चिकित्सा—

कैली. फास—मुख मण्डल का पक्षाघात, पेशियों पर नियन्त्रण क्षमता लोप स्पर्शानुभूति लुप्त, गतिशक्ति प्रदायक, स्नायु का पक्षाघात। स्वरयन्त्र पक्षाघात, पक्षाघात जनित स्वर लोप, शीर्णताजनित पक्षाघात, जैव शक्तिहीन तथा मल में सड़ने की दुर्गन्ध, किसी भी प्रकार की पक्षाघात में इसकी आवश्यकता होती है। यह मुख्य औषध है।

मैग. फो.—अक्षमता एवं श्रान्ति, उठना बैठना कठिन शीतल जल में रहने के कारण उपसर्ग सकंप पक्षाघात तथा स्पन्दन सिर का कांपना सभी मांसपेशी आक्रांत होने के कारण मांसपेशी पक्षाघात।

नैट्रम फास—घुटनों से अंगुलियों तक दुर्बलता, चलते समय पैरों की अक्षमता।

साइलीशिया—कशेरुक का मज्जा क्षयजनित पक्षाघात अंगों का कंपन दौर्बल्य पश्चात् मेरुदण्ड का क्रम वर्द्धमान काठिन्य।

पक्षाघात में होम्योपैथिक चिकित्सा—

सर्वांग पक्षाघात में—एकोन एल्यूमिना आर्जेन्टम नाइट्रिक आर्निका वैराइटा कार्ब काक्यूलस कोनियम नक्स कैनाबिस लाइकोपोडियम रसटाक्स।

अर्द्धांग पक्षाघात में—कास्टिकम लैथाइरस एनहेला।

निम्नांग का घात—मैगेनम।

स्थानिक घात में—कास्टिकम ग्रेफाइटिस काक्यूलस।

पेराप्लीजिया—एकोन एल्यूमिना आर्जेण्टम नाइ. कालोफाइलम कूप्रम प्लंबम।

हेमीप्लीजिया में—एल्यूमिनियम एनाकार्डियम चायना हायोसियामस एसिड फास स्ट्रामोनियम स्टैफिसिग्रिया स्टैनम।

इन्फेण्टिल—एकोन एथूजा कैल्केरिया नक्स प्लंबम सिकेलि सल्फर।

पैरालिसिस ऐजिटेन्स—जेलसियम फाइजस वैराइटा कार्ब मर्कसाल रस टाक्स एसिड पिक्रि।

लोलिनम—अंग कांपता है चलने में अशक्त घुटने से एड़ी तक बहुत दर्द हाथ-पैर का स्पन्दन लिखने या पढ़ने में हाथ कांपना।

इलैप्स—शरीर की दाहिनी तरफ पक्षाघात।

कालिच—जीभ कोई कार्यशीलता नहीं रहती मुँह हाँ किये रहता है लार गिरता है।

एस्ट्रेगेलस—पैर की पेशी की क्षमता घटने से ठीक से चल नहीं सकता।

प्लंबम—आक्रांत स्थान समेट फैला नहीं सकता। क्रमश. अंग पतला पड़ जाता है। कलाई का पक्षाघात एवं जीभ का पक्षाघात।

मेजेरियम—उंगलियों की नोंक का पक्षाघात, कोई वस्तु मुट्ठी में पकड़ नहीं सकना।

लैथाइरस—अर्धांग पक्षाघात अचानक हो जाता है। बैठे रहकर हाथ पैर फैला या समेट नहीं सकता किन्तु सोने पर फैला रहता है।

बाल पक्षाघात

डा. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, शास्त्री के. ३०/६ घासीटोला, वाराणसी ।

डा. श्री ब्रह्मानन्द जी त्रिपाठी 'ज्ञानोत्थानोपकरण सम्पत्सु नित्यं यत्नवता च' के प्रतीक हैं । आप आयुर्वेदाभिमानी बनकर आयुर्वेदोन्नयन में रत रहते हैं । रसिक वैद्य श्री लोलिम्बराज के लुप्त प्रायः साहित्य को प्रकाश में लाने का कार्य आपके द्वारा ही सम्पादित हुआ है । आधुनिक विज्ञानवेत्ता सुषुम्ना काण्ड के घूसर वस्तु के शोथ को पोलियो माइलाइटिस कहते हैं । आप 'हेतुस्थानविशेषाच्च (देहे स्थान विशेषाच्च) भवेद् रोग विशेषकृत्' का डिंडिमघोष कर प्रश्न करते हैं कि नामनिर्धारण तथा अवस्था विशेष में होने वाले इस रोग के बीज आयुर्वेद में विद्यमान हैं या नहीं ? प्रधानतया वायु की विषमयता ही शारीरिक एवं मानसिक दोष विकृतिकारक बनते हैं । पक्षाघात में भी मुख्यतया वातशामक औषधियाँ ही प्रयुक्त की जाती हैं । अष्टांग हृदय का यह सूत्र यहाँ पर भी स्मरण योग्य है—

वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वेदः संशोधनं मृदु ।

इस रोग पर आचार्य त्रिपाठी जी ने अच्छा प्रकाश डाला है ।

पाठक चिकित्सा विशेष से उदीयमान नागरिकों किंवा राष्ट्र के भावी कर्णधारों को स्वस्थ बनाने में समर्थ हो सकेंगे, एवं विध आशा-विश्वास के साथ ··· ··· ···

—विशेष सम्पादक

वात रोगों में पक्षाघात न्यायपालिका में पक्षपात समान प्रकार के रोग हैं । इनके कारण एक पक्ष का वध हो जाता है । सभी प्रकार के वात रोगों के निदान आदि चर्चा चिकित्सा प्रधान आयुर्वेदीय ग्रंथों में सुलभ है, लक्षण पोलियो से पीड़ित शिशुओं में देखे जाते हैं वे नवीन नहीं है । इसका संकेत चरक संहिता में इस प्रकार मिलता है—'हेतुस्थानविशेषाच्च (पाठ भेद—देहे स्थानविशेषाच्च) भवेद् रोगविशेषकृत्', चरक चि. अ. २८ । इसके अनुसार हम हेतु विशेष, देह विशेष (वाल्य, यौवन, वार्द्धक्य) तथा स्थानविशेष (मुख प्रदेश, दक्षिणभाग, वामभाग, हाथ पैर आदि) से रोगभेद का निर्णय कर सकते हैं । अब आप विचार कर सकते हैं कि नाम निर्धारण तथा अवस्था विशेष में होने वाले इस रोग का बीज आयुर्वेद में विद्यमान है या नहीं ? जहां तक चिकित्सा का प्रश्न है, वह वातनाशक एवं अस्थिधातु पोषक पदार्थों के प्रयोग से लाभ होता देखा गया है, गर्भावस्था में दौहृद की पूर्ति के न होने से भी सद्योजात शिशु में पोलियो के लक्षण देखे जाते हैं ।

आधुनिक दृष्टिकोण—इस रोग में एक विशेष वाइ- (Virus=विषाणु) द्वारा अग्रशृङ्गसेल्स (Anterior Horn Cells) मर जाते हैं, जिसके कारण लोवर प्रेरक तन्त्रिका कोशिका (Lower motor Neurone) प्रकार का पैरालसिस (Paralysis) हो जाता है । इस रोग के होने से पहले ये लक्षण बालकों में दिखलायी देते हैं—ज्वर गले में सूजन, सिर में वेदना, वमन या अतिसार या कब्जियत आदि, गर्मी के दिनों में या शरद ऋतु में इसका
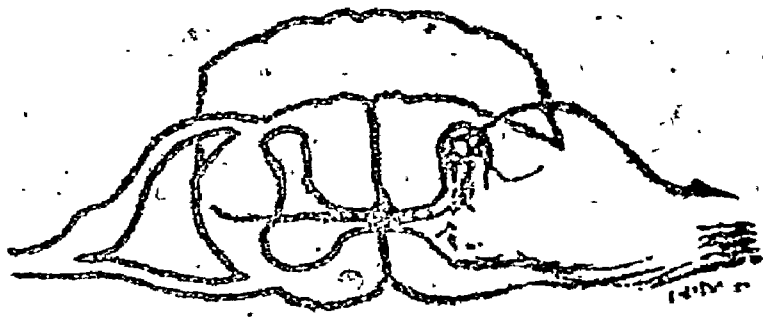
सुषुम्ना कांड क्षितिज काट में उसके अग्र शृङ्ग सेल्स तथा पश्चात् शृङ्ग सेल्स दिखाये गये हैं।

संक्रमण होता देखा जाता है और भी मुख गला आदि में घाव होजाने पर, टांसिल का आप्रेशन करते समय इसका संक्रमण होता है। इसकी वृद्धि नाड़ी सम्बन्धी सेलों में होती है, इसलिये जिन मांसपेशियों पर अधिक कार्य भार पड़ता हैं, उन्हीं में पक्षाघात होने की प्रायः आशंका होती है।

विकृति स्वरूप—सुपुम्ना काण्ड विशेषतः उसके कटि प्रदेशीय उभार में, कभी कभी उसके ग्रीवा प्रदेशीय उभार में शोथ दिखलायी देता है। तीव्र रोग की अवस्था में सेलों में भी उपर्युक्त विकृति देखी जाती है। इस रोग में पहले की अपेक्षा मस्तिष्क द्रव कुछ बढ़ जाता है। इस प्रकार का रोगी जब मर जाता है और मरने पर मांस की परीक्षा की जाती है तो उसमें लघुता तथा वसा वृद्धि की विकृति पायी जाती है।

सामान्य लक्षण—जव सुषुम्ना काण्ड में उक्त रोग संक्रमण होजाता है, उसके लगभग ८-१० दिन वाद इस रोग के लक्षण प्रकट होते हैं। साधारणतया इसके परिपाक का समय ४-५ दिन से लेकर ३० दिन तक माना जाता है। आस-पास के बच्चों को यदि यह रोग हुआ हो तो विशेष सावधानी वरतनी चाहिये। आजकल तो जन्म होते ही पोलियो की सुइयां लगने की व्यवस्था होगई है, यह भी एक सावधानी ही है। जव बालक अत्यन्त निर्बल हो उसको मलावरोध हो ऐसी स्थिति में यह रोग वालकों की भुजाओं में हो जाता है। इसके कारण वह हाथों को हिला डुला नहीं सकता। अन्य ऐसे लक्षण आक्षेप नामक रोग के कारण देखे जाते हैं। इस रोग के विषाणु शिशु के शरीर में नाक मुख गुदमार्ग आदि से प्रवेश कर जाते हैं। प्रारम्भ में ये विषाणु रक्त को दूषित करते हैं, तदनन्तर ज्ञान तन्तुओं को प्रभावित करते हैं। इसके वाद ही रोग के आक्रमण का पता चलता है। यह भी देखा गया है कि वालिकाओं की अपेक्षा बालकों पर इस रोग का प्रभाव अधिक होता है।

विशिष्ट लक्षण—जव पूर्णरूप से रोग का आक्रमण हो जाता है, तब सिर दर्द, गले में पीड़ा, हाथ-पैर, पीठ मांसपेशियों में वेदना, ज्वर, नाक से खून आना, टांगों या वांहों में पक्षाघात होना दिखलायी देता है। इसका विशेष आक्रमण हाथ-पैरों में होता है। कभी-कभी मुख में भी

स्वस्थ वालक

दक्षिण अर्दितग्रस्त वालक

वाम पाद पक्षाघात ग्रस्त वालक

★ वाल पक्षाघात ★
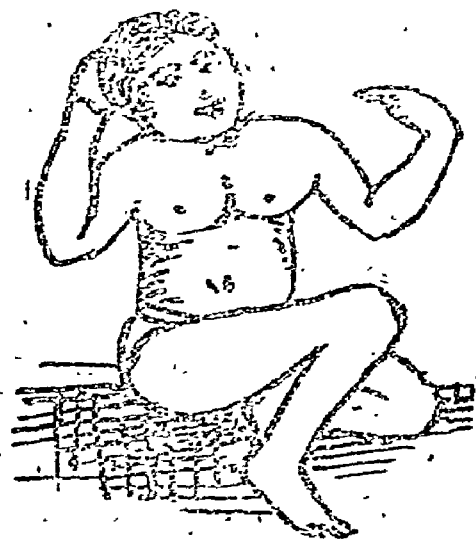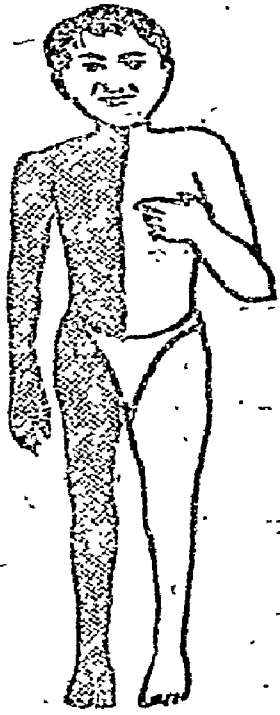
दक्षिण पक्षाघात ग्रस्त बालक
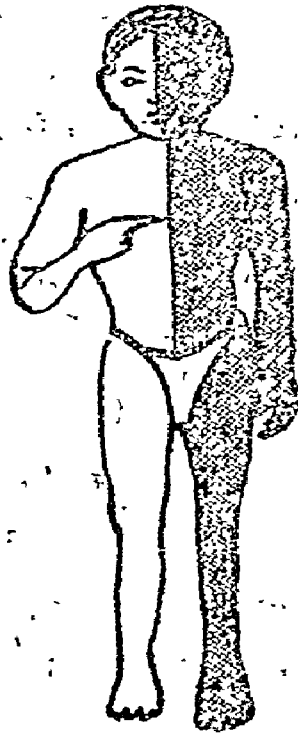
सार्दित वाम अर्द्धांग पक्षाघात

हो जाता है, इसको अर्दित कहते हैं। जिस अङ्ग में इसका प्रभाव होता है, वह अङ्ग संज्ञाहीन हो जाता है अतः चिकोटी काटने पर उसे कष्ट का अनुभव नहीं होता और उस अङ्ग से वह कोई कार्य नहीं कर सकता।

चिकित्सा क्रम—जैसाकि ऊपर कहा गया है कि इस रोग के जन्मदाता कतिपय विषाणु हैं। उनको मारने के लिये निम्नलिखित औषधि द्रव्यों का क्वाथ रूप में प्रयोग करें—चिरायता, नीम की पत्ती, फूल, छिलका, हल्दी और त्रिफला—इनको समान मात्रा में लेकर क्वाथ बनालें। इसको थोड़ा सा बालक को पिलादें शेष क्वाथ हाथ-पैर धोने, उसके उपयोग में लिये गये पात्र आदि को धोने के काम में लिया जा सकता है। मलावरोध को दूर करने के लिये रेंड़ी के तेल में शहद मिलाकर दें। शहद के कारण वह चाट लेगा।

जल व्यवस्था—पोलियो रोग से पीड़ित रोगी बालक को इस प्रकार का जल पीने के लिये दें—अनन्तमूल ६ माशा, नागरमोथा ६ माशा, बड़ी इलायची ३ माशा इन सबका चूर्ण कर खौलते हुये पावभर पानी में डालकर ढक दें और उतार लें। गुनगुना यह जल बार-बार थोड़ा-थोड़ा प्रयोग करायें।

तैलाभ्यङ्ग—वातविकार की शान्ति के लिये बाह्य प्रयोग के रूप में नारायण तैल, विषगर्भ तैल, लाक्षादितैल महामाष तैल आदि का प्रयोग परिस्थिति के अनुसार चिकित्सक के परामर्श से करें। भीतरी प्रयोग के लिये नारायण तैल को पिलाया भी जाता है। साथ ही वातहर क्वाथों का भी प्रयोग कराना चाहिये। दशमूल क्वाथ, रास्नादि या महारास्नादि क्वाथ, आयुर्वेदोक्त वात विकार हर घृतों का भी सेवन कराना चाहिए।

वस्तिकर्तिहरणम्—वातनाशक उपायों में वस्ति का प्रमुख स्थान है, अतः रोगी बालक को रेंड़ी के तेल, मधुमिश्रित तेल अथवा सनलाइट साबुन घोल कर या तेल तथा सोड़ा को पानी में मिलाकर इनमें से किसी एक की यथाविधि वस्ति दें। वास्तव में पहले रेंड़ी के तेल की वस्ति लेने के पश्चात् सनलाइट साबुन के घोल की वस्ति देनी चाहिये। इससे विकार शांति के साथ ही साथ सम्वन्धित अङ्गों की चिकनाई भी दूर हो जाती है।

ज्वर की स्थिति में—सञ्जीवनी वटी, वातगजांकुश रस, वृहद् वातचिन्तामणि रस आदि उत्तम योगों को, अदरख के रस में शहद मिलाकर सेवन करायें। हीरक भस्म, जहरमोहरा, कस्तूरी, केशर अम्बर आदि का प्रयोग श्रीमानों के लिये विशेष व्यवस्था द्वारा करें। मकरध्वज, पूर्ण चन्द्रोदय आदि का सेवन भी लाभकारक है।

मूर्च्छानाशक उपाय—यदि रोगी मूर्च्छा की स्थिति में हो तो लौंग, कपूर, पिपरमिन्ट को पानी में घिसकर आंखों में लगायें, तीक्ष्ण नस्यों का प्रयोग करायें, जैसे—सुरती का चूरा, चूना, नौसादर को मिलाकर उसमें पानी की बूंद डालकर, अमौनिया गैस आदि सुंघाना चाहिये। ध्यान रहे मूर्च्छा शान्त करने के बाद मस्तिष्क की शक्ति को बढ़ाने वाले सारस्वत घृत आदि का रोगी को सेवन करायें।

स्वेदन—चरक संहिता में तेरह प्रकार के स्वेदनों (पसीना लाने के उपायों) का वर्णन

किया गया है, उनका प्रयोग कराना चाहिये। यदि व्यवस्था न हो तो वालुका स्वेद करांना अत्यन्त सरल है। मोटी सी दो पोटली वालू की वनालें। इनको ढीली बांधें, तवा पर इनको गर्म करें। कष्टयुक्त स्थान पर सेंक करें। जव पहली पोटली ठण्डी हो जाय तो तवा पर रखी हुई दूसरी पोटली से सेंक करें। इसी प्रकार नमक की पोटली वनाकर भी सेंक किया जाता है।

द्रोणी अवगाहन—टव में पानी को गर्म करके डालें। उसमें रोगी को पूरा लिटा दें। जव तक पानी गर्म रहे तव तक उसमें पड़ा रहे, शीतल होने पर वाहर निकालकर शरीर को पौंछकर कपड़े पहन ले। ये सभी क्रियायें वन्द कमरे में होनी चाहिये। टव में जो पानी डालने का ऊपर निर्देश किया गया है, वह वातनाशक द्रव्यों को डालकर खौलाया हुआ होना चाहिये, सामान्य जल में अवगाहन करने से कोई लाभ नहीं होता है।

उपनाह स्वेद—वातनाशक औषध द्रव्यों का चूर्ण, गेहूं का आटा और घी इन द्रव्यों के योग से वनाया हुआ हलुआ को एक पत्थर के ऊपर फैलाकर उस पर रोगी को सुला दें, जव तक उसका सेंक लगता रहे, तव तक रोगी उसमें पड़ा रहे। फिर शरीर को पौंछकर यथा स्थान हो जाय। ये सभी स्वेदन के प्रकार हैं। इनको एक वार कर लेने मात्र से कार्य सिद्धि नहीं हो जाती अतः इनको वार-वार चिकित्सक के परामर्श से करते रहें।

वैंगन का हलुआ—गोल वैंगनी रंग का वैंगन लें (हरा-सफेद नहीं) इसे काट लें। थोड़ा सा देशी घी कढ़ाही में डालें, उसको खूव भूनकर दूसरे वर्तन से ढक दें। थोड़ी देर में वह पक जायगा। इसमें अन्दाज से काला नमक पीसकर मिला दें। ठण्डा होने पर शहद मिलाकर रोगी को खाने को दें। यह वातनाशक होता है।

एलोपैथिक चिकित्सा—विषाणुओं को मेरुदण्ड और मस्तिष्क के ज्ञान तन्तुओं तक पहुँचने से पहले ही रोकना आवश्यक है। यह इसकी प्राथमिक चिकित्सा है। इस सावधानी में वहुत कम लोग सफल हो पाते हैं।

आजकल पोलियो न्यूराइटिस रोग को रोकने की क्षमता वाले योगों से शीघ्र सफलता प्राप्त की जा रही है। इसके साथ ही साथ मनुष्य के रक्त से निर्मित सामान्य शक्ति वाली वैक्सीन के प्रयुक्त करने से पोलियो पीड़ित वालकों को विकलांग होने से रोका जा सकता है।

पथ्यापथ्य—

रसाः पयांसि भोज्यानि स्वाद्वम्ललवणानि च।
वृंहणं यच्च तत्सर्वं प्रशस्तं वातरोगिणाम्॥

शान्त, वातरहित तथा कम प्रकाश वाले कमरे में रुग्ण रक्खा जाना चाहिये। सुखद आसन शयन, गर्म कमरा-ऊनी वस्त्र तथा पूर्ण ब्रह्मचर्य—ये सव पथ्य विहार हैं। इसके अतिरिक्त सव अपथ्य हैं।

पृष्ठ १९९ का शेषांश

मिथ्या शूल, त्रिधारा नाड़ीशूल, गृध्रसी आदि में आश्चर्य जनक इंजेक्शन हैं। ३ मि. लि. प्रतिदिन अथवा एक दिन छोड़कर मांसान्तर्गत अथवा शिरान्तर्गत विधिसे दें।

पथ्य—तैल अभ्यंग (मालिस), वस्ति प्रयोग, स्वेदन, उड़द, कुलथी, शाली चावल, परवल, सहजना, वैंगन, अनार, खांड, घृत, गोदुग्ध, लहशुन, मुनक्का, मुर्गा, मोर, तीतर, वटेर, वगेरी चिड़ियां, जंगली पशु पक्षी का मांस अथवा मांस रस स्नेह युक्त, मछली, अण्डा, गेहूँ की रोटी, मूंग की खिचड़ी घृतयुक्त इत्यादि पथ्य हैं।

इस रोग में सहजन एवं उड़द (माष) का प्रयोग वहुत ही हितकर है। लहशुन स्वरस, पान से रक्त का संचालान ठीक ढंग से होता तथा रक्त घनास्तता को रोकता है। इसके साथ ही जांगल जीवों का मांस एवं मांस रस विशेष उपयोगी है।

अपथ्य—चिन्ता करना, रात्रि जागरण, मल मूत्रादि वेगों को रोकना, मटर-चना, सत्तू, तलाव, नदी का पानी इत्यादि।

करीर की टेंटी, अचार और अन्य कटु तिक्त कषाय रस प्रधान द्रव्य नहीं देने चाहिये। तेज सवारियों में सफर करना, हाथी, घोड़ा, ट्रेकर आदि पर लगातार चढ़ना, परिश्रम करना, नीचे ऊँचे शय्या पर सोना, उपवास, शमा, कोदों इत्यादि अन्न का खाना वर्जित है। इसमें वायु कुपित करने वाले पदार्थों का सेवन छोड़ देवें। ×
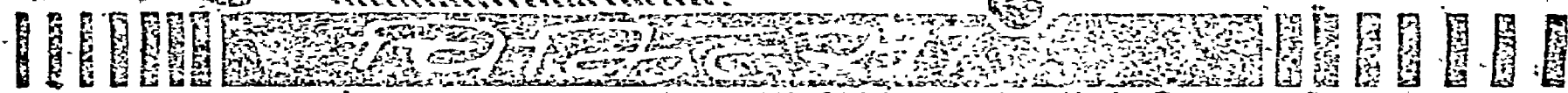
वैद्य श्री मोहरसिंह जी आर्य एक उच्चकोटि के अनुभवी चिकित्सक हैं। आपके लेख प्रायः सभी आयुर्वेदीय पत्रों में छपते रहते हैं जो अनुभूतिपरक होते हैं—

लेख न हो अभिराम, कहो कौन सी पत्रिका।
उत्तम अनुभव धाम, श्रीयुत मोहरसिंह के॥

वात रोगों के आप विशेषज्ञ हैं। जटिल वात रोगों का आप अपनी चिकित्सा से ठीक करते रहते हैं। आपने इस विशेषाङ्क हेतु २–३ लेख प्रेषित किये हैं। मेरे आग्रह पर आपने "सार्दित पक्षाघात चिकित्सा" नामक सर्वाङ्गपूर्ण लेख प्रेषित किया है। यह लेख इस रोग पर विशेष प्रकाश डालने वाला है। लेख में आप सर्वविध उपयोगी सामग्री का समावेश करते हैं—यही आपके लेखों की विशेषता होती हैं। व्यर्थ के वाक् जाल की अपेक्षा अनुभव पूर्ण चिकित्सा मुक्त रोग विशेषों का आप वर्णन कर आयुर्वेद अनुरागियों को प्रभावित करते रहते हैं। ——विशेष सम्पादक

१–"स्वेदनं स्नेहसंयुक्तं पक्षाघाते विरेचनम्"

पक्षाघात रोग में सस्नेह स्वेदन करें तथा स्निग्ध विरेचन दें।

२–पक्षाघात समाक्रान्तं सुतीक्ष्णैश्च विरेचनैः।

पक्षाघात रोगी को अत्यन्त तीक्ष्ण विरेचक औषधि तथा वस्तिक्रिया द्वारा शोधन कराने से रोग शान्त होता है।

३–तैलाभ्यंग-तैल मालिश, स्वेदन, शिरोवस्ति, नस्य, स्निग्ध विरेचन से और स्निग्ध, अम्ल, लवण तथा स्वादु मधुर पदार्थों के सेवन से तथा वृष्य योग वात रोगों को दूर करते हैं।

४–अर्दित रोग में नस्य, मस्तिष्क पर तैल मर्दन, संतर्पक आहार का सेवन, नाड़ी का प्रयोग और जल के किनारे रहने वाले पशु पक्षियों के मांस उपचार बांधना हितकर होता है।

व्यावहारिक चिकित्सा विधि—

पक्षाघात, अर्दित आदि शरीर के किसी अवयव में जायमान हो जाए, रोग के पूर्वरूप अथवा रूप दिखाई दें, तब आतुर को कोमल शय्या पर विश्राम से अंधेरे कक्ष में रखें। शीत ऋतु हो तो उष्ण वस्त्र पहना कर तथा ओढ़ाकर निर्वात स्थान में रखें। शय्या के समीप अंगीठी जला दें।

प्रथम एक सप्ताह पर्यन्त मधु २५ ग्राम अर्कांगाव, जुना १५० मि. लि० में उबाल कर पिलावें। अन्न जल

बन्द कर दें। यदि आतुर ७ दिन तक क्षुधा सहन न कर सके तो केवल चार दिन तक ही मधु एवं अर्क गावजुवां दें। पीछे आठवें या पांचवें दिन निम्न योग दें—

वातारि स्नेह—महारास्नादि क्वाथ के द्रव्यों का यवकुट चूर्ण ९० ग्राम लें, यथाविधि क्वाथ बनावें। इस क्वाथ में एरण्ड स्नेह ६० मि० लि. मिला स्नेह पाक विधि से सिद्ध करें। यह तैल स्निग्धोष्ण, एवं मृदु रेचक है। यह एक मात्रा है। अनुपान रूप में उष्ण दुग्ध दें। प्रातः सायंकाल एक सप्ताह तक दें। अथवा निम्न दोष पाचन योग दें—

दोष पाचन योग—सौंफ, सौंफ की जड़, करफस मूल ६-६ ग्राम, मुलैठी ५ ग्राम, हंसराज ७ ग्राम, उस्तखूद्दूस ५ ग्राम, पीला अन्जीर ५ दाने; खतमी बीज ७ ग्राम, खुब्बाजी ७ ग्राम, गावजुवां ५ ग्राम लें। सबको यवकुट कर रात्रि को जल में भिगो दें। प्रातः मल छानकर खमीरा बनफशा ४० ग्राम मिलाकर पिलावें।

सादित पक्षाघात के लिये उत्तरदायी नाड़ियाँ
मौखिक नाड़ी एवं त्रिशिरस्का नाड़ी

आठ दिन यह योग देकर दसवें दिन सनाय ६ ग्राम, श्वेत निशोथ ७ ग्राम इसी योग में मिलाकर रात को गरम पानी में भिगोवें। प्रातःकाल अमलतास १० ग्राम; शीरखिस्त ४८ ग्राम; शक्कर लाल ४८ ग्राम; गुलकन्द ४८ ग्राम मिलाकर बादाम ५ दाने का शीरा मिश्रित कर पिलावें। अगले दिन ठण्डाई की औषधि मिला पिलावें। पुनः उपर्युक्त दोष पाचन योग पांच दिन दें। इसके पश्चात दो विरेचन हब्ब अयारिज ९ ग्राम इस योग में मिलाकर दें।

शोधनोपरान्त बाह्य तथा अन्तः प्रयोज्य भेषज व्यवस्था करें।

पंचकर्म चिकित्सा

१—स्नेहन कर्म—

सर्व प्रथम आतुर को शक्ति के अनुसार स्नेहपान करावें। वात नाशक स्नेह पिलावें। स्नेहों में वातव्याधि नाशनार्थ तैल श्रेष्ठ कहा है। एतदर्थ नारायण तैल का प्रयोग करें। नारायण तैल की मात्रा पाचन शक्ति के अनुसार दें। सामान्य मात्रा १५ से २५ मि. लि. है। अनुपान के रूप में उष्ण दुग्ध दें। यह एक सप्ताह पर्यन्त दें। प्रातः सायंकाल; अथवा पूर्वोक्त वातारि स्नेह दें।

पूर्व कर्म—रोगी स्नेह्य है या नहीं। आयुष्य के ज्ञान प्रमाण करें। रोगी के रोग—दोष तथा शरीर बल का प्रमाण विदित करें।

स्नेहन कालावधि—तीन से लेकर सात दिन पानी दें। लघु कोष्ठ में ३ दिन, मध्यम कोष्ठ वाले रोगी में ५ दिन और क्रूर कोष्ठी में ७ दिन स्नेहन के लिए आवश्यक होते हैं।

मात्रा निर्णय—उत्तम मात्रा जो १२ घण्टे से जीर्ण हो जाए दें।

व्यावहारिक दृष्ट्या—नारायण तैल प्रथम ३ दिन तक १५ मि. लि. दें। तदनन्तर चार दिन ३० मि. लि. की मात्रा में दें।

आभ्यन्तर स्नेहन के साथ बाह्य स्नेहन भी आवश्यक है। एतदर्थ—महाराज प्रसारिणी तैल (भै०र०) सम्पूर्ण

शरीर पर अभ्यङ्ग करें। ये दोनों क्रियाएँ साथ २ ही सम्पन्न करें।

विशेष ज्ञातव्य—पक्षाघात में मलावरोध एक लक्षण है। अतः एक समय नारायण तैल तथा दूसरी समय वातारि स्नेह दें। इस प्रकार स्नेहन से मलावरोध दूर होगा, देह के मलों तथा दोषों की रुकावट नष्ट होगी। वातारि स्नेह में एरण्ड तैल का रेचन गुण कुछ हीन हो जाता है।

सम्यक् स्नेहन—में स्नेह से अरुचि, मल पतला, शरीर में लघुता, गात्र में मृदुता, त्वचा में स्निग्धता, वातानुलोमन होता है।

सद्यः स्नेहन—प्रचुर मांस से बनाए मांस रस, घी में भुनी पेया, घृत युक्त दुग्ध, स्नेह युक्त खिचड़ी।

चरकोक्त स्नेह प्रयोग—महास्नेह पान; दशमूलादि घृत, चित्रकादि घृत, बलादि घृतमण्ड अहिय स्नेह प्रयोग, वसा प्रयोग, निर्गुण्डी तैल; मूलकादि तैल, पञ्चमूलादि तैल, सहचरादि तैल, श्वदंष्ट्रादि तैल, बला तैल, रास्नादि तैल, (स्व०चि०अ०२८)।

चरकोक्त बाह्य स्नेहन प्रयोग

त्रिफला महास्नेह, निर्गुण्डी तैल, सहचरादि तैल, श्वदंष्ट्रादि तैल, बला तैल, अमृतादि तैल, रास्नादि तैल, रास्नादि मूलक-तैल, मधुयष्टी तैल, बला तैल।

(च०चि० अ० २८)

२—स्वेदन कर्म

स्नेहन के पश्चात् स्वेदन कर्म कराया जाता है। स्नेहपानोपरान्त चौथे या आठवें दिन स्वेदन करावें।

कर्मक्षय पक्षाघात, खज, पङ्गु, अर्दित में षष्टिक, पिपिचिल, शाली पिण्डस्वेद तथा अन्नलेप आदि का स्वेदन करें।

पिपिच्चिल (Pizichil)

१—रोगी को कोपीन पहना कर तैल द्रोणी में बैठावें।

२—प्रथम औषधि सिद्ध तैल से सम्पूर्ण शरीर का अभ्यङ्ग करें। एतदर्थ—महानारायण तैल, महाराज प्रसारणी तैल इत्यादि का उपयोग करें।

आतुर को तैल द्रोणी में बैठाने के पश्चात् चार उपचारिक दाहिने दो तथा बाँए दो खड़े रहकर आक्रान्त स्थान पर तैल धाराङ्किरें। तैल धारा एक हाथ से तथा दूसरे हाथ से मृदु अभ्यङ्ग करते रहें। आतुर सहन कर सके उतना ही तैल गरम हो। वात व्याधि में महाराज तैल, महानारायण तैल की धारा पश्चित करें। नेत्रों को बचावें। तैल द्रोणी में एकत्र तैल को बार-बार काम में लें।

. षाष्टिक शाली पिण्डस्वेद—

साठी के चावलों का पिण्ड बनाकर स्वेद किया जाता है।

बलामूल ५०६ ग्राम लें उसे स्वच्छ कर छोटे-छोटे टुकड़े कर लें। इन्हें ६२ लिटर जल में डाल पकावें। जब चतुर्थांश जल शेष रह जाय उतार लें। इसमें से आधा क्वाथ ले समभाग दुग्ध में मिला लें। इस मिश्रण में ३०४ ग्राम साठी चावल डाल भलीभांति पकावें। पीछे पके हुए चावलों को पीस लें। फिर आठ वस्त्र खण्ड आध-आध मीटर लम्बे चौड़े लें। उस पर पका हुआ भात समान मात्रा में रख आठ पोटली बाँध लें। अब आधा क्वाथ जो शेष रह जाय उसे पुनः समभाग दूध में मिला मन्दाग्नि पर गरम करें। इस में पोटलियाँ रख गरम करें।

पूर्वकर्म—आतुर के सभी वस्त्र उतारकर कोपीन पहनावें। फिर काष्ठ मेज पर या द्रोणी में बिठावें। सम्पूर्ण शरीर का अभ्यंग करावें। अभ्यङ्गार्थ चरकोक्त तैल या महाराज प्रसारिणी तैल या नारायण तैल का उपयोग करें शिर को गरमी से बचाने के लिए तलधारण करें। आमलकी चूर्ण १९० ग्राम, छाछ २४० ग्राम को एकत्र पकावें। जब गाढ़ा हो जाय उसे श्लक्ष्ण पीस लें। शीतल होने पर इस आमलकी कल्क को चक्रिकाकार बना कर सिर पर ब्रह्मरन्ध्र पर बाँध दें।

स्वेदनविधि—उपर्युक्त औषधि मिश्रण में पोटली डुबा कर आक्रान्त स्थान पर स्वेदन करें। क्वाथ से गरम पोटली लेकर आतुर के आक्रान्त मार्गों पर घुमा-घुमा कर स्वेदन करें। जब पोटली शीतल होने लगे तो दूसरी गरम

पोटली बदल लें। ठण्डी पोटलियों को क्वाथ में डाल गरम करें। इस प्रकार पोटलियों को बदल बदल कर गरम पोटलियों से स्वेदन करें। यह ध्यान रहे पोटली अधिक गरम न हो। सम्पूर्ण शरीर में स्वेद दें। स्वेद १॥ घण्टे तक देना चाहिए। पोटलियों में रहे हुए शाली चूर्ण को हाथ से उद्वर्तन की भांति अभ्यङ्ग करें आतुर के शरीर पर रगड़ें।

पश्चात्कर्म—वस्त्र से सम्पूर्ण शरीर को साफ करें। शरीर से षष्टिक शाली साफ हो जाने पश्चात् पुनः तैलाभ्यङ्ग कर स्नान करालें। स्नान गरम पानी से करावें।

चरकोक्त कतिपय स्वेद,

१—अर्दित—में नाड़ी स्वेद तथा उपनाह स्वेद।
२—पक्षाघात—स्वेतज कर्म। (च. चि. अ. २८)

१—वमन कर्म—

वमन केवल कम्पानुबन्धित पक्षाघात कराया जाता है अर्दित में शोथ हो तो भी वमन कराते हैं।

स्नेहन—स्वेदन कराके वाम्य आतुर को वमन करावें।

वामक योग—मदनफल छिलके सहित ६० ग्राम जल २ लीटर, दोनों को उबालें। आधा शेष रहते उतार कर छान लें। इसमें मधु ६० ग्राम पिप्पली चूर्ण ६ ग्राम मिलाकर आतुर को पिला दें। निस्सन्देह क्वाथ अधिक है फिर भी थोड़ा-२ करके पिला दिया जाए।

इससे आधा घन्टे के भीतर वमन आरम्भ हो जाती है। यदि उत्क्लेश, जी मिचलाना आदि हो कर भी वमन न हो, तो कण्ठ में अंगुली डालकर वमन करावें। यदि इससे भी वमन न हो, तो दन्त ब्रुश गले में डालकर वमन करावें। इस विधि से वमन आरम्भ होकर खूब वेग से आती है। वमन में प्रथम पीत औषधि द्रव्य निकलता है, फिर आहार द्रव्य तत्पश्चात् चिकना द्रव्य कफ-सा निकलता है। अन्त में पतला तरल निकलता है और वायु का निःसरण होता है।

वमनोपरान्त यूष, साबूदाना, भुना गेहूं का दलिया एवं दुग्ध क्रमशः अल्पमात्रा में ३ दिन तक दें। पीछे शास्त्रोक्त पथ्य दें।

२—विरेचन कर्म

पक्षाघात में आचार्य चरक ने सामान्य चिकित्सा सूत्र में स्नेहन-स्वेदन कराकर विरेचन का निर्देश दिया है।

जिस दिन विरेचन कराना हो तो पूर्वाह्न में लघु भोजन करावें। फल रस तथा उष्ण जल पीने को दें। भोजन में जांगल मांस रस, स्निग्ध यूप दें। विरेचन देना हो उस दिन की पूर्व सन्ध्या को सेंहुड़ पत्र शाक दें।

शाक निर्माण विधि—सेहुड़ पत्र यथावश्यक लें। स्वच्छ कर जल में डाल उबालें। फिर शीतल कर भली भाँति निचोड़ लें। पीछे घी में छौंककर सुस्वादिष्ट बनाकर खिलावें।

विरेचन योग—अगले दिन प्रातःकाल त्रिवृत्त चूर्ण ३ ग्राम तथा सेहुंड़ दुग्ध ३ ग्राम लेकर खरल कर दो गोलियां बना लें। एक गोली उष्ण दुग्ध या उष्णोदक के साथ प्रातःकाल दें। ताजी गोली गोली दें। इससे ३ से ५ घण्टे के भीतर विरेचन आरम्भ हो जाते हैं। इसरेचन खूब होते। कोई आतुर दुर्बलता अनुभव करता है। यदि विरेचन साफ न हों, तो गुरुता आदि का होना पाया जाता है। ऐसी दशा में विचार कर पुनः दूसरी गोली दें। अथवा—

एरण्ड स्नेह यथावश्यक शुण्ठी क्वाथ या महारास्नादि क्वाथ के साथ दें।

संसर्जन कर्म—विरेचनोपरान्त जब आतुर प्रसन्नचित हो जाता है, तब उष्णोदक में वस्त्र भिगोकर सम्पूर्ण शरीर को स्वच्छ करें। या उष्णोदक से स्नान कराए। शीतल पदार्थों का प्रयोग न करें। निर्वात स्थान में रहें।

पथ्य—एक दिन यूष के अतिरिक्त कुछ न दें। दूसरे दिन कृशरा खिचड़ी दें। तीसरे दिन दलिया दें। तत्पश्चात् सम्यक् पथ्य दें।

३—वस्तिकर्म

विरेचनकर्मोपरान्त ७ दिन व्यतीत होने के पश्चात् शरीर में बल होने पर वस्ति कर्म करना चाहिए। विरेचन तथा वस्ति दोनों शोधक हैं।

वस्तियन्त्र—अनुवासन वस्ति के लिए ग्लिसरीन पिचकारी तथा आस्थापन वस्ति के लिए एनीमा पाट का प्रयोग करना चाहिए।

पूर्वकर्म—सम्पूर्ण शरीर पर तैलाभ्यङ्ग करें। एतदर्थ महानारायण तेल अथवा नारायन तेल का प्रयोग करें। अभ्यङ्ग के पश्चात् उष्णोदक स्वेद करावें। भोजन में मांस रस दें। भोजन कुछ कम दें।

वस्ति के लिए औषधि—१—महाराज प्रसारणी तेल (२) नारायण तेल (३) महानारायण तेल (४) माषतेल।

मात्रा—आतुर की सहन शक्ति के अनुसार ३०० मि० लि० तक दें। प्रथम दिन १०० मि० लि०, द्वितीय तथा तृतीय दिवस १५० मि० लि— तत्पश्चात् पूर्ण मात्रा दें। अथवा मात्रा वयानुसार दे। जितनी मात्रा रोगी सहन कर जाय वही उपयुक्त है।

तेल वस्ति से एक दिन पूर्व लवण जल वस्ति देकर उदर स्वच्छ करें।

शिरोवस्ति—अर्दित में शिरोवस्ति का कार्य अति महत्वपूर्ण होता है।

वस्ति यन्त्र—एक रबड़ की ट्यूब इतनी चौड़ी लें कि सिर में ठीक आ जाय। भ्रू से ऊपर सिर की परिधि के प्रमाण की काट लें।

विधि—रोगी को निश्चल आसन पर बैठाकर शिरोवस्ति को टोपीवत् पहना कर सन्धि बन्धन कर किंचित उष्ण सुहाता-सुहाता महाराज प्रसारणी तेल भर दें। पहले दिन १५ मिनट, दूसरे दिन २० मिनट, इस प्रकार प्रतिदिन ५ मिनट बढ़ाकर १॥ घन्टे तक शिरोवस्ति धारण करावें।

विशेष ज्ञातव्य—पक्षाघात में दशमूलादि अनुवासन (च. सि. ४) अत्युपयोगी है।

४—नस्य कर्म—

अर्दित निवारण में नावन का स्थान भी महत्वपूर्ण है। एतदर्थ नारायण तेल, महाराज प्रसारणी तेल, रोगन सुर्ख विशेष अनुभूत हैं।

अथवा १—शिरस के फूल रसौत, सुंठ, श्वेत वच, मंजीठ, हल्दी और पिप्पली सब समभाग लेकर सूक्ष्म वस्त्र पूत चूर्ण कर अजादुग्ध में पीसकर वर्तिका बना लें। निम्बू स्वरस में घिसकर नासिका में २-२ बूंद छोड़े। नेत्र में अञ्जनवत लगावें।

२—उड़द, कौंच के बीज, रास्ना, बला एरण्डमूल, रोहिषतृण तथा अश्वगन्धा इनके क्वाथ में हींग तथा सैंधवलवण मिलाकर सुखोष्णनस्य देने से पक्षाघात कम्पवात अर्दित मन्यास्तम्भ और अपबाहुक में लाभ होता है।

चरक चि. अ २८ में अर्दित नाशक अश्व का उल्लेख है।

५—रक्तमोक्षण

आचार्य सुश्रुत ने चिकित्सा स्थान अध्याय ४ में सर्वांगवात व्याधि में सिराव्यध से रक्तमोक्षण लिखा है।

हमने गृध्रसी तथा विश्वाचि में रक्तमोक्षण कराया है। किन्तु पक्षाघात आदि में रक्तमोक्षण कराना लाभप्रद प्रतीत नहीं होता।

अवगाहन वातनाशक द्रव्यों से विधिपूर्वक सिद्ध दुग्ध या तैल को एक द्रोणी में डालकर उसमें अवगाहन करना चाहिये।

यदि शरीर के किसी अवयव विशेष में वात का प्रकोप हो, तो उसी अंग का अवगाहन एवं परिषेक करें।

अवगाहन विधि—द्रोणी कड़ाहा (TUB) में तैल, कांजी का क्वाथ भरकर उसमें रोगी को बिठावें। सिर के ऊपर तैल, कांजी इत्यादि डाल ... स्नान करावें।

रोगन अक्सीर फालिज—गुल बाबूना, नाखून छड़ीला, बालछड़, नागरमोथा, नरकचूर, तालीसपत्र, रतनजोत, सुरन्जान कड़वा, कूलंजान, कूठ, गारीकून, अफसन्तीन रूमी, उस्तखुद्दूस, जुन्दबेदस्तर, मजीठ लाल, अक्लकरा, अब हुल रूमी, चप तुकम, बालंजान कड़वा १२-१२ ग्राम लें अर्क मकोय २ बोतल, रोगन जैतून १ लिटर लें।

तेल पाक विधि से तेल सिद्ध कर लें। फिर इसमें मुश्क (कस्तूरी) उत्तम ९ ग्राम मिलाकर रखें।

अभ्यङ्ग विधि-एक पात्र में निर्धूम अंगारे रख लें। मर्दन करते समय हथेलियां अंगारों पर गरम करके मालिश करें। साथ साथ थोड़ा २ सेक भी करते रहें। मर्दन धीरे-धीरे करते हुए तेल को त्वचा द्वारा शरीर में प्रविष्ट करें।

२—पोटली सेक

एक कटोरी में यथावश्यक महाराज प्रसारणी तेल डालकर कोष्ण-गुनगुना कर लें। फिर एक पोटली लेकर तेल में डुबा डुबाकर आक्रान्त स्थान विशेषतः सन्धि स्थानों का सेक करें। सेक कम से कम १ घण्टा तक प्रतिदिन किया जाए सेक के पश्चात् मर्दन कर तेल को शुष्क कर देना चाहिए।

पोटली द्रव्य—माल कांगनी, आवां हल्दी, काले तिल, चिरौंजी, नारियल गिरी, अकरकरा, जुन्दबेदस्तर १०-१ ग्राम, जायफल, जावित्री, लौंग ५-५ ग्राम, हाथी दन्त का बुरा, प्याज के बीज, कलौंजी १०-१० ग्राम लें। सबको कूट पीस एक रस कर १०-१० ग्राम की पोटली बना लें।

स्वेदन विधि—

स्वेदन द्रव्य—दशमूल २५० ग्राम, सम्भालु पत्र, गुडूची, अर्क पत्र, करञ्ज पत्र, तुलसी पत्र, सहिजन पत्र, पाषाण भेद, मालती, एरण्ड मूल, वरुण पत्र, वासा पत्र; शण के बीज, यव कपास मूल—१०-१० ग्राम। अथवा—सुश्रुतोक्त शालवण योग के सभी द्रव्य लें।

सब द्रव्यों को यवकुट कर एक मृतिका पात्र में डालें। उसमें जल ६ लिटर डाल, मुख बन्द कर चूल्हे पर रख नीचे आंच जलावें। जब पानी खूब उबल जाए तब नीचे उतार लें। एक परात में अंगारे डालकर उस में रख दें। निर्वात स्थान में बिस्तर रहित शय्या पर आतुर को लिटा दें और समयानुकूल वस्त्र ओढा दें। यह वस्त्र इतना लम्बा चौड़ा हो कि शय्या के चारों ओर धरती तक लटक जाए कि नीचे वात प्रविष्ट न होने पावे। अब वाष्प पात्र को परात सहित रुग्ण की खाट के नीचे सरका दें। वाष्प घट के मुख पर पतला सा वस्त्र ढक दें कि तीव्र वाष्प सीधे शरीर न लगने पावे। वाष्प पात्र को आगे-पीछे, दाहिने-बाएं जिस ओर भाप देनी हो उसी ओर परात को सरकाते रहें।

अन्तः प्रयोज्य भेषज

१—मल्ल सिन्दूर (सि. भे. म.)।
२—खंजनिकारि रस (सि. यो. सं.)।
३—रस राज रस (भै. र.)।
४—बृ० वात चिन्तामणि रस (भै. र.)।
५—सुवर्ण समीर पन्नग (सि. यो.)।
६—वातकुलान्तक (सि. यो. सं.)।
७—अमृत भल्लातक (सि. यो. सं.)
८—महायोगराज गुग्गुल (शा. सं.)
९—महारास्नादि क्वाथ (सि.यो. सं.)

कुछ अपने विशेष अनुभूत योग और लिखता हूं—

१—विड् पिण्टी (विशेष विवरण पीछे देखें)

२—मूर्च्छान्तक नस्य—कायफल ५० ग्राम नकछिकनी १० ग्राम कपूर १० ग्राम; केशर ५ ग्राम, पलाश पापड़ा १० ग्राम, शंख को सूखा कीड़ा १० ग्राम लें, कूट पीस वस्त्र पूत चूर्ण बना लें। आवश्यकतानुसार रोगी को सुंघावें। यह सभी प्रकार की मूर्च्छा दूर करने में समर्थ है।

अनुभव सार—

जब पक्षाघात पीड़ित चिकित्सार्थ आए तो सर्वप्रथम रोग के उपद्रवों पर ध्यान दें—

१—यदि रोगी मूर्छित है (मूर्छा पक्षाघात तथा अर्दित का एक मुख्य लक्षण है) तो उसको मूर्च्छान्तक नस्य देकर मूर्च्छा दूर करें।

२—यदि रुग्ण बोलने में असमर्थ हो, जिव्हा पीड़ित होकर विशेष रूप से अर्दित सहित पक्षाघात में जिह्वा आक्रान्त हो जाती है। तो जिव्हा पर बच चूर्ण मलें या स्वर्ण क्षीरी मूल से जिव्हा को रगड़ें। जिव्हा पर अभ्यङ्ग करावें।

बाल पक्षाघात (पोलियोमाइलाइटिस)

डा० वेदप्रकाश शर्मा त्रिवेदी, ए० एम० बी० एस०, एच० पी० ए०
अध्यक्ष—मानसिक व्याधि अनुसन्धान विभाग, भारतीय काय चिकित्सा संस्थान, पटियाला

यह व्याधि पक्षाघात के अन्तर्गत आती है। बच्चों को विशेष रूप से आक्रान्त करने के कारण बाल पक्षाघात संज्ञा दी गई है। आधुनिक पर्याय "पोलियो माइलाइटिस" शब्द "पोलियोज" "म्यूलोज" तथा "आइटिस" के सम्मिश्रण से बना है। इसका संक्षिप्त नाम "पोलियो" है जिसका क्रमशः हिन्दी शब्दार्थ है धूसर "मज्जा व शोथ"। आयुर्वेद दृष्ट या "मांस स्रोत रोधता है।

निदान—आधुनिक दृष्टया या संक्रामक रोग है जिसका जीवाणुओं से भी सूक्ष्म विष है।

आयुर्वेद में—संतर्पणोत्थ व्याधि है। अति स्निग्ध, गुरु आहार एवं अकाल भोजन से स्रोतो दुष्टि होकर मांस स्रोतोरोध हो जाता है।

पूर्वरूप—अधिकांशतः रात्रिकाल में सहसा जागने पर या स्वतः सहसा जगाये जाने पर वातावरण के परिवर्तन के कारण होता है यथा शीत से उष्ण, उष्ण से शीत आदि, बच्चों के ज्वर में शिरोवेदना, तन्द्रा, हर्ष, वमन, कम्पन आदि लक्षण दृष्टि गोचर होते हैं।

इस व्याधि के रूपों को अनेक अवस्थाओं में वर्गीकृत किया जा सकता है—

आक्रान्त अंग शैथिल्य, शनैः शनैः रस, रक्तादि क्षय, क्रिया हानि, अस्थि मार्दव, अंग शून्यता, पेशीक्षय वेदना कदाचित अंग गौरव

प्रथमावस्था—शरीर में संचित श्लेष्मा संचयावस्था में प्रतिश्याय, गौरव, आलस्य, हस्त पाद वेदना, ग्रीवा स्तम्भ आदि अभिव्यक्त होती है।

द्वितीयावस्था—रस धातु श्लेष्मा, ज्वर (तीव्र) ज्वर शमनोत्तर अंगघात करके बच्चों की अधः शाखायें शिथिल, शोथयुक्त, शीतल स्पर्शी १५ दिन दिन तक अवस्था रहती है।

तृतीयावस्था—पेशी क्रिया के कुछ सुधार होता है, सिर दर्द, पसीना निकलना कम होता है। अंग शुष्क शमन होता है। पेशीक्षय के कारण कुछ नाड़ी कोशिकाओं में स्थायी रूप से घटित होता।

चतुर्थावस्था—वात के कारण स्रोतों के श्लेष्मा संयुक्त संग (खवैगुण्य) करके स्रोतोरोध कर देता है। परिणाम रूप पोषणाभाव में उस अंग का पेशीक्षय हो जाता है। अंगनिर्जीव होकर सूखजाता है। आधुनिक विज्ञान इसअवस्था को अभी तक असाध्य मानता है। यावज्जीवन कष्टकर होता है।

सम्प्राप्ति—ऊपर पवन अन्य मेदा से अति स्निग्ध हुआ वायु द्वारा संचारित करता हुआ श्लेष्मा शरीर के जिस अंग में आजाता है वह अंग क्रिय हीन होता है।

पोलियो के लिए आतुर वय—चार वर्ष तक अधिक

संचय काल—५–१२ दिन अधिकतम ३५ दिन

घातकता—मारक नहीं, कष्ट कर ही।

रूप समुच्चय—

प्रभावित अंग क्रिया हीन वक्र, शुष्क, दुर्बल, गजने

वैकल्यकर, ज्ञानेन्द्रियों की नाड़ियों, प्रभावित होने से चक्षु, चक्षु विवर्तनी पेशियों, कर्ण, वाणी, सम्बन्धी रोग, मानसिक रोगों के अतिरिक्त बौद्धिक विकास भी प्रभावित होना है। प्रभावित शाखा के हाथ पैर अंगुलियां जंघा, वंक्षण कटि आदि विभिन्न अङ्ग अनेक प्रकार से आक्रान्त होकर शुष्क निष्क्रिय चेष्टाहीन शक्ति हीन हो जाते हैं।

आयुर्वेद के वात व्याधि के अन्तर्गत होने से वात विकृति सम्बन्धी लक्षण मिलते हैं।

आधुनिक पोलियो प्रतिरक्षण—

अन्य आधुनिक चिकित्सा पद्धतियां यथा होम्योपैथिक एलोपैथिक, वायोकेमिक, पोलियो को जीवाणु जन्य मानते हैं। प्रतिरोधक सूचीवेध (वेक्सीन) लगाने, पीने की दवा का कोर्स पूरा करते हैं, किन्तु प्रत्यक्षतः प्रति रक्षणोपरान्त भी इस व्याधि का आक्रमण देखा गया है। भारतेतर अमरीका, फ्रान्स इंगलैड आदि शिक्षित समृद्ध देशों में भी इसका प्रसार बढ़ रहा है।

आयुर्वेदीय पोलियो प्रतिरक्षण—

आयुर्वेद में गर्भाधान से प्रसव पर्यन्त गर्भिणी की मासानुमासिक गर्भिणी परिचर्या का सम्यक प्रावधान है जिससे शिशु पूर्णतः स्वस्थ, मेधावी, एवं सुन्दर रूप में जन्म ले सके। शिशु का नित्य प्रति युक्तिपूर्वक अभ्यंग स्वेदन बृंहण पौष्टिक आहार प्रावधान होनेसे वात विकृति की सम्भावना ही नहीं रह जाती है।

आयुर्वेदीय चिकित्सानुसंधान—

अहमदाबाद में अनुसंधानार्थ निम्न औषध व्यवस्था की गई।

नवीन आतुर—

१. बृहद् वात चिन्तामणिरस एवं का कारस्कर मिश्रण
मात्रा—४ ग्राम दिन में तीन वार
अनुपान— दुग्ध
२. महानारायणतैल—मात्रावस्ति ५० मि०लि० दिनमें प्रातः काल एक वार
३. दशांगलेप एवं गुग्गुल लेप प्रभावित अंग पर
४. वालुका स्वेद—दिन में एक वार
उपचारावधि —एक कोर्स २१ दिन

जीर्ण आतुर—

१. बृहद् वातचिन्तामणि रस दूध से दिन में तीनवार
२. महानारायणतैल मात्रा वस्ति ५ मि० लि० प्रातःकाल दिन में एक बार
३. महानारायणतैल—नित्य अभ्यंग एक वार
४. षष्ठि शालि पिण्ड स्वेद—दिन में एक बार प्रातः
उपचारावधि— २१ दिन

अतः २१-२१ दिन के तीन चक्रों में चिकित्सा व्यवस्था द्वारा अन्तरंगानुसन्धान किया गया। दो चक्रों के मध्य एक माह का अन्तराल रखा गया। इस अन्तराल में आतुर को घर-पर औषधि सेवन एवं पथ्य का निर्देश किया गया।

अवेक्षण पद्धति—

लाक्षणिक अवेक्षण मांसपेशी परीक्षण, प्रयोगशालीय परीक्षण किये गये। कोई उपद्रव लक्षित नहीं हुआ।

निष्कर्ष—आतुरों ने आशाजनक लाभ प्राप्त किया इसके उपरान्त केन्द्रीय अनुसन्धान संस्थान (वर्तमान भारतीय काय चिकित्सा संस्थान) पटियाला में जब मेरा अहमदाबाद से स्थानान्तरण हुआ तब मैंने पंचकर्म व पक्षाघात कोषान्तर्गत पोलियो चिकित्सानुसन्धानार्थ परियोजना से निम्न चिकित्सा व्यवस्था रखी इसकी (अन्तरंगविभागान्तर्गत)

१. महायोग राज गुग्गुलु १गोली प्रातः सायं दूध से।
२. महानारायण तैलाभ्यंग १ वार प्रातः
३ षष्टि शालि पिंड स्वेद १ वार प्रातः
४. एरन्ड स्नेह ५ मि०लि० दूध से एक वार
उपचारावधि —४५ दिन

अवेक्षण पद्धति—जिस प्रकार, अहमदाबाद में रखी गई उसी प्रकार यहां रखी गई।

निष्कर्ष—आतुरों में आशाजनक लाभ प्राप्त किया, गतिशील हुए।

उक्त व्यवस्था तीन चक्रों में रखी गई। १५-१५ दिन का अन्तराल रखा गया। अन्तराल में घर पर औषधि व पथ्य का निर्देश किया गया।

वैद्य श्री मोहरसिंह जी आर्य एक उच्चकोटि के अनुभवी चिकित्सक हैं। आपके लेख प्रायः सभी आयुर्वेदीय पत्रों में छपते रहते हैं जो अनुभूतिपरक होते हैं—

लेख न हो अभिराम, कहो कौन सी पत्रिका।
उत्तम अनुभव धाम, श्रीयुत मोहरसिंह के॥

वात रोगों के आप विशेषज्ञ हैं। जटिल वात रोगों का आप अपनी चिकित्सा से ठीक करते रहते हैं। आपने इस विशेषाङ्क हेतु २-३ लेख प्रेषित किये हैं। मेरे आग्रह पर आपने "अर्दित पक्षाघात चिकित्सा" नामक सर्वाङ्गपूर्ण लेख प्रेषित किया है। यह लेख इस रोग पर विशेष प्रकाश डालने वाला है। लेख में आप सर्वविध उपयोगी सामग्री का समावेश करते हैं—यही आपके लेखों की विशेषता होती हैं। व्यर्थ के वाक् जाल की अपेक्षा अनुभव पूर्ण चिकित्सा युक्त रोग विशेषों का आप वर्णन कर आयुर्वेद अनुरागियों को प्रभावित करते रहते हैं।

—विशेष सम्पादक

१—"स्वेदनं स्नेहसंयुक्तं पक्षाघाते विरेचनम्"

पक्षाघात रोग में सस्नेह स्वेदन करें तथा स्निग्ध विरेचन दें।

२—पक्षाघात समाक्रान्तं सुतीक्ष्णैश्च विरेचनैः।

पक्षाघात रोगी को अत्यन्त तीक्ष्ण विरेचक औषधि तथा वस्तिक्रिया द्वारा शोधन कराने से रोग शान्त होता है।

३—तैलाभ्यंग-तैल मालिश, स्वेदन, वस्तिकर्म, नस्य, स्निग्ध विरेचन से और स्निग्ध, अम्ल, लवण तथा स्वादु मधुर पदार्थों के सेवन से तथा वृंह्य योग वात रोगों को दूर करते हैं।

४—अर्दित रोग में नस्य, मस्तिष्क पर तैल मर्दन, संतर्पक आहार का सेवन, नाड़ी का प्रयोग और जल के किनारे रहने वाले पशु पक्षियों के मांस उपचार बांधना हितकर होता है।

व्यावहारिक चिकित्सा विधि—

पक्षाघात, अर्दित आदि शरीर के किसी अवयव में वायमान हो जाए, रोग के पूर्वरूप अथवा रूप दिखाई दें, तब आतुर को कोमल शय्या पर विश्राम से अंधेरे कक्ष में रखें। शीत ऋतु हो तो उष्ण वस्त्र पहना कर तथा ओढ़ाकर निर्वात स्थान में रखें। शय्या के समीप अंगीठी जला दें।

प्रथम एक सप्ताह पर्यन्त मधु २५ ग्राम अकंगाव; जुना १५० मि. लि० में उबाल कर पिलायें। अन्न जल

बन्द कर दें। यदि आतुर ७ दिन तक क्षुधा सहन न कर सके तो केवल चार दिन तक ही मधु एवं अर्क यावजुर्ना दें। पीछे आठवें या पाचवें दिन निम्न योग दें—

वातारि स्नेह—महारास्नादि क्वाथ के द्रव्यों का यवखण्ड चूर्ण ५० ग्राम लें। यथाविधि क्वाथ बनावें। इस क्वाथ में एरण्ड स्नेह ६० मि० लि. मिला स्नेह पाक विधि से सिद्ध करें। यह तैल स्निग्धोष्ण, एवं मृदु रेचक है। यह एक मात्रा है। अनुपान रूप में उष्ण दुग्ध दें। प्रातः सायंकाल एक सप्ताह तक दें। अथवा निम्न दोष पाचन योग दें—

दोष पाचन योग—सौंफ, सौंफ की जड़, करफ्स मूल ६-६ ग्राम, मुलैठी ५ ग्राम; हंसराज ७ ग्राम, उस्तखूद्दूस ५ ग्राम, पीला अन्जीर ५ दाने, खतमी बीज ७ ग्राम, खुब्बाजी ७ ग्राम, गावजुवाँ ५ ग्राम लें। सबको यवखण्ड कर रात्रि को जल में भिगो दें। प्रातः मल छानकर खमीरा बनफ्शा ४० ग्राम मिलाकर पिलावें।

अर्दित पक्षाघात के लिये उत्तरदायी नाड़ियाँ
मौखिक नाड़ी एवं त्रिशिरस्का नाड़ी

आठ दिन यह योग देकर दसवें दिन सनाय ६ ग्राम, श्वेत निशोथ ७ ग्राम इसी योग में मिलाकर रात को गरम पानी में भिगोवें। प्रातःकाल अमलतास ५० ग्राम, शीरखिस्त ४८ ग्राम, शक्कर लाल ४८ ग्राम; गुलकन्द एक ग्राम मिलाकर बादाम ५ दाने का शीरा मिश्रित कर पिलावें। अगले दिन ठण्डाई की औषधि मिला पिलावें। पुनः उपर्युक्त दोष पाचन योग पांच दिन दें। इसके पश्चात दो विरेचन हब्ब अयारिज ८ ग्राम इस योग में मिलाकर दें।

शोधनोपरान्त बाह्य तथा अन्तः प्रयोज्य भेषज व्यवस्था करें।

पंचकर्म चिकित्सा

१—स्नेहन कर्म—

सर्व प्रथम आतुर को शक्ति के अनुसार स्नेहपान करावें। वात नाशक स्नेह पिलावें। स्नेहों में वातव्याधि नाशनार्थ तैल श्रेष्ठ कहा है। एतदर्थ नारायण तैल का प्रयोग करें। नारायण तैल की मात्रा पाचन शक्ति के अनुसार दें। सामान्य मात्रा १५ से २५ मि. लि. है। अनुपान के रूप में उष्ण दुग्ध दें। यह एक सप्ताह पर्यन्त दें। प्रातः सायंकाल; अथवा पूर्वोक्त वातारि स्नेह दें।

पूर्व कर्म—रोगी स्नेह्य है या नहीं। आयुष्य के ज्ञान प्रमाण करें। रोगी के रोग–दोष तथा शरीर बल का प्रमाण विदित करें।

स्नेहन कालावधि—तीन से लेकर सात दिन पानी दें। लघु कोष्ठ में ३ दिन, मध्यम कोष्ठ वाले रोगी में ५ दिन और क्रूर कोष्ठी में ७ दिन स्नेहन के लिए आवश्यक होते हैं।

मात्रा निर्णय—उत्तम मात्रा जो १२ घण्टे से जीर्ण हो जाए दें।

व्यावहारिक दृष्ट्या—नारायण तैल प्रथम ३ दिन तक १५ मि. लि. दें। तदनन्तर चार दिन ३० मि. लि. की मात्रा में दें।

आभ्यन्तर स्नेहन के साथ बाह्य स्नेहन भी आवश्यक है। एतदर्थ–महाराज प्रसारिणी तैल (भै०र०) सम्पूर्ण

शरीर पर अभ्यङ्ग करें। ये दोनों क्रियाएं साथ २ ही सम्पन्न करें।

विशेष ज्ञातव्य—पक्षाघात में मलावरोध एक लक्षण है। अतः एक समय नारायण तैल तथा दूसरी समय वातारि स्नेह दें। इस प्रकार स्नेहन से मलावरोध दूर होगा, देह के मलों तथा दोषों की रुकावट नष्ट होगी। वातारि स्नेह में एरण्ड तैल का रेचन गुण कुछ हीन हो जाता है।

सम्यक् स्नेहन—में स्नेह से अरुचि, मल पतला, शरीर में लघुता, गात्र में मृदुता, त्वचा में स्निग्धता, वातानुलोमन होता है।

सद्यः स्नेहन—प्रचुर मांस से बनाए मांस रस, घी में भुनी पेया, घृत युक्त दुग्ध, स्नेह युक्त खिचड़ी।

चरकोक्त स्नेह प्रयोग—महास्नेह पान, दशमूलादि घृत, चित्रकादि घृत, बलादि घृतमण्ड अस्थि स्नेह प्रयोग, वसा प्रयोग, निर्गुण्डी तैल; मूलकादि तैल; पञ्चमूलादि तैल, सहचरादि तैल; श्वदंष्ट्रादि तैल, बला तैल, रास्नादि तैल (च०चि०अ०२८)।

चरकोक्त बाह्य स्नेहन प्रयोग

त्रिफला महास्नेह, निर्गुण्डी तैल, सहचरादि तैल, श्वदंष्ट्रादि तैल, बला तैल, अमृतादि तैल, रास्नादि तैल, रास्नादि मूलक तैल, मधुयष्टी तैल; बला तैल।

(च०चि० अ० २८)

२—स्वेदन कर्म

स्नेहन के पश्चात् स्वेदन कर्म कराया जाता है। स्नेहपानोपरान्त चौथे या आठवें दिन स्वेदन करावें।

कर्मक्षय पक्षाघात, खज, पङ्गु, अर्दित में षष्टिक, पिषिचिल, शाली पिण्डस्वेद तथा अन्नलेप आदि का स्वेदन करें।

पिषिचिल (Pizichil)

१—रोगी को कौपीन पहना कर तैल द्रोणी में बैठावें।

२—प्रथम औषधि सिद्ध तैल से सम्पूर्ण शरीर का अभ्यङ्ग करें। एतदर्थ—महानारायण तैल, महाराज प्रसारणी तैल इत्यादि का उपयोग करें।

आतुर को तैल द्रोणी में बैठाने के पश्चात् चार उपचारिक दाहिने दो तथा बांए दो खड़े रहकर आक्रान्त स्थान पर तैल धारा करें। तैल धारा एक हाथ से तथा दूसरे हाथ से मृदु अभ्यङ्ग करते रहें। आतुर सहन कर सके उतना ही तैल गरम हो। वात व्याधि में महाराज तैल, महानारायण तैल की धारा पतित करें। नेत्रों को बचावें। तैल द्रोणी में एकत्र तैल को बार-बार काम में लें।

षाष्टिक शाली पिण्डस्वेद—

साठी के चावलों का पिण्ड बनाकर स्वेद किया जाता है।

बलामूल ५०६ ग्राम लें उसे स्वच्छ कर छोटे-छोटे टुकड़े कर लें। इन्हें ६२ लिटर जल में डाल पकावें। जब चतुर्थांश जल शेष रह जाय उतार लें। इसमें से आधा क्वाथ ले समभाग दुग्ध में मिला लें। इस मिश्रण में ३०४ ग्राम साठी चावल डाल भलीभांति पकावें। पीछे पके हुए चावलों को पीस लें। फिर आठ वस्त्र खण्ड आध-आध मीटर लम्बे चौड़े लें। उस पर पका हुआ भात समान मात्रा में रख आठ पोटली बांध लें। अब आधा क्वाथ जो शेष रह जाय उसे पुनः समभाग दूध में मिला मन्दाग्नि पर गरम करें। इस में पोटलियां रख गरम करें।

पूर्वकर्म—आतुर के सभी वस्त्र उतारकर कौपीन पहनावें। फिर काष्ठ मेज पर या द्रोणी में बिठावें। सम्पूर्ण शरीर का अभ्यंग करावें। अभ्यङ्गार्थ चरकोक्त तैल या महाराज प्रसारिणी तैल या नारायण तैल का उपयोग करें शिर को गरमी से बचाने के लिए तलधारण करें। आमलकी चूर्ण १२० ग्राम, छाछ २४० ग्राम को एकत्र पकावें। जब गाढ़ा हो जाय उसे श्लक्ष्ण पीस लें। शीतल होने पर इस आमलकी कल्क को चक्रिकाकार बना कर सिर पर ब्रह्मरन्ध्र पर बांध दें।

स्वेदनविधि—उपर्युक्त औषधि मिश्रण में पोटली डुबा कर आक्रान्त स्थान पर स्वेदन करें। क्वाथ से गरम पोटली लेकर आतुर के आक्रान्त भागों पर घुमा-घुमा कर स्वेदन करें। जब पोटली शीतल होने लगे तो दूसरी गरम

पोटली बदल लें। ठण्डी पोटलियों को क्वाथ में डाल गरम करें। इस प्रकार पोटलियों को बदल बदल कर गरम पोटलियों से स्वेदन करें। यह ध्यान रहे पोटली अधिक गरम न हो। सम्पूर्ण शरीर में स्वेद दें। स्वेद १।। घण्टे तक देना चाहिए। पोटलियों में रहे हुए शाली चूर्ण को हाथ से उद्वर्तन की भांति अभ्यङ्ग करें आतुर के शरीर पर रगड़ें।

पश्चात्कर्म—वस्त्र से सम्पूर्ण शरीर को साफ करें। शरीर से षष्टिक शाली साफ हो जाने पश्चात् पुनः तैलाभ्यङ्ग कर स्नान करावें। स्नान गरम पानी से करावें।

चरकोक्त कतिपय स्वेद

१—अर्दित—में नाड़ी स्वेद तथा उपनाह स्वेद।
२—पक्षाघात—स्वेतज कर्म। (च. चि. अ. २८)

१—वमन कर्म—

वमन केवल कफानुबन्धित पक्षाघात कराया जाता है अर्दित में शोथ हो तो भी वमन कराते हैं।

स्नेहन—स्वेदन कराके वाम्य आतुर को वमन करावें।

वामक योग—मदनफल छिलके सहित ६० ग्राम जल २ लीटर, दोनों को उबालें; आधा शेष रहते उतार कर छान लें। इसमें मधु ६० ग्राम पिप्पली चूर्ण ६ ग्राम मिलाकर आतुर को पिला दें। निस्सन्देह क्वाथ अधिक है फिर भी थोड़ा-२ करके पिला दिया जाए।

इससे आधा घण्टे के भीतर वमन आरम्भ हो जाती है। यदि उत्क्लेश, जी मिचलाना आदि हो कर भी वमन न हो, तो कण्ठ में अंगुली डालकर वमन करावें। यदि इससे भी वमन न हो, तो दन्त ब्रुश गले में डालकर वमन करावें। इस विधि से वमन आरम्भ होकर खूब वेग से आती है। वमन में प्रथम पीत औषधि द्रव्य निकलता है, फिर आहार द्रव्य तत्पश्चात् चिकना द्रव्य कफ-सा निकलता है। अन्त में पतला तरल निकलता है और वायु का निःसरण होता है।

वमनोपरान्त यूष, साबूदाना, भुना गेहूं का दलिया एवं दुग्ध क्रमशः अल्पमात्रा में ३ दिन तक दें। पीछे शास्त्रोक्त पथ्य दें।

२—विरेचन कर्म

पक्षाघात में आचार्य चरक ने सामान्य चिकित्सा सूत्र में स्नेहन-स्वेदन कराकर विरेचन का निर्देश दिया है।

जिस दिन विरेचन कराना हो तो पूर्वाह्न में लघु भोजन करावें। फल रस तथा उष्ण जल पीने को दें। भोजन में जांगल मांस रस, स्निग्ध यूष दें। विरेचन देना हो उस दिन की पूर्व सन्ध्या को सेंहुड़ पत्र शाक दें।

शाक निर्माण विधि—सेहुड़ पत्र यथावश्यक लें। स्वच्छ कर जल में डाल उबालें। फिर शीतल कर भली भाँति निचोड़ लें। पीछे घी में छौंककर सुस्वादिष्ट बनाकर खिलावें।

विरेचन योग—अगले दिन प्रातःकाल त्रिवृत्त चूर्ण ३ ग्राम तथा सेहुंड़ दुग्ध ३ ग्राम लेकर खरल कर दो गोलियां बना लें। एक गोली उष्ण दुग्ध या उष्णोदक के साथ प्रातःकाल दें। ताजी गोली गोली दें। इससे ३ से ५ घण्टे के भीतर विरेचन आरम्भ हो जाते हैं। इसरेचन खूब होते। कोई आतुर दुर्बलता अनुभव करता है। यदि विरेचन साथ न हों, तो गुरुता आदि का होना पाया जाता है। ऐसी दशा में विचार कर पुनः दूसरी गोली दें। अथवा—

एरण्ड स्नेह यथावश्यक शुण्ठी क्वाथ या महारास्नादि क्वाथ के साथ दें।

संसर्जन कर्म—विरेचनोपरान्त जब आतुर प्रसन्नचित हो जाता है, तब उष्णोदक में वस्त्र भिगोकर सम्पूर्ण शरीर को स्वच्छ करें। या उष्णोदक से स्नान कराए। शीतल पदार्थों का प्रयोग न करें। निर्वात स्थान में रहें।

पथ्य—एक दिन यूष के अतिरिक्त कुछ न दें। दूसरे दिन कृशरा खिचड़ी दें। तीसरे दिन दलिया दें। तत्पश्चात् सम्यक् पथ्य दें।

३—बस्तिकर्म

विरेचनकर्मोपरान्त ७ दिन व्यतीत होने के पश्चात् शरीर में बल होने पर बस्ति कर्म करना चाहिए। विरेचन तथा बस्ति दोनों शोधक हैं।

वस्तियन्त्र—अनुवासन वस्ति के लिए ग्लिसरीन पिचकारी तथा आस्थापन वस्ति के लिए एनीमा पाट का प्रयोग करना चाहिए।

पूर्वकर्म—सम्पूर्ण शरीर पर तैलाभ्यङ्ग करें। एतदर्थ महानारायण तैल अथवा नारायण तैल का प्रयोग करें। अभ्यङ्ग के पश्चात् उष्णोदक स्वेद करावें। भोजन में षाड्‌ रस दें। भोजन कुछ कम दें।

वस्ति के लिए औषधि—१—महाराज प्रसारणी तैल (२) नारायण तैल (३) महानारायण तैल (४) माषतैल।

मात्रा—आतुर की सहन शक्ति के अनुसार ३०० मि० लि०-तक दें। प्रथम दिन १०० मि० लि०, द्वितीय तथा तृतीय दिवस १५० मि० लि—तत्पश्चात् पूर्ण मात्रा दें। अथवा मात्रा वयानुसार दे। जितनी मात्रा रोगी सहन कर जाय वही उपयुक्त है।

तैल वस्ति से एक दिन पूर्व लवण जल वस्ति देकर उदर स्वच्छ करें।

शिरोवस्ति—अर्दित में शिरोवस्ति का कार्य अति महत्वपूर्ण होता है।

वस्ति यन्त्र—एक रबड़ की ट्यूब इतनी चौड़ी लें कि सिर में ठीक आ जाय। भ्रू से ऊपर सिर की परिधि के प्रमाण की काट लें।

विधि—रोगी को निश्चल आसन पर बैठाकर शिरोवस्ति को टोपीवत पहना कर सन्धि बन्धन कर किंचित उष्ण सुहाता-सुहाता महाराज प्रसारणी तैल भर दें। पहले दिन १५ मिनट, दूसरे दिन २० मिनट, इस प्रकार प्रतिदिन ५ मिनट बढ़ाकर १॥ घन्टे तक शिरोवस्ति धारण करावें।

विशेष ज्ञातव्य—पक्षाघात में दशमूलादि अनुवासन (च. सि. ४) अत्युपयोगी है।

४—नस्य कर्म—

अर्दित निवारण में नावन का स्थान भी महत्वपूर्ण है। एतदर्थ—नारायण तैल, महाराज प्रसारणी तैल, रोगन सुर्ख विशेष अनुभूत हैं।

अथवा १—शिरस के फूल रसौत, सूंठ, श्वेत वच, मंजीठ, हल्दी और पिप्पली सब समभाग लेकर सूक्ष्म वस्त्र पूत चूर्ण कर अजादुग्ध में पीसकर वर्तिका बना लें। निम्बू स्वरस में घिसकर नासिका में २-२ बूंद छोड़ें। नेत्र में अञ्जनवत लगावें।

२—उड़द, कौंच के बीज, रास्ना, बला एरण्डमूल, रोहिषतृण तथा अश्वगन्धा इनके क्वाथ में हींग तथा सैंधवलवण मिलाकर सुखोष्णनस्य देने से पक्षाघात कम्पवात अर्दित मन्यास्तम्भ और अपबाहुक में लाभ होता है।

चरक चि. अ २८ में अर्दित नाशक नस्य का उल्लेख है।

५—रक्तमोक्षण

आचार्य सुश्रुत ने चिकित्सा स्थान अध्याय ५ में सर्वांगवात व्याधि में सिरावेध से रक्तमोक्षण लिखा है।

हमने गृध्रसी तथा विश्वाचि में रक्तमोक्षण कराया है। किन्तु पक्षाघात आदि में रक्तमोक्षण कराना लाभप्रद प्रतीत नहीं होता।

अवगाहन वातनाशक द्रव्यों से विधिपूर्वक सिद्ध दुग्ध या तैल को एक द्रोणा में डालकर उसमें अवगाहन करना चाहिये।

यदि शरीर के किसी अवयव विशेष में वात का प्रकोप हो, तो उसी अंग का अवगाहन एवं परिषेक करें।

अवगाहन विधि—द्रोणा कड़ाहा (TUB) में तैल, कांजी का क्वाथ भरकर उसमें रोगी को बिठावें। सिर के ऊपर तैल, कांजी इत्यादि डालें, स्नान करावें।

रोगन अक्सीर फालिज—गुल बाबूना, नाखून, छड़ीला, बालछड़, नागरमोथा, नरकचूर, तालीसपत्र, रतनजोत, सुरंजान कड़वा, बूनादाना, कूठ, गारीकून, अफसंतीन रूमी, ऊदसलीब, जुन्दबेदस्तर, मजीठ लाल, अबहल रूमी, बच तुर्की, बालछड़ कड़वा, ५-५ ग्राम लें अर्क मकोय ३ बोतल, रोगन जैतून १ लिटर लें।

तैल-पाक विधि से तेल सिद्ध कर लें। फिर इसमें मुश्क (कस्तूरी) उत्तम ७ ग्राम मिलाकर रखें।

अभ्यङ्ग विधि-एक पात्र में निर्धूम अंगारे रख लें। मर्दन करते समय हथेलियां अंगारों पर गरम करके मालिश करें। साथ साथ थोड़ा २ सेक भी करते रहें। मर्दन धीरे-धीरे करते हुए तैल को त्वचा द्वारा शरीर में प्रविष्ट करें।

२—पोटली सेक

एक कटोरी में यथावश्यक महाराज प्रसारणी तेल डालकर कोष्ण-गुनगुना कर लें। फिर एक पोटली लेकर तेल में डुबा डुबाकर आक्रान्त स्थान् विशेषतः सन्धि स्थानों का सेक करें। सेक कम से कम १ घण्टा तक प्रतिदिन किया जाए सेक के पश्चात् मर्दन कर तेल को शुष्क कर देना चाहिए।

पोटली द्रव्य—माल कांगनी, आंबा हल्दी, काले तिल, चिरोंजी, नारियल गिरी, अकरकरा, जुन्दबेदस्तर १०-१ ग्राम, जायफल, जावित्री, लौंग ५-५ ग्राम, हाथी दन्त का बूरा, प्याज के बीज, कलौंजी १०-१० ग्राम लें। सबको कूट पीस एक रस कर १०-१० ग्राम की पोटली बना लें।

स्वेदन विधि—

स्वेदन द्रव्य—दशमूल २५० ग्राम, सम्भालु पत्र, गुडूची, अर्क पत्र, करञ्ज पत्र, तुलसी पत्र, सहिजन पत्र, पापाण भेद, मालती, एरण्ड मूल, वरुण पत्र, वासा पत्र, शण के बीज, वन-कपास मूल—१०-१० ग्राम। अथवा—सुश्रुतोक्त शाल्वण योग के सभी द्रव्य लें।

सब द्रव्यों को यवकुट कर एक मृतिका पात्र में डालें। उसमें जल ६ लिटर डाल, मुख बन्द कर चूल्हे पर रख नीचे आंच जलावें। जब पानी खूब उबल जाए तब नीचे उतार लें। एक परात में अंगारे डालकर उस में रख दें। निर्वात स्थान में बिस्तर रहित शय्या पर आतुर को लिटा दें और समयानुकूल वस्त्र ओढा दें। यह वस्त्र इतना लम्बा चौड़ा हो कि शय्या के चारों ओर धरती तक लटक जाए कि नीचे वात प्रविष्ट न होने पावे। यह वाष्प पात्र को परात सहित रुग्ण की खाट के नीचे सरका दें। वाष्प घट के मुख पर पतला सा वस्त्र ढक दें कि तीव्र वाष्प सीधे शरीर न लगने पावे। वाष्प पात्र को आगे-पीछे दाहिने-बाएं जिस ओर भाप देनी हो उसी ओर परात को सरकाते रहें।

अन्तः प्रयोज्य भेषज

१—मल्ल सिन्दूर (सि. भै. म.)।
२—खंजनिकारि रस (सि. यो. सं.)।
३—हंस राज रस (भै. र.)।
४—बृ० वात चिन्तामणि रस (भै. र.)।
५—सुवर्ण समीर पन्नग (सि. यो.)।
६—वातकुलान्तक (सि. यो. सं.)।
७—अमृत भल्लातक (सि. यो. सं.)
८—महायोगराज गुग्गुल (शा. सं.)
९—महारास्नादि क्वाथ (सि.यो. सं.)

कुछ अपने विशेष अनुभूत योग और लिखता हूं—

१—विड् पिष्टी (विशेष विवरण पीछे देखें)

२—मूर्च्छान्तक नस्य—कायफल ५० ग्राम, नकछिकनी १० ग्राम, कपूर १० ग्राम, केशर ५ ग्राम, पलाश पापड़ा १० ग्राम, शंख को सूखा कीड़ा १० ग्राम लें, कूट पीस वस्त्र पूत चूर्ण बना लें। आवश्यकतानुसार रोगी को सुंघावें। यह सभी प्रकार की मूर्च्छा दूर करने में समर्थ है।

अनुभव सार—

जब पक्षाघात पीड़ित चिकित्सार्थ आए तो सर्वप्रथम रोग के उपद्रवों पर ध्यान दें—

१—यदि रोगी मूर्छित है (मूर्छा पक्षाघात तथा अर्दित का एक मुख्य लक्षण है) तो उसको मूर्च्छान्तक नस्य देकर मूर्च्छा दूर करें।

२—यदि रुग्ण बोलने में असमर्थ हो, जिव्हा पीड़ित होकर विशेष रूप से अर्दित सहित पक्षाघात में जिह्वा आक्रान्त हो जाती है। तो जिव्हा पर बच चूर्ण मलें या स्वर्ण क्षीरी मूल से जिव्हा को रगड़ें। जिव्हा पर अभ्यङ्ग करावें।

★

बाल पक्षाघात (पोलियोमाइलाइटिस)

डा० वेदप्रकाश शर्मा त्रिवेदी, ए० एम० बी० एस०, एच० पी० ए०
अध्यक्ष—मानसिक व्याधि अनुसन्धान विभाग, भारतीय काय चिकित्सा संस्थान, पटियाला

यह व्याधि पक्षाघात के अन्तर्गत आती है। बच्चों को विशेष रूप से आक्रान्त करने के कारण बाल पक्षाघात संज्ञा दी गई है। आधुनिक पर्याय "पोलियो माइलाइटिस" शब्द "पोलियोज" "म्यूलोज" तथा "आइटिस" के सम्मिश्रण से बना है। इसका संक्षिप्त नाम "पोलियो" है जिसका क्रमशः हिन्दी शब्दार्थ है धूसर "मज्जा" व शोथ"। आयुर्वेद दृष्टया "मांस स्रोत रोधता है।

निदान—आधुनिक दृष्टया या संक्रामक रोग है जिसका जीवाणुओं से भी सूक्ष्म विष है।

आयुर्वेद में—संतर्पणोत्थ व्याधि है। अति स्निग्ध, गुरु आहार एवं अकाल भोजन से स्रोतो दुष्टि होकर मांस स्रोतोरोध हो जाता है।

पूर्वरूप—अधिकांशतः रात्रिकाल में सहसा जागने पर या स्वतः सहसा जगाये जाने पर वातावरण के परिवर्तन के कारण होता है यथा शीत से उष्ण, उष्ण से शीत आदि, बच्चों के ज्वर में शिरोवेदना, तन्द्रा, हर्ष, वमन, कम्पन आदि लक्षण दृष्टि गोचर होते हैं।

इस व्याधि के रूपों को अनेक अवस्थाओं में वर्गीकृत किया जा सकता है—

आक्रान्त अंग शैथिल्य, शनैं शनैं रस, रक्तादि क्षय, क्रिया हानि, अस्थि मार्दव, अंग शून्यता, पेशीक्षय वेदना कदाचित अंग गौरव

प्रथमावस्था—शरीर में संचित श्लेष्मा संचयावस्था में प्रतिश्याय, गौरव, आलस्य, हस्त पाद वेदना, ग्रीवा स्तम्भ आदि अभिव्यक्त होती है।

द्वितीयावस्था—रस धातु श्लेष्मा, ज्वर (तीव्र) ज्वर शमनोत्तर अंगघात करके बच्चों की अधः शाखायें शिथिल, शोथयुक्त, शीतल स्पर्शी १५ दिन दिन तक अवस्था रहती है।

तृतीयावस्था—पेशी क्रिया के कुछ सुधार होता है, सिर दर्द, पसीना निकलना कम होता है। अंग शूक शमन होता है। पेशीक्षय के कारण कुछ नाड़ी कोषिकाओं में स्थायी रूप से घटित होता है।

चतुर्थावस्था—घात के कारण स्रोतों के दलेष्मा संयुक्त अंग (खवैगुण्य) करके स्रोतोरोध कर देता है। परिणाम रूप पोषणाभाव में उस अंग का पेशीक्षय हो जाता है। अंग निर्जीव होकर सूख जाता है। आधुनिक विज्ञान इस अवस्था को अभी तक असाध्य मानता है। यावज्जीवन कष्टकर होता है।

सम्प्राप्ति—ऊपर पवन अन्य मेदा से अति स्निग्ध हुआ वायु द्वारा संचारित करता हुआ श्लेष्मा शरीर के जिस अंग में आजाता है वह अंग क्रिया हीन होता है।

पोलियो के लिए आतुर वय—चार वर्ष तक अधिक
संचय काल—५–१२ दिन अधिकतम ३५ दिन
घातकता—मारक नहीं, कष्ट कर ही।

रूप समुच्चय—
प्रभावित अंग क्रिया हीन वक्र, शुष्क, दुर्बल, गजने

वैकल्यकर, ज्ञानेन्द्रियों की नाड़ियों, प्रभावित होने से चक्षु, चक्षु विवर्तनी पेशियों, कर्ण, वाणी सम्बन्धी रोग, मानसिक रोगों के अतिरिक्त बौद्धिक विकास भी प्रभावित होता है। प्रभावित शाखा के हाथ पैर अंगुलियां जंघा, उरू वंक्षण कटि आदि विभिन्न अङ्ग अनेक प्रकार से आक्रान्त होकर शुष्क निष्क्रिय चेष्टाहीन शक्ति हीन हो जाते हैं।

आयुर्वेद के वात व्याधि के अन्तर्गत होने से वात विकृति सम्बन्धी लक्षण मिलते हैं।

आधुनिक पोलियो प्रतिरक्षण–

अन्य आधुनिक चिकित्सा पद्धतियां यथा होम्योपैथिक एलोपैथिक, बायोकेमिक, पोलियो को जीवाणु जन्य मानते हैं। प्रतिरोधक सूचीवेध(वेक्सीन) लगाने, पीने की दवा का कोर्स पूरा करते हैं, किन्तु प्रत्यक्षतः प्रति रक्षणोपरान्त भी इस व्याधि का आक्रमण देखा गया है। भारतेतर अमरीका फ्रान्स इंगलैंड आदि शिक्षित समृद्ध देशों में भी इसका प्रसार बढ़ रहा है।

आयुर्वेदीय पोलियो प्रतिरक्षण–

आयुर्वेद में गर्भाधान से प्रसव पर्यन्त गर्भिणी की मासानु मासिक गर्भिणी परिचर्या का सम्यक प्रावधान है जिससे शिशु पूर्णतः स्वस्थ, मेधावी, एवं सुन्दर रुप में जन्म ले सके। शिशु का नित्य प्रति युक्तिपूर्वक अभ्यंग स्वेदन बृंहण पौष्टिक आहार प्रावधान होनेसे वात विकृति की सम्भावना ही नहीं रह जाती है।

आयुर्वेदीय चिकित्सानुसंधान—

अहमदाबाद में अनुसंधानार्थ निम्न औषध व्यवस्था की गई।

नवीन आतुर—

१. वृहद् वात चिन्तामणिरस एवं का कारस्कर मिश्रण
मात्रा—४ ग्राम दिन में तीन वार
अनुपान दुग्ध
२. महानारायणतैल—मात्रावस्ति ५० मि०लि० दिनमें प्रातः काल एक वार
३. दशांगलेप एवं गुगुल लेप प्रभावित अंग पर
४. वालुका स्वेद- दिन में एक वार
उपचारावधि —एक कोर्स २१ दिन

जीर्ण आतुर—

१. वृहद् वातचिन्तामणि रस दूध से दिन में तीनवार
२. महानारायणतैल मात्रा वस्ति ५ मि० लि० प्रातःकाल दिन में एक बार
३. महानारायणतैल—नित्य अभ्यंग एक वार
४. षष्ठि शालि पिण्ड स्वेद—दिन में एक वार प्रातः
उपचारावधि— २१ दिन

यतः २१-२१ दिन के तीन चक्रों में चिकित्सा व्यवस्था द्वारा अन्तरंगानुसन्धान किया गया। दो चक्रों के मध्य एक माह का अन्तराल रखा गया। इस अन्तराल में आतुर को घर-पर औषधि सेवन एवं पथ्य का निर्देश किया गया।

अवेक्षण पद्धति—

लाक्षणिक अवेक्षण मांसपेशी परीक्षण, प्रयोगशालीय परीक्षण किये गये। कोई, उपद्रव लक्षित नहीं हुआ।

निष्कर्ष—आतुरों ने आशाजनक लाभ प्राप्त किया इसके उपरान्त केन्द्रीय अनुसन्धान संस्थान (वर्तमान भारतीय काय चिकित्सा संस्थान) पटियाला में जब मेरा अहमदाबाद से स्थानान्तरण हुआ तब मैंने पंचकर्म व पक्षाघात शोधान्तर्गत पोलियो चिकित्सानुसन्धानार्थ परियोजना से निम्न चिकित्सा व्यवस्था रखी इसकी (अन्तरंगविभागान्तर्गत)

१. महायोग राज गुग्गुलु १गोली प्रातः सायं दूध से।
२. महानारायण तैलाभ्यंग १ वार प्रातः
३ षष्टि शालि पिंड स्वेद १ वार प्रातः
४. एरण्ड स्नेह ५ मि०लि० दूध से एक वार
उपचारावधि—४५ दिन

अवेक्षण पद्धति—जिस प्रकार, अहमदाबाद में रखी गई उसी प्रकार यहां रखी गई।

निष्कर्ष—आतुरों में आशाजनक लाभ प्राप्त किया, गतिशील हुए।

उक्त व्यवस्था तीन चक्रों में रखी गई। १५-१५ दिन का अन्तराल रखा गया। अन्तराल में घर पर औषधि व पथ्य का निर्देश किया गया। ●

जिह्वा स्तम्भ

वैद्य श्री गजानन स्वामी
नरेना जयपुर (राजस्थान)

पूजनीय अग्रज श्रीयुत गजानन जी स्वामी में सहिष्णुता, दया, प्रेम, विवेक, उदारता, संयम, सेवा धारक सच्ची धर्म निष्ठा विद्यमान है। धर्म निष्ठा और कर्म निष्ठा समान अर्थ बोधक है– इस विशेषता के कारण सम्मान मिलता है। आपने अपनी चारू चिकित्सा से पुण्य यश एवं श्री की प्राप्ति की है। महर्षि सुश्रुत ने आयुर्वेद के प्रति कहा ही है–
"तदिदं शाश्वतं स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं वृत्तिकरंचेति।"
आपने जिह्वा स्तम्भ" नामक लेख प्रेषित कर अनुग्रह किया है जो वस्तुत स्तुत्य है।

—विशेष सम्पादक

यह एक कफ नुबन्धित वात व्याधि है। जिसमे जिह्वा का घात (Tongue Paralysis) होना है। इस रोग में वाग्वाहिनी बारहवीं अधोजिह्विका नाड़ी (Hypoglossal Nerve) में विकृति होती है। जैसा कि कहा गया है—

> वाग्वाहिनीसिरासंस्थो जिह्वां स्तम्भयतेऽनिलः।
> जिह्वास्तम्भः स तेनान्न पानवाक्येष्वनीशता ॥

सुषुम्नाशीर्ष के अधो भाग में स्थित बारहवीं नाड़ी की न्यष्ठीला से उक्त नाड़ी का प्रादुर्भाव होता है। मस्तिष्क तल (Cortical Level) से भी तन्तु आते है। सुषुम्नाशीर्ष से निकल कर यह पश्चात् कपालास्थि के पुरःस्थ रन्ध्रमार्ग के द्वारा कपाल से निकलकर जिह्वा की सम्पूर्ण बाह्य और आभ्यन्तर पेशियों में चेष्टा उत्पन्न करती है। वर्धनशील कान्दिक घात (Progressive Bulbar Paralysis) में मस्तिष्कस्काध और सुषुम्ना के ऊपरी दो ग्रैवेयक पर्वों से सम्बन्धित नाड़ियों के क्षेत्र में जब अंगघात होता है तब भी यह अधोजिह्विक (Hypoglossal) नाड़ी प्रभावित होती है।

जिह्वास्तम्भ में कफ स्थान में वायु की विकृति होने से दोनों दोषों की कारणता सिद्ध होती है। विक्षत स्थल की विशेषता के अनुसार लक्षणों में भी विशेषता पाई जाती हैं—

१. कर्ध्वन्यष्ठीलकीयविक्षत (Supra nuclear Lesion) यह बल्क (Cortex) या अन्तः कूर्चवालिका (Internal caperule) में होता है। इसके साथ प्रायः अर्धांगघात भी रहता है। जिह्वा का एक ही पार्श्व घात युक्त होता है। आक्रान्त स्थल कठोर हो जाता है, बोलने में असमर्थता प्रकट करता है।

२. न्यष्ठीलकीयविक्षत (Nuclear Lesion) स्थानीय रक्त वाहिनी की विकृति या अर्बुद के कारण यह विकृति उत्पन्न हो सकती है। इसमें प्रायः दोनों ओर की नाड़ियाँ विकृत होती हैं अतः रोगी के बोलने का सामर्थ्य सर्वथा लुप्त हो जाता है। किसी वस्तु को निगलने में या चबाने में भी अत्यधिक असुविधा होती है। इसमें सम्पूर्ण जिह्वा का ही घात हो जाता है।

अधो जिह्विका नाड़ी

● गजानन्द स्वामी ●
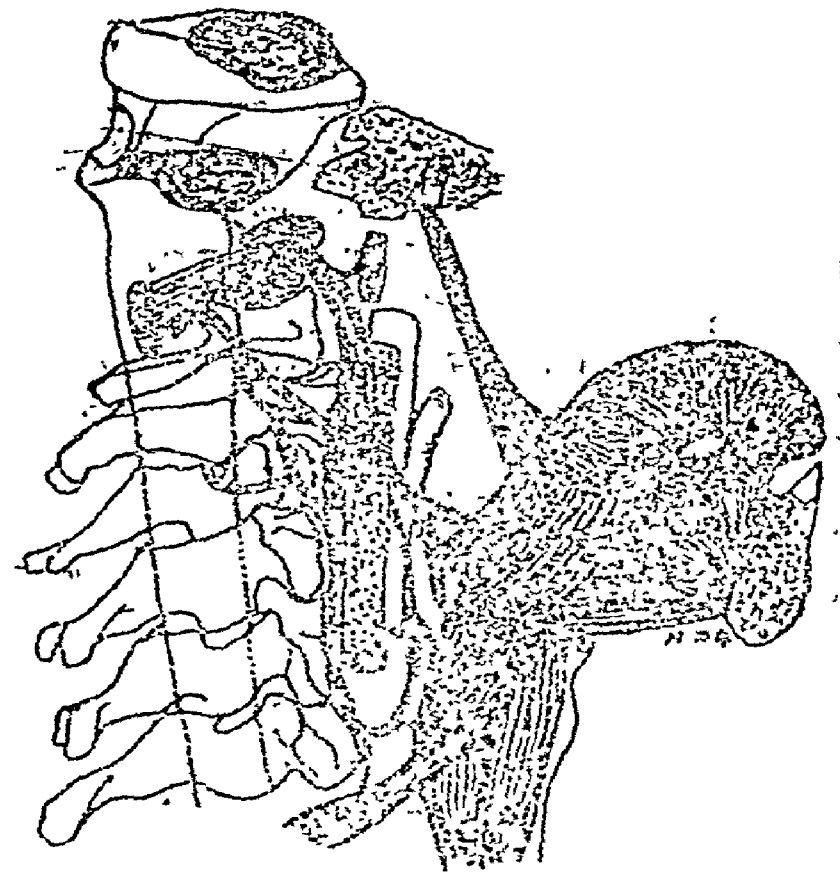
३. अधोन्यष्ठीलकीय विक्षत (Infranuclear Lesion) इसमें घात प्रायः जिव्हा के एक पार्श्व में ही होता है अतः रोगी चबाने निगलने में तथा बोलने में पूर्णतया असमर्थ नहीं हो पाता है। इसके हेतु मस्तिष्क सुषुम्नावरणशोथ, मध्यकर्ण शोथ, ग्रीवा पर आघात तथा लसग्रन्थियों की वृद्धि है। जिव्हा को बाहर निकालने पर वह पक्षाघात की ओर मुड़ी हुई होती है। एक पार्श्व में घात होने से ही जिव्हा बाहर निकल सकती है। इसमें स्फुरण (फैसीक्यूलेशन) भी होने लगते हैं।

जिव्हा की धातु का क्षय हो जाता है, उसमें सिकुड़नें पड़ जाती हैं, निगरण कम हो जाता है। मुख से लार बहने लगती है।

किन्तु जिव्हा-स्तम्भ में जिव्हाघात होता है जबकि जिव्हकसन्निपात में जिव्हा "श्यावकंटकिनी" होती है। 'कुत्सिता जिव्हा इति जिव्हकः, कुत्सायां कन्' के अनुसार जिव्हा कुत्सित होती है उसका स्तम्भ (घात) नहीं होता है।

चिकित्सा—

१. वाताद्याध्मनीदुष्टो स्नेहगण्डूषधारणम्।

२. जिव्हाजड्वाताङ्कुशरस—पारद ५ पल, ताम्र भस्म १ पल, गन्धक ५ पल (जम्बीर रस पिष्ट) सभी ताम्बूलस्वरस में पीस कर काचकूपी में रख लघुपुट में पकावें। इसमें त्रिकटु मिलाकर २ गुंजा सेवन करावें। महारास्नादिक्वाथ से दें।

३. महावातविध्वंसन १ रत्ती, एकांगवीररस १ रत्ती, स्मृतिसागररस १ रत्ती, स्वर्णमाक्षिक भस्म २ रत्ती घृत में मिलाकर चटावें।

४. प्रातः योगेन्द्र रस मधु से मध्यान्ह में मकरध्वज लवंगजल से एवं सायंकाल रसराज दुग्ध से कुछ दिन सेवन करायें।

५. मस्तिष्क में भलीभांति रक्त संचार करने के लिए माषादिक्वाथ का नस्य देना चाहिए—

उड़द, खरेटी, कौंच के बीज, रोहिष घास, रास्ना, असगन्ध, एरण्ड की छाल इनके काढ़े में भुनी हींग तथा कुछ सेंधानमक मिलाकर कुछ उष्ण नाक द्वारा पीने से ७ दिनों में ही लाभ दृष्टिगोचर होगा।

६. कल्याण लेह (भ. द.) १ ग्राम, घृत में मिलाकर २१ दिन तक सेवन करने से लाभ होता है।

७. चिरायता, कुटकी, अकरकरा, कुलिंजन, कचूर, पीपर के क्वाथ में सरसों का तेल और बिजौरे का रस मिलाकर पीने से जिव्हा के दोष दूर होते हैं।

८. "कटु तैलार नासाभ्यां कुर्वीत कवलग्रहम्"— सरसों का तैल और कांजी से कवलग्रह मुख में रखें। मध्यमनारायण तैल (भै. र.) भी इस निमित्त लाभप्रद है।

९. महावात गजांकुश द्वितीय (भै. र.) भी उत्तम है क्योंकि यह रस श्लेष्मानुबन्ध वात में प्रशस्त है।

१०. तिन्दुक (काला तेंदू) की जड़का क्वाथ अथवा इसकी छाल ६ माशा और कालीमिर्च २ तोला पानी में पीसकर जिव्हा पर मलने से भी लाभ होता है।

११. घृतकुमारी के गूदे के साथ सेंधानमक मिलाकर पकावें फिर मसल कर कपड़े में रख रस निचोड़ कर कुछ गरम करें दिन में २ ३ बार गण्डूष करावें। गण्डूष के बाद कपूर, मिर्च, अकरकरा व सेंधानमक पीसकर जीभ पर मलना चाहिये।

१२. परकोक्त दशमूलादि तथा खर्जूरादिघृत को पृथक्-पृथक् या एक साथ मिलाकर सेवन करना भी हितावह है।

१३. लहसुन कल्क २ तोला, गोघृत १ तोला में संजीवनी वटी २ का चूर्ण मिलाकर चाटने से जिव्हा स्तम्भ ही क्या सभी वातरोग नष्ट होते हैं।

१४. ३ माशे उत्तम लहसुन को साफ कर खरल में पीसकर चटनी बना लें। इसे एक कपड़े में रखकर निचोड़ कर रस निकाल लें। इस रस में उत्तम केशर ४ रत्ती भिगो दें। आधा घन्टे बाद केशर को सिल पर घिस कर इसमें २ रत्ती मकरध्वज तथा १ तोला नवनीत मिलाकर चाटें ऊपर से दूध पीवें। १५ ताम्र भस्म, मकरध्वज १-१ चावल, नौसादर माशा। सबको घोटकर अदरक के रस के साथ जिव्हा पर दिन में ३ बार रगड़ने से लाभ होता है।

नैदानिक चिकित्सात्मक अध्ययन

श्री एल० एन० शर्मा

यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव: ॥

वस्तुत: जो कर्म सात्विक भावापन्न हैं वही धर्म है इसी में मनुष्य सम्पूर्ण बनता है, इस समाकलित सम्पूर्णता में जीना ही दिव्य जीवन है। इस ओर प्रयासरत अनुज श्री लोकमान्य जी का शिक्षण एवं साधना प्रशंसनीय है। मेरे आग्रह पर आपने एक महत्वपूर्ण निबन्ध प्रेषित किया है जिससे पाठक उपकृत होकर साधुवाद दिये बिना न रह सकेंगे। इस भ्राता की भगवान् भूतप्रभु से सर्वतोमुखी समुन्नति की मंगलकामना करता हूं।

प्रगति पंथ पर नित बढ़े, कभी न व्यापे शोक।
लोकनाथ इस लोक में, पावे यश आलोक ॥

—विशेष सम्पादक

परिचय—

आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान में ८० प्रकार के वात के नानात्मज वातविकारों का उल्लेख प्राप्त होता है। गृध्रसी रोग का उभयविध सामान्यज तथा नानात्मज विकारों में हेतुदृष्ट्या समावेश किया गया है। (चरक सू० १९–२०) गृध्रसी रोग वेदना प्रधान प्राचीन काल से ही जन सामान्य में प्राप्त सक्थि क्रिया हानि करने वाला वह रोग है जिसकी विकृति का पूर्ण ज्ञान न होते हुए भी मुख्य हेतु आवरण या क्षयजन्य प्रभाव ही तन्त्रिकातन्त्र पर उल्लिखित है। यदा कदा कोमल स्नायु तन्तुओं (Soft Tissue) का शोथ एवं अन्तश्चक्रिका का भ्रंश या स्नायुओं में आवरण, स्रोतोरोध तथा क्षय, अपचयात्मक प्रवृत्ति के परिवर्तन हैं जो गृध्रसी, नाड़ी मूल, नाड़ी या नाड्यावरण में शोथ, रक्तिमा व वेदना तथा गृध्रसी नाड़ी क्रिया में अनियन्त्रित कार्य के हेतु हैं। अग्निमांद्य जनित आम रस तज्जन्य धातु चयापचयिक वैषम्य के कारण वातश्लैष्मिक विकृति होती है। यद्यपि इसका नैदानिक चित्र इस बात पर निर्भर करता है कि गृध्रसी नाड़ी का कितना भाग इन हेतुओं से प्रभावित होता है पुनरपि गृध्रसी रोग का निदान काफी स्पष्ट ही पाया जाता है। चरक ने गृध्रसी रोग के प्रत्यात्म लक्षणों को स्पष्ट करते हुए" स्फिक् पूर्वा कटिपृष्ठोरु जानु जंघा पदं क्रमात्" चरक १९६२ (२) ने लिखा है जो इस रोग के प्रत्यात्म लक्षण है। इस क्रम में होने वाली वेदना से गृध्रसी रोग की नैदानिक स्थिति का स्पष्ट निर्देश प्राप्त होता है।

आचार्य शारंगधर ने भी तोद भेद आदि का उल्लेख नानात्मज वात विकारों में किया है जो गृध्रसी रोग के मुख्य लक्षणों में समाविष्ट है। स्पष्टत: गृध्रसी वात विकार है एतदर्थ गृध्रसी रोग का उपचार वातशामक, आवरण तथा क्षयजन्य निदान को दृष्टिगत करते हुए एवं वातश्लैष्मिक गृध्रसी के शमनार्थ दीपन, पाचन, वातानुलोमक व शोधक, शोथ नाशक, वेदनाशामक करना अनिवार्य होगा।

उक्त रोग की चिकित्सा हेतु विभिन्न औषधियों का प्रयोग यथा-पिप्पली (अथर्ववेद १९७५) (४) रसोन, गुग्गुलु एरण्ड, शुण्ठी, संभालु, रास्ना, (चक्रदत्त १९५८) (५) भल्लातक (पाण्डे एवं सहयोग १९७१) (६) रसोन) (लोकनाथ १९७५) (७) ने समय-समय पर निर्दिष्ट किया है परन्तु आशुलाभकारिता की दृष्टि से एवं निरापद औषधियों की न्यूनता यथावत् दृष्टिगत होती है।

एरण्ड पाक का (आ० मि० १ र० त० सं० १९४२) (८) में प्रयोग उल्लिखित है, अनुसन्धान केन्द्र उदयपुर में पूर्व प्रयोगीय परिणामों के आधार पर स्थानान्तरित करके वातारिपाक कल्पना विशेष का प्रयोग इस रोग पर किया गया है। उक्त योग की आशुलाभकारिता व स्थायी रोगोन्मूलन के सम्बन्ध में जानकारी करने का प्रयास किया गया है।

सामग्री एवं कार्य प्रणाली—

१ किलो एरण्ड बीज की अन्तर्जिह्वा निकाले हुए मगज को पीस कर ४ किलो गौ दुग्ध में पाचित कर खोवा बनाया गया पश्चात् ५०० ग्राम घी में पाक किया गया, तदनन्तर २॥ किलो चीनी की चासनी निर्माण कर खोवे में मिलाई गई एवं प्रक्षेप द्रव्यों का कपड़छन द्रव्य मिलाकर जमा किया गया। इस प्रकार पाक निर्माण विधि से इस योग का निर्माण सम्पादित किया गया। (सारणी संख्या १)

नैदानिक परीक्षण—

आतुर में निम्न लक्षणों के पाये जाने पर इस रोग का विनिश्चय किया गया—

१—स्तम्भ—कटि, त्रिक, उरू, जंघा मांसपेशियों में स्तम्भ तथा आक्रान्त सक्थि की कार्यकारी शक्ति में ह्रास होना।

२—रुक्—गृध्रसी नाड़ी के समानान्तर क्षेत्र में विशिष्ट प्रकार की वेदना की अनुभूति होना एवं उत्क्षेपण-अपक्षेपण क्रिया सम्पादन में असह्य रुजा तथा इन क्रियाओं के सम्पादन में असमर्थता।

३—तोद—सूचि तोदवत् तीव्र वेदना, नाड़ी क्षेत्र में दबाने पर स्पर्शासह्यता।

४—मुहुःस्पन्दन, देह प्रवक्ता—वातिक गृध्रसी में एवं अग्निमांद्य, अरूचि, विशेष स्तम्भ, वातश्लैष्मिक गृध्रसी में देखे गये हैं।

गृध्रसी नाड़ी की विभिन्न शाखाओं के प्रभावित होने पर लक्षण विशेष होते हैं जो सारणी संख्या २ से स्पष्ट होते हैं। (दृष्टव्य सारणी संख्या-२) इसके साथ ही साथ मूत्र, मल, रक्त, रक्त अवसादन गति एवं आवश्यकतानुसार क्षय किरण का भी प्रयोग किया गया।

विभेदक निदान—

गृध्रसी रोग का उरुस्तम्भ, कलायखञ्ज, वातकण्टक, गुदगतवात, आम वातिक मांसपेशी शूल (सक्थि गत) आदि रोगों से विभेद करना आवश्यक है। प्रायः इन रोगों में कुछ लक्षण सामान्य होते हैं। इसके सम्बन्ध में सारणी संख्या ६ से स्पष्ट किया जा सकता है।

दृष्टव्य परीक्षण एवं परिणाम—

परिणाम अध्ययन में अधोलिखित लक्षणों को आधार मानते हुए ३ वर्गों में विभक्त किया गया है—

१—पूर्णतः लाभित २—आंशिक लाभित ३—अलाभित

परिणाम निर्धारण लक्षण तालिका

सारणी संख्या—७

पूर्णतः लाभित	आंशिक लाभित	अलाभित
लक्षणों का पूर्ण शमन	लाक्षणिक शमन	कोई लाभ नहीं
एवं उत्क्षेपण, अपक्षेपण क्रियाशीलता	उत्क्षेपण, अपक्षेपण क्रियाशीलता	
स्पर्श सह्यता	स्पर्श सह्यता	,,
पूर्ववत् कार्यक्षमता की प्राप्ति	पूर्वापेक्षा अपूर्ण कार्य क्षमता	,,
१२ मास तक रोग की पुनरावृत्ति नहीं हुई।	पुनः परीक्षण संभव नहीं हुआ।	,,

यह देखा गया है कि सारणी संख्या ७ के अनुरूप रुग्णों पर परीक्षणोपरान्त १६० रुग्ण पूर्णतया अलाभित रहे।

इस चिकित्सा क्रम से गृध्रसी रोग के २०० आतुरों पर प्रयोग करते हुए चिकित्सोपरान्त वातारिपाक के प्रभाव से २.५ प्र० श० रोगी अलाभित, ८० प्र०श० पूर्ण लाभित

एवं शेष रुग्ण आंशिक लाभित पाये गये।
(दृष्टव्य सारणी संख्या ११).

उक्त योग से गृध्रसी रोग के आतुरों पर अनुसन्धान केन्द्र, उदयपुर के आतुरालय में अध्ययनान्तर्गत उक्त रोग के सर्व प्रमुख लक्षणों में वेदना ने ९७'५ प्र० श०, स्पर्शासह्यता में ९६'१ प्र० श०, मुहुस्पन्दन में ९५'४ प्र० श०, पेशीस्तम्भ में ९०'६ प्र० श०, सज्ञानाश में ८५'७ प्र० श० पेशीघात में ७५ प्र० श० तथा शैथिल्य में ८० प्र० श० लाभ देखा गया।

सारणी संख्या ९ एवं १३ को देखने से स्पष्ट बोध होता है कि इस रोग से पुरुष स्त्रियों की अपेक्षा अधिक संख्या में ग्रसित होते हैं। सम्पूर्ण प्रयोगीय अध्ययन में आतुरालय में समागत गृध्रसी आतुरों में अधिकांश रुग्ण वातिक गृध्रसी से प्रभावित थे। एतदर्थ स्वतः सिद्ध है कि वातिक गृध्रसी जन साधारण में अधिक प्रचलित है परन्तु लिंग भेदानुसार देखा जावे तो स्त्रियों में वातश्लेष्मिक गृध्रसी का ही बाहुल्य पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि चिकित्सा क्रम में पुरुष एवं स्त्री चिकित्सा क्रम को यहाँ वात एवं वातश्लेष्मिक क्रम में क्रमश करना नितान्त आवश्यक है। प्रस्तुत क्रम में की गई चिकित्सा में यह देखा गया है कि वातश्लेष्मिक गृध्रसी नैदानिक दृष्टिकोण से कष्टसाध्य तथा चिकित्सा की दृष्टि से दीर्घकालीन साध्य होती है। साथ ही यह भी देखा गया कि वातश्लेष्मिक गृध्रसी रोगियों को साधारण तथा दीर्घ कालावधि तक अधिक मात्रा में औषध सेवन भी करना होता है।

वयानुसार देखा गया कि गृध्रसी साधारणतया ४१ से ५० वर्ष की अवस्था में सर्वाधिक प्रभावकारी रोग है तथा १ से २० वर्ष की वय में सबसे कम होता है। जो सारणी संख्या १० से स्पष्ट है।

विकृति विज्ञानीय परीक्षणों से एक स्पष्ट तथ्य परिलक्षित होता है कि वातिक गृध्रसी रुग्णों की अपेक्षा वातश्लेष्मिक गृध्रसी रुग्णों में रक्तअवसादन बढ़ी हुई देखी गई है। सामान्यतया २०० रुग्णों में प्राप्त परिणामों से १४५ रोगियों में जोकि वातिक गृध्रसी से प्रभावित थे सामान्य रक्त अवसादन गति से अधिक नहीं देखी गई, जबकि वातश्लेष्मिक गृध्रसी से रोगियों के ५५ रुग्णों में से सभी रोगियों में रक्तअवसादन गति बढ़ी हुई पाई गई। जो औसतन २० से ६० एम० एम० प्रति घण्टा अंकित की गई। जिससे अन्य नैदानिक विभेदक लक्षणों में जो कि वातिक व वातश्लेष्मिक गृध्रसी का स्पष्ट अन्तर दर्शाते हैं उनमें यह एक और मूलभूत लक्षण जोड़ा जा सकता है। यद्यपि यह परिणाम मात्र इस क्षेत्र के रोगियों पर ही आधारित है एवं इस निष्कर्ष के शाश्वत् निर्धारण के लिये अन्य क्षेत्रों से भी परिणाम का संकलन व अध्ययन परमावश्यक है। जिससे यह रोग विनिश्चयार्थ आधार बन सके. यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वातिक प्रकृति के पुरुष स्त्री इस रोग से अधिक ग्रसित होते हैं। सारणी संख्या १ ।

विमर्श :—

एरण्ड पाक के प्राथमिक परीक्षण में यह देखा गया कि इस पाक के प्रयोग से लाभ की दृष्टि से यह इतने सुदृढ़ परिणाम प्राप्त नहीं होते जितने कि रूपान्तरित वातारि पाक [सारणी संख्या १] प्रयोग आतुरों के सेवन हेतु किया गया है यद्यपि अभी तक किये गये सभी प्रयोगों में प्रयुक्त घटकों से युक्त औषध योग आशुलाभकारी रहा है। इस सम्बन्ध में प्रयास किये जा रहे हैं कि इस योग के घटकों को न्यूनतम किया जाकर या इसकी मात्रा न्यूनाधिक करके अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सके।

मूलतः वातारिपाक के घटक द्रव्यों के परीक्षण का अवलोकन करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह तिक्त एवं कटुरस प्रधान होते हुए भी किंचित मधुर एवं कषाय रस युक्त है गुणों की दृष्टि से स्निग्ध, तीक्ष्ण, सर, सूक्ष्म होते हुए भी पिच्छिल, गुरु एवं लघु गुण युक्त है एवं उष्ण वीर्य एवं कटु व मधुर विपाकीय द्रव्यों से युक्त है। अतः यह औषधि तीक्त कटुरस, स्निग्ध तीक्ष्ण, सर गुण युक्त उष्ण वीर्य एवं कटु विपाकीय प्रभाव धारक है। तथा इस योग के प्रमुख घटक द्रव्य एरण्ड बीज, कुलञ्जन, सुंठी, अश्वगन्धा, यवानी, इन्द्रायण आदि द्रव्य वेदना स्थापक हैं एवं यह औषध योग शोथ हर, भेदन वयःस्थापक, बृंहण दीपन पाचन,

लिंगानुसार विवरणिका

क०	पुरुष	स्त्री	योग
१.	१०६	६४	२००
२.	५३%	४७%	१००%

वयानुसार विवरणिका

क्र० सं०	वय वर्षों में	अधीत आतुर	प्राप्त आतुर	प्रतिशत
१.	१ से २० वर्ष	२००	२४	१२ प्र.श.
२.	२१ से ३० वर्ष	,,	६२	३१ प्र.श.
३.	४१ से ६० वर्ष	,,	७६	३८ प्र.श.
४.	६१ से अधिक	,,	३८	१९ प्र.श.

चिकित्सा परिणाम विवरणिका

क्र० सं०	पूर्ण लाभ	आंशिक लाभ	अलाभ
१.	१६०	३५	५
प्रतिशत	८० प्र.श	१७.५ प्र.श	२.५ प्र.श
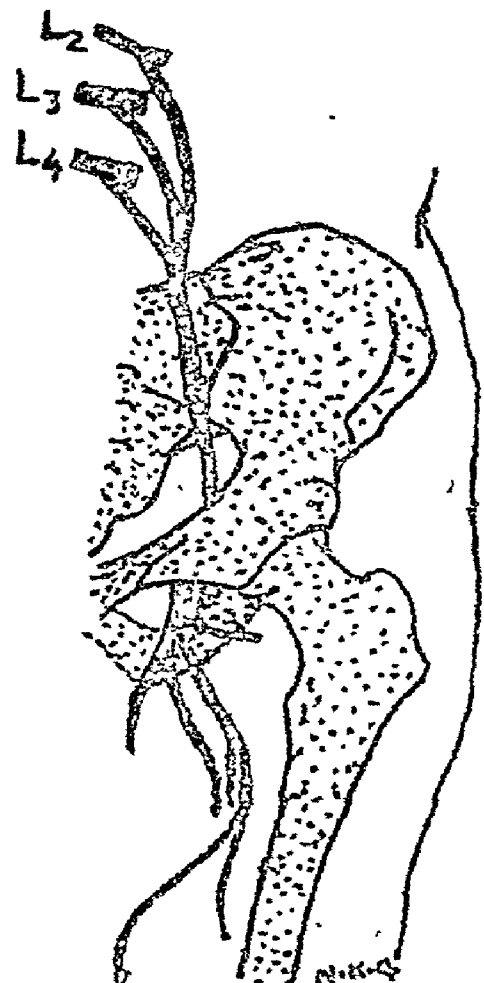
मनुर्जंघा नाड़ी

निष्कर्ष

१ वातिक गृध्रसी रोग वातश्लैष्मिक गृध्रसी रो की अपेक्षा अधिक संख्या में होता है। पुरुषों में वाति तथा स्त्रियों में वातश्लैष्मिक गृध्रसी अधिक होती है।

२—वातिक गृध्रसी रोगियों को वातश्लैष्मिक गृध्र रोगियों की अपेक्षा अधिक लाभ पहुंचाया जा सकता है।

३—वातिक एवं वातश्लैष्मिक गृध्रसी में रक्तकम्प गति एक विभेदक लक्षण रूप में सैद्धान्तिक सहायता लिये प्रयुक्त की जा सकती है।

४ – रूपान्तरित वातारि पाक गृध्रसी रोग चिकित में एक प्रभावी औषध सिद्ध हुई है।

धन्यवाद ज्ञापन—

लेखक श्रीमान् प्राचार्य महोदय, श्री वासुदे शास्त्री, राजकीय मदन मोहन मालवीय आयुर्वेद मह विद्यालय उदयपुर के प्रयोगशालीय आतुरालीय ए रसायनशाला व निर्माण सम्बन्धी सुविधायें प्रदान करने हे

सन्दर्भ ग्रन्थ

१ ३—चरक संहिता

२ त्रिपाठी एस. एन. ओझा डी. एव किशोर पं १९६९ एन्टासेप्टिक।

४—अथर्ववेद १९७५ श्री राम आचार्य बरेली।

५—चक्रदत्त १९५९।

६—रेड्डी, पाण्डे, त्रिपाठी एस. एन., उपाध्या साइटिका मेनेजमेन्ट..............सेमी कापर्स इन्डि नागार्जुन ५: ६–१५,

७—शर्मा लोकनाथ १९७५ गृध्रसी रोग का नैद निक चिकित्सात्मक अध्ययनशोध प्रयागस्नातकोत्तर मह निबन्ध, राजस्थानविश्व विद्यालय, जयपुर।

८ वाग्भट निदान अध्याय–१.

माधव निदान

चरक चिकित्सा अध्याय–२८

द्रव्यगुण विज्ञान–प्रियव्रत शर्मा।

यह शोधपत्र सेमिनार ऑन आयुर्वेदिक रिसर्च गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय जामनगर नवम्बर ७६ में प्रस्तु किया गया।

● एस० एन० शर्मा ●

वैद्य भानु प्रताप आर० मिश्र

विशेषाङ्क हेतु सर्व प्रथम उपयोगी लेख भेजने वालेवैद्य श्री भानुप्रताप आर महोदय से धन्वन्तरि के पाठक परिचित हैं। आप योग्य विवेचक योग्य चिकित्सक तथा योग्य लेखक हैं। आपके लेखों में विषय का प्रतिपादन स्पष्ट तथा सुष्टु होता है जिससे पाठक स्वयमेव आकर्षित होता है। गृध्रसी रोग पर पूर्ण विवेचनापरक लेख इसका साक्षी है।

गृध्रसी एक स्नायुगत रोग है मोटी स्नायु को ही शास्त्र में कंडरा कहा गया है। त्रिक के प्रथम, द्वितीय तृतीय कशेरुका से निकले स्नायु सूत्रों तथा कटि कशेरुका चतुर्थ, पञ्चम स्नायु सूत्रों से कूर्च नामक स्नायुसूत्र नाड़ी बनती है। उक्त वेणी से प्रवेणी बनकर शुण्डिका पेशी तक जाती है। वहां पहुंचने पर यह दो भागों में विभक्त हो जाती है। ऊपरी का नाम महा गृध्रसी तथा निचली का नाम गुदोपस्थिका नाडी प्रवेणी पड़ता है। फिर यह श्रोणिफलक के गृध्रसी द्वार से निकल कर पीछे से आती है। यहां यह पश्चिम जंघिका एवं पुरो जंघिका नाम से विभक्त हो जाती है। पश्चात् जंघा के पूर्व पश्चिम भाग से होते हुए यह पादनखान्त तक जाती है

★ ★ ★ ★ ★ ★ विशेष सम्पादक

गृध्रसी एक वेदना प्रधान कष्टदायक व्याधि है। इस रोग का रोगी प्रतिक्षण वेदना से ग्रसित रहता है। इस रोग के कारण शरीर में पांगुता, मांसशोष, शरीर में वक्रता, क्रिया हानि इत्यादि स्थायी विकृतियां कालान्तर में उत्पन्न होती हैं गृध्रसी स-आमज व्याधि तथा अप नगत वैगुण्य के परिणामस्वरूप रोग उत्पन्न होता है।

आयुर्वेद में गृध्रसी शब्द का अर्थ "गृध्रमिदस्यति भक्ष्यति" होता है। गृध्र अर्थात् गीध (गिद्ध) जिस प्रकार मांस को नोंच-नोंचकर खाता है उस प्रकार असह्य पीड़ा (वेदना) इस रोग में होती है। "गृध्रमिवस्यति गच्छति।" जिसमें रोगी गिद्ध के जैसे चलता है। चलने की प्रक्रिया से गृध्रसी रोग का निदान सरलता से किया जा सकता है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में गृध्रसी को सायेटिका (Sciatica) कहते हैं सायेटिका ज्ञानतन्तु (Sciatica Nerve) के प्रसारण में शूल होता है। इसका मुख्य कारण सायेटिका ज्ञानतन्तु का शोथ है इसमें शूल प्रधान लक्षण है।

गृधसी के कारण:—आयुर्वेद के ग्रन्थों में गृध्रसी रोग के कारण का स्वतन्त्र वर्णन नहीं मिलता। परन्तु वात व्याधि के सामान्य कारणों से गृध्रसी की उत्पत्ति हो सकती है। इसलिए यहाँ वातव्याधि के आधार पर गृध्रसी के कारणों का विवरण दिया जायेगा।
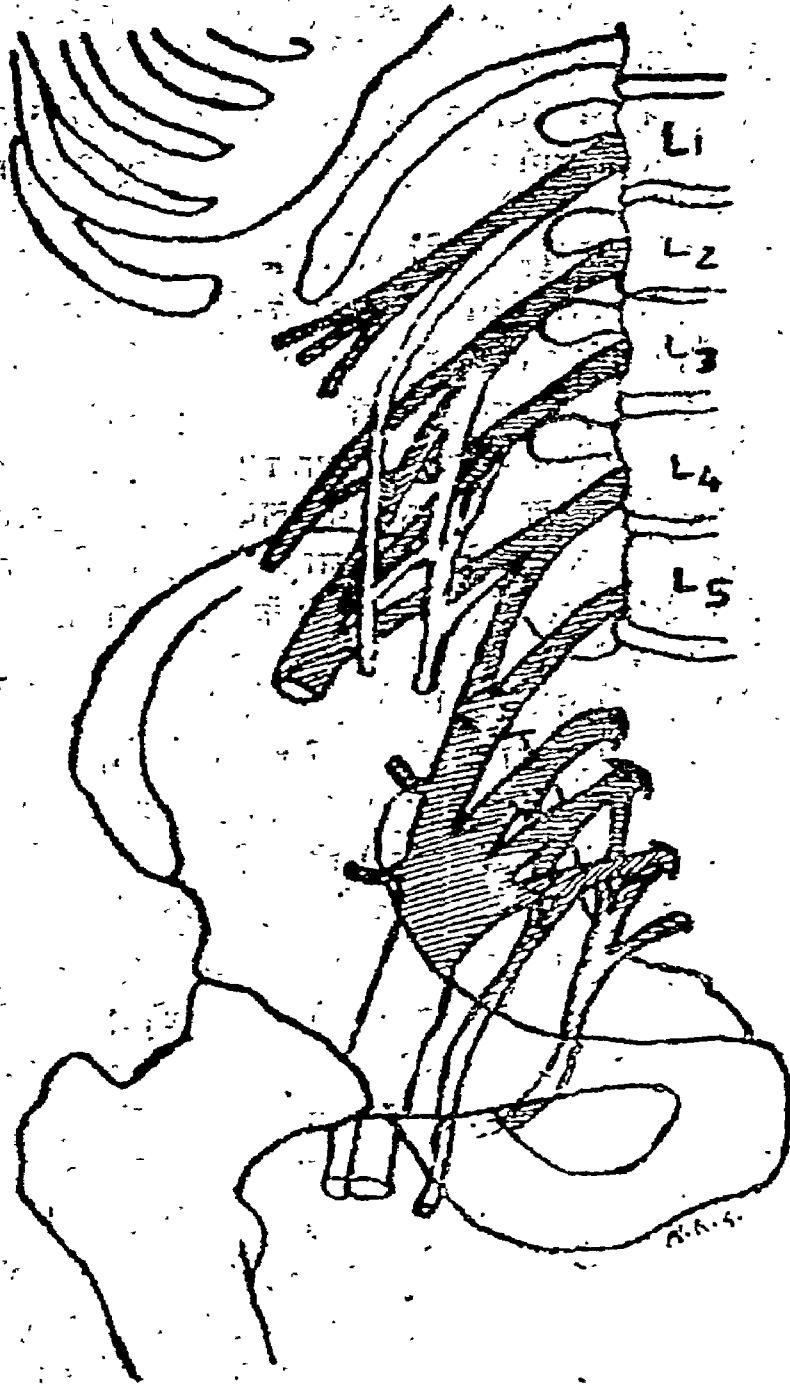
↑ कटि एवं त्रिक् नाड़ी जाल

गृध्रसी नाड़ी का मार्ग प्रदर्शित है ।→

(१) लंघनाप्लवन अर्थात् सपग्राह; कूदना अथवा अन्य किसी प्रकार से शरीर में झटका लगे इस प्रकार का हलन-चलन करना ।

(२) अति ऊर्ध्वगमन अर्थात् अधिक चलना ।

(३) अति व्यायाम अर्थात् अपनी शक्ति से अधिक व्यायाम अथवा कसरत करना ।

(४) अतिविचेष्टन अर्थात् किसी भी प्रकार से शारीरिक हलन-चलन अधिक प्रमाण में करना ।

(५) दुःखशय्या और आसन अर्थात् दुःखकारक हो

ऐसे बिस्तर या आसन का उपयोग करना।

(६) मर्माघात अर्थात् शरीर के विभिन्न मर्मों पर आघात अर्थात् चोट लगना।

(७) पृष्ठयान पर अधिक बैठना अर्थात् ऊँट, घोड़ा, हाथी, साइकिल, स्कूटर साइकिल आदि पर अधिक बैठना।

(८) प्रपतन अर्थात् गिर जाना जिससे कटि, स्फिक् पृष्ठ जैसे भाग पर चोट लगे।

(९) वेग संधारण अर्थात् मल, मूत्र जैसे आवेगों को रोकना, जिससे अपानवायु के क्षेत्र में अवरोध और प्रपीडन की स्थिति उत्पन्न होती है।

(१०) अन्य हेतुओं अर्थात् अधिक प्रमाण में रात्रि में जागना, वमन, विरेचन जैसे शोधन उपचारों का अधिक उपयोग करना। दस्त (अतिसार), उल्टी (छर्दि), योनिगत रक्तस्राव, गुदा द्वारा रक्तस्राव अथवा अन्य कारणों से शरीर की धातुओं का क्षय होना। विबन्ध, अर्श, आटोप, गुल्म, पांडु, अग्निमांद्य, अम्लपित्त जैसे शारीरिक रोगों के कारण तथा चिन्ता, शोक, क्रोध जैसे मानसिक कारणों के सहयोग से गृध्रसी रोग उत्पन्न होता है।

संप्राप्ति—उपरोक्त कारणों से प्रकुपित वात अथवा वात कफ स्फिक्, कटि, पृष्ठ, ऊरु, जानु, जंघा तथा पाद में स्थान संचय करके वहां वेदना उत्पन्न करता है। उसे गृध्रसी या सायेटिका (Sciatica) कहते हैं।

दोष–वात; दूष्य–रस।

स्रोतस्—रसवह स्रोतस्। अधिष्ठान–सम्पूर्ण पाद।

स्रोतोदुष्टि लक्षण—संग या अवरोध।

उद्भव स्थान—आमाशयोत्थ तथा चिरकारी व्याधि हैं।

सामान्य लक्षण—वेदना स्फिक् से प्रारम्भ होती है। पश्चात् यह वेदना क्रमशः कटि, पृष्ठ, उरु, जानु, जंघा तथा पाद की तरफ जाती है। रोगी पैर सीधा करते असह्य वेदना का अनुभव करता है। कटि, पृष्ठ, ऊरु, जानु, जंघा तथा पाद में वेदना, स्तम्भ तोद तथा स्पंदन होता है। गृध्रसी प्रायः रोगियों के एक ही पैर में होता है परन्तु कुछ रोगियों में गृध्रसी दोनों ओर भी देखने को मिलता है।

विशेष लक्षण—आयुर्वेद के ग्रन्थों में गृध्रसी के दो प्रकार बताये गये हैं। एक वातज गृध्रसी तथा दूसरा वातकफज गृध्रसी।

वातज गृध्रसी के लक्षण—इसमें सुई के चुभने के समान वेदना होती है तथा शरीर टेढ़ा हो जाता है। घुटने, कटि तथा ऊरु की संधियों में फड़कन अथवा जकड़ाहट रहती है तथा गृध्रसी के सामान्य लक्षण जो आगे बताये गये हैं वे सभी विद्यमान होते हैं।

वातकफज गृध्रसी के लक्षण इसमें अग्निमांद्य, गौरव, तन्द्रा, मुख से लालास्राव एवं भक्तद्वेष हो जाता है। इसके अतिरिक्त गृध्रसी के सभी सामान्य लक्षण देखने को मिलते हैं।

गृध्रसी की परीक्षा विधि –

गृध्रसी के रोगी को उल्टा लिटाकर गृध्रसी नाड़ी के ऊपर हाथ की अंगुलियों से दबाया जाय तो रोगी को तीव्र पीड़ा (असह्य वेदना) होती है।

गृध्रसी के रोगी को खड़ा करके नीचे झुकने को कहा जाय तब पैर के पीछे के भाग में और एड़ी (Jerks) के भाग में नस खिंचती हो ऐसी वेदना होती है।

गृध्रसी का रोगी गिद्ध के समान चलता है। रोगी को सीधा लिटाकर पैर ऊँचा करने के लिए कहा जाय तो रोगी पैर ऊँचा नहीं उठा सकता। यदि वैद्य स्वयं अपने हाथ से रोगी का पैर उठाता है तो रोगी के पैर में असह्य वेदना होती है। इसका कारण गृध्रसी नाड़ी का शोथ है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से गृध्रसी के रोगी को स्क्रीनिंग, क्ष-किरण फोटो तथा मूत्र परीक्षा कराना अत्यन्त आवश्यक है। स्क्रीनिंग में कटि कसेरुका में कौन-सी विकृति है जिसके कारण गृध्रसी नाड़ी के उद्भव में विकृति या दबाव हो तो उसे देखना अत्यन्त आवश्यक है। स्क्रीनिंग के साथ ही क्ष-किरण फोटो लिया जाय तो अति उत्तम होगा।

विशेषतः—पांचवीं कटि कसेरुका अथवा उसकी गद्दी आगे चली आई हो तो उसका दबाव सायेटिक नर्व पर पड़ेगा। इसके परिणाम-स्वरूप सायेटिक नर्व में वेदना

होगी। इसके अतिरिक्त मधु प्रमेह के लिए मूत्र परीक्षण कराना चाहिए। क्योंकि गृध्रसी को उत्पन्न करने में मधुमेह सहयोगी हो तो गृध्रसी के साथ ही मधुमेह की भी चिकित्सा करनी चाहिए।

गृध्रसी का चिकित्सा सूत्र—

गृध्रसी का चिकित्सा सूत्र बताते हुए आचार्य श्री भावप्रकाश मिश्र जी ने लिखा है कि—

गृध्रस्याऽऽर्त्तनरं सम्यग् रेकेण वमनेन वा।
ज्ञात्वा निरामं दीप्ताग्निं वस्तिभिः समुपाचरेत॥
नाद्यो वस्तिविधिं कुर्याद्यावदूर्ध्वं न शुध्यति।
स्नेहोनिरर्थकः स स्याद्भस्मन्येव हुतं यथा॥
तैलमेरण्डजं प्रातर्गोमूत्रेण पिबेन्नरः।
मासमेकं प्रयोगोऽयं गृध्रस्यूरुग्रहापहः॥
(भाव प्रकाश)

अर्थात् गृध्रसी वात से पीड़ित मनुष्य को अच्छी तरह से विरेचन और वमन कराना चाहिए। आमरहित और अग्निप्रदीप्त होने पर वस्ति देनी चाहिए। जहाँ तक वमन रूपी ऊर्ध्व शोधन न हो वहाँ तक भस्म में हवन के समान स्नेह वस्ति बेकार हो जाती है। प्रातः काल गोमूत्र के सरस एरंड तैल एक महीना तक पीने से गृध्रसी तथा ऊरुग्रह दूर हो जाता है।

आचार्य श्री चक्रदत्त ने गृध्रसी में शास्त्रकर्म, अग्नि तथा शिरावेध करने का उपदेश दिया है। आजकल कोई भी आयुर्वेद चिकित्सक उपरोक्त तीनों कर्मों द्वारा गृध्रसी की चिकित्सा नहीं करता है। इसलिए इसका विवरण नहीं दिया जाता। जिज्ञासु आयुर्वेद के वैद्यों या चिकित्सकों को यदि उपरोक्त तीनों कर्मों द्वारा गृध्रसी की चिकित्सा करनी हो तो उन्हें चक्रदत्त का अध्ययन करना चाहिए।

स्नेहन हेतु अश्वगन्धा घृत १० से २० ग्राम यथावश्यक गरम दूध के साथ दिया जाय तो अति उत्तम है। स्वेदन हेतु निर्गुन्डी वाष्प स्वेद सर्वांग में दिया जाय तो अच्छा होगा। वमन कराने के लिए सर्वप्रथम रोगी को पाँच लीटर दूध पिलाना चाहिए। उसके बाद वमन औषध में मदनफल लींडी पीपर, वचा, सैंधव के चूर्ण का योग ९ से १२ ग्राम तक देना चाहिए। तत्पश्चात् यष्टि मधु फाट और सैंधव साधित उष्ण जल दो-दो लीटर पिलाकर वमन कर्म पूरा कराना चाहिए। विरेचनार्थ एरंड तैल २० से ४० ग्राम सुंठी क्वाथ के साथ देना चाहिए। दशमूल तैल की आठ अनुवासन वस्ति देनी चाहिए। सहचर क्वाथ अथवा दशमूल क्वाथ की प्रग्रह निरुह वस्ति देनी चाहिए। अभ्यंग हेतु नारायण तैल का उपयोग करना हितावह है।

आभ्यन्तर प्रयोग हेतु वृहद् वात चिन्तामणि रस, वातारि रस, वेदनान्तक रस, एकांगवीर रस, वातगजांकुश रस, मल्लसिंदूर, वातकुलान्तक रस, समीरपन्नग रस, वातविध्वंसन रस, अभ्रक भस्म, लौह भस्म, आरोग्यवर्धिनी वटी, विषतिन्दुक वटी, अजमोदादि वटी, महायोग राज गुग्गुलु, पंचामृत लौह गुग्गुलु, त्रयोदशांग गुग्गुलु, व्याधिशार्दूल गुग्गुलु, अजमोदादि चूर्ण, लवणभास्कर चूर्ण, नारायण चूर्ण, दशमूल क्वाथ, महारास्नादि क्वाथ, भल्लातक अवलेह, रसोनपिण्ड अवलेह तथा अश्वगंधा पाक आदि योगों का युक्तिपूर्वक उपयोग किया वाह्य प्रयोग हेतु नारायण तैल, महानारायण तैल, कुब्जप्रसारिणी तैल, महाविषगर्भ तैल, वला तैल, माष तैल तथा वातहर उपनाह आदि योगों का युक्ति पूर्वक उपयोग किया जाय तो गृध्रसी रोग से पीड़ित रोगी अच्छा हो जाता है।

गृध्रसी की अनुभूत चिकित्सा—

१—आमपाचकवटी २-२ गोलीप्रातः शाम भोजनोत्तर पानी के साथ देनी चाहिए।

२—महायोगराज गुग्गुलु २-२ गोली प्रातः शाम पीसकर महारास्नादि क्वाथ के साथ देनी चाहिए।

३—वृहद् वातचिन्तामणि रस १/४ ग्राम प्रातः शाम दोपहर शहद के साथ देनी चाहिए।

४—महारास्नादि क्वाथ १० ग्राम क्वाथ विधि अनुसार क्वाथ बनाकर प्रातः शाम महायोग राज गुग्गुल के साथ देना चाहिए।

५—नारायण तैल का अभ्यंग प्रातः शाम करायें।

६—निर्गुन्डी वाष्प स्वेद प्रातः शाम देना चाहिए।

गृध्रसी में पथ्य—मधुर, अम्ल, लवण, रसवाले आहार का सेवन करना चाहिए। स्थिर, उष्ण, स्निग्ध,

वृष्य, बल्य, बृंहण तथा गुरु गुण वाले पदार्थों का सेवन हितावह हैं। गेहूं, चावल, दूध, घी, तिल तैल सरसव तैल, एरंड तैल, वसा, मज्जा, परवल, सावलियां का शाक, काद, आनूप तथा जलचर प्राणियों का मांस, अंडा, शराब, हींग, धनियां, जीरा, मेथी, लहसुन, सहिजन, अनार, आम, बेर, काली द्राक्ष, नारंगी आदि गृध्रसी में पथ्य हैं। सुखकारक निद्रा, तैलादि की मालिश, दूध और घी आदि का परिषेक, गरम पानी से स्नान, गरम कपड़ा धारण करना यह सब गृध्रसी में पथ्य विहार हैं।

गृध्रसी में अपथ्य—भुना हुआ चावल, चना जैसे रूक्ष आहार, आइसक्रीम जैसे शीत आहार, शुष्क शाक, शुष्क मांस। सावां, कोदव, मूंग, मसूर, मटर, आलू, बैंगन, सेम, गंजी आदि अपथ्य आहार का सेवन गृध्रसी में नुकसान कारक हैं। अल्प मात्रा में भोजन करना, लघु अन्न का सेवन करना विरुद्ध एवं असात्म्य आहार का सेवन करना गृध्रसी में हानिकारक हैं। अधिक मैथुन, रात्रि जागरण, उपवास, तैरना, अधिक चलना, अधिक व्यायाम, चिन्ता, शोक, क्रोध, भय, दिवास्वप्न, मल, मूत्रादि वेगों को रोकना, चोट लगना, अति अध्ययन, दौड़ना, कूदना, भार उठाना आदि गृध्रसी में अपथ्य विहार हैं। इनके सेवन से रोग में वृद्धि होती है। इसलिए इनका सेवन नहीं करना चाहिए।

गृध्रसी में अनुभूत योग

(१) गृध्रसी गुटिका—अकरकरा, सुरंजान मीठी, काबली हरड़ का बकला तथा एलुआ को समान भाग में लेकर चूर्ण कल्पना विधि अनुसार चूर्ण तैयार कर लें। तत्पश्चात् उपरोक्त चूर्ण को कुमारी स्वरस की भावना देकर २-२ रत्ती की गोली बना लें।

मात्रा—१ से २ गोली प्रातः शाम।

अनुपान—उष्ण जल।

उपयोग—गृध्रसी में अति उपयोगी हैं।

(२) चन्द्रसूर मोदक—चन्द्रसूर २० तोला, सूजी ८० तोला, उड़द का आटा २० तोला, घी ८० तोला, शक्कर १२० तोला, विहीदाना चिरोंजी, छोटी इलायची का दाना, जायफल, जावित्री पीपरमेन्ट २-२ तोला। सर्व प्रथम उड़द के आटे को २ तोला दूध का मोवन दें। फिर इस आटे को तथा चन्द्रसूर के आटे को सम भाग घी में भूनकर रख लें। इन दोनों को मिलाकर इसमें सूजी मिला दें तथा उपरोक्त ६ औषधियों का कपड़छन चूर्ण भी मिला दें। फिर शक्कर की चासनी में मिलाकर २-२ तोला का मोदक बनालें। मात्रा-१ मोदक प्रातः शाम दोपहर। अनुपान-उष्ण दूध।

उपयोग-यह मोदक परम गृध्रसी नाशक तथा पौष्टिक है।

(३) गृध्रसी रोग नाशक वटी—शुद्ध कुपीलु, इन्द्रायण के फल का सूखा गूदा १-१ तोला, मिर्च काली, सोंठ ६ ६ माशे, लौंग, वचा, चित्रक, जायफल, कायफल प्रत्येक ३-३ माशे, शुद्ध गुग्गुल, लहसुन की कली, एरण्ड की मिंगी २-२ तोला।

सर्व प्रथम लहसुन, एरण्ड और गुग्गुल के अतिरिक्त अन्य समस्त औषधियों को कूट पीसकर वस्त्रपूत चूर्ण तैयार कर लें। फिर गुग्गुल, लहसुन एरण्ड की मिंगी तीनों को सिल पर पीस चटनीवत् कर लें। फिर इस चटनी के साथ तैयार किये चूर्ण को भी मिलाकर आवश्यकतानुसार कुमारी स्वरस की भावना देकर चने के समान गोलियां बनाकर सुखाकर शीशी में भर लें।

मात्रा-१ से २ गोली प्रातः शाम दो बार।

अनुपान-रास्नादि क्वाथ, दूध।

उपयोग-यह वटी गृध्रसी तथा अन्य वात विकारों में रामबाण औषधि है।

—वैद्य श्री पंडित शिवकुमार शास्त्री

(४) वात विनाशक वटी-जायफल, जावित्री, सौंठ, मिर्च, पिप्पली, मल्ल सिन्दुर, अफीम, वत्सनाभ, एलुवा, लौंग सभी औषधि द्रव्य १०-१० ग्राम कुचला १०० ग्राम। उपरोक्त द्रव्यों को पीसकर सात दिन तक इन्द्रायण स्वरस तथा सात दिन तक घृतकुमार के स्वरस में मर्दन करें। तत्पश्चात् २५० मिग्रा० की वटी बनाकर छाया में सुखा लें।

मात्रा-१ से २ वटी प्रातः शाम दोपहर।

अनुपान-दूध या रास्ना सप्तक क्वाथ।

उपयोग—गृध्रसी में यह सर्वोत्तम औषधि हैं। आमवात, सन्धिवात, विश्वाची, कटिशूल, अववाहुक, खंजवात, कम्प, आदि रोगों के लिए परम लाभकारी परीक्षित हैं। यह स्नायु मण्डल को शक्ति प्रदान करती हैं तथा कामशक्ति को बढ़ाकर स्तम्भन करती हैं। इसके अतिरिक्त समस्त प्रकार के वात एवं कफ जनित रोगों के लिए उपयोगी हैं।

सावधानी—इस औषधि का सेवन निराहार नहीं करना चाहिए।

(५) वातारि योग-सुरंजान मीठी, हरमल बीज, सौंठ, हरड़, रेवन्द, एलुवा, गुग्गुल, शुद्ध कुचला, मालकांगनी-सभी औषधि समभाग। उपरोक्त सभी औषधियों का चूर्ण कल्पना अनुसार चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को सात दिन तक घृतकुमारी के स्वरस तथा सात दिन तक इन्द्रायण स्वरस की भावना देकर २५० मिग्रा० की वटी बनाकर छाया में सुखा लें।

मात्रा-१ से २ वटी प्रातः शाम, दोपहर।

अनुपान-दूध या रास्नादि क्वाथ।

उपयोग गृध्रसी, आमवात, सन्धिवात, कटिशूल आदि वात रोगों में अत्युत्तम हैं।

—वैद्य श्री बालमुकन्द शास्त्री

(६) गुग्गुलु गुटिका-शुद्ध गुग्गुल १०० ग्राम, शुद्ध कुचिला ५० ग्राम अशुद्ध वत्सनाभ ५० ग्राम, कृष्ण मरिच ५० ग्राम, अशुद्ध धतूर बीज ५० ग्राम लें। गुग्गुल के अतिरिक्त शेष द्रव्यों का वस्त्रपूत चूर्ण कर लें। फिर गुग्गुल मिला लोहे के हावन दस्ते में कूटें। गव्य घी से दस्ते को स्नेहाक्त करते रहें। कम से कम एक घण्टे रोजाना कूटते हुए एक सप्ताह तक कुटाई करें। फिर १-१ ग्राम की गोलियाँ बना लें। मात्रा-१-१ गोली प्रातः शाम। अनुपान-उष्ण गोदुग्ध।

उपयोग—गृध्रसी तथा विश्वाची की परम अनुभूत औषधि हैं।

—वैद्य श्री मोहरसिंह आर्य

(७) गृध्रसी हर वटी—शुद्ध कुचला (गोमूत्र द्वारा शोधित) १०० ग्राम, मल्ल सिन्दूर २० ग्राम, सुरंजान मीठी ५० ग्राम, शुद्ध गुग्गुल ३० ग्राम लें। सर्वप्रथम मल्लसिंदूर को खरल में बारीक पीसकर उसमें कुचला तथा सुरंजान का बारीक चूर्ण मिलाकर तथा इसके बाद गुग्गुलु मिलाकर एक कर लें। इसके बाद सात भावना अदरख के स्वरस की सात भावना रास्नादि क्वाथ तथा अन्त में सात भावना लहसुन के स्वरस की देकर २-१ रत्ती की वटी बनाकर भली प्रकार से सुखाकर शीशी में रख लें। मात्रा—१ से २ गोली तीन बार।

अनुपान—गो दुग्ध।

उपयोग—यह वटी गृध्रसी की अचूक तथा अमोघ औषधि है। इसके अलावा आमवात, सन्धिवात, कटिशूल, जीर्ण प्रतिश्याय सभी प्रकार के वातज एवं कफज शूलों में उपयोगी है।

वैद्य श्री बालमुकन्द शास्त्री (धन्वन्तरि जनवरी १९८२)

(८) गृध्रसी हर क्वाथ—महानीम (बकायन) की अन्तर्छाल ६ ग्राम कपोड़ी की पत्ती १० ग्राम महानीम का गोंद १ ग्राम, पुष्कर मूल १। ग्राम। सबको २०० ग्राम जल में उबाल लें। ५० ग्राम जल शेष रहने पर १० ग्राम गोमूत्र डालकर पिलावें। शाम का इसके बचे हुए छूछे का क्वाथ करके पिलावें।

उपयोग—यह गृध्रसी नाशक बहु उपयोगी क्वाथ है।

—वैद्य पंडित आर०बी०त्रिवेदी द्वारा(जनवरी १९७९)

(९) गृध्रसी वात नाशक क्वाथ—रास्ना, देवदारु, गिलोय बहेड़ा छिलका, मकी सनाय, पुनर्नवा, गोखुरू, अण्डी की जड़, मकी सनाय की मात्रा अन्य द्रव्यों से दूना लेकर जौ कुट कर लें। १० ग्राम उपरोक्त जौ कुट क्वाथ को आधा किलो ग्राम जल में औटायें। जब २५० ग्राम जल शेष रह जाय तब ३ ग्राम सोंठ के चूर्ण को दबाकर ऊपर से क्वाथ पी जाय। जो छूछा बचे उसे शाम को पुनः ऐसे ही दें। पन्द्रह दिन के लगातार प्रयोग से गृध्रसी में लाभ हो जाता है।

—पंडित श्री गोपाल द्विवेदी

(१०) गृध्रसी नाशक परीक्षित प्रयोग—पुराना गुड़ (२-३ वर्ष पुराना) ४० ग्राम सूखे आँवले का यवकुट चूर्ण २० ग्राम। आधा किलो ग्राम पानी मे मन्दाग्नि पर क्वाथ करें। चतुर्थांश पानी १२५ ग्राम रहने पर प्रातःकाल पिलावें। सायंकाल भी इसी विधि से क्वाथ सेवन करें। ७ से ११ दिन तक बराबर देते रहने से गृध्रसी में लाभ हो जाता है। औषधि सेवन काल में नमक का सेवन निषेध है। मूंग, चने की दाल, तोरई आदि को नमक रहित सेवन करायें।

—स्वर्गीय राजवैद्य श्री रामचन्द्र शर्मा

(११) गृध्रसी पर एक अन्य प्रयोग—दशमूल क्वाथ ५० ग्राम, पीपरीमूल ३ ग्राम, अजवायन ३ ग्राम। ५०० ग्राम पानी मे क्वाथ विधि से क्वाथ करें चतुर्थांश शेष रहने पर गरम-गरम में १० ग्राम गोघृत प्रातः ६ बजे एवं इसी प्रकार रात्रि को सोते समय दें। यह क्वाथ सूतिका रोग, प्रसूत अवस्था के समय उत्पन्न हुई गृध्रसी में विशेष लाभ करता है। परीक्षित प्रयोग है।

—वैद्य श्री चैतन्य स्वरूप दाधीच

(१२) गृध्रसी हर वटी—शुद्ध कुचला, काली मिर्च इन्द्रायण फलत्वक् एलुआ समान भाग। चारों वस्तुओं को मैदा तुल्य चूर्ण कर लें। घृतकुमारी रस की भावना देकर चना प्रमाण गोली बना लें। १ से २ गोली प्रातःशाम गरम दूध के साथ दें। यह प्रयोग गृध्रसी तथा अन्य वात की वेदना तथा शोथ नाशक हैं।

सावधानी—हाई ब्लड प्रेशर के रोगी को न दें। दूध का अवश्य अधिक प्रयोग करायें एक सप्ताह के प्रयोग के बाद चार दिन दवा बन्द रखकर पुनः सेवन करायें रेचन अधिक हो तो मात्रा कम करें।

-वैद्य श्री प्रभाकर शंकर दाधीच

(१३) गृध्रसी नाशक परीक्षित अग्नि कर्म—एक मिट्टी या किसी साधारण पात्र मे मोम १० ग्राम, तिल का तैल २० ग्राम मिलाकर आग पर पकावें गर्म होने पर एक सूत का मोटा धागा जो मजबूत हो इसमें अच्छी तरह भिगोकर रखें गृध्रसी के रोगी को खड़ा करके जिस पैर मे दर्द हो। उसकी एड़ी से ऊपर गांठ के ऊपर पैर के गट्टे पर उपरोक्त गर्म तैल से भिगोये हुए धागे को बांध देवें। रोगी को पहले से ही दीवार के सहारे किसी आदमी से पकड़वाकर रखना चाहिए। क्योंकि धागा गर्म होने से रोगी को पीड़ा पहुँचाता है धागा २-३ मिनट बाद खोल देवें। बांधने की जगह पर दाग बन जायेगा। किसी को फफोला भी पड़ सकता है। उसे फोड़ें नहीं उस पर नारियल का तैल या घी लगाते रहें ५-७ दिन में सब ठीक हो जायेगा।

उपयोग—इस उपाय से सहस्रों रुपया व्यय करके ठीक न होने वाले रोगी भी ठीक हो जाते हैं। मेरा २० वर्ष का अनुभव है।

—वैद्य प्रेमचन्द्र आयुर्वेद शास्त्री

(१४) वातहर स्नेह—महारास्नादि क्वाथ में एरण्ड तैल को स्नेहपाक विधि से सिद्ध कर लें। यह वातहर स्नेह कहलाता है।

मात्रा—१ छोटे चम्मच से बड़े चम्मच तक प्रातः तथा रात्रि को दिन में दो बार देना चाहिए।

उपयोग—यह साधारण योग गृध्रसी में बहुत लाभ करता है। कुछ दिनों के नियमित सेवन करने से गृध्रसी में विशेष लाभ होता है।

— स्वर्गीय वैद्य श्री पं. शिव शर्मा

(१५) गृध्रसी नाशक मिश्रण—महायोग राज गुग्गुल ५० मिग्रा० नवजीवन रस २५० मिग्रा०, प्रवालपिष्टी ५०० मिग्रा० तीनो को मिलाकर खरल करें। एक जीव होने पर एक सप्ताह पर्यन्त रास्ना सप्तक क्वाथ में खरल करें। फिर ६०० मिग्रा० की मात्रा में रास्नादि क्वाथ से दें। सहस्र गृध्रसी के रोगियों को इससे लाभ हुआ है।

वैद्य श्री मोहरसिंह आर्य

वैद्य– मोहरसिंह आर्य
मिश्री, (भिवानी)
हरियाणा

गृध्रसी वात रोगों के अन्तर्गत एक वात व्याधि है। अतः जो हेतु वात रोगों के हैं, वे ही गृध्रसी को भी समझ लेने चाहिए। चरक चिकित्सा स्थान अध्याय २८ में वात के निम्न लिखित हेतु कहे हैं—

१—आहारज—रूक्षशीत वस्तुओं का सेवन, अल्प मात्रा में तथा लघु भोजन का निरन्तर सेवन करना, पोषक आहार का अभाव अत्यधिक मदिरापान करना, देश काल के विरुद्ध असात्म्य आहार का सेवन करना।

२—विहार जन्य—अत्यधिक स्त्री सहवास, रात्रि जागरण, असमय में पञ्चकर्म देश काल के विरुद्ध असात्म्य विहार, शारीरिक चेष्टाओं का अनुचित रूप में प्रवृत्त करना, दोष तथा रक्त को अधिक मात्रा में निर्हरण करना, अत्यधिक कूदना तैरना, पैदल चलना, अति व्यायाम आदि चेष्टाओं को उचित रूप में न करने से वर्षा में भीगना, दिन में सोना, हाथी, ऊँट, घोड़ा आदि वेगवान वाहनों पर सवारी करना।

३ आगन्तु—मर्म स्थानों में चोट लगना.

४—मानसिक हेतु—चिन्ता-शोक, भय, क्रोध, प्रसन्नता अत्यधिक मानसिक परिश्रम, मानसिक आघात अत्यधिक पठन लेखन चिन्तन प्रभृति।

५—रोगजन्य हेतु—चिरकाल से पीड़ित रोगों से अत्यन्त कृश, होना, स्नायु के वातिक रोग, आमवात, योषापस्मार मृगी, धातुक्षय वेगावरोध, धमनी काठिन्य, सन्धि बन्धन शैथिल्य इत्यादि।

६—दोष प्रकोप वात प्रकोप,

लक्षण—

गृध्रसी रोग में सर्वप्रथम स्फिक् इसके पश्चात् कटि पृष्ठ ऊरुप्रदेश, जानु जंघा तथा पाँव में क्रमशः जकड़ाहट वेदना तोद (सूई चुभने सी पीड़ा) होती है। बार-बार इन प्रदेशों में स्पन्दन हुआ करता है। इसे शुद्ध वातिक गृध्रसी कहते हैं। किन्तु वात कफ जन्य गृध्रसी में तन्द्रा, भारीपन तथा अरोचक में लक्षण भी रहते हैं।
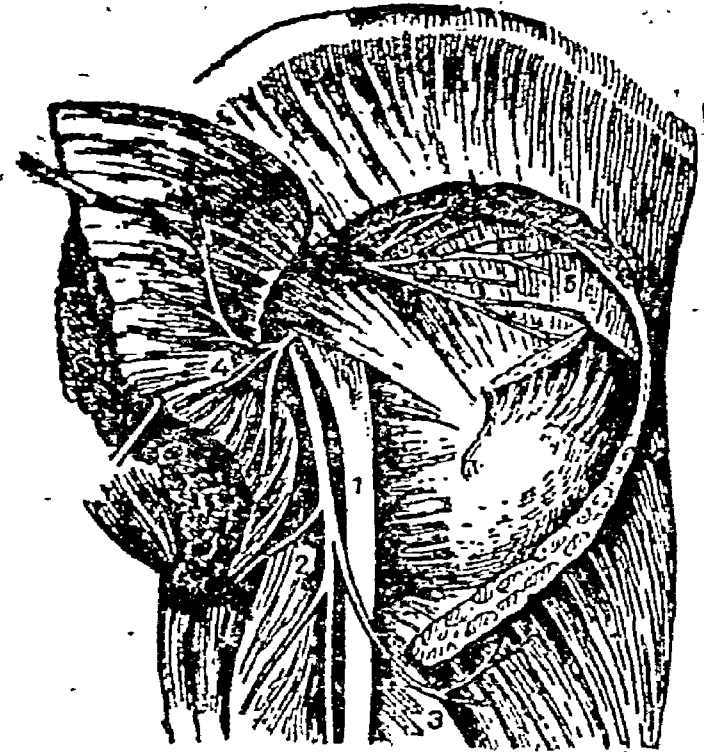
गृध्रसी नाड़ी

विमर्श—स्फिक् प्रदेश—कूल्हे से प्रारम्भ होकर ऊरु की पश्चिम पृष्ठ, जंघा की बाह्य तथा पश्चिम पृष्ट और पैर के बाह्य पार्श्व में वेदना होती है। मुख्य लक्षण पीड़ा तथा स्पर्श की असह्यता है। पीड़ा का प्रारम्भ विशेष प्रकार के कम्पन तथा स्पर्श ज्ञान के परिवर्तन अथवा सहसा होता है। ऐसा अनुभव होता है कि पीड़ा गम्भीर प्रविष्ट होती जा रही है, यह पीड़ा मानो छेदनी

हुई हो रही है। कभी-कभी दाह-जलन के साथ होती है आरम्भ में पीड़ा वेग के रूप में रह-रह कर होती है, किन्तु रोग पुराना पड़ने पर पीड़ा निरन्तर रहती है। यह पीड़ा दिन में कुछ कम रहती है तथा रात्रि को बढ़ जाती है। आक्रान्त टाँग का घुटना मोड़े रखता है। चलते समय झुककर तथा लंगड़ा कर चलता है। दूसरे पार्श्व की ओर आतुर कुछ झुका चलता है। मांस पेशियों में आकुञ्चन तथा कम्पन रहते हैं। धीरे-धीरे मांस पेशियाँ सूखने लगती हैं। त्रिक का पृष्ठवंश स्तब्ध बन जाता है।

गृध्रसी रोग प्रायः एक ही टाँग में होता है कभी २ किसी-किसी आतुर में उभय पार्श्व में भी हो सकता है। इस का प्रत्यात्म लक्षण तोद युक्त पीड़ा है, जो खाँसने छींकने तथा रात्रि को बढ़ती है।

गृध्रसी के भेद —

गृध्रसी दो प्रकार की होती है—

१—वात ज य—इसके लक्षण ऊपर कथन किये गये हैं, स्तम्भ, वेदना, तोद एवं स्पन्दन,

२—वात कफ जन्य—इसमें तन्द्रा, गौरव, अरुचि और स्तब्धता भी रहती है। इसमें स्तम्भन, वेदना, तोद होवे हैं किन्तु स्पन्दन नहीं होता।

आचार्य वाग्भट ने गृध्रसी को विश्वाची के समान माना है। यथा

पार्ष्णि प्रत्यङ्गुलीनां या कण्डरा मारुतार्दिता,
सक्थ्युत्क्षेपं निगृह्णाति गृध्रसीं तां प्रचक्षते।
विश्वाची गृध्रसी चोक्ता खल्ली तीव्ररुजान्विता॥

अर्थात् पैर की जो कण्डरा एड़ी पर से अंगुलियों तक फैली हुई है, यह जब वात के प्रकोप से आक्रान्त हो कर सक्थि उत्क्षेप (उठाने) को रोक देती है तब उस रोग को गृध्रसी कहते हैं। जब विश्वाची एवं गृध्रसी एक साथ उत्पन्न हो जाती है तथा तीव्र पीड़ा होती है, तब खल्ली कहते हैं।

आचार्य सुश्रुत ने विश्वाची का वर्णन इस प्रकार किया है—

तलं प्रत्यङ्गुलीनां तु कण्डरा बाहुपृष्ठतः।
बाह्वोः कर्मक्षयकरी विश्वाचीति हि सा स्मृता॥

अर्थात्—बाहु पृष्ठ से लेकर अंगुलियों के तल तक जो कण्डरा बाहुओं के कर्मों का क्षय करती है, वह विश्वाची है

विमर्श — विश्वाची में बाहु के पृष्ट भाग से प्रारम्भ होकर हाथ तथा अंगुलियों के पृष्ट भाग एवं प्रकोष्ट हाथ और अंगुलियों के पुरो भाग की पेशियों में संकोच प्रसार आदि चेष्टाओं की शक्ति प्रदान करने वाली वात नाड़ियों में विकृति होने से विश्वाची रोग उत्पन्न होती है। (सुदर्शन शास्त्री) गृध्रसी तथा विश्वाची को वाग्भट एवं हारीत ने खल्ली माना है। चरक ने खल्ली का वर्णन इस प्रकार किया है-'खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलाव-मोटनी।'' अर्थात् जब वात के कारण पाँव-जंघा, ऊरु तथा करमूल में मर्दनवत् पीड़ा होती है, उसे खल्ली कहते हैं। वाग्भट ने गृध्रसी तथा विश्वाची दोनों को समान ही माना है। भेद केवल यही कहा है कि गृध्रसी पाँव में होती है तथा विश्वाची हाथ में होती है। वाग्भट तीव्र पीड़ा तथा ऐंठन युक्त होने पर विश्वाची तथा गृध्रसी को खल्ली मानते है। अवबाहुक भी बाहुगत रोग है। इसमें एक बाहुमूल से लेकर कूर्पर (कुहनी) तक ही वेदना होती है। यथा अंजन निदानोक्त —

'जामूलमेकबाहोश्चेद् व्यथा स्यादवबाहुकः।''

आचार्य यदुनन्दन जी उपाध्याय लिखते हैं—मेरे विचार से विश्वाची में नाड़ी विकार अंगुलि तल या पृष्ट से अर्थात् हाथों के परिसरीय भाग से प्रारम्भ होता है किन्तु अवबाहुक में विकार ऊपर की ओर अंस देश में प्रारम्भ होता है और उसका प्रभाव पूरे बाहु या हाथ पर होता है।''

चिकित्सा सूत्र —

१—तीव्र अवस्था में बिस्तर पर पूर्णतः विश्राम करना चाहिए।

२—रोगी टाँग को बिलकुल न हिलावे।

३—गृध्रसी नाड़ी के साथ साथ सेक करना चाहिए।

४—विद्युत चिकित्सा भी करनी चाहिए।

५—स्नेहन स्वेदन पूर्वक वमन विरेचन करावें।

६—जठराग्नि प्रदीप्त करें।

७—वस्ति प्रयोग करें।

८—कण्डरा तथा गुल्फ के मध्य की सिरा व्यधकर कुछ रक्त निकाल कर दाह कर्म करें।

औषधि व्यवस्था—

१—गृध्रस्यादि गुग्गुलु—वत्सनाभ (अशुद्ध), कुचलूर बीज (अशुद्ध) काली मिर्च, शुद्ध कुपीलु ४-५ भाग, शुद्ध गुग्गुलु १० भाग। चारों का सूक्ष्म श्लक्ष्ण वस्त्रपूत चूर्ण बना लें। गुग्गुलु को यथाविधि त्रिफला कषाय में कपड़छान कर कड़ाही में डाल शुष्क कर लें। यही सूखा गुगल १० भाग लें। पीछे सब द्रव्यों को एकत्र कर गोमूत्र से स्नेहावत कर कूटें। गोमूत्र २० ग्राम समाप्त करें। फिर ४ दिन खरल करें। तत्पश्चात् घृत के हाथ से चने प्रमाण गोलियाँ बना लें। मात्रा—१ से २ गोली तक, प्रातः सायं काल। अनुपान—उष्णदुग्ध।

२—गृध्रसी हर गुटिका—महायोगराज गुग्गुलु ८० ग्राम, शुनी हींग ८० ग्राम जिव्हा निकाली हुई एरण्ड के बीज की गिरी २० ग्राम इन सबको रास्नादि क्वाथ (रास्ना, बलामूल, गोखरू शालपर्णी पुनर्नवा सम भाग के यवकुट कर आठ गुने जल में क्वाथ बनावें) में ६ घण्टे खरल करें। मात्रा १ से ४ गोली तक। अनुपान उष्णोदक। गुण—गृध्रसी नाशक है।

स्नेहन—१—रोगी को एक सप्ताह पर्यन्त वातारि स्नेह गोदुग्ध में दोनों समय दें।

२—बाह्य स्नेहनार्थ—महाविषगर्भ तैल का अभ्यंग सम्पूर्ण शरीर विशेषतः स्फिक् से पादतल तक मर्दन करें।

स्वेदन - स्नेहन के साथ स्थानीय स्वेदन करते रहें। स्वेदार्थ—१—वात जन्य गृध्रसी में एरण्ड बीज की पोटली से और वातकफ जन्य गृध्रसी में लवण की पोटली से सेंक करें।

२—निर्गुण्डी पत्र, शेफाली, मदार, धत्तूर, महानिम्ब, सहिजन, एरण्ड मूल या पत्र से गरम कर आक्रान्त स्थान पर बाँधें। अथवा इन को पानी में उबाल बाष्प द्वारा सेक करें।

वमन—वमनार्थ मदनफल चूर्ण ६० ग्राम को एक लिटर जल में उबालें। जब जल आधा शेष रहे तो उतार कर छान लें। फिर इसमें पीपल चूर्ण ६ ग्राम तथा मधु ६० ग्राम मिला पिला दें। अथवा—लवण ४० ग्राम आधा लिटर पानी में मिलाकर पिला दें।

विरेचन—निशोथ चूर्ण ६ ग्राम को सोंठ दुग्ध में ओट जल के साथ दें। अथवा विशुद्ध एरण्ड तैल ६० मि॰लि॰ गरम दूध में मिलाकर पिलावें।

४—पीतमल्ल प्रयोग—पीला संखिया ६० ग्राम से यवखण्ड कर लें। फिर दोला यन्त्र विधि से भेड़ के २ लिटर दूध में स्वेदन करें। दूध के सूख जाने पर पुनः दो लिटर दुग्ध में स्वेदन करें। इस प्रकार ७ बार करें। फिर संखिया को सुरक्षित रखें। अब यह शुद्ध संखिया १ ग्राम ले कर उसमें १२ ग्राम दस वर्ष पुराना गुड़ मिलाकर १२५ मि॰ग्राम प्रमाण की गोलियाँ बना लें।

मात्रा—१-१ गोली, अनुपान—हलुवा, प्रातः सायंकाल।

उपयोग—गृध्रसी की परम अनुभूत औषधि है।

५—रास्नादि गुग्गुलु—रास्ना चूर्ण ६० ग्राम, शुद्ध गुगल ७५ ग्राम लें। दोनों को घृत के संयोग से कूटकर तैयार करते हैं। मात्रा—१ से २ ग्राम तक।

इसमें प्रति मात्रा रससिन्दूर ६० मि॰ ग्रा॰ तथा शुद्ध कुपीलु चूर्ण ६० मि॰ग्रा॰ मिला खरल कर दिन में २ बार मधु से देकर ऊपर से रास्नादि क्वाथ पिलावें। यह वातज गृध्रसी नाशन में उत्तम है।

६—रसोन पिण्ड (सि. यो. सं.) मात्रा—१२ से २४ ग्राम तक दिन में २ बार। एरण्ड मूल क्वाथ से दें।

७—अभ्यङ्गार्थ—१—महाराज प्रसारणी तैल २—महावातराज तैल ३—महाविषगर्भ तैल।

८—अन्य योग—अजमोदादि चूर्ण (शा. सं.) नारायण घृत (भै. र.) बृहद्योगराज गुग्गुलु (र. रा. सा.) महावातविध्वंसन रस (र. तं. सा.), अश्वगन्धारिष्ट (भै. र.) एरण्ड पाक (वृ. पा.), रससिन्दूर, त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु, चतुर्भुज रस इत्यादि।
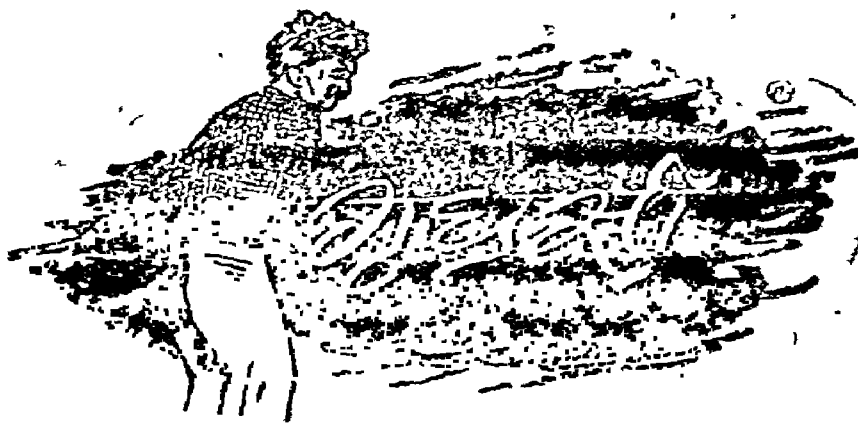
—डा० शिवपूजनसिंह कुशवाह एम० ए०,
साहित्यालङ्कार, कानपुर ।

वैदिक चिकित्सा—

अथर्ववेद काण्ड ६ सूक्त १०९ में गृध्रसी तथा अन्य वात रोगों की औषधि है—

पिप्पली क्षिप्र भेषज्यू३तातिविद्ध भेषजी ।
तां देवा समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम् ॥१॥

अर्थ—(पिप्पली) पिप्पली औषधि (क्षिप्तवात-क्षेपक वात व्याधि अर्थात् अंगों को फेंकने, अस्थिर करने, कम्पाने वाले रोग को नष्ट करने वाली है। (उत) तथा (अतिविद्ध भेषजी) अतिविद्ध अत्यन्त विद्ध गृध्रसी या अत्यन्त कष्टाङ्गवाली पक्षाघात तथा अर्दित वातव्याधि को नष्ट करने वाली है। (ताम्) उस इस पिप्पली औषधि को (देवा) विद्वान् वैद्यजन (सम कल्पयन्) पाकयोग से तैयार करते हैं (इयम्) यह (जीवित वै) जीवन देने के लिए (अलम्) समर्थ है ॥१॥

इस सूक्त में "पिप्पली" को क्षेपकवात, गृध्रसी, अर्दित और पक्षाघात आदि वात रोगों को नष्ट करने वाली तथा जीवन देने वाली रसायन कहा है। सुश्रुत ने वात रोग चिकित्सा प्रकरण में वातनाशक "कल्याण लवण" में पिप्पली औषधि को दिया है "पिप्पल्यादिभिर्वा" (सुश्रुत: चि०/अ०४/३२) तथा "भाव प्रकाश निघण्टु" में भी इसे वातनाशक और रसायन स्पष्ट कहा है। "पिप्पली दीपनी वृष्या स्वादुपाका रसायनी। अनुष्णा कटुका स्निग्धा वातश्लेष्महरी लघु ॥" (भाव प्रकाश नि०) इस प्रकार पिप्पली के चूर्ण 'आसव' पाक आदि के योग उक्त रोगों के नाशक हैं। उपर्युक्त अर्थ स्वामी ब्रह्म मुनि जी परिव्राजक 'विद्या मार्तण्ड" (पूर्व वैदिक गवेषक पं० प्रिय रत्न जी आर्य।) कृत "अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र" पुस्तक "वात व्याधि चिकित्सा" प्रकरण से लिया गया है।

अथर्ववेद काण्ड २ सूक्त ९ में "दशवृक्ष" द्वारा सन्निपात, गृध्रसी, वात रोग की चिकित्सा का वर्णन है। 'दशवृक्ष' से तात्पर्य "दशमूल" है।

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधियैनं जग्राह पर्वसु।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥१॥

इस सूक्त में सन्निपात (अपस्मार) जैसे रोगी को चिकित्सा 'दशवृक्ष' अर्थात् दशमूल से करने का विधान है। जो बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, काश्मरी, पाटला, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेली, छोटी कटेली गोखरू—ये दश औषधियां दशमूल हैं। यह गण वात नाशक है "प्रायः स्त्रिदोषनाशनं पक्वामयेषूल्लेस्मोल्वणेषु च गदेषु भिषग्भिरुक्तम्" —[धन्वन्तरि निघ०] दशमूल का क्वाथ वात कुण्डलीक, अष्ठीला, और वातवस्ति को नष्ट करता है।

"दशमूलक्वाथं पीत्वा सशिला जतुशर्करम्। वात कुण्डालिकाष्ठीला वात वस्ती प्रयुज्यते।" (भैषज्य रत्नावली) दशमूल को वेद ने अपस्मारनाशक बतलाया है। इसी प्रकार आयुर्वेदिक शास्त्र में भी इसे अपस्मार नाशक कहा है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—

(१) "गृध्रसी विश्वाचीक्रोष्टुशिकः खंजपङ्गुलवात कण्टकपाद दाहपादहर्षा च बाहुकवाधिर्य धमनीगतवात रोगेषु यथोक्तं यथोद्देशं च शिराव्यधं कुर्यात्। अन्यत्राव बाहुकात्' वातव्याधिचिकित्सितं चावेक्षेत।"

—[सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थानम् अ०५ श्लो २३]

गृध्रसी, विश्वाची, क्रोष्टुकशीर्ष खञ्ज, पंगुत्व, वातकण्टक, पाददाह पादहर्ष अवबाहुक, वाधिर्य, धमनी

गत वात रोगों में कहे के अनुसार। उद्वेश्य के विचार से सिरावेध करे। अववाहुक में सिरा वेध न करे। वातव्याधि की चिकित्सा भी करते ॥९३॥

(२) दशमूलीबलारास्नागुडूची विश्व भेषजम्।
पिबेदेरण्डतैलेन गृध्रसीखंज पङ्गुषु ॥
—भै० र०

दशमूल के द्रव्य, बला की जड़, रासना गुडूची और शुण्ठी इनको सम लेकर कूट-पीस छानकर महीन चूर्ण कर लेवें। ३ माशे से ६ माशे भर इस चूर्ण को १ तोले भर एरण्ड तैल में मिलाकर प्रतिदिन गृध्रसी, खंज और पंगु रोग में सेवन करना चाहिए ॥३७।

(३) पंचमूलीकषायन्तु सवृतैलांत्रिवृद घृतम्।
त्रिवृतैवाथवा युक्तं गृध्रसी गुल्मशूलनुत् ॥-भै०र०

अर्थ—वृहत्पंचमूल के द्रव्यों को २ तोले भर लेकर १२ तोले जल में कुपित करके ८ तोले शेष रहने पर छानकर उस क्वाथ में एरण्ड तैल ½ अथवा १ तोले भर, त्रिवृद् की जड़ का चूर्ण ½ तोले भर, और घी १ तोले भर मिलाकर पीने से अथवा केवल उक्त क्वाथ से त्रिवृत् का चूर्ण मात्र मिलाकर पीने से गृध्रसी, गुल्म व शूलरोग नष्ट हो जाते हैं।

(४) तैल घृतं वाऽऽर्द्रकमातुलुङ्ग्यारसं सचुक्रं सगुडं पिबेद्वा। कट्यूरु पृष्ठत्रिक शूल गुल्म गृध्रस्युदावर्त्त हरं प्रदिष्टः।-भै० र० वात व्याधि प्रकरण ३६।

वातनाशक तैल अथवा घृत अथवा शुद्ध तिल तैल और घी को अदरख के स्वरस और बिजौरे निम्बू के रस तथा चुक्र और पुराने गुड़ के साथ मिलाकर सेवन करने से कटिप्रान्त, ऊरु, पृष्ठ व औदलिक प्रदेश में उत्पन्न शूल तथा गुल्म, गृध्रसी और उदावर्त रोग नष्ट हो जाते हैं।

(५) दो रत्ती भर पिप्पली चूर्ण को २ तोले गोमूत्र तथा ½ से १ तोले एरण्ड तैल (अण्डी या रेंडी का तैल) में मिलाकर पीने से दीर्घकालजन्य श्लैष्मिक और वातिक गृध्रसी नष्ट हो जाती है।

(६) एरण्ड के तैल में पकाए गए बैंगन को भक्षण करने से मनुष्य गृध्रसी रोग से निर्मुक्त होकर पूर्ववत् अविकृत गमनशील हो जाता है।

(७) एरण्ड के १ तोले से २ तोले भर बीज लेकर उनकी गिरी निकाल के पीस कर यथाविधि दुग्ध में खीर पकाकर सेवन करने से अथवा सोंठ के साथ एरण्ड फल की गिरी को पीसकर खीर बना के सेवन करने से गृध्रसी और कटिशूल विनष्ट हो जाता है।

(८) रास्ना १ पल लेकर महीन चूर्ण करके ५ कर्ष (१० तोले) भर शुद्ध गुग्गुल के साथ जल से घोट कर सुखा लेवें। पुनः थोड़ा सा (गुड़िका बनाने योग्य) घृत मिलाकर घोटकर २—२ माशे भर गुटिकाएं बना के सुखाकर रख लें। एक गुटिका गर्म जलानुपान वा उष्ण दुग्धानुपान के साथ सेवन करने से गृध्रसी रोग नष्ट हो जाता है।

(९) गृध्रसी रोग से पीड़ित मनुष्य को प्रथम पाचन आदि उपायों से शोधित करना चाहिए। पश्चात् अग्नि प्रदीप्त हो जाने पर वस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

(१०) एक मास तक प्रतिदिन ½ तोले से १ तोले भर एरण्ड तैल को २ तोले गोमूत्र में मिलाकर पीने से गृध्रसी, उरु प्रान्त की जकड़ाहट नष्ट हो जाती है।

(११) सम्भालू वा हार सिंगार के पत्तों का मन्द २ अग्नि पर सिद्ध किया हुआ क्वाथ प्रतिदिन पीते रहने से अनेक औषधि से भी नहीं ठीक हुए गृध्रसी रोग को नष्ट कर देता है।

(१२) एकांगवीर रस (निर्मल आयु० संस्थान)। सभी औषधि निर्माण कर्ता वटी के रूप में विक्रय करते हैं इसमें रस सिन्दूर, शुद्ध गंधक, कान्त लौह भस्म; वंगभस्म, नागभस्म, ताम्रभस्म, अभ्रकभस्म, तीक्ष्ण लौह भस्म, सोंठ, मिर्च, पीपल सब समान भाग लेकर चूर्ण करने योग्य दवा को कूट-कपड़छान चूर्ण कर भस्मादिक दवा मिला १ दिन तक खूब घोटें। पुनः उसे त्रिफला, त्रिकुटा, संभालू, चित्रक, अद्रक, सहजना, कम्स्वला, आक, धतूरा और अदरक के रस में यथाक्रम ३-३ भावना देकर १-१ रत्ती की गोलियां बनाकर रख लें। (—वृ० नि० र०)

मात्रा अनुपान—१ से २ गोली प्रातः सायं शहद अथवा वातनाशक क्वाथ के साथ देवें।

इसके सेवन से पक्षाघात, अर्दित, गृध्रसी, एकांगवात, सर्वाङ्गवात आदि वात विकारों में लाभ होता है। पक्षाघात में इसका विशेष उपयोग किया जाता है।

(१३) त्रिफला के क्वाथ में अण्डी का एक, दो या तीन तोले बीज की गिरी मिलाकर पीने से गृध्रसी व ऊरुग्रह नाश हो जाता है।

(१४) बकायन की भीतरी छाल पानी के साथ सिल पर पीस कर और पानी में छान कर पीने से असाध्य गृध्रसी रोग भी नाश हो जाता है।

(१५) महानीम का १ माशे गोंद पानी के साथ पीने से गृध्रसी रोग नष्ट हो जाता है।

(१६) लहसुन (रसोन, थोम) १ तोले और शुद्ध गुग्गुल ५ तोले दोनों को घृत दे देकर खूब पीसो और जंगली बेर के समान गोलियां बना लो। एक गोली नित्य खाने से गृध्रसी रोग नाश होता है।

(१७) प्रसारिणी तैल लगाने व नस्य लेने से गृध्रसी रोग में लाभ होता है।

निर्माण-विधि—५ सेर प्रसारिणी को १२॥। सेर ४ तोला जल में पकावें। जब चौथाई जल शेष रह जाय, तब उतार कर छान लें। पुनः इसमें क्वाथ के समान तैल तथा दही व कांजी तैल के बराबर, गौ का दूध तैल से चौगुना और तैल का आठवां हिस्सा निम्न औषधियों का कल्क लें यथा—मुलेठी, पीपलामूल, चित्रक की जड़, सेंधा नमक, वच, प्रसारिणी, देवदारु, रास्ना, गजपीपर, भिलावा, सौंफ और जटामांसी सब समान भाग लेकर कल्क बना सबको एकत्र कर विधिपूर्वक तैल सिद्ध करें।

[शार्ङ्गधर-संहिता]

(१८) नीम की जड़ का क्वाथ पीने और उसी का लेप करने से 'गृध्रसी रोग' चला जाता है।

यूनानी चिकित्सा—

(१) बबूल, जमाल गोटे की जड़, व अमलतास का गूदा, ये तीनों वस्तुएं १ तोला लेकर आधा सेर पानी में औटावें। जब आधा पाव पानी रह जाय तब नीचे उतार कर छान लें फिर उस क्वाथ में १ तोला एरण्ड का तैल मिलाकर पीवें। यह प्रयोग पन्द्रह दिनों तक करें।

(२) मेढासिंगी, गोखरू, अरण्ड की जड़, बेल की जड़, वायविडङ्ग, ऊंटकटारा व कटेरी की जड़, इनको समभाग लेकर काढ़ा बनावे। उस काढ़े में अरण्ड का तैल मिलाकर पीने से भयानक वात गृध्रसी रोग नाश हो जाता है।

गृध्रसी के लिए होमियोपैथिक औषधियां

१—कोलोसिन्थ ३० शक्ति—विशेषतःया बायीं ओर दर्द, एकाएक दर्द उत्पन्न होना और गायब हो जाना। यह इस रोग की सर्वोत्तम औषधि है। परीक्षित है।

२—एकोनाइट ३× शक्ति—ठंडी हवा लगने के कारण रोगोत्पत्ति में आवे।

३—लकेसिस ३० शक्ति—स्त्रियों के रक्त स्राव बन्द होने के कारण होने पर लाभदायक है।

४—आर्सेनिक ३० शक्ति—किसी निश्चित समय दर्द होने पर दें।

५—नेट्रमसल्फ १२× विचूर्ण—आगे की ओर झुक कर बैठने या, बैठने के पश्चात् उठने पर जोड़ों का दर्द प्रतीत होना।

६—रसटॉक्स ३० शक्ति—सर्दी के कारण रोग होने पर।

७—कार्बोनियम सल्फ ३ शक्ति—किसी अन्य औषधि से लाभ न होने पर दें।

८—नैकेलियम, ६ या ३० शक्ति—स्नायुओं में तीव्र दर्द, ऐंठन तथा रोग स्थान के सुन्न हो जाने पर।

बायोकैमिक औषधि—

१—साइलिसिया (Silicia)—६×, ३०×, २००× शक्ति की औषधि ले सकते हैं।

गृधसी पर प्रयोग होने वाली पेटेन्ट औषधियां

अल्काहल (Alcohal) या रेक्टीफाइड स्प्रीट २ औंस

स्प्रिट आफ टेरपनटाइन २ औंस, स्प्रिट क्लोरोफार्म १औंस, गम कैम्फर ½ औंस।

इन औषधियों को मिलाकर पीड़ित स्थान पर दिन में दो बार लगाना चाहिए।

गृध्रसी नाशक एलोपैथिक पेटेण्ट गोलियाँ

१—नोवापाइरीन (बीकोन) १ से ३ गोली दिन में ३ बार दें।
२—कोडोपायरीन (ग्लैक्सो) १-२ गोली दिन में,
३—नोवाल्जिन (हैक्स्ट) ,, ,,
४—सीवालजीन (सीबा) ,, ,,
५—सेरीडॉन (रोश) ,, ,,
६—सोनाल्जिन (एम० बी०) ,, ,,
७—बार्टन (बंगाल केमिकल) २ से ४ गोली हर भोजन के बाद में।
८—फिनास्कोडीन (सिपला) १ से २ गोली दिन में ४ बार
९—एस्वीकोर्ट (जोइन माईथ) ,, ,, ,,
१०—यूनाल्जिन (यूनीकम) ,, ,, ,,
११—पैथिडीन हाइड्रोक्लोराइड (डेव) ,, ,,
१२—एण्टेडोन (एम.पी.डब्ल्यू) १ से २ गोली दिन में ४ बार
१३—इरगापायरीन (गायगी)-२-२ गोली २से४ बार तक दें।
१४—सेलामाइड (स्मिथ)-२ से ६ गोली प्रति ६ घन्टे के बाद दें।
१५—सिडेमोन (सिपला)—१ से २ गोली रोग के अनुसार बल से दें।
१६—ब्युटारीन (थिमिस) १ से ३ गोली दिन में ३ बार
१७—रिह्यूमीन (ईस्ट इन्डिया) ,, ,, ,, ,,
१८—प्रीडेसिन (ग्लैक्सो) ,, ,, ,, ,,
१९—फेब्रीसीन (सिपला) २ या ३ गोली दिन में चार बार
२०—पायराल्जिन (एलेम्बिक)—१ या २ टिकिया आवश्यकतानुसार दें।
२१—बार कम्पाउण्ड (एलासिन)—२ गोली दिन में ३ बार दूध से दें।
२२—ए० पी० सी० १ टिकिया लिबरीयम (रोश) १ टिकिया, बेकाप्लान (मर्क) १ टिकिया, विटामिन सी (१०० एम० जी०) १ टिकिया। चारों को पीसकर एक पुड़िया बना लें। पानी के साथ ऐसी १-१ पुड़िया दिन में २ या ३ बार गर्म या ताजे जल से सेवन करावें।

गठिया का ज्वर, गृध्रसी के दर्द के साथ जिस भ्रम आदि लक्षण होने पर दें।

गृध्रसी में लगाने योग्य एलोपैथिक पेटेन्ट इन्जेक्शन

१—मेक्राबीन (ग्लैक्सो) १ सी० सी० मांस में प्रतिदिन लगावें।

२—टोबेलिन बी (सीपला)—२ सी०सी० का १ इन्जेक्शन मांस में।

३—नोवाल्जिन (हैक्स्ट)—५ सी०सी० नस में लगावें। मांस में लगाने से प्राय पक जाता है।

४—डिमिरोल (विन थ्रोप)—१०० एम० जी० का इन्जेक्शन मांस में।

५—फाइसेप्टोन (वेल्कम)—१ सी०सी० १० एम० जी० चर्म या मांस में।

६- यूनाल्जिन (यूनीकैम)—५ या १० सी.सी. मांस में।

७—सोडा सेलिसिलास विद आयोडाइड (बंगाल इम्युसिटी २ एम० एल० को २० सी० सी० के परिस्रुत जल में घोलकर प्रतिदिन नस लगावें।

८—प्रोक्टोकेन (ग्लैक्सो)—५ एम० एल० गृध्रसी नाड़ी में ही लगावें।

(९) (बिनर्वा रोश)—५० से १०० एम० जी० मांस में नित्य लगावें।

(१०) विटामिन बी० १ (ए०एफ०डी)—१ सी. सी. १०० एम० जी० प्रतिदिन मांस में लगावें।

(११) ब्यूटारीन (थीमिस फार्मा)—१ एम्पुल प्रतिदिन मांस में।

(१२) मोर्फीन सल्फ (बंगाल इम्युनिटी)—शूल के लिए ⅙ ग्रेन से ¼ ग्रेन तक चर्म में लगावें।

पक्षाघात एवं गृध्रसी पर मेरा अनुभव

वैद्य श्री चन्द्रशेखर जी व्यास आयु० विशारद, चूरू (राजस्थान)

वैद्य श्री चन्द्रशेखर जी व्यास पीयूषपाणि अनुभवी चिकित्सक हैं। आप कई भारत प्रसिद्ध औषधालयों में प्रधान चिकित्सक रहे हैं। अब भी अपनी कुशाग्रबुद्धि से जटिलरोगों की चिकित्सा कर अनन्त यश प्राप्त कर रहे हैं। ईश्वर कृपा को आप अधिक महत्व देते हैं जो वस्तुतः सर्वोपरि है-

सुमिरत श्री रघुबीर की बांहै।
कर आई करि हैं करती हैं,
तुलसीदास दासन पर छांहै॥

धन्वन्तरि के स्वास्थ्य प्रश्नोत्तरी का आप ही उत्तर देते हैं। आपने अपनी अनुभवपूर्ण चिकित्सा का विवरण प्रेषित कर अनुभूति साहित्य में श्री वृद्धि की है।

—विशेष सम्पादक

पक्षाघात पर मेरा अनुभव—

सन् १९४३ के कार्तिक मास की बात है। प्रातःकाल ८ बजे तोलाराम शर्मा (चोटिया) मेरे पास आये। बोले— बाबाजी को देखने चलो। मैंने पूछा- इतने घबराये हुए क्यों हो? उसने बुझे हुए स्वर में कहा—बाबाजी रामनारायणजी को हवा मार गई है यानि पक्षाघात हो गया है। मैं उसके निवास स्थान पर गया। वहां श्री रामनारायणजी एक पलंग पर लेटे हुए थे। उनका वामांग (बांया अंग) पूरा का पूरा ही निश्चेष्ट था जिह्वा भी लड़खड़ाई हुई थी शब्द स्पष्ट उच्चारण नहीं होता था। वे अस्पष्ट उच्चारण के साथ जो बोले वह मैं बहुत कम रूप में समझ पाया, पर अन्दाज यही लगा कि रात के करीब १२-१ बजे अचानक इनको पक्षाघात हो गया था। मैंने उसको नारायण तैल का गण्डूष (कुल्ला) कराने हेतु तैल दिया। साथ ही मधु (शहद) पिलाने को भी कहा। इसके अलावा रोगी को निम्न क्रम (औषध व्यवस्था क्रम) से औषधि दी गई।

सुबह-शाम वृ० वात चिंतामणी २ रत्ती तथा शृंग भस्म २ रत्ती को मधु में मिलाकर दी गई। उपरोक्त खुराक एक मात्रा है। इसके आधा घन्टा बाद महारास्नादि क्वाथ १॥ तोला में २० तोला जल मिलाकर औटाकर ५ तोला जल शेष रहने पर कपड़े से छान कर क्वथित जल से दो वटी महायोगराज गूगल की साथ में रोगी को दी गई।

उपरोक्त दवा सात दिन देने से शरीर का वामांग (बांया हिस्सा) हिलने लगा। अब मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि यह रोगी अब पूर्ण रूप से ठीक हो जावेगा। आठवें दिन वृ० वात चिंतामणी के साथ-साथ महायोगराज गुग्गुल भी दोनों समय चालू कर दिया गया। इस दौरान एक समय महानारायण तैल का गण्डूष (कुरला) भी चालू रखा गया। १६ वें दिन हाथ से वस्तु पकड़ने की क्रिया चालू होने लग गई। पांव भी इकट्ठा होने लगा यानि बांया हिस्सा क्रियाशील होने लगा। रोगी स्पष्ट शब्द उच्चारण भी करने लग गया। उसने मुझ से कहा—

अब मैं ठीक हूँ और लाठी के सहारे से खड़ा हो सकता हूँ। मेरे हाथों में भी बल आ गया है। अब दवा कितने दिन और लेनी पड़ेगी? मैंने कहा—बाबाजी अभी स्वामो कम से कम ६०-६५ दिन और लेनी पड़ेगी क्योंकि आपकी उम्र ६५-७० वर्ष की है और इस अवस्था में भी वायु का बल अधिक रहता है यह स्वाभाविक है। वे कहने लगे—मैं स्नान करना चाहता हूँ। मैंने कहा आप आज ही स्नान कर सकते हैं। पर स्नान करने से पूर्व सरसों के तेल की मालिश सर्वाङ्ग (पूरे शरीर पर) करवायें और गर्म पानी से स्नान करें। गर्म जल में रासना की पत्तियाँ या शतावरी १० सेर जल में ५ तोला डालकर छान कर स्नान करें तो उत्तम रहेगा।

पक्षाघात के इस रोगी को दवा के साथ-साथ जल तथा दूध में शहद डालकर भी बराबर दिया जाता था तथा नमक सर्वथा बंद था। कब्ज पहले तो रहा पर एक सप्ताह के बाद कब्ज दूर हो गया। यह महारास्नादि क्वाथ का ही प्रभाव था और हाथ-पांव या अंगों का आकुञ्चन प्रसारण (अंगों की क्रियाशीलता) का होना महानारायण तैल का प्रभाव था तथा शरीर में बल आ जाना वृहत् वात चिंतामणी एवं महायोगराज गुगुल का प्रभाव था। धीरे-धीरे श्री रामनारायण शर्मा, रोगी, अब लकड़ी के सहारे घर से बाहर आने लगे। पक्षाघात से शीघ्र मुक्त हुए देखकर जब लोगों ने मुझसे पूछा—क्या झाड़ फूंक करते हो? मैंने कहा यह मेरा काम नहीं है। मैं तो शास्त्रीय औषधि ही काम में लेता हूँ। हाँ इतना अवश्य है कि मैं आस्तिक व्यक्ति हूँ। अतः औषधोपचार के पूर्व श्री मृत्युंजय भगवान का पूजन एवं जाप अवश्य करवाने की मात्र सलाह ही नहीं देता बल्कि जब पूजन और जाप चालू होता है तब ही मैं रोगी को दवा देना प्रारम्भ करता हूँ। अतः यह तो भगवान आशुतोष की कृपा का फल है मुझे जो यश प्राप्त हुआ है यह मेरे पूज्य स्मरणीय गुरुदेव कन्हैयालाल जी ढढ का आशीर्वाद भी है वरना मेरे कुछ भी योग्य नहीं हूँ।

गृध्रसी पर मेरे अन्य अनुभव—

सन् १९६४ के जनवरी माह की बात है मैं प्रकाश नंद आयुर्वेद अस्पताल में C.M.O. के पद पर था। यह अस्पताल जूहू बम्बई में स्थित था उस समय यशोदा बा गुजराती महिला के दाहिने पांव में गृध्रसी (साइटिका रिंगण वात) था बहुत वेदना थी। इस ७० वर्षीय महिला की सेवा करने हेतु एक परिचारिका साथ में थी। इस सम्पन्न घर की महिला के कोई भी अभिभावक नहीं था। विले पार्ले में निज का मकान भी था पर वारिस कोई नहीं था। इसको प्राइवेट कमरे में भर्ती किया गया। शरीर दुबला पतला था पीड़ा बहुत थी। भर्ती करने के बाद रक्तचाप आदि देखा गया। प्रायः सभी ठीक थे पर पांव में वेदना बहुत थी मैंने पूछा माँ जी, आप कितने दिन से बीमार हैं? इस पर उसके साथ आई "राधा" नामक परिचारिका ने कहा—एक वर्ष से बीमार हैं। उसने यह भी कहा कि इसे सुनाई भी कम देता है।

गृध्रसी से पीड़ित इस महिला को दिया औषधि व्यवस्था पत्र निम्न प्रकार से है—

सुबह शाम गृध्रसी हर क्वाथ १५ ग्राम को ३ ग्लास जल को औटाकर चतुर्थांश शेष रहने पर छान कर बढ़िया जल के साथ पंचामृत लौह गुगल की दो वटी (गोली) दिन के दो बजे निर्गुण्डी तैल की मालिश तथा चावलों का पिण्ड सेक एवं रसराज रस १ रत्ती मधु में मिलाकर देना।

शाम को सात बजे भोजन के बाद गृध्रसीहर क्वाथ एवं पंचामृत लौह गुग्गल दो वटी और रात को नौ बजे महावात विध्वंसन रस की एक वटी मधु में देना। उपरोक्त क्रम ३० दिन तक चालू रहा। इस के पश्चात् उसका दर्द बहुत साधारण रह गया। मतलब कि वह वेदना और पांव का प्रसारण साधारण तौर पर रह गया। अब चलने फिरने में कष्ट नहीं होता था। 'यशोदा बा' बहुत खुश हुई और बोली—अभी दवा कितने दिन चालू रहेगी? - मैंने कहा-दवा ४५ दिन और देनी है। आप अस्पताल में ही रहो तो ज्यादा ठीक रहेगा। क्योंकि तैल की मालिश और पिण्ड सेक यहाँ पर नर्स ठीक से तथा समय से करती रहेगी "यशोदा बा" पूरे ७५ दिन तक

अस्पताल में रहकर पूर्णरूप से स्वस्थ होकर अपने घर गई।

इसी तरह "यशोदा बा" के पड़ौस में 'मंगला गौरी" नामक एक ४५ वर्षीया गुजराती महिला के भी तीन साल से गृध्रसी (साइटिका) थी। जब 'यशोदा बा" ठीक होकर गई तो वह भी अस्पताल में आकर भर्ती हो गई। औषधि और उपचार तो प्राय "यशोदा बा" वाला ही था। पर रोग जीर्ण होने के कारण पंचामृत लोह गुग्गुल की जगह महायोग राज गुग्गुल दिया गया एव निर्गुन्डी तैल की मसाज (मालिश) एक विशेष व्यक्ति द्वारा कराई गई।

"मंगला गौरी" को रात को सोते समय योगेन्द्र रस १॥ रत्ती प्रवाल पिष्टी २ रत्ती मधु में मिलाकर दी जाने लगी; पिण्ड सेक दोनों वक्त किया जाने लगा। इस प्रकार यह रोगी महिला सौ दिन में पूर्ण रूप से ठीक होकर घर पर गई।

गृध्रसी से पीड़ित गोरेगाँव (बम्बई) के श्री कन्हैया लाल पारख श्री मंगला गौरी के पति के मित्र होने की वजह से मेरे पास आये। श्री पारख को करीब चार साल से गृध्रसी थी। जब श्री पारख और मंगला देवी के पति का सम्पर्क हुआ तो बातों ही बातों में यह बात भी सामने आई कि श्रीमती मंगला गौरी का गृध्रसी रोग भक्तानन्द आयुर्वेद अस्पताल मे इलाज करवाने पर पूर्ण ठीक हो गया है। यह सुन कर श्री पारख विले पारले आये। और उन्होंने श्रीमती मंगला गौरी से पूछा आपकी तबियत खराब थी अब कैसी है? तब श्रीमती मंगला गौरी ने सहज भाव से बताया–मेरी तबियत बिल्कुल ठीक है। दर्द किंचित मात्र भी नहीं है। मैंने इतने दिन तक बहुत दवा ली पर लाभ नहीं हुआ। और अबकी बार जुहू–अस्पताल में भर्ती होने से मैं पूर्ण रूप से ठीक हूँ। यह सुनकर श्री पारख अगले दिन मेरे पास आये।

श्री पारख ने कहा–वैद्य जी, मैं भी गृध्रसी से पीड़ित हूँ अतः मुझे भी भर्ती कर लो और इसी तरह स्वस्थ बना दो। इनको सुबह शाम गृध्रसीहर क्वाथ एवं पंचामृत लौह गुग्गुल व दोपहर को भोजन के आधा घन्टा बाद दशमूलारिष्ट २० ग्राम और जल २० ग्राम मिलाकर देना चालू किया। निर्गुण्डी तैल की मालिश तथा पिंड सेक। रात को सोते समय रसराज रस दो रत्ती व गोदन्ती भस्म २ रत्ती मधु में मिलाकर देना चालू किया। इससे श्री पारख चार माह में ही ठीक हो गये।

गृध्रसीहर क्वाथ [वैद्य बंशीधर शर्मा जोशी, वाराणसी से प्राप्त]–

घटक द्रव्य–बलामूल १० ग्राम, रासना १० ग्राम, गिलोय १० ग्राम, सौंफ १० ग्राम, निर्गुण्डी १० ग्राम, दशमूल १०० ग्राम, वृद्धदारुक (विधारा) १० ग्राम, एरंडमूल १० ग्राम, उसबा १० ग्राम, सुरंजान मीठी १० ग्राम और असगंध १० ग्राम।

निर्माण विधि—सब औषधियों को जब कूट करके काढ़ा बना लें और कांच के ठण्डे ऑल (बर्तन) में रख ले। मात्रा १० ग्राम से १५ ग्राम तक। २०० ग्राम जल में डालकर काढ़ा बनावें। जल जब चतुर्थांश शेष रह जाय उतार कर छान ले। यह पानी गुनगुना हो तो रोगी को पिला दें।

उपयोग—गृध्रसी (साइटिका रिंगण वात) के लिए उत्तम है।

गृध्रसी नाशक मिश्रण

सुरंजान १ ग्राम, असगन्ध २ ग्राम, विधारा १ ग्राम, सौंठ अजवायन आधा-आधा ग्राम–नित्य प्रति प्रातः सायं सेवन करावें।

इस योग की १ पुड़िया में आधी रत्ती केशर डालकर गर्म दूध के साथ सेवन करावें तथा ऊपर से एक छुआरा चबा जायें। इसके २ घन्टे बाद तक कुछ भी सेवन नहीं करावें। लगभग २ माह सेवन करने से अपूर्व लाभ होगा।

—कवि० राजेन्द्रप्रसाद भटनागर भिष०
(धन्वन्तरि के सफल सिद्ध प्रयोगांक से)

● पक्षाघात एवं गृध्रसी पर मेरा अनुभव ●

गृध्रसी की सफल संक्षिप्त चिकित्सा

श्री रघुवीरशरण शर्मा आयु० बृह०; डी–१५ भजनपुरा; दिल्ली–५३

रास्नासप्तक क्वाथ (शार्ङ्गधर संहिता)–रास्ना गिलोय हरी अण्डी की छाल देवदारु का बुरादा, पुनर्नवा गोखरू और अमल तास का गूदा हरेक सम भाग (इन रास्ना और अमलतास का गूदा द्विगुण लेते हैं) इन सबका दरदरा चूर्ण करके रख लें। इसमें से १॥ तोला लेकर १६ तोला पानी में औटालें। ४ तोला शेष रहने पर छान लें। फिर इसमें ४ रत्ती सोंठ का चूर्ण और ६ माशे एरण्ड स्नेह डालकर प्रातः सायं पीवें। इसके साथ महा-योगराज वटी भी रख लें तो और अधिक लाभ करेगा।

गुण—इसके सेवन से नई गृध्रसी और नया आमवात और कटि शूल नष्ट होता है।

निर्गुण्डी योग (आयुर्वेद-विज्ञान)—

शेफालिका दल क्वाथोमृद्वग्नि परिसाधितः।
दुर्वारं गृध्रसी रोगं पीतमात्रः समुद्धरेत् ॥

सम्मालू के पत्ते २ तोला १६ तोला पानी में पकावें। ४ तोला शेष रहने पर छानकर प्रातः सायं दोनों समय पीलो। मैं इसमें ६मासे एरण्ड स्नेह भी डालता हूँ। इससे अधिक लाभ होता है। यह गृध्रसी के लिये उत्तम औषधि है।

गोमूत्र का योग, (योगरत्नाकर)

तैलमेरण्डजं वापि गोमूत्रेणपिवेन्नरः।
मासमेके प्रयोगोऽयं गृध्रस्यूरु ग्रहापहम्।

१ तोला कैस्टर आइल और ४ तोला गोमूत्र को मिलाकर प्रातः सायं पीने से गृध्रसी और उरुस्तंभ रोग दूर होते हैं।

सूचना—आसन्न प्रसवा गौ का और ब्याई हुई गौ का मूत्र नहीं लेना चाहिये। यह दूषित होता है। दूसरी बात गोमूत्र को प्रतिदिन लेने की आवश्यकता नहीं है। इसको छानकर बोतल में भरकर रख ले। जाड़ों में ८ दिन तक और गर्मियों में ३-४ दिन तक खराब नहीं होता है। एरण्ड स्नेह के गुण सुश्रुत अ० ४५ श्लोक ११४।

एरण्ड स्नेह उष्ण है, तीक्ष्ण है, सूक्ष्म है स्रोतों को शुद्ध करने वाला है। मेधावर्धक है, स्मृति वर्धक है कान्ति वर्धक है और वृष्य है।

गोमूत्र के गुण–गोमूत्र दीपन पाचन है, मेधावर्धक, पित्तवर्धक, कण्डू नाशक, किलास कुष्ठ वस्तिगत रोग, श्वास, कास, पाण्डु कामला शोथ, गुल्म मूत्राघात उदर के कृमियों का नाशक है तथा अनेक वात रोगों को नष्ट करता है।

एरण्ड बीज का योग—

अण्डी के बीजों को लेकर इनको छिलका उतार लो। फिर सिल बाट से बारीक पीस लो। फिर इसे दूध डालकर और चीनी डालकर खीर बनाकर खालो। यह योग दस्त लाता है फिर भी गृध्रसी में लाभ अच्छा करता है।

अश्वगन्धादि चूर्ण—

अश्वगन्धा सोंठ और विधारा हरेक ५-५ तोला चीनी १५ तोला। पहिले तीन चीजों का चूर्ण कर लेना। इसमें चीनी मिलाकर शीशी में भर कर रख लें। मात्रा ६ माशे रात को दूध के साथ लें। यह योग गृध्रसी में तो अधिक लाभ नहीं करता, लेकिन बलवीर्यवर्धक है वाजी करण है और कमर के दर्द की अच्छी औषधि है।

पञ्चामृत लोह गूगल (भैषज्य रत्नावली)–शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, रजत भस्म अभ्रक भस्म सुवर्ण माक्षिक भस्म हरेक ५-५ तोला लोह भस्म १० तोला शुद्ध गूगल ३५ तोला।

विधि—सबसे पहिले पारद गन्धक की कज्जली करलें। कज्जली में भस्मों को मिला लो। फिर गूगल को हिमाम दस्ता मे डालकर सरसों के तेल के छींटे दे देकर गूगल को कूटें। जब गूगल मुलायम हो जावे तब उसमें भस्मों को डालकर ६ घण्टे तक और मर्दन करें। फिर ४-४ रत्ती की गोलियां बनाकर शीशी में भरकर रखलें।

मात्रा और अनुपान १-१ गोली प्रातः सायं सेवन करें। (शेषांक पृष्ठ २४३ पर देखें)

श्री जगदीश चन्द्र भारद्वाज 'चन्द्रेश'
चिकित्सक–राजकीय 'ब' श्रेणी आयुर्वेदिक चिकि०
मेड़ता सिटी (नागौर) राज०

मरू मानषमरालिनी भक्तिमयी मीरा के जन्म स्थान में चिकित्सा से जनमानस को प्रभावित करने वाले श्रीयुत चन्द्रेश ने मेरे आग्रह पर यह लेख प्रेषित किया है। अनेक वाद विवाद प्रतियोगिताओं एवं कवि सम्मेलनों में भाग लेने वाले नवयुवक चन्द्रेश विभागीय पत्रिका 'आयुर्वेद प्रकाश' के सम्पादक मण्डल के सदस्य हैं। कर्तव्य निर्वाह में आप सदैव उत्साही रहे हैं। इससे ही रचनात्मक प्रवृत्तियाँ जगती हैं और सफलता का मार्ग खुलता है। रामायण का एक सुभाषित है—

उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात्परं बलम्।
सोत्साहस्य त्रिलोकेषु न किञ्चिदपि दुर्लभम्॥

आपने अपने एक अनुभव का विवरण प्रस्तुत किया है।

—वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' मिश्र

बात उन दिनों की है जब इन पंक्तियों के लेखक ने राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय जयपुर से आयुर्वेद स्नातक की उपाधि प्राप्त कर राज्य सेवा प्रारम्भ ही की थी। हमारे पड़ोसी सरदार मोहनसिंह वदनी ने मुझे कई बार कहा. वैद्य जी आप हमारे बहनोई जी को देखकर उनकी चिकित्सा कीजिये। वे दस वर्ष से बीमार हैं, उन्हें चलने फिरने बैठने आदि तक में बड़ी दिक्कत होती है। उनकी कमर में बड़ी वेदना होती है और जकड़ना है। वे दूसरे दिन ही उन्हें लेकर हमारे घर आये उन्हें देखा गया वस्तुतः रोगी को अत्यधिक परेशानी थी। रोगी चलता तो पीछे की तरफ गिर पड़ने की स्थिति में होता व स्वयं को संभाल पाने में असमर्थ रहता। रिक्शा इत्यादि में बैठने में भी परेशानी होती और रिक्शे में पीछे की तरफ लुढ़कने जैसी स्थिति में हो जाता। रोगी की कमर को वायु ने इस प्रकार जकड़ रखा था कि सीधे उठना बैठना भी सम्भव नहीं था बैठते ही पीछे की तरफ लुढ़क जाता। कटि में असह्य वेदना रहती।

अब मेरे सामने प्रश्न निदान का था। वायु के ८० विकारों में से किस विकार में गणना की जाय। कटिवात, कटिशूल, कटिस्तम्भ आदि नाम मेरे मानस में कौंधे किन्तु उक्त रोग को कटिग्रह नाम से नामाँकित कर हमने चिकित्सा की व्यवस्था निम्न प्रकार की—चोपचीनी ५०० मि.ग्रा., सुरन्जान सीरी ५०० मि.ग्रा., सुण्ठी चूर्ण ५०० मि० ग्रा०, विषमुष्टि चूर्ण ५० मि० ग्रा०; अश्वगन्धा चूर्ण १ ग्राम, शतावरी चूर्ण १ ग्राम, सिता २ ग्राम। ऐसी दो मात्रायें दिन में दो बार दूध से तथा उसी समय तन्द्रक वटी २ गोली दो बार दूध से दिलाई। संघवादि तैल से अभ्यंग कराकर अश्वगन्ध पत्र-नेगड़ पत्र व सम्भालु पत्र से स्वेदन कराना प्रारम्भ किया। यह व्यवस्था १५ दिन तक रखी गई। उपरोक्त व्यवस्था से रोगी को पीड़ा में तो कुछ लाभ रहा किन्तु कटिग्रह (कटि स्तम्भ) यथावत् बना रहा। रोगी इतनी औषध लेने में भी अरुचि व असमर्थता जाहिर करने लगा। अतः मेरे मन में एक विचार कौंधा चूँकि अब वर्षा काल है वायु का प्रकोप, काल एवं पित्त का संचयकाल अतः घृत चिकित्सा सिद्धान्तदृष्ट्या उत्तम रहेगी।

बृहत् छागलाद्य घृत का निर्माण व प्रयोग—

उपरोक्त विचार कर रोगी को बृहत् छागलाद्य घृत सेवन की राय दी गई किन्तु औषध बाजार में निर्मित प्राप्त नहीं होती अतः काष्ठौषधियों का नुस्खा लिख दिया गया तथा बिना ब्यायी बकरी के मांस का प्रबन्ध

कर शास्त्रानुसार बनाने की राय दे दी गई। सर्व प्रथम सींग रहित बिना ब्याही बकरी का माँस १ किलो लेकर १६ किलो पानी में उबाल कर ४ किलो जल शेष रहने पर उतार कर छानकर पृथक बर्तन में रख लिया गया। दशमूल की औषध (मलित) १ किलो को १६ किलो पानी में उबालकर चतुर्थांश जल शेष रहने पर छान लिया गया और पूर्व के पात्र में मिला दिया गया। अश्वगन्धा १ किलो लेकर १६ किलो पानी में उबालकर चतुर्थांश शेष रहने पर छानकर पूर्व पात्र में ही मिला दिया गया। उसी प्रकार शतावरी २ किलो लेकर १६ किलो जल लेकर उसमें उबाला गया तथा ४ किलो रहने पर छान लिया गया और उसी पूर्व के पात्र में मिला दिया गया। अन्त में ४ किलो गाय का दूध लेकर उपरोक्त क्वथित द्रव्यों में व मांसरस में डाल दिया गया। बरियारा की जड़ नहीं मिलने के कारण उसके क्वाथ की कल्पना नहीं की गई। कल्क द्रव्यों में अष्टवर्ग के स्थान पर शतावरी, विदारीकन्द, अश्वगन्धा, वाराहीकन्द लिए गये ठीक उसी कथन के अनुसार-"मेदा, जीवक काकोली, ऋद्धि द्वन्द्वे शतावरी। वरी, विदारी, अश्वगन्ध वाराहीश्च क्रमात् क्षपेत् ॥" साथ ही जीवन्ती, मुलैठी मुनक्का, नील कमल रास्ना मुद्गपर्णी, माषपर्णी श्यामलता, अनन्तमूल, कूठ, कचूर, दारू हल्दी, प्रियंगु त्रिफला, तगर, तालीस पत्र, पद्माख, छोटी इलायची तेजपात नागकेशर, चमेली के फूल, धनियाँ, मजीठ अनार, देवदारू, संभालू बीज, एलुआ, वायविडङ्ग, सफेद जीरा, आदि द्रव्य १०-१० ग्राम लिये गये, सिला पर पीस कर कल्क बना लिया। गया जल मिश्रित कर लुगदी बना ली गई। फिर उपरोक्त क्वाथ मिलित मांसरस व दूध एवं कल्क में ४ किलो घी डालकर घृत पाक विधि से बृहद् छागलाद्य घृत का निर्माण कर ५०० ग्राम मिलाकर प्रातः समय दूध के साथ सेवन कराया गया। रोगी को चमत्कारिक लाभ हुआ। रोगी अब पूर्ण स्वस्थ एवं भला चंगा है। किसी प्रकार की कठिनाई नहीं है।

(पृष्ठ २४१ का शेषांक)

अनुपान—दूध, अण्डी की जड़ की छाल का क्वाथ, या केवल रास्ना का क्वाथ। गुण-यह योग गृध्रसी कटिशूल घुटने का दर्द और स्नायुगत वात रोगों में लाभ करता है।

प्रताप लंकेश्वर रस (योग रत्नाकर सूतिका-विकार)—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध शृंगिक विष और अभ्रक भस्म, हरेक १-१ तोला काली मिरच, २ तोला लोह भस्म ३ तो० शंख भस्म ८ तोला और वनोपल भस्म (आरने कंडे की राख) १६ तोला।

अनुभव—मैं इसका व्यवहार गृध्रसी (स्याटिका) विश्वाची अपतंत्रक (हिस्टीरिया) में भी प्रयोग करता हूँ। हिस्टीरिया में अकेला तो लाभ करता ही है। यदि इसके अनुपान में मांस्यादि क्वाथ भी दिया जाय तो अधिक लाभ करता है।

मांस्यादि क्वाथ (सिद्ध योग संग्रह)—जटामांसी १ तोला, असगन्ध ३ मासे खुरासानी, अजवायन ११ मासे इनको जौ कुट करके रख लें। इसमें से १ तोला लेकर १६ तोला पानी में पकावें ४ तोला शेष रहने पर छानकर पी अकेला लें या प्रताप लंकेश्वर के साथ।

अदरख का शर्बत—६० तो० अदरख का रस निकाल कर १-२ घन्टा चीनी के प्याले में रख दो। प्याले के पैंदे में श्वेत वर्ण का अदरख का तत्व जम जायगा। उसे धूप में सुखाकर रख लें। यह सौंठ के स्थान पर काम आवेगा। मात्रा ४ रत्ती। शेष रस में ८० तोला चीनी डालकर चाशनी कर लें बस बन गया शर्बत। यह शर्बत प्रतिश्याय और खांसी में भी लाभ करेगा।

अब बहुचर्चित महारास्नादि क्वाथ—महारास्नादि क्वाथ का हम अनेक रूपों में प्रयोग करते हैं। महारास्नादि आसव, महारास्नादि अर्क महारास्नादि तेल महारास्नादिघन, महारास्नादि घृत, यह बहुत से रोगों में लाभ करता है किन्तु अपतानक एवं कुब्ज (कुबड़े) में नहीं करता है।
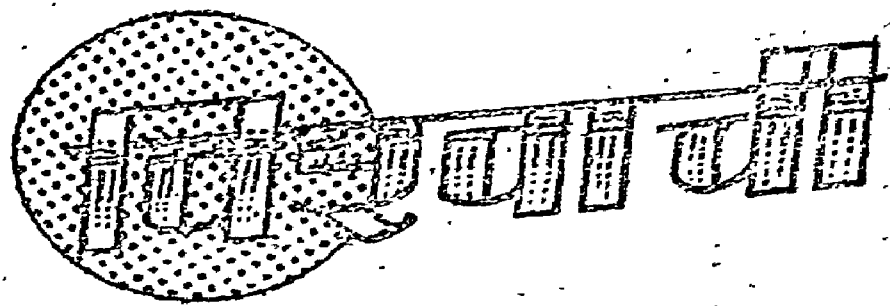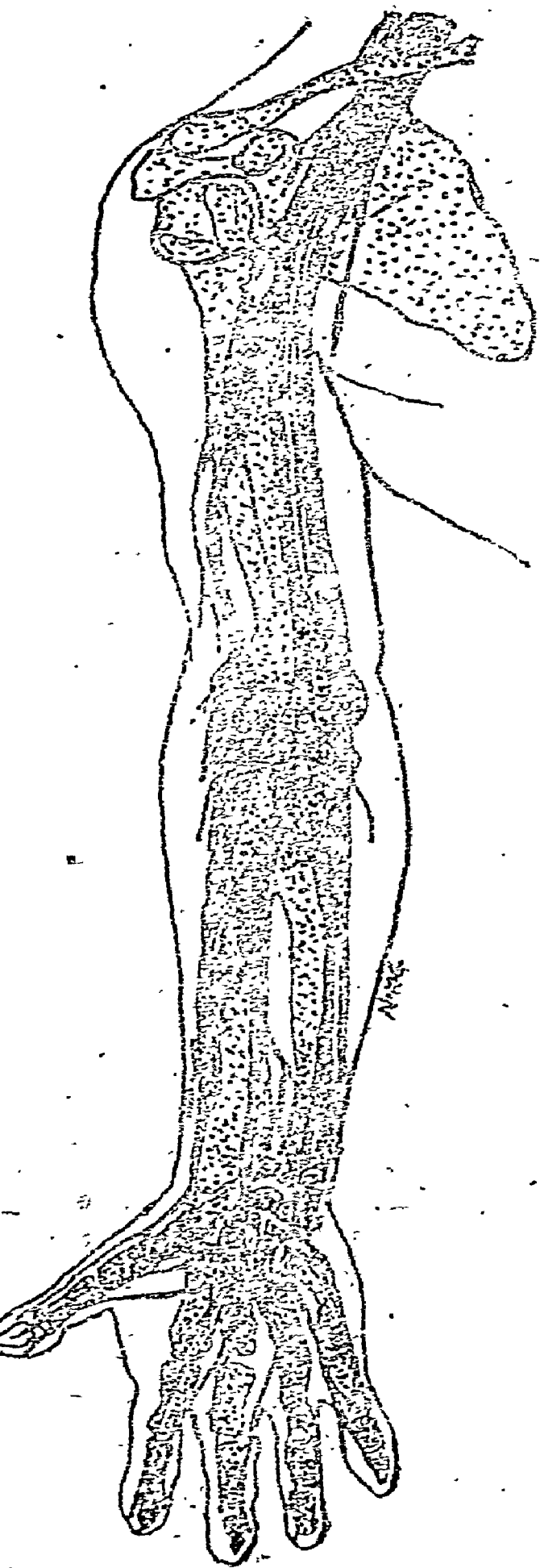
श्री वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य

—※—

बाहु के पृष्ठ भाग से प्रारम्भ होकर हाथ एवं अंगुलियों के पृष्ठ भाग एवं प्रकोष्ठ, हाथ और अंगुलियों के पूरे भाग की पेशियों में संकोच-प्रसार आदि चेष्टाओं की शक्ति प्रदान करने वाली वात-नाड़ियों में विकृति होने से विश्वाची रोग की उत्पत्ति होती है। साधारणतया गृध्रसी के समान यह भी एक ही बाहु में होती है किन्तु कदाचित् दोनों बाहु में भी हो सकती है। सुतरां महर्षि सुश्रुत ने "बाह्वोः" शब्द का प्रयोग किया है—

तलं प्रत्यङ्गुलीनां तु कण्डरा बाहु पृष्ठतः।
बाह्वोः कर्मक्षयकरी विश्वाचीति हि सा स्मृता ॥
—सुश्रुत नि० १।७५

विश्वाची कारण और लक्षणों की दृष्टि से तीन प्रकार की होती है—

१—प्रसारक पेशीकर्म क्षयकरी या बहिः प्रकोष्ठिका नाड़ी विकृति जन्य विश्वाची (Redial Neuritis or Radial Paralysis)

२—आकुञ्चकपेशीकर्म क्षयकरी या अन्तः प्रकोष्ठिका नाड़ी विकृति जन्य विश्वाची (Radial Neuritis or Radial paralysis)

३—उभयपेशी कर्म क्षयकरी या उभय नाड़ी विकृति जन्य विश्वाची (Radioulnar Neuritis or Radioulnar Paralysis)

गृध्रसी की भांति विश्वाची भी स्नायुरोग है अतः डल्हण ने लिखा है—'गृध्रसी सदृशीमेक वाहुगतां विश्वाचीमाहुः' समस्त शरीर में ९०० स्नायु हैं। वे प्रतान, वृत्त, पृथुल और शुषिर भेद से चार प्रकार की है। इनमें वृत्त स्नायु का ही दूसरा नाम कण्डरा है—वृत्तास्तु कण्डरा सर्वाः। इसका स्थान शाखा (हस्तपाद) और सन्धियां हैं। इन कण्डराओं की संख्या शरीर में १६ वध है—

महत्यः स्नायवः प्रोक्ताः कण्डरास्तासु षोडशः।
प्रसारणाकुञ्चनयोर्दृष्टं तासां प्रयोजनम् ॥
— भाव प्र० ख० २।३१२

ये कण्डरायें ४ दोनों पैरों में, चार दोनों हाथों में चार ग्रीवा में और चार पृष्ठ में हैं—तासां चतस्रः पादयोः, तावत्यो हस्त ग्रीवा

पुष्ठेषु (सुश्रुत शा० ५।१०) स्नायु से कहीं-कहीं वात नाड़ी का भी ग्रहण किया जाता है। विश्वाची में कण्डरा शब्द से वात नाड़ी ही समझनी चाहिए। शूल के कारण विश्वाची में चेष्ठा नाश हो तो उसे तन्त्र में 'खल्ली' यह विशिष्ट संज्ञा दी गई है। कभी-कभी श्लीपद आदि के कारण बाहुसिरा में पाक होकर भी शूल हो जाता है इसका विश्वाची से भेद कर लेना चाहिए।
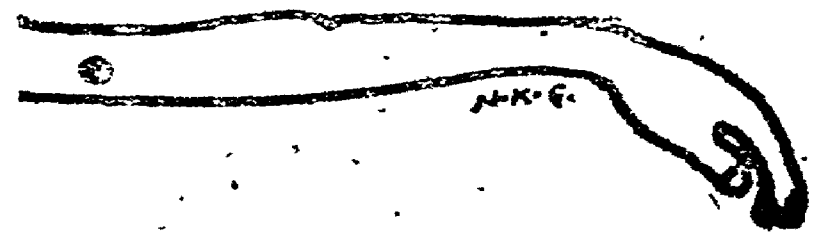
हस्त की व्यानकृतविकृति एक अववाहुक भी है अतः इन दोनों रोगों में भेद का परिज्ञान होना आवश्यक है—

व्रण द्वारा प्रभावित होने से हाथ लटक गया है

विश्वाची	अववाहुक
१—विश्वाची में नाड़ी विकार अंगुलितल से प्रारम्भ होता है।	१—अववाहुक में नाड़ी विकार अंस प्रदेश से प्रारम्भ होता है।
२—यह केवल वात जनित व्याधि है।	२—इसमें कफ की भी कारणता होती है।
३—यह वात की विकृति से ही सम्भव है।	३—यह गर्दन की चोट अंससन्धि विश्लेष या अक्षकास्थि भग्न से भी उत्पन्न हो सकता है।
४—इसमें आकुञ्चन या प्रसारण शक्ति या कभी उभय शक्ति नष्ट होती है।	४—इसमें सदैव उभयशक्ति नष्ट होती है या प्रायः अंस का संकोच ही होता है।
५—यह आविक्टोन होती है।	५—विश्वाची की अपेक्षा कम होता है।

चिकित्सा —

१—माषादि तैल, सैन्धवादितैल, महाविषगर्भ तैल का अभ्यङ्ग कर एरण्ड बीज की पोटली से स्वेदन करना चाहिए।

२—उड़द, दशमूल और बलामूल के क्वाथ में थोड़ा सा घी और तिल तैल मिलाकर सायंकाल के भोजन के बाद वस्य लेना हितकर है।

३—निर्गुण्डी, शेफाली, मदार, धतूर, बकायन, सहिजन, एरण्ड आदि वातहर द्रव्यों के पत्र को गर्म कर बाहु पर यथावश्यक बांधना चाहिए। कोलादि लेप भी लाभप्रद है।

४—१ तोला रसोना पिण्ड को एरण्डमूल क्वाथ से सेवन करना चाहिए। लशुन पायस (खीर) भी उपयुक्त है।

५—बलामूल का स्वरस, नीम या कौंच का स्वरस भी हितकर है।

६—दूध ७२ तोले, उड़द की धोई हुई दाल १० तोले दोनों को खीर की तरह पकावें और मीठा मिलाकर खावें। यह प्रयोग सात दिन प्रातः नियमित करने से विश्वाची जन्य शूल नष्ट होता है।

७—अजमोद, वायविडंग, सेंधानमक, देवदारू, चित्रक मूल, पीपलामूल, सौंफ पीपल और कालीमिर्च १-१ तोला, छोटी हरड़ ५ तोले, विधारा १० तोले और सोंठ १० तोले लेकर कूटकर बारीक कपड़छन चूर्ण करें। ३-४ माशे गरम जल से सेवन करें।

८—शुद्ध हरताल, स्वर्ण भस्म, रजत भस्म, स्वर्ण माक्षिक भस्म लेकर उनमें घृतकुमारी की २०० भावनायें देकर १-१ रत्ती की गोलियां बना लें। यह वात नाड़ियों के शूल पर विशेष लाभप्रद है। इसके सेवन से अग्निमांद्य एवं अरुचि भी दूर होती है।

९—शुद्ध गुग्गुल नीम के फल की गदी, शुद्ध हींग, सोंठ का चूर्ण, छिला हुआ लहसुन सभी समान भाग लें। पहिले निम्ब फल की गूदी, लहसुन और हींग को एक में खूब घोट लें। फिर शुद्ध गुग्गुल और सोंठ के चूर्ण को मिलाकर घोटकर १-१ माशा की गोलियां बन लें यह विश्वाची गृध्रसी आदि वातरोगों में एवं उदर विकारों में लाभप्रद है। —चिकित्सादर्श

१०—सेंधानमक १ भाग, अजवाइन २ भाग, अजमोद ३ भाग सोंठ ५ भाग, बड़ी हरड़ १२ भाग लेकर सबको खूब महीन पीसकर ३-४ ग्राम की मात्रा में उष्ण जल के साथ सेवन करें।

११—कूटा हुआ लहसुन ६ तोला, भुनी हींग, जीरा, सैन्धानमक, कालानमक सोंठ, मिर्च, पीपल पृथक्-पृथक् १-१ माशे सबको एकत्र चूर्ण कर एरण्डमूल के क्वाथ के अनुपान से अग्निबल के अनुसार १ माह तक सेवन करें।

१२—वसवराज ने बाहुमूल में दाह करने का परामर्श दिया है। आचार्य वाग्भट ने विश्वाची में हाथ की कनिष्ठका एवं अनामिका पर दाह करने को कहा है।

१३—महर्षि सुश्रुत ने गृध्रसी एवं विश्वाची में जानुसन्धि के ऊपर अथवा नीचे चार अंगुल पर सिरा-व्यध; जलौकावचारण से रक्तमोक्षण करने का भी परामर्श दिया है।

१४—प्रबोध चन्द्रोदय नामक ग्रन्थ में भुजरोग (विश्वाची, अवबाहुक) हेतु बलामूल के क्षीरपाक का विधान प्रदिष्ट है। यह विशेषतया पित्तावृत जन्यविश्वाची में उपयोगी है।

१५—निम्नाङ्कित औषधि व्यवस्था हितावह है—

प्रातः सायं— स्वर्ण भूपतिरस १२५ मि० ग्रा०
शुद्ध कुपीलु ६० मि० ग्रा०

१×२—एरण्डमूल+ शेफाली (हार सिंगार) पत्र + निर्गुण्डी पत्र क्वाथ से पित्तावृत वात जन्य में बलामूलक्षीरपाक अनुपान हितकारी है। किन्तु ऐसी स्थिति में कुपीलु प्रयोग न करें।

विशेष—वातकफात्मक स्थिति में वातगजांकुश रस २५० मि. ग्राम की मात्रा से स्वर्ण भूपित के स्थान पर देकर अनुपान में पीपल चूर्ण के साथ हरीतकी का क्वाथ पिलावें।

प्रातः ६ बजे एवं मध्याह्न में २ बजे—अजमोदादि चूर्ण ३-३ ग्राम—महारास्नादि क्वाथ से देवें।

विशेष—रोग की जीर्णावस्था में त्रयोदशाङ्ग गुग्गुल का प्रयोग उक्त अनुपान के साथ उपयुक्त है।

रात्रि में सोते समय—

एरण्ड पाक १० ग्राम—रसोनक्षीर से

—माषादि तैल (निरामिष), सैन्धवादि तैल महाविषगर्भ तैल का अभ्यङ्ग हितावह है।

विश्वाची में सामान्यतया वेदना स्थापन द्रव्य उपयोगी है। वेदनास्थापन की परिभाषा में चक्रपाणिदत्त कहते हैं—"वेदनायां समुत्पन्नायां तां निर्हृत्य शरीरं प्रकृतौ स्थापयतीति वेदनास्थापनम्"। जो द्रव्य प्रान्तीय नाड़ी मंडल पर प्रभाव डालकर वेदना को दूर करते हैं वे स्थानिक वेदना स्थापन कहे जाते हैं। केन्द्र पर प्रभाव डालकर वेदना का शमन करने वाले द्रव्य केन्द्रीय वेदना स्थापन कहलाते हैं। धत्तूर, वत्सनाभ, कलिहारी आदि स्थानिक वेदना हर द्रव्य हैं। अहिफेन, भल्लातक, पारसीक यवानी, देवदारु, शिरीष, अशोक, बला, अतिबला, एरण्ड शतावरी, दशमूल, कायफल, लहसुन, निर्गुण्डी, सोंठ, लौंग, पीपलामूल, चित्रक और चार चीनी आदि केन्द्रीय वेदना स्थापन द्रव्य हैं।

● वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' ●

अवबाहुक

वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य
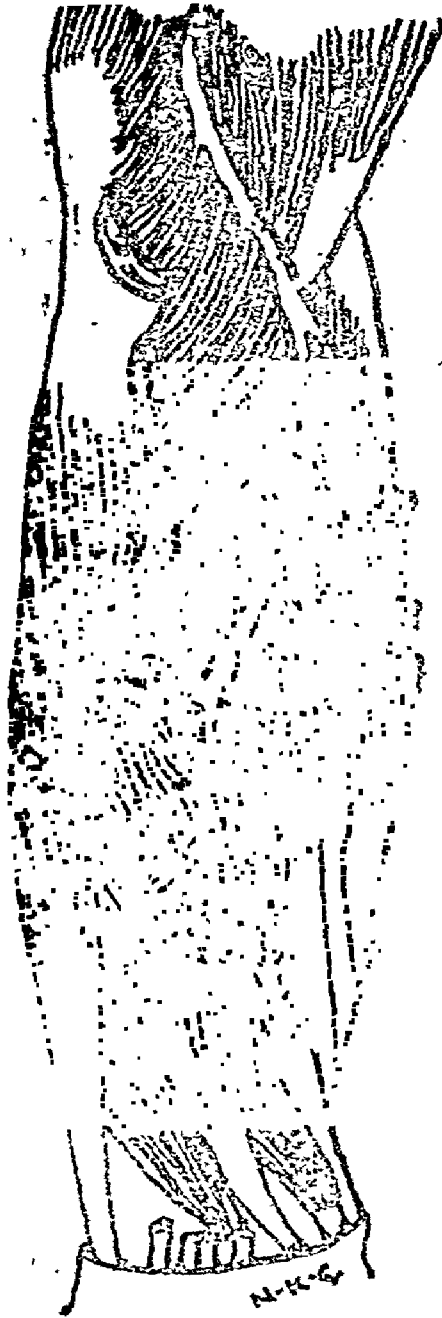
बहिः प्रकोष्टिका नाड़ी (Dadial herve) का मार्ग प्रदर्शित है।

बाहुमूल से कूर्पर तक व्यथा होने वाले वातरोग विशेष को अवबाहुक कहा गया है। इसमें धातुक्षय तथा कफावरण दोनों ही कारण बनते हैं। इसे आधुनिक Inflammation of the cervical Nerves कहते हैं।

अंस पीठ और स्कन्ध को बांधने वाले स्थान को अंस कहा जाता है। इससे अंस के समीपवर्ती भाग सम्पूर्ण ऊर्ध्वांसकीय प्रदेश का ग्रहण होता है। इस अंसमूल में स्थित वायु प्रकुपित होकर बाहवीय नाड़ी जाल का घातकर अवबाहुक रोग उत्पन्न करता है। आचार्य वाग्भट ने इस व्याधि को पूरे हाथ की विकृति माना है न कि कूर्पर तक। आचार्य श्री यदुनन्दन उपाध्याय जी ने भी यही मत प्रकट किया है— "अवबाहुक में विकार ऊपर की ओर अंस प्रदेश से प्रारम्भ होता है और उसका प्रभाव पूरे बाहु या हाथ पर होता है।"

आचार्य वाग्भट के मतानुसार अवबाहुक का अंस शोष से कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु महर्षि सुश्रुत अंसशोष को ही अवबाहुक का मुख्य कारण मानते हैं, यही मत आचार्य माधव ने व्यक्त किया है। अंसशोष के कारण नाड़ी जाल का घात होकर अवबाहुक उत्पन्न होता है। इसमें गर्दन की चोट, अंससन्धि के सन्धिभग्न अथवा अक्षकास्थि के भग्न होने से ही बाहवीय नाड़ी जाल घातित हो सकता है। अवबाहुक रोग में निम्नांकित लक्षण पाये जाते हैं—

१- अंस प्रदेश से प्रारम्भ होकर वेदना पूरे हाथ में व्याप्त होती है। यह वेदना विशेषतः कूर्पर तक होती है।

२ नाड़ी जाल के घात हो जाने से क्वचित बाहु सकुड़ कर अधिक नीचे लटक जाता है या अंस का सकोच भी हो जाता है।

३— वातकफज व्याधि होने से गौरव अरुचि, तन्द्रा आदि लक्षण भी उत्पन्न होते हैं।

४—हाथ की आकुञ्चन प्रसारण शक्ति नष्ट हो जाती है।

५—आघात या भग्न से होने पर शोथ शूनादि विशेष बढ़ जाते हैं।

६—क्वचित् पूयोत्पादक या यक्ष्माद जीवाणु पाये जाते हैं। क्वचित् अर्बुद से भी यह होता है।

अवबाहुक में सैन्धवादि तैल, महा विष गर्भ तैल में रसोनकल्क मिलाकर अभ्यङ्ग करें। कट्फल कर्पूर, हिंगुल जायफल, सोंठ, भांग, अफीम में घृत मिलाकर अभ्यङ्ग करना भी हितावह है। आभ्यन्तर स्नेहनार्थ प्रयोगों का विधान अवबाहुक में भोजन के बाद का है। आचार्य वाग्भट ने स्नेहक चोत्तम मत्तिकः कह कर

यही निर्देशित किया है। इस हेतु कल्याणक घृत की विशेष महत्ता है।

अवबाहुक वातकफज व्याधि है। अतः इसमें स्नेहन की अपेक्षा स्वेदन का अधिक महत्व है। इसमें ताप स्वेद वाष्पस्वेद हितावह है। देवदारू, तुलसी, हरिद्रा, मृगराज को गोमूत्र में पीसकर प्रदेह करने से भी लाभ होता है। काकोल्यादिगण, सुरसादिगण या एलादिगण की औषधियाँ तिलकल्क को क्षीर के साथ मिलाकर वस्त्र की पोटली बनाकर गरम-गरम सेकने से भी अवबाहुक में लाभ होता है। वात रोगों में प्रायः सिरावेध उपयुक्त कहा है किन्तु अवबाहुक में धातुक्षय एवं कफ के आवरण से यह उपयुक्त नहीं है। इसमें अग्निकर्म का विधान है। नस्य भी लाभप्रद हैं। चरकोक्त तर्पण, सुश्रुतोक्त स्नेहन और वाग्भटोक्त बृंहण नस्य अवबाहुक में हितकारी है। इस निमित्त अणु तैल, महालाक्षादि तैल, बलामूल बलामाष क्वाथ तैल घृत मिश्रित फलप्रद है। निम्नांकित शास्त्रीय योग हितकारी हैं—

वात गजांकुश रस, वृ० वातगजांकुश, नवजीवनरस, सुवर्ण भूपति रस, महावात विध्वंसन रस, समीर पन्नग, केशरी, एकांगवीर रस। महारास्नादि क्वाथ, रास्नासप्तक क्वाथ, रास्नादि क्वाथ, दशमूल क्वाथ। अग्निमुख चूर्ण, वैश्वानर चूर्ण, अजमोदादि चूर्ण, अमरसुन्दरी वटी, कुमारी वटी, विषतिन्दुकादि वटी, महायोगराज गुग्गुलु, पञ्चामृत लौह गुग्गुलु त्रयोदशांग गुग्गुलु। दशमूलारिष्ट, पंचमूलासव (ग० नि०) बलारिष्ट, अश्वगन्धारिष्ट। रसोनपिण्ड, एरण्डपाक, रसोनक्षीर आदि। कफ के आवरण में लहसुन का रसायन विधि (अ० हृ० रसायन) द्वारा प्रयोग हितावह है।

दिन में पुराने चावलों का भात, उड़द की दाल, बैंगन, परवल, कुष्माण्ड, लहसुन, मेथी, अद्रक, हींग, गोमूत्र, अखरोट, तिल तैल, उष्ण जल आदि इस रोग में पथ्य हैं।

औषधि व्यवस्था—

प्रातः सायम्—वातगजांकुश २५० मि०ग्रा०
समीरपन्नगकेशरी २५० मि०ग्रा०
अश्वगन्धाघृत ६ ग्राम

१ × २ दशमूल + माष क्वाथ से

मध्यान्ह एवं सोते समय।

पंचामृत लोह गुग्गुलु २-२ गोली—बलामूल क्वाथ १२५ मि०ली० × महानारायण तैल १५ मि० ली० के अनुपान से।

भोजनोत्तर—कल्याण घृत १० ग्राम।

पूयोत्पादक जीवाणु जन्यता में—

प्रातः सायम्—गन्धकरसायन ५०० मि०ग्रा०
रस माणिक्य २५० मि०ग्रा०
मकरध्वज २५० मि०ग्रा०

१ × २ खदिर,
अनन्तमूल, एरण्डमूल क्वाथ से

प्रातः ६ बजे एवं मध्याह्न २ बजे।

कैशोर गुग्गुलु २-२ गो० मंजिष्ठादि अर्क से
शेष वातशामक उपचार

यक्ष्माजन्य में—

प्रातः सायम्—मृगांक रस ६० मि० ग्रा०
अभ्रक भस्म १२५ मि०ग्रा०
दन्तीफल चूर्ण ५०० मि०ग्रा०
च्यवनप्राश १५ ग्राम

१ × २ दुग्ध से

६ बजे २ बजे—

त्रयोदशांग गुग्गुल २-२ गोली वासा + अमृता + बलामूल क्वाथ से।

अर्बुदजन्य विकृति में कांचनार गुग्गुलु का प्रयोग भी करें।

अंस शोष

श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य
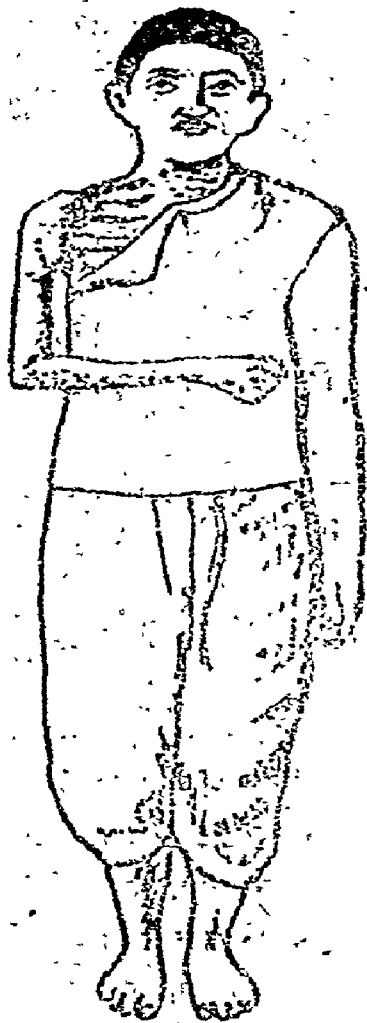
सामान्यतया बाहु के शिरो भाग को अंस कहा जाता है। किंतु अंसदेश से अंस के समीपवर्ती भाग सम्पूर्ण ऊर्ध्वाक्षकीय प्रदेश (Supra-clavicular Region) का ग्रहण हो जाता है। अंस का कार्य बाहुक्रिया है—"अंसौ बाहुक्रिया करौ" (अ०हृ०शा०४)। इसी में पृष्ठच्छदा (Trapezius) पेशी का निवेश है। महर्षि सुश्रुत ने शारीरस्थान में कहा है—

"बाहुमूर्ध ग्रीवामध्येऽसपीठस्कन्ध निबन्धनावंसौ नाम।"

अस्थियों के सन्धियुक्त भाग एक कला से आवृत होते हैं जिसे श्लेष्मधराकला (Synovial Membrane) कहते हैं। इस कला से निकलने वाला एक चिकना स्राव है जिसे श्लेषक कफ कहा जाता है। कहा गया है—"संधिसंस्तु श्लेष्मा सर्वसन्धिसं श्लेषणात्सर्वसंदधनु-ग्रहं करोति"। अन्य कलाओं की भाँति यह कला भी स्नायुसूत्रों से बनी हुई है जो सूक्ष्म जाल रूप है। प्रकुपित वायु श्लेषक कफ किंवा अंससन्धि के स्नायुओं को सुखाकर अंसशोष रोग को उत्पन्न करता है। इसे आधुनिक चिकित्सक Osteoarthritis of the Shoulder Joint कहते हैं।

शोष शब्द के कारण इसे इस सन्धि का क्षय भी माना गया है सुतरां इसे (Wasting of the Shoulder joint) कहा जाता है। जिसका अर्थ होता है अंस-सन्धि का क्षय। इसमें पीड़ा, जकड़ता तथा पेशी सहित सन्धि का क्षय ये सामान्य लक्षण होते हैं। जो यक्ष्मा दण्डाणुओं के द्वारा विकारी सन्धिप्रदाह से होता है। यह क्वचित् पूयोत्पादक जीवाणुओं द्वारा सन्धिप्रदाह होने पर तथा सौषुम्न कुल्याविस्तीर्णता के उपद्रवस्वरूप भी होता है।

आमाशय को छोड़कर शरीर का कोई भाग क्षय से पीड़ित हो सकता है। वैसे इनका मुख्य अधिष्ठान फुफ्फुस ही होता है। यद्यपि क्षय रोग एक ही है और एक ही प्रकार के यक्ष्मा दण्डाणु से उत्पन्न होती हैं तथापि ये दण्डाणु भिन्न-भिन्न अङ्गों में जाकर भिन्न-भिन्न लक्षण उत्पन्न करते हैं। अंसशोष एक प्रकार का सन्धिक्षय है। वैसे यह रोग किसी भी आयु में हो सकता है किन्तु २६ वर्ष से कम और ५० वर्ष से अधिक आयु के लोग इससे अधिक प्रभावित होते हैं। साधारण सी चोट अथवा मोच जिसकी उपेक्षा की गई हो अधिकतर इस रोग का रूप ले लेती है। संक्रमण अधिकतर रक्तवाहिनियों के मार्ग से होता है। अधिकांश मामलों में लसग्रन्थियों, फुफ्फुसों अथवा शरीर के किसी अन्य भाग का राजयक्ष्मा उपस्थित रहता है।

सम्प्राप्ति लगभग अन्य स्थानों के क्षय के अनुसार ही होती है। सन्धि में सन्धिरेखा, संधिक तरुणास्थि आदि का नाश होकर विद्रधि बन जाती है अथवा सन्धि में तनु चिपचिपा पदार्थ उत्पन्न हो जाता है जिसे किलाटी भवन (Caseation) कहते हैं। स्कन्ध की विद्रधि प्रायः कलाई में फूट सकती है। इसमें सामान्य ज्वर, कृशता, प्रभावित स्थान में शोथ पीड़ा, निष्क्रियता आदि लक्षण होते हैं। इस व्याधि का यह प्रमुख कारण कहा गया है।

महामहोपाध्याय श्री गणनाथ जी सेन सरस्वती ने

जो विविध सन्धिवात निर्दिष्ट किये हैं उनमें एक विष-वात का वर्णन किया है जो फिरङ्ग-पूयमेहादि के कारण होता है। इसकी व्याप्ति अंस में भी होती है—

फिरङ्ग पूयमेहादिविषेणापि तथा विधः।
जान्वंसकटि पृष्ठादौ विषवातः स उच्यते ॥
—सिद्धान्त निदान ७

पूयोत्पादक जीवाणु रक्त द्वारा सन्धियों में जाकर यह विधि उत्पन्न कर देते हैं। भैषज्य 'रत्नावलीकार ने औपसर्गिक मेह प्रकरण में स्पष्ट निर्देश किया है-' कुर्यादा-माक्षिरोगाद्यान्पाश्चात्य स्उपद्रवाः" । जिसकी व्याख्या रत्नोज्वला में स्पष्टतया सन्धिस्नेह शोषण का उल्लेख किया गया है—यथा च प्रतिकृतस्यैतस्य सन्धिस्नेह शोषणा-दामवातदृक्शूलश्च भवन्ति।"

चिकित्सा—

स्कन्धवक्षास्थिक प्राप्तं वायुं मभ्यागतं तथा।
वमनं हन्ति नस्यं च कुशलेन प्रयोजितम् ॥
—सु॰ उ॰ त॰ चि॰४ १८

"कुशलेन क्रियाविदाऽवस्थाविदा भिषजेत्यर्थः।"
—डल्हण

स्नेहोपनाहाग्नि कर्मबन्धनोन्मर्दनानि च।
स्नायुसन्ध्यस्थि सम्प्राप्ते कुर्याद्वाते विचक्षणः ॥
—भैषज्य रत्नावली

इन्द्रवारुणिकामूलं मागधीगुड़संयुतम्।
भक्षयेत्कर्षमात्रं तु स्कन्धवातहरं भवेत् ॥
—बसवराजीयम्।

इसमें महावला तैल या त्रिशती प्रसारणी तैल का अभ्यङ्ग कर पिण्डस्वेद करना चाहिए। केरलीय पंचकर्म में भी पिण्डस्वेद का अत्यन्त महत्व है। इसमें बला के कषाय के द्वारा निर्दिष्ट परिमाण में साठी चावल द्वारा निर्मित गोल पिण्डों का प्रयोग किया जाता है। पीड़ित स्थान पर अभ्यङ्ग कर उक्त पिण्डों के सुखद गुनगुने स्पर्श से अङ्ग पर क्रिया कौशल द्वारा मर्दन किया जाता है। स्वेद के मूलतः ४ प्रकार कहे गये हैं—ताप, उपनाह, ऊष्मा एवं द्रव स्वेद। उपर्युक्त स्वेदों में तापस्वेद तथा ऊष्म स्वेद के अन्तर्गत इस स्वेद का अन्तर्भाव होता है।

शमन चिकित्सा के अन्तर्गत निम्नाङ्कित औषधियाँ प्रयोग में लाई जा सकती हैं—

१—बसन्तमालती रस १२५ मि॰ग्रा॰+बातराक्षस रस २५० मि॰ ग्राम॰+प्रवाल भस्म १२५ मि॰ ग्राम॰। १×२ मधु से।

२—मुक्तापंचामृत १२५ मि॰ग्रा॰+स्वर्ण भस्म १५ मि॰ ग्रा॰+रस सिंदूर ६० मि॰ग्रा॰। १×२ मधु से।

३—वृ॰ वात चिन्तामणि १२५ मि॰ग्राम×मल्लसिन्दूर १२५ मि॰ग्रा॰+प्रवाल भस्म, २५० मि॰ ग्राम॰। १×२ महाकल्याण घृत से।

४—त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु १ ग्राम। १×१ दशमूल क्वाथ से।

५—रजतादि लौह १२५ मि॰ ग्राम॰+मकरध्वज १२५ मि॰ ग्रा॰+प्रवाल पिष्टी १२५ मि॰ग्राम॰। १×३ च्यवनप्राश से।

६—रसराज रस १२५ मि॰ ग्राम+मुक्तापंचामृत १२५ मि॰ग्रा॰+शुण्ठी चूर्ण २५० मि॰ग्रा॰। १×२ मधु से।

७—आमादि चूर्ण ३ ग्राम+पिप्पली चूर्ण ५०० मि॰ ग्राम। १×२ घृत से।

८—द्राक्षारिष्ट, बलारिष्ट, चित्तचन्द्रिरासव, अश्व-गन्धारिष्ट एवं कस्तूरीयुक्त दशमूलारिष्ट भी प्रयोग में लाने चाहिए। अनुलोमन औषधि हेतु रास्नादि २५ मि॰ ली॰ एरण्डतैल २५ मि॰ ली॰ मिलाकर देना चाहिए।

९—बलामूल के क्वाथ में सैंधानमक मिलाकर सेवन करने से भी लाभ होता है अथवा बलामूल के साथ नीम छाल मिलाकर क्वाथ कर पिलावें तथा उड़द के क्वाथ का नस्य देवें। एक मास में पूर्ण लाभ होता है।

१०—असगन्ध ५० ग्राम, उड़द का आटा १०० ग्राम, रास्ना ५० ग्राम, कुचला १० ग्राम, काली मिर्च १० ग्राम। इनको सूक्ष्म पीसकर दूध के साथ कुछ गर्म कर पीड़ित स्थान पर लेप लगावें। इससे अंगशोष, अंग की रूक्षता नष्ट होती है।

११—सन्धि शोथ की स्थिति में—स्वर्ण भस्म ३० मि० ग्राम+अभ्रक भस्म (शतपुटी) १२५ मि० ग्रा० +अस्थि भस्म २५० मि० ग्रा०+वंश लोचन १२५ मि० ग्रा०+त्रिफला गुग्गुल ५०० मि० ग्रा०। १×२ मधु+नवनीत+अजादुग्ध से। साथ में ही चन्दन बला लाक्षादि तैल का अभ्यङ्ग करें।

१२—पूयमेह जन्य विकृति में—

(अ) पूयमेहान्तक रस २५० मि० ग्रा०+चन्द्रकला रस २५० मि० ग्रा०। १×२ मधु बबूल त्वक् क्वाथ से।

(ब) कन्दर्प रस २५० मि० ग्रा०+ कबाबचीनी १ ग्राम+सितोपला १ ग्राम। १×२ अनन्तमूल क्वाथ में ५०० मि० ग्राम नवसादर+५०० मि० ग्राम यवक्षार मिलाकर पिलावें।

(स) स्वर्ण बंग २५० मि० ग्राम+मल्लसिंदूर १२५ मि० ग्रा०+गन्धा विरोजा सत्व २५०मि० ग्राम। १×२ त्रिफला क्वाथ से।

(द) विरोजा सत्व, शीतल चीनी, इलायची, श्वेत राल, वंशलोचन सब २-२ तोला, प्रवाल भस्म १ तोला मिलाकर १-२ ग्राम की मात्रा में मिश्री मिलाकर अर्जुन त्वक्, कबाबचीनी, त्रिफला के हिम कषाय से दें।

१३—अन्य पूयोत्पादक जीवाणुओं के द्वारा सन्धि प्रदाह में गन्धक रसायन ५०० मि० ग्राम+रसमाणिक्य २५० मि० ग्राम+स्वर्ण क्षीरी स्वरस ३ मि० लि०+गोघृत ५ मि० लि०+काली मिर्च ५ नग-ऐसी एक मात्रा दिन में २-३ बार दें। इसकी यथा कोष्ठ मात्रा बढ़ाई जा सकती है। इससे कोष्ठ भी शुद्ध होता है।

१४—सौषुम्नकुल्या विस्तीर्णता जन्य में—

वातकुलान्तक रस १२५ मि० ग्रा० + महालक्ष्मी विलास रस (स्वर्ण युक्त) १२५ मि० ग्राम + वृहत् कस्तूरी भैरव रस ६० मि० ग्राम। १×२ तगर मूलादि कषाय से। साथ में मृतसंजीवनी सुरा तथा सारस्वतारिष्ट भी दें।

१५—क्षयज विकृति में आधुनिक चिकित्सक इन्जेक्शन स्ट्रेप्टोमायसीन १ ग्राम दिन में १ बार लगभग १॥ मास तक देते हैं। आईसोनियोजिड या पास एवं केल्शियम टेबलेट्स भी प्रयुक्त होती है। रोगी की जीवनी शक्ति को सशक्त बनाने के लिए विटामिन्स तथा मिनरल्स के योग भी प्रयुक्त किये जाते हैं।

१६—पूयोत्पादक जीवाणुओं के विनाश के लिए प्रोकेन पैन्सीलिन ६ लाख यूनिट मांसान्तर्गत प्रतिदिन एक सप्ताह तक दिया जाता है। रिवेरिन इन्जेक्शन २५० मि० ग्रा० नस में ड्रिप के साथ ६-६ घन्टे से दिया जाता है। एम्पिसिलीन कैपसूल ५०० मि० ग्राम या टैट्रासाइक्लीन ५०० मि० ग्रा० के कैपसूल दिन में ३ बार देने से लाभ होता है। शूलशमनार्थ एनाल्जिन, एसजेपाइरिन के साथ ब्रोमाइड दिया जा सकता है।

१७—सौषुम्नकुल्याविस्तीर्णता में—

सल्फाडाइजिन टेबलेट ०.५ ग्राम की २-२ गोली या सैप्ट्रान १-१ गोली दिन में ३ बार देनी चाहिए। इन शुल्वौषधियों में सम सोडाबाई कार्ब मिलाकर देना चाहिए। पेनिसिलीन एवं टैट्रासाइक्लीन के सूचिवेध भी साथ में देना अनिवार्य है।

★

卐 卐 卐

● वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' ●

अवबाहुक में अग्निकर्म

श्री पी. एस. अंशुमान एच. पी. ए.
श्री एच. डी. राज्यगुरु

यह सत्य है कि अतीत का सूक्ष्म अनुसंधान किये बिना भविष्य की गति का निर्णय करना दुःसाध्य है। वैदिक काल से बौद्धकाल तक क्षाराग्नि क्रिया अत्यधिक उन्नत एवं विकसित थी। आज भी सुश्रुत कालीन शस्त्र क्षाराग्नि कर्म मानव पर सफलतापूर्वक किये जा सकते हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान शिक्षण में इतिहास का ज्ञान हमारे यहां नहीं दिया जाता किन्तु हारवर्ड यूनिवर्सिटी के मेडियाट्रिक्स के अस्पताल में चिकित्सा विज्ञान का इतिहास शिलाचित्रों के माध्यम से चित्रित किया गया है जिसमें धन्वन्तरि सुश्रुत आदि के चित्र हैं।

लुप्त प्रायः अग्निकर्म पर श्रीयुत अंशुमान एवं राज्यगुरु ने क्रियमाण अध्ययन का विवरण प्रेषित कर हमारे गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण दिलाकर मार्गदर्शन किया है। इस हेतु लेखकद्वय साधुवाद के पात्र हैं।

—वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'

अवबाहुक ऊर्ध्वशाखा में होने वाला वातविकार है। चरक ने बाहु रोग एवं अंसशोष के नाम से संभवतः इसी का वर्णन किया है। सुश्रुत एवं वाग्भट्ट ने अवबाहुक संज्ञा देकर ही इसका वर्णन किया है।

यदि 'सिरा' शब्द से 'वात नाड़ी' अर्थ लिया जाय तो बाहवीय नाड़ी के घात को अवबाहुक माना जा सकता है। बाहवीय नाड़ी घात (Paralysis of the brachial plexus) की उत्पत्ति में ग्रीवा पर आघात, अंससंधि विश्लेष, अक्षकास्थि भग्न आदि कारण रहते हैं। कई बार स्थानिक अर्बुद भी इस को उत्पन्न करते हैं। इसमें विकार अंस से आरम्भ होकर अधोगामी होता है। परन्तु यहां सिरासंकोच ही मुख्य घटना है।

अग्निकर्मीय चिकित्सा—

अवबाहुक में बाहुरोग की चिकित्सा के अनुसार नस्य एवं भोजनोत्तर स्नेह पान (अथवा स्नेहनोत्तर भोजन) ही प्रमुख चिकित्सा मानी जा सकती है[५] तथा वातविकारों में प्रयुक्त स्नेहन, स्वेदन एवं विरेचन भी उपयोगी उपक्रम है।[६] रास्नादि क्वाथ एवं एरण्ड तैल विरेचनार्थ उपयोगी कल्प है तथा सिंहनाद एवं रास्नादि गूगल उपयोगी गूगल कल्प है।

सुश्रुत ने अवबाहुक में रक्तमोक्षण का भी उल्लेख किया है। स्कन्ध शोष एवं अव बाहुक में स्कन्ध मध्य सिरावेध करने को कहा गया है।[७] यद्यपि अन्यत्र सिरावेध का निषेध भी किया गया है।

अवबाहुक में अग्निकर्म भी किया जाता है। इसके लिए लघु डमरू यन्त्र द्वारा त्वचा में मध्यम दग्ध किया जाता है। दग्ध निम्न स्थानों पर देते हैं—

[१] (७ वीं ग्रीवा कशेरुका) ग्रीवामूल[८]
[२] बाहुशिर से २ अंगुल पर (यां अंससंधि के चारों ओर[९])
[३] अंसमध्य[१०]
[४] बाहुपर[११]

पद्धति एवं साधन—

अववाहुक पीड़ित रोगियों का चयन शास्त्रीय लक्षणों को देखकर स्थानिक तापीबाई आयुर्वेदिक हॉस्पीटल में किया गया। लक्षणों को रोग के अनुसार नोंध रखी गई तथा चिकित्सा पूर्व एवं पश्चात की स्थिति के अनुसार मूल्यांकन किया गया।

अग्निकर्म के लिये विशिष्ट लघुडम्म यन्त्र को सुरादीप पर तपाकर प्रयुक्त किया गया। पहले से ही निश्चित एवं चिह्नित किये स्थान पर ५,७, या अधिक बिन्दुओं द्वारा चक्राभ डाँस दिया गया। व्रण रोपण के लिये दुग्ध पाषाण चूर्ण को अपचूर्णित किया गया।

चर्चा एवं निष्कर्ष—

अववाहुक के १० स्त्री एवं १० पुरुष रुग्णों की अग्नि कर्म द्वारा चिकित्सा की गई। जिनमें से २१–३० वर्ष के २, ३१–४० के ४, ४१–५० से, ५१–६० वर्ष के १०, ६१ से ७० वर्ष के ३ रोगी थे। इन रुग्णों में अग्नि कर्म के लिये ग्रीवा पश्चात् मूल में २, अंसमध्य में १०, बाहुशिर में ४, बाहु में ४ पर ५ या ७ बिन्दु द्वारा चक्राभ दग्ध किया गया।

परिणाम की दृष्टि से अंस मध्य में किये दग्ध के सर्वाधिक अच्छे परिणाम मिले। ग्रीवा, बाहुशिर में मध्य परिणाम मिले। बाहु एवं कुछ बाहुशिर पर किये दग्ध के परिणाम निकृष्टतम रहे। १० में प्रवर, ४ में मध्यम, ६ में अवर लाभ मिला।

आभार—

इस कार्य में मिले सहयोग के लिये लेखक संस्था के आचार्य श्री एम. एच. बारोट के तथा प्रो० श्री के०पी० सिंह एवं प्रो० बी० सी० वैद्य के आभारी हैं।

अववाहुक में अग्निकर्म—

तालिका सं० १

अनु०	घटक		संख्या	प्रतिशत
(क) धर्मानुसार	हिन्दु		१८	९० प्रतिशत
	मुस्लिम		२	१० ,,
(ख) लिङ्गानुसार	पुरुष		१०	५० प्रतिशत
	स्त्री		१०	,,
(ग) आयु समूह	—प्रवर		४	५० ,,
	मध्यम		७	३५ ,,
	अवर		९	४५ ,,
(घ) लक्षणानुसार	—अंतशोष		५	२० ,,
	संकोच		१५	७५ ,,
	कर्म कालीन वेदना		२०	१०० ,,
	बाहु प्रस्पन्दन हानि		२०	१०० ,,

तालिका सं० २

अनु०	घटक	संख्या	आकृति	प्रतिशत
(क) दग्धस्थल	—अंसमध्य	१०	(चक्राभ)	५० प्रति०
	बाहुशिर	४	,,	२० ,,
	बाहु	४	,,	२० ,,
	पश्चातग्रीवांश	२	,,	२० ,,
(ख) परिणामानुसार	—प्रवर	१०	(अंस वा शिर)	५० ,,
	मध्य	४	(ग्रीवा, अंस, वा शिर)	२० ,,
	अवर	६	(,, ,,)	३० ,,

संदर्भ—

४–मा. नि. वातव्याधि [मधुकोष]

५–च. चि. २८।६७, अ. हृ. चि. २१।२२

६–च. चि. २८:८२-८४

७–सु.चि. ५।२३, सु.शा. ८।१७. अ.हृ.सू.२०।९-१६

८–अग्निकर्म द्वारा वात व्याधि चिकित्सा, सचित्र आयुर्वेद सितम्बर '८३, ले० पी.एस. अंशुमान, एच. बी. राज्यगुरु

९–अववाहु के भुजशिरसो ह्यङ्ग् ले। ध. रा. प्र, ६.

१०–बाहुशोववाहुक योरप्ये के वद-स्यं मयोरन्तरे। सु. शा. ८।१७—इसी सिद्धान्तानुसार इसी जगह अग्निकर्म किया जाता है।

११–परम्परागत, वात व्याधियाँ अग्निकर्म चिकित्सा, आरफा '८।८३ ले. पी. एस. अंशुमान, एच बी. राज्यगुरु

१२–अग्निकर्म चिकित्सा, पी. एस. अंशुमान एवं एच. बी. राज्यगुरु, निरामय १९८१-८२

श्री पी०एस० अंशुमान एच०पी० ए०, श्री एच० बी० राज्यगुरु

क्रोष्टुक शीर्षक

वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषक्

घुटनों में शृगाल (गीदड़) के सिर के समान स्थूल एवं अत्यधिक पीड़ा करने वाला शोथ क्रोष्टुक शीर्षक कहलाता है। यद्यपि यह शुद्ध वात व्याधि नहीं है यह वात रक्तज विकृति है : संप्राप्ति के अनुसार यह व्याधि वातरक्त ही कही जा सकती है। किन्तु अत्यधिक पीड़ा किंवा विशेष चिकित्सा की दृष्टि से इसे वात व्याधि के अन्तर्गत लिखा गया है। महर्षि सुश्रुत ने तो वातरक्त का भी वात व्याधि के अन्तर्गत ही वर्णन किया है।
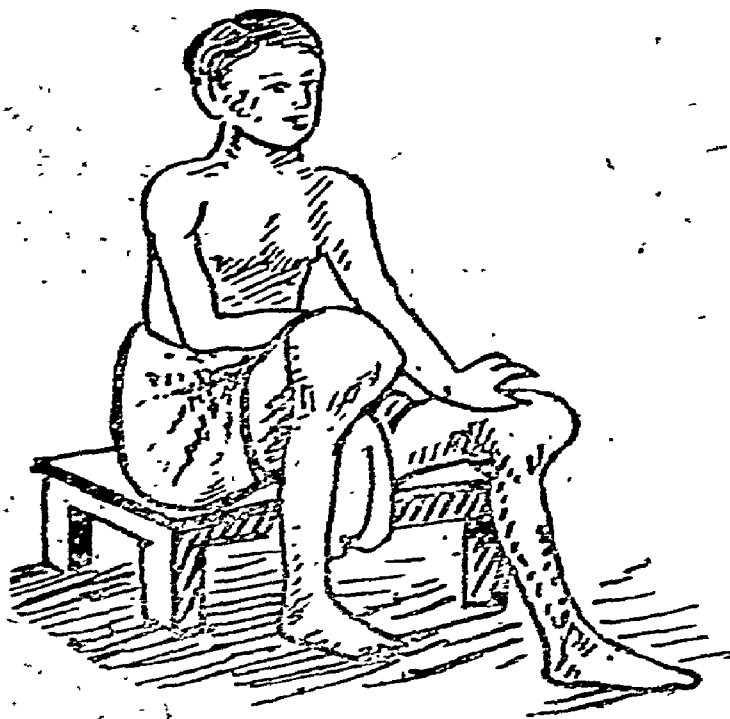
क्रोष्टुक शीर्षक केवल जानुसन्धि में ही होता है किन्तु वात रक्त अन्य सन्धियों में भी होता है। व्यानवायु सारे शरीर में व्याप्त होकर विविध क्रियाओं को नियन्त्रित करता है। इसकी विकृति से रक्तादि भी विकृत होकर चेष्टाहानि एवं अत्यधिक वेदना को उत्पन्न करते हैं। जानु में शूल युक्त रक्त संचय का होना ही इस रोग का प्रमुख लक्षण है। रोगी चलने फिरने में असह्य पीड़ा अनुभव करता है शोथ रूक्ष होता है। आधुनिक दृष्टि से शोथयुक्त जानु या (Inflamed knee) या (Sinoarthritis of the knee joint) में यह स्थिति मिलती है। प्रायः पूयमेह के बाद इसके होने से इसे पूयमेहज सन्धि शोथ (Gonorrhoeal Arthitis) भी कह सकते हैं। महामहोपाध्याय श्री गणनाथ जी ने विविध सन्निवात निदान में एक विषवात का भी वर्णन किया है। पूयमेह के उपद्रव स्वरूप विषवात में क्रोष्टुक शीर्षक के लक्षण उत्पन्न होते हैं—

> पूयमेहविषं स्तोक यस्य रक्ते प्रसर्पति।
> सन्धिवातोऽस्य विषजः प्रायश्च क्रोष्टुशीर्षकः॥

आमवात से भी यह रोग पृथक् है। आमवात आम व वात जन्य विकृति है। क्रोष्टुक शीर्षक वात रक्तज विकृति है। आमवात का शोथ ठीक होजाने के पश्चात प्रायः पुनः नहीं होता है। पीड़ायुक्त जानुशोथ ही इसका मुख्य लक्षण है—'क्रोष्टुशीर्ष जानुशोथः'। इस शोथ में जानु का ऊपरी और नीचे का भाग पतला होता है।

चिकित्सा—

१—नारियल के तैल में लवण डालकर उसे उबालकर कवोष्ण तैल का ही लेप कर रुई रखकर बाँध देवें।

२—गोदुग्ध में एरण्ड तैल मिलाकर पिलाना चाहिए। अथवा विधारा मूल चूर्ण को गोदुग्ध से देना चाहिए।

३—इसकी प्रायः चिकित्सा वातरक्त की भांति ही की जानी चाहिए। व्याख्याकार डल्हण ने व्यक्त किया

है—यथोद्देशं चेति चकारेण क्रोष्टुक शीर्षक वात शोणित चिकित्सा वेक्षणं च (सुश्रुत चि० ५।२३)।

४—महर्षि सुश्रुत ने इसमें सिराव्यध का निर्देश किया है।

५—त्रिफला एवं गुडूची के क्वाथ से गुग्गुलु सेवन करना लाभप्रद है। १-१ ग्राम कैशोर गुग्गुलु दिन में ३-४ बार देना चाहिए।

६—एक सेर पानी में सामुद्रक्षार ५ तोला (मैगसल्फ या समुद्रफेन) डालकर शोथ पर डालना चाहिए। वस्त्र तर कर शोथ पर बाँधना भी चाहिए। वस्त्र सूखने पर पुनः आर्द्र कर लेना चाहिए।

७—शुद्ध गुग्गुलु ४ तोला, त्रिफला घन सत्व ४ तोला, एरण्ड, बीज की मींगी ४ तोला, इन सब द्रव्यों का एक लोहे के खरल में डालकर इतना कूटो कि सब द्रव्य मिल-कर एक जीव हो जाय। जब सम्पूर्ण द्रव्य मक्खन की भाँति मुलायम हो जाय तब मात्रा के प्रमाण के वटक बना लिए जाँय। १ वटक सुबह १ वटक शाम को मुख मे रखकर दाँतों से तोड़कर गाय के गरम मीठे दूध के घूंट के साथ खावें।

- प्राणाचार्य श्री हर्षुल जी मिश्र

८ मोर के चमकीले पंख की भस्म ½॥ ग्राम को ३ ग्राम पुराने गुड़ में मिलाकर गोली बना लें। इसे उष्णोदक से निगला देवें। इस प्रकार एक मास पर्यन्त प्रयोग करने से रोग का प्रशमन हो जायेगा। तैल, गुड़, खटाई, हींग आदि का वर्जन करें।

९—वातगजांकुश रस—रस सिंदूर, लोहभस्म, स्वर्ण-माक्षिक भस्म, शु० गन्धक, शुद्ध हरताल, शु० वत्सनाभ, हरें का वक्कल, काकड़ासींगी, सोंठ, मिरच, पीपल, अरणी की छाल, शु० टंकण। प्रत्येक औषधि सम भाग लेकर कूटकर कपड़छन कर लें। इसके बाद मुंडी के रस अथवा क्वाथ में और निर्गुण्डी के पत्तों के रस में एक भावना देकर २-२ रत्ती की वटी बनाकर छाया में सुखा-कर रख लें। मंजिष्ठा क्वाथ सेवन करने से लाभ होता है।

१०—अमृताद्यघृत—अमृता, मुलेठी मुनक्का त्रिफला, सोंठ, खिरैटी, अडूसे का फूल अमलतास का गूदा पुनर्नवा, देवदारू गोखरू कुटकी, शतावरी, छोटी पीपल खम्भार के फल, रास्ना ताल मखाना, एरण्ड की छाल विधारा, नागरमोथा, नीलोफर इन सबको समान मात्रा में ग्रहण कर कल्क करें तथा आंवले का स्वरस १ प्रस्थ (७६८ ग्रा.) घृत १ प्रस्थ सबको ३ प्रस्थ जल में मन्द अग्नि पर पकाना चाहिए। फिर इसे छानकर ६-१२ ग्राम की मात्रा से सेवन करें

११—पूयमेहजन्य में पयमेह का भी उपचार करें। आयुर्वेदिक औषधियों में महाभवटी (मौ०र०) १२५ मि. ग्राम० + स्वर्ण वंग २५ मि० ग्राम त्रिफला क्वाथ से देते रहें।

★ ★ ★ ★
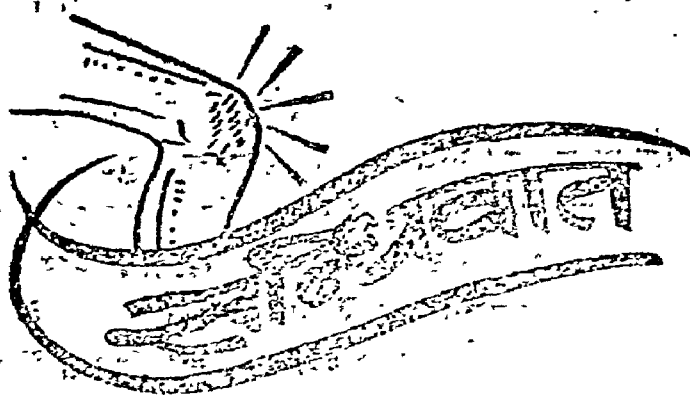
राजवैद्य लक्ष्मण दत्त शर्मा जहांगीराबाद (बुलन्दशहर)

हाथ-पैर की सन्धि अथवा जोड़ों में यह रोग उत्पन्न होता है और दो-चार या प्रत्येक सन्धि में भयानक वेदना होती है। रोग आरम्भ होते ही बुखार (ज्वर) आता है तथा जोड़ों में दर्द और फूलना आरम्भ हो जाता है।
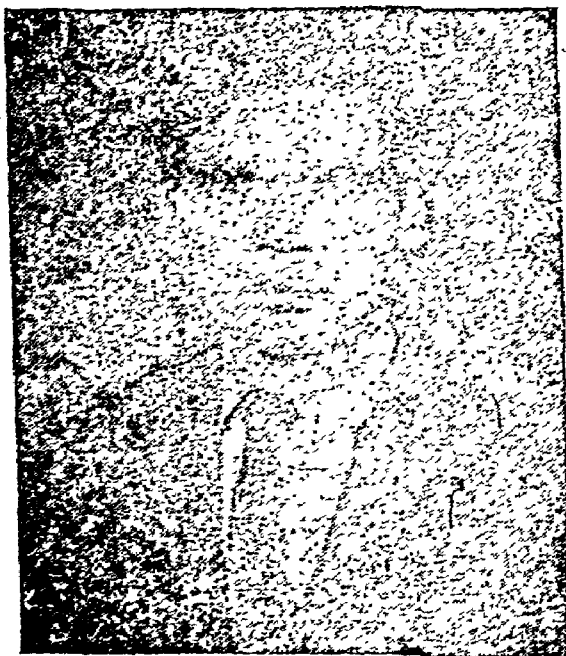
रोगी चलने-फिरने में असमर्थ हो जाता है। लाचार हो चारपाई पर पड़े-रहने को बाध्य हो जाता है। रोगी रोग के कारण करवट लेने में भी महान दु:ख पाता है। पैरों में विशेष कष्ट होता है। दुर्गन्ध-युक्त पसीना, प्यास, कब्जियत, सिर दर्द आदि लक्षण वर्तमान रहते हैं। कम्प देकर ज्वर आता है। शुरू शुरू में १०४-१०५ डिग्री तक ज्वर हो जाता है। दो-तीन सप्ताह बाद रोग आराम होने लग जाता है। यदि ठीक चिकित्सा की जाय, तो आराम हो जाता है, नहीं तो पुराना आकार धारण कर लेता है। रोग पुराना होने पर ज्वर चला जाता है और दर्द भी कम हो जाता है। परन्तु जोड़ों पर सूजन अधिक हो जाती है।

चिकित्सा—नूतन वात रोगों में ज्वर आदि उपद्रवों के साथ ही चिकित्सा की जाती है। बाज-बाज समय रोगी को निमोनिया हो जाता है। उस हालत में प्रथम निमोनिया की चिकित्सा करके फिर मूलरोग की चिकित्सा करनी चाहिए। अनुभव से देखा गया है कि बिना रक्त शुद्ध हुए इस रोग में लाभ नहीं होता। मुझ को प्राय: ऐसे ही रोगी प्राप्त हुए है, जिनके शरीर में आतशक या सुजाक का विष वर्तमान था और जो आतशक और सुजाक की चिकित्सा से पूर्ण आरोग्य हो गये।

(१) उसबा और चोपचीनी का काढ़ा शहद मिलाकर पीवें। उसबा असली होना चाहिए।

(२) शुद्ध कुचला ४ तोला में २ तोला काली मिर्च मिलाकर गन्ने के रस में ३ या ४ रत्ती की गोलियाँ बना लें। दिन में दो बार गर्म दूध से सेवन करायें।

(३) योगराज गुग्गुल को रास्नादि क्वाथ के साथ सेवन करने से यह रोग निर्मूल हो जाता है। ३-४ मास तक सेवन करना चाहिये।

पथ्यापथ्य—स्निग्ध और पुष्टिकर आहार करना चाहिए। उड़द की दाल और ताजे फलों का रस, घी, तैल आदि पदार्थ, भूसी सहित आटे की रोटियां खानी चाहिए। चावल आदि वायुवर्धक चीजें खाने से नुकसान होता है। ज्वर आदि उपद्रव होने पर दूध आदि हल्का पथ्य विधेय है।

*

खंज पंगुत्व कुष्ठता

वैद्य श्री भगवती सहाय शर्मा भिषगा.

वैद्यो निदानादिनिघण्टुवेत्ता क्रियापरो धीरधरो यशस्वी ।
विचक्षणो त्रिणुपदारविन्द स्मृतिर्दयावाननघः सुशीलः ।।

वैद्यकौस्तुभोक्त इन वैद्यगुणों से पूर्ण श्री सहाय कुशल चिकित्सक एवं सहृदय उत्साही युवक हैं। सहयोग की भावना से प्रेरित होकर उत्तम लेख प्रेषित कर सच्ची मित्रता का परिचय देने वाले. इस मित्र का परिचय है—

भूरि भाग्य भूषण भिषक् भावुक भूसुर भाय ।
भगवती के भक्त जो श्री भगवती सहाय ।। —विशेष सम्पादक

जब वायु कटि में स्थित होकर जांघ (उरु) की कण्डरा (वातनाड़ी) में आक्षेप (कर्महीनता या विचेष्टता) उत्पन्न करता है तो मनुष्य खंज (लंगड़ा) हो जाता है और जब यह दोनों टांगों में अकर्मण्यता उत्पन्न करता है तो पंगु हो जाता है। महर्षि सुश्रुत ने इसका वर्णन करते हुए कहा है—

वायुः कट्यां स्थितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा ।
खंजस्तदा भवेज्जन्तु पंगुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात् ।।
— सुश्रुत० शा० १/७७

"आक्षेपेदिति ईषत् क्षिपेत् खंजे विकलगतेर्दर्शनात्"
—डल्हण

"सक्थिद्वयस्यैव वधात् पंगुः, एकसक्थि वधात् खञ्ज इति, वधश्चात्र गमनादिक्रिया नाशः ।" —विजय रक्षित

प्राण वायु इन्द्रियधृक् है और व्यान वायु सभी चेष्टाओं में उत्तरदायी है अतः खंज पंगुत्व में इनकी विकृति पाई जाती है। स्नायु का कार्य संधि को बांधना तथा भार क्षमता कहा गया है। वायु द्वारा स्नायु को पकड़े जाने पर ये कार्य विकृत हो जाते हैं। स्थानीय अभिघात आदि के अभाव में केवल वात विकार जनित लङ्गड़ापन (Limping), एकांगघात (Monpolegia) का ही एक रूप है। यह मस्तिष्क वाह्यक (Cerebral Cortex) की विकृति अथवा रुग्ण सक्थि का प्रदाय (Supply) करने वाली वातनाड़ियों के घात का ही परिणाम है। कभी-कभी मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर (Cerobro-Spinal Fever) के उपद्रवस्वरूप भी एकाङ्गघात की अवस्था उत्पन्न हो सकती है। इसमें एक पैर का कार्यक्षय, पादविकलता, सक्थिशोष एवं शैथिल्य आदि लक्षण मिलते हैं।

जिस अवस्था में सम्पूर्ण अधरांग का प्रदाय करने वाले नाड़ी तन्तु रक्तस्राव अथवा घनास्रता (Thrombo-

एक पैर से पंगु   दोनों पैरों से पंगु

वक्षस्थल से कुबड़ा

पीठ से कुबड़ा

sis) आदि कारणों से मस्तिष्क प्रदेश में ही नष्ट हो जाय अथवा कुकुंदर मर्माघात आदि विकृतियों से दोनों सक्थियों की क्रियाशक्ति पूर्णतया नष्ट हो जाय तो इसे पंगुता या अवरांगघात (Paraplegia) कहते हैं। इसमें दोनों पैरों का कार्यक्षय होता है एवं गतिविघात सर्वथा होता है। शेष लक्षण खंजत्व तुल्य होते हैं।

इसी प्रकार कुब्जता भी स्नायुगत वात विकृति है। भगवान चरक ने स्पष्ट कहा है—

स वाह्याभ्यन्तरायामं खल्लीं कौष्णमथापि वा।
सर्वांगैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात्स्नायुगतोऽनिलः॥

पाश्चात्य वैद्यक में जिसे लिगामेन्ट (Ligament) कहा जाता है उसे पूर्व में साइन्यू (Sinew कहा जाता था जो कि स्नायु का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है। कुब्जता भी स्नायु या उसके स्थूलरूप कण्डरा (Tendons) और उनमें सम्पृक्त मांसपेशीगत वायु या वायु के अधिष्ठान वातनाड़ियों की विकृति से होती है। कदाचित आघात आदि के कारण स्नायु की विकृति से भी वात विकृति होने पर ये रोग स्थायी स्वरूप धारण कर लेते हैं। योग रत्नाकरकार ने इसके लक्षण अधिक स्पष्ट कहे हैं—

उरो वा यदि वा पृष्ठमुन्नतं क्रमशः सरुक्।
क्रुद्धो वायुर्यदा कुर्यात्तदा तं कुब्जमादिशेत्॥

अर्थात् यदि छाती की ओर या पीठ की ओर क्रमशः ऊंचाई होती चले और उसमें पीड़ा भी हो तो उसे कुब्ज रोग (कूबर) कहते हैं। यह अधिक दिनों का हो जाने से असाध्य हो जाता है अतः इस रोग को होते ही चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिये।

चिकित्सा—

स्नेहोपनाहाग्निकर्म बन्धनोन्मर्दनानि च।
स्नायुसन्ध्यस्थि सम्प्राप्ते कुर्याद्वाते विचक्षणः॥

अन्य वात व्याधियों की भांति इसमें भी स्नेहन, स्वेदन एवं मृदु संशोधन की आवश्यकता है। अभ्यङ्ग में बला तैल, माष तैल, नारायण तैल आदि हितकर हैं। स्वेद में चरकोक्त संकर स्वेद उपयोगी है। केरलीय पञ्च कर्म में यह पिण्ड स्वेद कहा जाता है। सर्व प्रथम आमलकी चूर्ण को तक्र में पीस कर ब्रह्मरन्ध्र के स्थान पर शिर पर रखकर आलवाल बनाकर उसमें क्षीर बला तैल भरकर एरण्ड पत्र रख कर बन्धन कर दिया जाता है। जिससे स्वेद जात भ्रम, दाह मूर्च्छादि उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती। दुग्ध एवं बला क्वाथ में षष्टिक शालि को पकाकर उसे वस्त्र खंडों में बांधकर कवोष्ण

बला क्वाथ में डुबो-डुबोकर आक्रान्त स्थान पर स्वेदन किया जाता है। यह स्वेदन ४०-५० मिनट तक करते हैं और २१ दिनों तक सतत करते हैं। विस्तृत वर्णन केरलीय पञ्चकर्म चिकित्सा विज्ञान में देखना चाहिए किंवा अनुभवी चिकित्सक से विधि ज्ञात करनी चाहिए।

स्वेदनार्थ यह लेप भी लाभप्रद हैं—सिरस की छाल, जटामांसी, आमा हल्दी, कुलथ, चन्द्रसूर, एरण्ड बीज, मंजीठ, एलुआ, गुग्गुल, रास्ना, देवदारु, सज्जीखार, लोध्र, सोंठ और धतूरा पंचाङ्ग। सभी औषधियाँ समभाग लेकर चतुर्गुण गुड़ मिलाकर पैरों पर लेप कर दें। तथा पैर को धूप में रखें। १ घण्टे बाद पैरों को गरम जल से धोवें।

—डा. योगानन्द एस.पुरी (सम्मेलन पत्रिका ६/८३)

अष्टांग हृदय के सू. १३/२ में 'वात के उपक्रम के अन्तर्गत वेष्टन (बन्धन) को भी उपयोगी कहा है। अहमदाबाद के राजकीय अखण्डानन्द आयुर्वेदिक हास्पीटल में पंगुरोग पर प्लास्टर आफ पेरिस (गोदन्ती से बनाया हुआ) द्वारा अनुवेल्लित बन्ध देकर लाभ प्राप्त किया है। जिसका विवरण सुधानिधि पत्रिका ६-७ अङ्क में दिया गया है। गोदन्ती चूना और गन्धक का यौगिक होने से लाभ पहुंचाता है। इसी हास्पीटल में इस रोग पर अष्टमूर्ति रस के सूचिकाभरण का भी प्रयोग किया गया।

इस व्याधि में अनुलोमन औषधि का प्रयोग आवश्यक है। भावमिश्र ने स्पष्टतया निर्देश किया है—

उपाचरेदभिनवं खंज पंगुमथापि च।
विरेकास्थापन स्वेद गुग्गुलु स्नेहबस्तिभिः॥

इस निमित्त रास्नादिक्वाथ में एरण्ड स्नेह मिलाकर किंवा केवल एरण्ड स्नेह ही दिया जा सकता है।

पोलियोमाइलाइटिस जो अन्तः सौषुम्न शोथ से होता है, का सामञ्जस्य आयुर्वेदोक्त खंज, पंगुत्व से किया जा सकता है। यह प्रायः बच्चों में होता है। इसके निवारणार्थ उत्तम औषधि व्यवस्था श्री एम० एल० देशपांडे द्वारा निर्दिष्ट है—

१. शुद्ध तिल तैल १ तो.। १ मात्रा पीने के लिए।

२. कुमारकल्याण रस १ रत्ती, खंजनिकारि रस ३ रत्ती। मात्रा ३ × मधु के साथ।

३. माष तैल + मूषक तैल—स्थानिक अभ्यङ्ग

४. सहचर तैल—मात्रा बस्ति

५. द्राक्षा एवं हरीतकी फांट—४ तो.। रात्रि में एक बार। यह चिकित्सा ३ मास तक दें। निश्चित लाभ होता है। शर्तिया इलाज है। कम से कम ५० % लाभ तो होता ही है परन्तु चिकित्सा नियमित हो।

—धन्वन्तरि सितम्बर ७७

वातागदा—मल्लसिंदूर आधा तो., बकायन की अन्तर छाल का घनसत्व १ तो., एरण्डमूलत्वक् चूर्ण २ तो., त्रिफला घनसत्व २ तो., सत्व कुचला २ तो., प्रवाल पंचामृत २ तो., शुद्ध गुग्गुलु २ तो.। सब औषधियों को पत्थर के खरल में दशमूल क्वाथ की भावना देकर इतना घोटे कि समस्त द्रव्य मक्खन की तरह हो जाय और खरल में चिपके नहीं। फिर ४-४ रत्ती की गोलियां बनालें तथा छाया में सुखा कर शीशी में भर लें। १ गोली सुबह शाम भोजन के पूर्व मुख मे रखकर गरम दूध १ पाव पी लिया करें। इस औषधि से खंज पंगु, पक्षाघात, अङ्गशूल, गठिया आदि ठीक होते हैं।

—प्राणाचार्य श्री हर्षुल जी मिश्र

यह व्यवस्था भी लाभप्रद है—

प्रातः सायम् खंजनकारि रस २५० मि.ग्रा., अजास्थि भस्म २५० मि.ग्रा., प्रवालपंचामृत १२५ मि.ग्रा. १ × २ महारास्नादि क्वाथ से।

प्रातः ६ बजे एवं मध्याह्न में २ बजे—शुद्ध कुपीलु ६० मि. ग्रा., अभ्रक भस्म (शतपुटी) १२५ मि.ग्रा., अर्जुन चूर्ण ५०० मि.ग्रा., १ × २—महानिम्ब एवं लघु पंचमूल के क्वाथ से।

भोजनोत्तर—शंखवटी २ गो०, दशमूलारिष्ट २५ मि.ली.। रात्रिमें सोते समय—महायोगराज गुग्गुल २५० मि. ग्राम—दुग्ध + एरण्डस्नेह से।

कुब्जता में योगराज गुग्गुलु या त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु को दशमूलक्वाथ या रास्नादि क्वाथ के साथ सेवन करें तथा कुब्जप्रसारिणी तैल या धत्तूरादि तैल का अभ्यङ्ग तथा कोलादि लेप लगावें।

—वैद्य भगवती सहाय शर्मा प्रधान चिकित्सक
राज० आयु० 'ब' श्रेणी चिकि०, सिरोही (राज०)

खंज, कलायखंज, पंगुत्व, आध्मान, प्रत्याध्मान, अष्ठीला, प्रत्यष्ठीला

(वात रोगों का आयुर्वेदीय सिद्धान्तानुसार प्रश्नोत्तरी द्वारा वर्णन)

आचार्य पं० शिव कुमार वैद्य शास्त्री आयु. वृह., श्रीशिव चिकित्सालय, रावतपाड़ा, आगरा
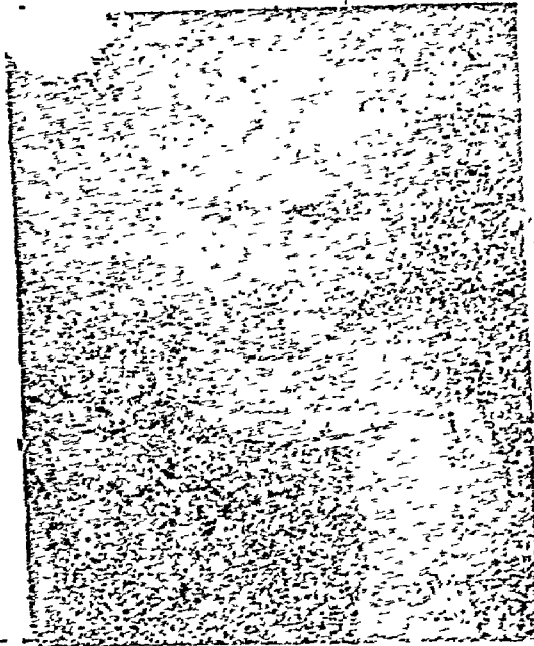
प्रश्न—खंज रोग निदान लक्षण और चिकित्सा समझा दीजिये ?

उत्तर—अधिक दिन लगातार वातकारक आहार-विहारों के सेवन करने के कारण जब कटि में रहने वाली वायु कुपित होकर कमर से लेकर पांव के गुल्फों तक की मोटी नसों को खींचती है या चलते समय कंपाती है तब उसे खंज रोग कहते हैं।

विशेष—जब मनुष्य चलने की चेष्टा करते समय थर-थर कांपता है एवं विकल होकर चलता है तब खंज रोग का दूसरा भेद कलाय खंज रोग हो जाता है। दोनों रोगों अर्थात खंज और कलाय खंज रोग में यही भेद होता है।

चिकित्सा—त्रयोदशांग गूगल, पथ्यादि गूगल तथा साथ में रात्रि को अभयारिष्ट २५ मि.ग्रा. समान पानी मिला कर उदर शुद्धि हेतु पिलावें। मर्दनार्थ प्रसारिणी तैल एवं नारायण तैल का प्रयोग करें। उक्त दोनों रोगों में स्नेहक्रिया अधिक की जाती है।

प्रश्न—पंगुत्व रोग का निदान लक्षण एवं चिकित्सा समझा दीजिये ?

उत्तर—लगभग खंज रोग के कारणों द्वारा ही पंगु रोग की भी उत्पत्ति होती है जब दोनों पैरों की मोटी नसों में वायु व्याप्त होकर मनुष्य की चलने की शक्ति नष्ट होजातीहै तब इसे पंगुत्व (पंगु) रोग सम्बोधित किया जाता है किन्तु जब केवल एक पैर के चलने की क्रिया नष्ट हो जाती है तब इसे खंज रोग माना जाता है। उक्त दोनों रोगों में मुख्य अन्तर यही होता है।

चिकित्सा—ऊपरलिखित खंज रोग के अनुसार ही करनी चाहिए। प्रसारिणी तैल का खाने और मर्दन करने दोनों ही प्रकार से प्रयोग कराया जाता है। साथ ही वात गजेन्द्रसिंह रस और वृहत योगराज गुग्गुलु विशेष की २-२ वटी कुचलकर प्रातःसायं औटाये हुये दूध के साथ सेवन करना ही अति उपकारी होता है।

प्रश्न—आध्मान एवं प्रत्याध्मान के निदान, लक्षण और चिकित्सा समझा दीजिये ?

उत्तर—जब उदरगत वायु अधोगामी होकर नहीं निकलने से पेट फूलता है तथा गुड़गुड़ाहट होकर पेट में शूल होता है तब इस रोग को ही आध्मान कहते हैं किन्तु जब यह शूल पक्वाशय में न होकर आमाशय में उठे और पसलियों तक में तनाव पीड़ा करे तब इसे प्रत्याध्मान सम्बोधन किया जाता है। आध्मान और प्रत्याध्मान में यही मुख्य अन्तर होता है।

विशेष—प्रत्याध्मान में कफ कुपित होकर वायु रुक जाती है।

आध्मान चिकित्सा विधि—

प्रथम लंघन करावें फिर अग्निदीपक पाचक एवं वायु निःसारक औषधों की वर्ति गुदा मार्ग में रक्खें तथा एनीमा विधि से गर्म पानी में नीबू का स्वरस थोड़ा सा एरण्ड तैल एवं सादा नमक डालकर पिचकारी लगावें।

अधिक आवश्यकता होने पर संशोधन (वमन विरेचन) करावें।

प्रत्याध्मान रोग की भी आध्मान रोगवत् ही चिकित्सा करें। अधिक अवश्यकता होने पर सोंठ पिसी २५ ग्राम तथा हींग का चूरा असली ५ ग्राम पीसकर दोनों की पोटली बनाकर एक कटोरी में लकड़ी के कोयलों पर घृत गरम कर पोटली घृत में डोब-डोबकर लगभग आधा घंटे तक सिकाई करनी चाहिए। खाने की औषधों में चित्रकादि वटी ४ पीसकर इसमें ४-६ रत्ती शुद्ध नवसादर मिले गर्म पानी से सेवन करावें।

प्रश्न—अष्ठीला एवं प्रत्यष्ठीला के निदान, लक्षण और चिकित्सा विधि समझा दीजिये ?

उत्तर—अष्ठीला एवं प्रत्यष्ठीला रोग वात कारक आहार के अधिक प्रयोग करते रहने से उत्पन्न हो जाता है। यह नाभि के नीचे पत्थर के समान कड़ी गोल गांठ उत्पन्न होकर लिङ्ग योनि और गुदा मार्ग से वायु का अवरोध हो जाता है। अतः अष्ठीला रोग होने पर मल मूत्र और वायु का पूर्ण रूप से अवरोध हो जाता है।

विशेष—इस रोग में कफ दोष एवं पित्त दोष का कोई विचार नहीं होता है। यह गांठ केवल वायु के अवरोध से उत्पन्न होती है। प्रत्यष्ठीला जब पेट के किसी भी स्थान में मल वायु एवं मूत्र को रोक देने वाली गांठ जब उत्पन्न होती है तब इसे प्रत्यष्ठीला रोग सम्बोधित किया जाता है। अर्थात अष्ठीला की जहां नाभि के नीचे उठती है वहां प्रत्यष्ठीला की गांठ नाभि के ऊपर पेट में उत्पन्न होती है। अष्ठीला और प्रत्यष्ठीला रोग में मुख्य रूप से यही अन्तर होता है।

चिकित्सा विधि—अष्ठीला और प्रत्यष्ठीला रोग की समान चिकित्सा होती है। यवक्षारादि चूर्ण निम्न भांति बनाकर सेवन करावें। स्वर्जिका मिलाकर प्रातः सायं गर्म पानी से सेवन करावें।

यवक्षादि चूर्ण प्रयोग—हींग उच्चकोटि की घृत भृष्ट, कूठ, धनियां, हरड़ निशोथ, काला नमक, सेंधा जवाखार, सोंठ सब समान भाग लेकर पीस छान किंचित विशुद्ध घृत में अकोर कर तैयार करलें। मात्रा—१॥ मासे से ३ मासे तक अनुपान जौ का क्वाथ पथ्य सह सेवन करने से अष्ठीला-प्रत्यष्ठीला एवं गुल्म नष्ट हो जाते हैं।

स्वर्जिका चूर्ण प्रयोग विधि—सज्जीखार ३ मासे गुड़ ३ मासे दोनों मिला कर प्रातःसायं गर्म पानी से सेवन करावें अष्ठीला एवं गुल्म रोग नष्ट हो जाते हैं।

हिंग्वादि चूर्ण का प्रयोग—विशुद्ध घृत में भृष्ट हींग, पीपलामूल, धनियां, जीरा, सफेद वच, चव्य चीता, पाठ, कपूर, अजवायन सेंधा नमक, काला नमक, विड़ नमक सोंठ, मिर्च काली, छोटी पीपर, जवाखार, सज्जीखार अनार दाना, हरड़, पोहकर मूल, अम्लवेंत और झाऊबेर समस्त औषधों को समान भाग पीस छान चूर्ण तैयार करलें। इस चूर्ण को एक दिन बिजौरा स्वरस में तथा एक दिन अदरक स्वरस में खरल करके सुखावें। मात्रा—३-३ मासे दिन में तीन बार गर्म पानी से सेवन कराने पर अष्ठीला एवं प्रत्यष्ठीला रोग नष्ट हो जाते हैं।

पृष्ठ २६६ का शेषांश

मूल स्वरस डालते हुये ४८ दिन मर्दन करें। तत्पश्चात् सर्षप प्रमाण गोलियां बना लें।

सूचना—४० दिन मर्दन लगातार करें।

मात्रा वयानुसार १ से ४ वटी तक। दिन में २-३ बार दें।

अनुपान—१. ताण्डव में सुवर्ण भस्म ६५ मिग्रा.+ लशुन स्वरस।

२. पक्षाघात-शिशुवात में लशुन स्वरस वा रास्ना सप्तक कषाय।

३. अर्दित में महारास्नादि क्वाथ।

४. सन्निपात में सुवर्ण भस्म।

५. अपस्मार में खर मूत्र के साथ दें।

६. रक्तवात में सारिवाद्यासव के साथ दें।

७. आमवात में महारास्नादि क्वाथ से दें।

२. अपतन्त्रकारि वटी (सि.यो.सं.)—शुद्ध हिंगु कपूर देशी गांजा प्रत्येक १०-१० ग्रा. खुरासानी अजवायन पत्र या बीज २० ग्रा. तगर २० ग्रा. ले सबका कपड़छन चूर्ण जटामांसी के फांट में २ दिन घोट २५० मिग्रा. प्रमाण की वटी बनालें। २-२ वटी मांस्यादि क्वाथ के साथ दिन में ३-३ बार दें। ★

★ आचार्य पं० शिवकुमार शास्त्री आयु०बृह०

कलायखञ्ज [लार्थिरिज्म]

डा० वेद प्रकाश शर्मा (त्रिवेदी), भू० पू० रिसर्च आफीसर इन्चार्ज—पोलियोमाइलाइटिस
(खञ्ज पंगु) क्लिनिकल रिसर्च परियोजना, श्रीमती मणिवेन सरकारी आयुर्वेदिक होस्पीटल-अहमदाबाद
कार्यवाहक रिसर्च आफीसर अध्यक्ष—मानसिक व्याधि अनुसन्धान एवं चिकित्सा संस्थान, पटियाला।

कटिशूल, सक्थिदाह सक्थिदौर्बल्य के साथ आतुर इतिवृत्त कहता है कि कल ठीक प्रकार से विश्राम किया था। प्रातः सोकर उठते ही सहसा संधिगौरव,सक्थिस्तम्भ, सक्थिदौर्बल्य अनुभव होने लगा है। जैसे ही चलने की चेष्टा की कि अधः शाखागत लक्षणों में शीघ्रता से वृद्धि हुई। अन्ततोगत्वा रोगी लकड़ी के सहारे से चलने लगता है।

सम्प्राप्ति—वातज एवं रूक्ष आहार विहार के सेवन से प्रायः कटि प्रदेश में आश्रित होकर अधः शाखा में स्थित वात नाड़ियों में दुर्बलता उत्पन्न कर दोनों अधः शाखाओं में वेदना, कटिशूल शैथिल्य उत्पन्न कर देता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में निम्न परिभाषा अंकित है—

Lytharism is a disease chracterised by spastic paralysis of the lower limb as a reasult of excesive Consumption of lytharis sative Seeds (कलायबीज).

कलाय क्या है ?—सुश्रुत संहिता में त्रिपुटक का वर्णन मुद्गवर्ग में किया है। उन्होंने इसे "कलाय" कहा है कलाय का भेद ही त्रिपुटक है। "कलाया प्रचुरानिला" अर्थात् कलाय धान्य अत्यधिक वातकारक है, कफपित्त नाशक है मल मूत्र स्तम्भक है कटु विपाक वाला है।

'त्रिपुटो मधुर तिक्त तस्तुवरो रूक्षणो भृशम्।'

अर्थात्—त्रिपुटक, मधुर तिक्त कसाय रस वाला अति रूक्ष गुण वाला होता है।

'कफ पित्त हरो रुच्यो: ग्राहक: शीतलस्तथा'

अर्थात् वात पित्त नाशक, रुचिकारक तथा शीतल होता है।

कलाय का स्वरूप—मटर के जैसा दाना होता है।

कलाय के पर्याय—केशरी, खेसारी खण्डिक।

सं०—त्रिपुटक, हिन्द—तिनरालेतरी खखरी, बंगाली—खेसारी

English—Chickling Veteh

Latin—Lytharis Sativa

Family-Leguminosae

कलाय का रोगोत्पत्ति में कारण—कलाय में एक प्रकार का विष होता है जिसको B. Oxalyl-Aminolanin कहते हैं। यह विष अधः शाखा की नाड़ियों के लिये विशेष हानिप्रद है। कुछ विद्वान विटामिन-ए की कमी मानते हैं तथा इस धान्य को इस विटामिन की कमी में कारण मानते हैं।

अनुकूल-देश—उत्तरी विहार, मध्य प्रदेश। दक्षिण भारत, उत्तर प्रदेश, फ्रान्स, इटली, अफ्रीका, ग्रीस, जर्मनी, रूस, स्पेन आदि।

अनुकूल लिङ्ग—स्त्रियों में अल्प, पुरुषों में अधिक।

अनुकूल वय—पुरुषों में १०-३५ वर्ष के मध्य व स्त्रियों में ५-१३ वर्ष के मध्य होता है।

चिकित्सा सूत्र—

(१) रूक्ष वातवर्धक आहार विहार निषेध—

(२) वृ० वात चिन्तामणि रस १२५ मि.ग्रा., खंजनकारि रस १२५ मि.ग्रा., मधु १० मि.लि., दिन में तीन बार प्रातः मध्याह्न सायं सेवन।

(३) महायोगराज गुग्गुलु १ गोली दिन में दो बार प्रातः सायं पानी से सेवन।

(४) एरण्ड स्नेह १० मि० ली०, दूध १०० मि.ली. रात्रि में सोते समय एक बार सेवन।

(५) महा नारायण तैल मात्रा वस्ति १ बार।

(६) षष्टिशालि पिण्ड स्वेद १ बार।

(७) महानारायण तैलाभ्यङ्ग १ बार।

खञ्जनकारि रस (रसतन्त्रसार)—प्रथम कुपीलू बीज १० ग्राम लेकर एरण्ड में शुद्ध करके चूर्ण बनावे। पुनः कुपीलू चूर्ण १० ग्राम शुद्ध मल्लसिन्दूर १० ग्राम, रौप्य भस्म १० ग्राम तीनों मिश्रित रूप से खल्व यन्त्र में मर्दन कर अर्जुन पत्र स्वरस के साथ भावना देकर वटी बनावें। मात्रा—मुद्ग प्रमाण। ✶

वैद्य श्री सम्पतराज शि० जोशी

महर्षि सुश्रुत ने वात-व्याधि प्रकरण में वातरक्त का वर्णन किया है किन्तु वात रक्त के प्रथक् उल्लेख का समाधान विजयरक्षित प्रस्तुत करते हैं—"सत्यंपि वात रोगत्वे निदान वैशिष्ट्याद्विशिष्टदोष दूष्य ख्यापनार्थ हस्तादिदेश एवं सम्प्राप्तिककथनार्थं क्रिया विशेषख्यापनार्थं च पृथक्करणम्"। प्रायः धनियों को होने से (स्थूलां सुखिनां चापि कुप्यते वातशोणितम्) भगवान् चरक ने इसे आढ्यवात भी नाम दिया है। इस रोग का वर्णन करने वाले हैं सुहृद्वर श्री सम्पत राज जी शि० जोशी। आप एक सहृदय चिकित्सा-निष्णात आयुर्वेदमर्मज्ञ हैं। आतुर की आतुरता से आपका आतुर मन तडफ उठता है—'आमयाः विघ्न भूताः हा, क्लेशयन्ति शरीरिणाम्'। यद्यपि स्वकीय जीवन को 'सुख दुःखे समे कृत्वा' बनाना उदात्त स्थिति है किन्तु रुग्ण के दुःख से दुखित होना परोपकार प्रकृति है। आप इसके उदाहरण हैं—

यत्नशील रहते सदा आतुरजन के काज।
राजी जो संपत् विपत् श्रीयुत सम्पतराज ॥

—विशेष सम्पादक

व्रणांश्च रक्तगोः ग्रन्थीन् सशूलान् मांससंश्रितः।
प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याऽऽहार विहारिणाम्।
शोकाच्च प्रमदामद्यव्यायामैश्चातिपीडनात् ॥
ऋतुसात्म्य विपर्यासात् स्नेहादीनां च विभ्रमात्।
अव्यवाये तथा स्थूले वातरक्तं प्रकुप्यति ॥

[...]क में प्रकुपित वातअनेक व्रण उत्पन्न करती है—
सुकुमार प्रकृति वाले मिथ्या आहार विहार करने [वा]ले पुरुषों के एवं शोक से एवं स्त्री-सम्भोग मद्यपान [तथ]ा व्यायाम इनके अधिक सेवन से ऋतु के विपरीत सात्म्य के विपरीत आहार विहार करने से स्नेहादिकों के अनुचित प्रयोग करने से व्यायाम करने वाले एवं स्थूल मनुष्यों में वातरक्त रोग होता है। वातरक्त को डाक्टरी में Gout कहा है।

महामहोपाध्याय श्री गणनाथ सेन जी ने वातरक्त को कुष्ठसदृश लक्षण व्याधि कहा है जो वस्तु[...] नहीं है, सुतरां कुष्ठ एवं वातरक्त में जो अ[...] यहां स्पष्ट करना उपयुक्त होगा—

वात रक्त	कुष्ठ (गलित)
१. वातरक्त में वात और रक्त दोनों अपने अपने कारणों से प्रकुपित होते हैं।	१. कुष्ठ में तीनों दोष एक साथ प्रकुपि[...] को उत्पन्न करते हैं।
२. वातरक्त का प्रारम्भ प्रकुपित रक्त में होता है।	२. गलितकुष्ठ का प्रारम्भ दूषित लसिका [...]
३. त्वचा सम्पूर्णतः संज्ञाहीन नहीं होती।	३. त्वचा में स्पर्शज्ञान सर्वथा समाप्त हो[...]
४. वातरक्त में कुष्ठाणु की अनुपस्थिति होती है।	४. त्वचा की लसिका में कुष्ठाणु (Lepra C[...] जाते हैं।
५. इसमें अस्थियां सड़ने गलने नहीं लगतीं।	५. कुष्ठ में रक्त आदि धातुओं के साथ अस्थि भी सड़[ने] गलने लगती हैं।

धातु पोषण क्रम का विगुणत्व ही वात रक्त का प्रधान कारण बनता है। रस का जो रक्त बनता है, दुष्टि उसमें मार्गावरोध करती है। मार्गावरोध होने से धातु-संजनन कार्य नहीं हो पाता। धातुसंजनन न होने से इस कार्य में सहायक सूक्ष्म वात दुष्ट होती है। इस दुष्ट वात से धातुओं के बनने में किट्ट अधिक उत्पन्न होता है और इस किट्ट से मूत्राम्ल (यूरिक एसिड) अधिक बनता है। मूत्र शीघ्र शरीर से बाहर न निकलने के कारण स्फटिक बनने लगते हैं। इन स्फटिकों का रस में संचय होने से विविध क्षारों का जन्म होता है। ये क्षार सन्धियों में संचित होकर रोग के लक्षण उत्पन्न करते हैं। क्षार व स्फटिक बनने का कार्य वात दुष्टि से होता है। चरक ने इसके पर्याय कहे हैं—

आढ्यरोगं खुडं वात बलासं वात शोणितं तदाहुर्नामभि ।। मिथ्याहारविहारिणाम् लवणाम्ल कटुक्षारस्निग्धोष्म जीर्ण भोजनैः। क्लिन्नशुष्काम्बुजानूपमांसपिण्याक मूलकैः भजतां विधिहीनश्च जागर मैथुनम् ।।

इस प्रकार वात रक्त में दूषित रक्त एवं कुपित वायु ही प्रधान है। ग्रीक भाषा में गठिया रोग ही वातरक्त है। इसका कोप मुख्य रूप से छोटी अस्थि संधियों में तथा विशेष रूप से पैर के अंगूठे की संधि में होता है। रोग का प्रारम्भ साधारणतः अचानक और अक्सर मध्य रात्री में होता है। अग्निसाद मुख वैरस्य मूत्राल्पता ज्वर आदि लक्षण प्रारम्भ में दिखाई देते हैं। रक्त में यूरिक एसिड की वृद्धि इस रोग का कारण मानी जाती है। साधारण-

वातरक्त रोगी के हाथों की स्थिति
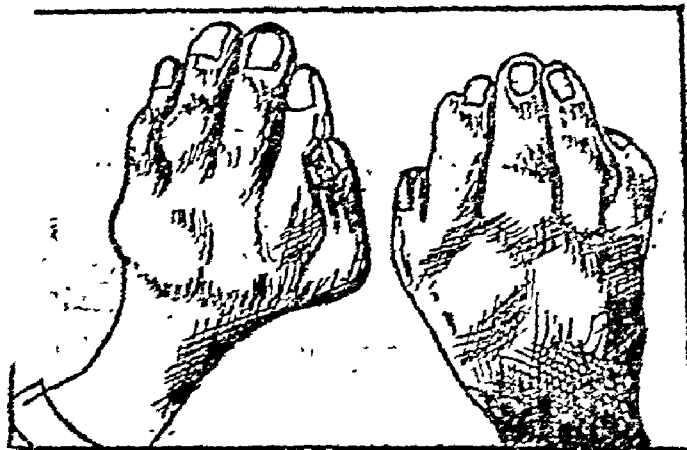
तया रक्तगत यूरिक एसिड की मात्रा १०० सी.सी. रक्त में १-४ मि.ग्रा. तक रहती है। स्वस्थ दशा में यूरिक एसिड अपनी निश्चित मात्रा में रहता है तथा अनावश्यक भाग मूत्र के द्वारा बाहर निकलता रहता है। वात रक्त में इसका भाग रक्त में ५-६ मि.ग्रा. प्रति १०० सी.सी. तक होता है। मिथ्याहार विहार के कारण रक्त में बढ़ा हुआ यूरिक एसिड जब शरीर से बाहर वृक्क द्वारा पूर्णतया बाहर नहीं निकल पाता तथा संधियों में सोडीयम यूरेट का संचय होने लगता है। धनवानों में यह रोग अधिक होने के कारण इसे आढ्यवात कहा है। अधिक सुरापान भी रोगोत्पादन में कारण है।

शरीर में शाखाओं में सूई चुभने की सी पीड़ा दाह कंडू शोथ, जकड़ाहट त्वचा में कड़ापन शिरा स्नायु धमनी में स्पन्दन संधियों में दुर्बलता हाथ पैर के तल प्रदेश अंगुली गुल्म मणिबंध आदि में काले काले लाल मण्डली गोल चकत्ते अकस्मात् उत्पन्न होते हैं। रोगी को दिन में आराम रहता है परन्तु रात्रि में तीव्र वेदना होती है। कुछ लोग उत्तान एवं गम्भीर दो प्रकार का वातरक्त मानते हैं परन्तु उत्तान ही कालान्तर में गम्भीर का रूप धारण करता है, अतः एक ही स्वरूप मानना ठीक है। आज के विज्ञान में अनेक औषधियां निकली हैं परन्तु कोई भी ऐसी औषधि आज तक सिद्ध नहीं हुई है, जिससे वात रोग ठीक हो सकता हो। अतः आचार्य सुश्रुत की यह उक्ति याद आती है—

सर्वाङ्गगतमेकाङ्गस्थितं वाऽपिसमीरणम् ।
रुणद्धि केवलो वस्तिर्वायुवेगमिवाचलः ।।

सर्वाङ्गगत अथवा एक अङ्ग में स्थित वायु को केवल वस्ति उसी प्रकार शांत करती है जिस प्रकार वायु वेग को पर्वत रोकता है। अतः सभी प्रकार की औषधि प्रयोग से तो रोगी के प्राणों की रक्षा नहीं की जा सकती है। परन्तु पंचकर्म चिकित्सा पद्धति का यदि आश्रय लिया जावे तो रोगी के प्राण बचाये जा सकते हैं।

केरल एवं गुजरात राज्य सरकारों द्वारा पंचकर्म चिकित्सा द्वारा जनता को लाभ पहुँचाया जा रहा है। राजस्थान में राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान एवं श्री मदनमोहन मालवीय राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय उदयपुर में इस

प्रकार के कार्यो द्वारा अनेक रोगियों का जीवन दान दिया है। रोग की गम्भीरता से पूर्व ही पञ्चकर्म चिकित्सा के लिये रोगी को दाखिल कर लिया जाना चाहिए। कुछ प्रमुख प्रयोग औषधियां महायोगराज गुग्गुलु गोक्षुरादि गुग्गुलु, बंगभस्म, एरण्डपाक आदि का प्रयोग निरन्तर करवाया जाना चाहिये। महाविषगर्भ तैल का प्रयोग भी हितकर है। कुचला तथा/या रसोन के सूची वेधनों का प्रयोग भी किया जा सकता है। परन्तु अधिक काल पर्यन्त वस्ति चिकित्सा एवं रसौषधियों के प्रयोग द्वारा ही पूर्ण चिकित्सा संभव है। शतावरी चूर्ण एवं अश्वगंधा चूर्ण का प्रयोग भी आशातीत लाभकारी सिद्ध हुआ है। रोगी के वेदना लक्षण में सरपीना टेबलेट २-२ वटी १ मास तक भी दी जा सकती है जो निरापद है।

इस प्रकार अनेक लक्षणों से युक्त वात रक्त केवल आयुर्वेदीय औषधियों से ही ठीक किया जा सकता है। आधुनिक औषधियों के विष प्रभाव से तो रोगी तत्काल यमपुर वासी हो जाता है अतः आयुर्वेदीय अमृत औषधियों का प्रयोग करें—

१. वातरक्त की रक्त मोक्षण उत्तम चिकित्सा है। रक्त मोक्षण के पूर्व स्नेहन उचित है। स्नेहन से वातवृद्धि का भय नहीं रहता फिर भी रक्त मोक्षण मात्रानुसार ही करना चाहिए। रूक्ष, वात प्रधान एवं अङ्गशोथ से पीड़ित रोगी में रक्तमोक्षण उपयुक्त नहीं है।

२. रोगी का आरम्भ में स्नेहन, विरेचन और फिर वस्तिकर्म करना चाहिए।

३. वातरक्त में अविदाही सेक, अभ्यङ्ग, प्रदेह अन्न स्नेह प्रशस्त है।

४. कफोत्तर वातरक्त में मृदु वमन, स्नेहन, परिषेक, लंघन, कोष्ण लेप प्रयोग करें।

५. रक्त पित्तोत्तर में विरेचन, घृत क्षीरपान, सेक, वस्तियां तथा शीत निर्वापण दें।

६. कफ वातोत्तर में शीतोपचार उपयुक्त है।

७. उशीरासव १ से ३ तो., सारिवाद्यासव २-३ तो., सूर्यक्षार (शोरा) १ से २ रत्ती समान भाग ताजा पानी मिलाकर ४ खुराक बनालें। दिन में ४ बार प्रयोग करे। इससे मूत्र की मात्रा बढेगी और रक्त की शुद्धि होगी।

८. स्वर्णक्षीरी पंचाङ्ग का सूक्ष्म चूर्ण ६ माशा, अमृता स्वरस ५ तो., असली मधु १ तो. मिलाकर नित्य प्रातः सेवन करें। इससे वात रक्त १ महिने के अन्दर ही शांत हो जायेगा। प्राणाचार्य हर्पुल जी मिश्रका अनुभूत योग है।

९. वाताधिक वात रक्त में कैशोर गुग्गुलु ३ माशा घृत ६ माशा के साथ दिन में दो बार प्रयोग करें। पंचामृत रस (यो० र०) भी १ रत्ती मधु के साथ देना लाभप्रद है। इसी प्रकार तालकेश्वर रस एवं अमृत भल्लातक तथा बाह्य प्रयोगार्थ बला तैल काम में लावें।

१०. रक्तोत्तर में चन्द्रप्रभावटी या शिलाजीत वटिका १ से ३ रत्ती गोदुग्ध से या मुसम्मी के रस से देवें। चन्द्रकला रस भी अनार के शर्बत से दिया जा सकता है।

११. कफोत्तर में आरोग्यवर्द्धिनी २ रत्ती, पुनर्नवा घन सत्व १ माशा, भृङ्गराजस्वरस एवं मधु में मिलाकर देवें।

१२. इसके अतिरिक्त वातरक्तान्तक रस, महातालेश्वर रस, विश्वेश्वर रस, स्वर्णमाक्षिक भस्म, अमृता गुग्गुलु, निम्बादि चूर्ण, पटोलादि क्वाथ, त्रिफला क्वाथ, महामंजिष्ठादि क्वाथ बलाघृत, जीवनीय घृत, महातिक्त घृत, गुड़ूचीघृत आदि प्रयोग भी लाभप्रद होते हैं। इनका यथोचित उपयोग करना चाहिए।

१३. गुडूची तैल, महारुद्रतैल, मरिच्यादि तैल, सुकुमार तैल आदि तैल अभ्यङ्गार्थ लाभदायक हैं। व्रण, शोथ की स्थिति में पिण्डतैल या सारिवाद्यतैल (यो. र.) काम में लेना चाहिए।

१४. कुष्ठ रोग की भांति ही इसमें पथ्य सेवनीय है। क्षार, लवण, अम्ल रस, कटु रस तथा उष्ण वीर्य द्रव्य, विरुद्ध विदाही गुरु अभिष्यन्दी आहार सदैव अपथ्य हैं।

★:★★:★
★★

★ वैद्य श्री सम्पतराज शि० जोशी भिषगाचार्य ★

वैद्य मोहर सिंह आर्य, मिश्री (भिवानी)

पर्याय—सं.—ताण्डव, हिन्दी—लासक, अं०—Chorea, (भाषा) पेशियों का अनैच्छिक खिचाव।

कारण—आमवात—आमवात से पीड़ित बालकों में विशेष होता है। आमवातजन्य मस्तिष्क शोथ (Encephalits) चिन्ता से ग्रस्त रहना। अधिक समय तक आतङ्क बना रहना। मस्तिष्कावृत्ति में रक्ताधिक्य। वलक्षय होना। भयभीत होना। क्रोध या हर्ष अधिक होना। कृमि का संचय होना। निद्रा रोकना। अति कर्षण। अत्यन्त विबन्ध होना। आशा का विघात होना। अधिक आघात लगना। अत्युग्र रजोदोष होना। अपतन्त्रक

लक्षण—

रोग का आक्रमण शनैः शनैः होता है। बच्चा घबरा जाता है। चञ्चल हो जाता है। अस्थिर हो जाता है। अस्थिरता के कारण हाथ की वस्तुयें गिर जाती हैं। बच्चा मुंह बनाता है। तनिक सी बात से रोने लगता है, कभी सुस्त हो जाता है। एकाग्रता नष्ट हो जाती है। मुंह नीचे लटकाये रहता है। गतियां विशेष प्रकार की होती हैं, मुंह टेढ़ा करना, भौं ऊपर उठाना कन्धा हिलाना हाथ फैंकना पांव घसीटना बन्द आवाज से बोलना गहरी सांस लेना बोलने में हिचकना कभी अत्यधिक जोर से बोलना निरर्थक हंसना रोना असावधानता उत्तेजनशीलता पेशी दौर्बल्य तथा लासकवत् गतियां आदि लक्षण होते हैं। रोगी नाचता हुआ चलता है। हाथ फैलाने से कलाई मुड़ जाती है। दौरे के समय हाथ की अंगुलियां फैल जाती हैं। निद्रा की अवस्था में सभी गतियां बन्द हो जाती हैं। रोग की उग्र अवस्था में निद्रा भी कठिनाई से आती है।

रोगावस्था में बच्चा का स्वभाव बदल जाता है। चिड़चिड़ा हो जाता है। गाली देता है। दौरा समाप्त होने पर स्वभाव पुनः प्राकृत हो जाता है। इस रोग का प्रत्यात्म लक्षण-ताण्डव है।

उपद्रव—

हृदय फैलना अन्तर्हृच्छोथ, नाड़ी की गति तीव्र होना

चिकित्सा—

१. पूर्ण विश्राम लेने की व्यवस्था करें। २. पौष्टिक आहार। ३. शान्त स्थान में रखें। ४. शामक औषधियां

पूर्ण विश्राम से तात्पर्य है कि रोग के प्रारम्भिक दिनों में २-३ सप्ताह पर्यन्त बच्चा अपने हाथ से भी भोजन करे। जब रोग की उत्तेजनायें समाप्त हो जायें, शरीर की अनियन्त्रित गतियां बन्द हो जायें तो अपनी इच्छा से बिस्तर पर उठना-बैठना कुछ टहलना आदि लघु व्यायाम करने दें। यदि हृदय में विकार दिखाई दें तो और अधिक विश्राम दें।

चिकित्सा विधान—

१. स्नेहन—रोगी को यथाशक्ति नारायण तैल दूध में मिलाकर पिलावें। वाह्य स्नेहार्थ महाराज प्रसारणी तैल का मर्दन करें। एक सप्ताह पर्यन्त स्नेहपान तथा स्नेह मर्दन के उपरान्त स्वेदन कर्म करें।

२. स्वेदन—स्वेदन अत्युत्तम रहता है। स्वेदन से रुग्ण की वेदना दूर होती है। अतः महासाल्वण स्वेद (शा. सं.) अथवा एरण्ड बीज निम्ब बीज मोथा नारियल मौलसिरी करञ्ज फल विषैले शण के बीज सहिजन की छाल पुनर्नवा सम्भालु पत्र तिल स्याह. समान भाग ले यथा विधि स्वेदन करावें।

३. वातहर द्रव्यों से बनी उष्ण पोटलियों से सेकना भी लाभप्रद है।

१. पवनहत रस—शुद्ध गन्धक ४८० ग्रा. शुद्ध पारद ३८४ ग्रा. शुद्ध वत्सनाभ ३० ग्रा. पहले पारद गन्धक की कज्जली बनावें। फिर उसमें थोड़ा थोड़ा करके वत्सनाभ मिलावें। जब तीनों एकजीव हो जायें तब चित्रक

—शेषांश पृष्ठ २६१ पर देखें।

पाददाह-पादहर्ष—झिंझिणीवात

वैद्य श्री राधेश्याम पुरोहित, चिकित्सक-नृसिंह औषधालय, मूंडक जि० जयपुर [राजस्थान]

आदरणीय पितृव्य ने मेरे आग्रह पर सरल बोधगम्य भाषा में उक्त रोगों का निदान एवं चिकित्सा लिखकर प्रेषित की है। आप स्वतन्त्र चिकित्सक के रूप में नृसिंह औषधालय का संचालन कर आतुरोपक्रम में रत हैं। आपकी चारु चिकित्सामें बहुत से व्यथित अपनी व्यथा मिटाकर लाभान्वित होते रहते हैं।

—विशेष सम्पादक

प्रकुपित हुआ वायु पित्त एवं रक्त के साथ मिलकर पैरों में जलन उत्पन्न कर देता है। इसे पाददाह रोग कहा जाता है। यह दाह बैठे रहने पर (सामान्य होता है किन्तु चलने-फिरने पर विशेष दाह का अनुभव होता है। यह दाह पैरों के तलुओं में होता है। इस व्याधि में वायु की प्रधानता होती है किन्तु वायु के साथ पित्त का संबंध होता है।

रक्त की कमी तथा रक्त में उष्मा बढ़ने पर वात प्रकुपित होकर पाददाह को उत्पन्न करता है किंवा वात-नाड़ी विकृति से यह संभव है। पैर की त्वचा का प्रदाय करने वाली वात नाड़ी में विकृति होने से यह होता है। यह वातनाड़ी संस्थान की अङ्गीय (Organic) अथवा गुण कर्मीय (Functional) विकृति का विशिष्ट लक्षण है। वातनाड़ी विकार से होने वाले अधिकांश रोगों के पूर्वरूप का यह प्रमुख लक्षण है। वातरक्त में भी यह दाह होता है किन्तु वैवर्ण्य आदि लक्षण भी स्पष्टतया मिलते हैं। पाददाह में केवल दाह होता सुतरां मधुकोष कार ने कहा है—वैवर्ण्यदिरमावाद्वातरक्तादस्य भेदः।

चिकित्सा—

शीतोपचार से यह दाह बढ़ता है।

१. घृत में किंचित् कपूर मिलाकर लगाने से पाददाह मिटता है।

२. नवनीत का पैरों पर अभ्यङ्ग कर दशमूल के उष्ण क्वाथ से परिषेक या अवगाहन करें।

३. दशमूल तैल का अभ्यङ्ग भी हितावह है।

४. सुधोदक और तिल तैल या अलसी के तैल को समभाग लेकर एक कांच की सलाई से थोड़ी देर चलाकर जब वह गाढ़ा हो जाय तब तलुओं पर लगावें। सुधोदक—२ रत्ती साफ चूने की डली को पांच तो. शुद्ध पानी में डालकर बारह घंटे पड़े रहने के बाद कांच के हरे रंग के पात्र में छानकर रख लें। यही सुधोदक कहलाता है।

५. विभीतक बीज मज्जा या आम्रफल मज्जा को पानी में पीसकर तलुओं पर लगाना ही लाभप्रद है।

६. सितोपलादि चूर्ण २ ग्रा.+मुक्तापिष्टी २५० मि. ग्रा. मधु के साथ कुछ चाटने से भी लाभ होता है।

७. अभ्रकभस्म २५० मि. ग्रा.+यशद भस्म २५० मि. ग्रा., गोदन्ती भस्म २५० मि. ग्रा.+वंशलोचन २५० मि.ग्रा. १×२ लघु पंचमूल क्वाथ से।

८. बला, अमृता, शतावरी, मुलेठी और आमलकी को समभाग चूर्ण कर मात्रायुक्त सेवन भी उपयुक्त है।

पादहर्ष—

प्रकुपित वायु कफ के साथ मिलकर पैरों में हर्ष (झनझनाहट) और कभी-कभी सुप्तता उत्पन्न कर देता है। इस अवस्था को पादहर्ष कहा जाता है। यह विटामिन 'बी' के अभाव से होने वाला वातनाड़ी विकार है। यह त्वचागत उत्तान संवेदना की विकृति का परिणाम भी है। इसे विषमस्पर्शता (Parasthesia) कहा जाता है। पादहर्ष का वस्तुतः मुख्य कारण रक्त अनुलोम प्रवाह में अवरोध होना है। आयुर्वेद आधुनिक नर्वस सिस्टम (वातवह संस्थान) के कार्यों का विवरण वात-दोष से रक्त ही के द्वारा करता है। पादहर्ष विकार नाड़ी-गत है परन्तु पैरों की नाड़ियों को रक्त न मिलने के

—शेषांश पृष्ठ २७० पर देखें।

साधारण भाषा में जिसे मोच आ जाना (Strain) कहा जाता है वही आयुर्वेदोक्त वातकण्टक वात व्याधि है। इस रोग का वर्णन सुश्रुत एवं वाग्भट में हुआ है तदनुसार माधवनिदान एवं शार्ङ्गधर संहिता आदि में भी उल्लेख किया गया है। विजय रक्षित ने 'अयमेवान्यत्र खुडुकवात इत्युक्तः' लिखा है। छोटी अस्थियां एवं उनकी सन्धियां खुडक शब्द से यहां अभिप्रेत हैं। भगवान चरक ने वात के नानात्मज रोगों में वातखु ता का अवश्य उल्लेख किया है। संभवतः यही सुश्रुतोक्त वातकण्टक है। महर्षि सुश्रुत ने इस रोग का आगन्तुक कारण ही व्यक्त किया है—

न्यस्ते तु विषमं पादे रुजः कुर्यात्समीरणः।
वातकण्टक इत्येष विज्ञेयः खुडुकाश्रितः ॥

—सुश्रुत नि. ७९

आचार्य वाग्भट ने मोच आ जाने के अतिरिक्त अत्यधिक श्रम को भी हेतु कहा है—

रुक् पादे विषमन्यस्ते श्रमाद्वा जायते यदा।
वातेन, गुल्फमाश्रित्य तमाहुर्वातकण्टकम् ॥

—अ०हृ०नि० १५/५३

यह वातजन्य पीड़ा गुल्फसन्धि में होती है किंवा एडी में—भी खुडु (लु) काश्रित इति पाद जङ्घासन्धिसंश्रय इत्यर्थः पार्ष्ण्याश्रय इत्यन्ये—डल्हण।

गुल्फसन्धि में पूयमेहजन्य किंवा फिरङ्गजन्य भी शोथ-शूल होकर विकृति स्थायी हो जाती है। जिसे महामहोपाध्याय श्री गणनाथ सेन जी ने विषवात नाम दिया है। पूयमेह एवं फिरङ्ग रोग लक्षणों में 'सन्धिशोफश्च सरुजः' एक विशिष्ट लक्षण है जो रोग की पुराण अवस्था में प्रकट होकर दारुण दुःख देता है।

भगवान चरक ने वातव्याधि साध्यासाध्य प्रकरण में खुडवातता का उल्लेख किया है। वहां पर व्याख्या में श्री चक्रपाणि ने खुडवातता गुल्कवातता, किंवा सन्धिवातता वर्णन किया है। आचार्य काश्यप ने नानात्मज वात रोगों में वातखुड वातगुल्फ एवं वातकण्टक तीनों रोग पृथक् पृथक् निर्दिष्ट किये हैं। इन प्रकरणों के आधार पर प्रसिद्ध आयुर्वेद मनीषी वैद्य श्री रणजित राय जी ने गुल्फवात को सन्धिगतवात का एक प्रकार जिसे आधुनिक 'आस्टीओ आर्थ्राइटिस' के नाम से जानते हैं कहा है। तथा वातकण्टक को गुल्फ पार्ष्णि में अस्थि की कण्टकाकार वृद्धि (केल्केनीअल स्पर) माना है। यह वृद्धि वातमूलक होने से इस रोग की वात विकारों में गणना की है। यह कण्टककारा अस्थिवृद्धि बबूलों के कांटों के सदृश सीधी किंवा मछली पकड़ने के कांटे के सदृश अंकुशाकार होती है। चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता में अस्थिदोषज विकारों के अन्तर्गत अध्यस्थि भी विकार कहा गया है तथा अस्थिवह स्रोतोदुष्टि के मुख्य कारणों का निर्देश किया है—

व्यायामादतिसंक्षोभादस्थ्नामतिविघट्टनात्।
अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति वातलानां च सेवनात् ॥

—चरक सं. वि. ५/१७

वातलानां च सेवनात् से यहां स्पष्ट ध्वनित होता है कि इस कण्टकारक अस्थि वृद्धि में वायु की प्रमुख कारणता है।

यह अस्थि वृद्धि अर्बुद के रूप में भी हो सकती है।

आयुर्वेद मतानुसार मिथ्या आहार विहार से वातादि दोष प्रकुपित होकर अर्बुद को उत्पन्न करते हैं अथवा किसी अभिघात से अर्बुद की उत्पत्ति होकर वातादि दोष प्रकुपित होते हैं। सुतरां अर्बुदों में वातादि दोषों का निर्णय कर उपचार लाभप्रद हो सकता है। इन अर्बुदों की दो श्रेणियां व्यक्त की हैं सौम्य एवं घातक। सौम्य अर्बुदों के पुनः कई भेद हैं जिनमें एक अस्थ्यर्बुद (Osteoma) भी है। इस अर्बुद की रचना अस्थि से होती है। अधिकतर यह अस्थि में से शाखा के रूप में निकलता है। इसमें व्रणोत्पत्ति पाक एवं रक्तस्राव नहीं होता। यह सौम्य होने से साध्य है। इसकी वृद्धि भी मंद होती है।

वातकण्टक रोग के निदान में एवंविध सभी कारणों की जानकारी करना आवश्यक है। आवश्यकता समझी जाने पर क्षकिरण के द्वारा भी रोग निर्णय कर लेना उपयुक्त है।

चिकित्सा—

वातकण्टक एक अस्थ्याश्रय वातविकार है। अस्थिगत विकारों में पंचकर्म को विशेष महत्व दिया है—

अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां पञ्चकर्माणि भेषजम्।
वस्तयः क्षीरसर्पींषि तिक्तकोपहितानि च॥
—च० सू० २८/२७

'पञ्चकर्माणीत्यभिधायापि वस्तयइति वचनं तिक्तोपहितवस्तेर्विशेषेण हितत्वोपदर्शनार्थम्।' —चक्रपाणिदत्त

नारायण तैल या बला तैल का अभ्यङ्ग करना हितावह। निम्ब तैल+सर्षप तैल में कर्पूर मिलाकर भी अभ्यंग किया जा सकता है। वृ० सैन्धवादि तैल या प्रसारिणी तैल भी लाभप्रद है। इसके पश्चात् बालुका स्वेद करना चाहिए। स्वेदनार्थ निम्नांकित लेप भी उपयोगी है—

१. शोभांजन की छाल, सोंठ, सरसों, पुनर्नवा की जड़ और देवदारु समभाग मिलाकर चूर्ण बना उसमें काजी अथवा खट्टी छाछ मिलाकर लेप करने से शोथ का शमन होता है।

२. सिरस की छाल, मुलहठी, तगर, लाल चन्दन, इलायची, जटामांसी, हल्दी, दारुहल्दी, कूठ और खस आदि का चूर्ण कर पानी के साथ पीसकर १/५ भाग घृत मिलाकर मोटा लेप कर दें और ऊपर रुई चिपकाकर बांध दें। इससे शोथ-शूल-दाह ठीक होते हैं।

३. बेर, कुलथी, देवदारु, रास्ना, उड़द, अलसी, तिल आदि तैल के द्रव्य, कूठ, वच, सोवा के बीज, यव इन सबका चूर्ण कांजी में मिलाकर गर्म कर लेप करने से भी शोथ-शूल का शमन होकर रोग दूर होता है।

४. चूना तथा नवनीत बांधने से शूल मिटता है।

५. एलुआ तथा अफीम पीसकर लेप करने से भी शोथ-शूल मिटते हैं।

६. हल्दी, चूना पीसकर या मैदा लकड़ी नींबू के रस में घोटकर लेप करने से भी आघातजन्य वातकण्टक में लाभ होता है।

७. गवार तथा तिल कूटकर पानी में पकाकर मोच की सूजन पर बांधने से आराम होता है।

रसतन्त्रसारोक्त अस्थि दोषहर सेक वातकण्टक में अत्यन्त लाभप्रद है—

प्रथम विधि—गेहूं की मैदा, मैदा लकड़ी एवं हल्दी सज्जीखार २ तो. तथा तिल का तैल २० तो. लेवें। पहले तैल गर्म कर उसमें मैदा लकड़ी तथा हल्दी क्रम से डालकर थोड़ा पानी मिलाकर पकावें। जब पानी जल जाय तब आध घण्टे तक चोट पर ४-६ बार गर्म कर सेक कर यह औषधि बांध देवें। चोट के कारण हड्डी पर आघात, शोक, रक्त इकट्ठा होना आदि दोष इस सेक से दूर होते हैं।

दूसरी विधि—मैदा लकड़ी ३ तो., सोंठ तथा कुचला १-१ तो. लेवें। फिर हांडी में १ सेर पानी गर्म कर ऊपर की औषधियां डालकर ढक्कन लगाकर औटावें, जब तीसरा भाग पानी बाकी रहे तब बफारा देवें। फिर पानी छानकर चोट वाले भाग को धोवें तथा दवा का बुगदह पीसकर निवाया कर बांध देवें। इस रात के करने से ३ दिन में आराम होता है। इससे नई तथा पुरानी चोट का सब प्रकार का दोष दूर होता है।

कभी कभी इसमें दूषित खून भी जम जाता है अतः उस समय सिरा व्यधकर खून निकलवाकर वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। यह रक्तावसेचन जोंक, अलाबू, शृङ्ग या सिराव्यध द्वारा निकाला जा सकता है।

एरण्ड तैल पिलाकर कोष्ठ शुद्धि करना भी आवश्यक है। सूची द्वारा दाह कर्म भी उपयोगी है। कहा गया है—

रक्तावसेचनं कुर्यात्तीक्ष्णं वातकण्टके।
पिबेदैरण्ड तैलं च दहेत् सूचीभिरेव च॥

गरम पानी में तारपीन का तैल डालकर उस पानी में कपड़ा भिगोकर, उसे थोड़ा निचोड़ कर पीड़ित स्थान को वार-वार सेंकने से भी वात कंटक का शोथ एवं शूल शीघ्र कम होता है। यह सिकाई लगातार चालू रखने से वात कंटक की पीड़ा में स्थाई राहत मिलना प्रारम्भ हो जाती है।

उपर्युक्त वाह्य प्रयोगों के अतिरिक्त वातदोषशमनार्थ आभ्यन्तर प्रयोग भी देने चाहिए। इस निमित्त प्राणाचार्य श्री हर्पुल जी मिश्र द्वारा निर्दिष्ट यह औषधि लाभप्रद है—१ रत्ती शुद्ध कुचला और १ रत्ती सर्पगन्धा का मिश्रण नित्य गरम मीठे दूध के साथ सेवन करने से वेदना का वेग वढ़ता नहीं है। इस रोग में घृत एवं दुग्ध सदैव पथ्य हैं। आभ्यन्तर प्रयोगार्थ त्रयोदशांग गुग्गुलु १-२ माशा दूध के साथ सेवन करना लाभप्रद है। "आदित्यपाक गुग्गुलु" इस रोग की प्रमुख औषधि है। इस रोग में तिक्तौषधि अधिक लाभप्रद है। गुग्गुलु का प्रधान रस तिक्त है और अन्य रस अनुरस है। गुग्गुलु एक श्रेष्ठ वात नाशक द्रव्य है। गुग्गुलु के अतिरिक्त रास्ना, मेंथी, अश्वगन्धा, प्रसारिणी, घृतकुमारिका देवदारु आदि द्रव्य भी लाभप्रद हैं।

वैद्य श्री रणजितराय जी ने इस रोग में वेदनायुक्त स्थान पर घृत का मर्दन तथा मेंथी चूर्ण का १-३ माह तक प्रयोग का परामर्श दिया है। मेंथी चूर्ण में निम्नाङ्कित औषधियां मिलाकर भी काम में लाई जा सकती हैं—

अश्वगन्धाचूर्ण १०० मि.ग्रा., मेंथी चूर्ण १०० मि.ग्रा., रास्ना चूर्ण १०० मि.ग्रा., एवं रस सिंदूर २५ मि.ग्रा.। ऐसी मात्रा एक दिन में ३-४ वार उष्णोदक या दुग्ध से सेवन करनी चाहिए।

उपर्युक्त आदित्यपाक गुग्गुलु की निर्माणविधि इस प्रकार है—त्रिफला ४ तो., छोटी पीपर ४ तो., दालचीनी २ तो. इलायची २ तो., सवको चूर्ण कर २०तो. शुद्ध गुग्गुलु मिलाकर दशमूल के क्वाथ की ७ वार भावना देकर वटी बनालें। इसे दुग्ध के साथ सेवन करें। मात्रा १ माशा।

फिरङ्गजन्य वातकण्टक में अमीररस एवं पूयमेहजनित वातकण्टक में स्वर्ण समीर पन्नगरस का उपयोग करें। इसके अतिरिक्त रसराज रस १-२ रत्ती की मात्रा में उसवा और चोपचीनी के क्वाथ से देवें। सारिवाद्यासव एवं अश्वगन्धारिष्ट को भी प्रयोग में लाया जा सकता है।

अर्बुद की स्थिति में ताम्र भस्म १ रत्ती+रसमाणिक्य २ रत्ती। १×३ रत्ती महामंजिष्ठादि क्वाथ से सेवन करायें। उग्र अवस्था में सप्त विंशति गुग्गुलु एवं हीरक भस्म को काम में लेना चाहिए। उदयभास्कर रस भी २-३ रत्ती की मात्रा में घृत मधु के साथ सेवन कराया जा सकता है। गुग्गुल, मकोय, अफीम, सोंठ, विडंग आदि को गोमूत्र में पीसकर गर्म कर लेप करें। ★

—शेषांश पृष्ठ २६७ का—

उत्पन्न होता है। झिझिणीवात में पैरों में झनझनाहट होता है किन्तु पादहर्ष में क्वचित शून्यता भी उत्पन्न होती है। वैठे वैठे पैरों में झनझनाहट होना रोग नहीं है। यह क्षणिक है जो थोड़ी देर में रक्त संचार हो जाने पर स्वतः मिट जाता है। वार वार झनझनाहट होना रोग है। निरन्तर झनझनाहट पक्षवध का पूर्वरूप भी है।

चिकित्सा—

१. अभ्यङ्ग हितकर है।

२. आग में तपाये हुये ईंट पर कांजी छोड़ने पर जो भाप निकले उससे स्वेदन करना चाहिए।

३. वृ० सैंधवादि तैल का अभ्यङ्ग विशेष हितकर है।

४. पाददाह, पादहर्ष में शिराव्यध द्वारा रक्त निकाल कर वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

५. सर्षप तैल में शुण्ठी चूर्ण मिलाकर मालिश करने से भी पादहर्ष मिटता है। लाक्षादि तैल (शा० सं०) भी हितकारक है।

६. दशमूल के क्वाथ में हिंगु एवं पुष्करमूल चूर्ण मिलाकर पीने से भी लाभ होता।

७. शंख भस्म २५० मि० ग्रा०+लोह भस्म १२५ मि.ग्रा.+अर्जुन त्वक्घन सत्व २५० मि.ग्रा.। १×३ मधु से सेवन करें। (श्री हर्पुल जी मिश्र)

मूकत्व, मिन्मिनत्व, गद्गदत्व

डा० वेदप्रकाश शर्मा ए.एम.बी.एस., अध्यक्ष-राजकीय आयुर्वेद चिकित्सालय, फीरोजाबाद (आगरा)

—:००:—

आवृत्य सकफो वायुर्धमनीः शब्द वाहिनीः।
नरान् करोत्यक्रियकान्मूक मिन्मिनगद्गदान् ॥
—सुश्रुत नि० १।८५

भगवान चरक ने शिर को उत्तमाङ्ग कहकर उसमें प्राण एवं सर्वेन्द्रियों की स्थिति बताई है। इस अङ्ग की महत्ता मस्तिष्क के कारण है। मस्तिष्क के प्रत्येक गोलार्ध से बारह नाड़ियां निकलती हैं जो शीर्षण्य नाड़ियां (Cranial Nerves) कहलाती हैं। इनमें जिह्वा की चेष्टावह नाड़ी जिह्वा मूलिनी नाड़ी (Hypoglossal Nerve) भी है। उपर्युक्त श्लोक में शब्द वाहिनी धमनी से जिह्वामूलिनी नाड़ी, प्रत्यावृत्तस्वरयन्त्रीय नाड़ी (Recurrent Laryngial Nerve) तथा मस्तिष्कगत वाक्केन्द्र का ग्रहण होता है। स्वरोत्पत्ति यद्यपि अन्य शारीरिक क्रियाओं की भांति तीनों दोषों के अधीन है उसमें वायु का महत्व सर्वाधिक है। वात नाड़ियों की आज्ञा से फुफ्फुसादि के द्वारा विशेष रीति से व्यक्त वायु स्वरयंत्र में से निकालकर शब्द उत्पन्न करती है फिर मुख नासिका आदि की क्रियाओं से उस शब्द में परिवर्तन होकर स्वर की उत्पत्ति होती है।
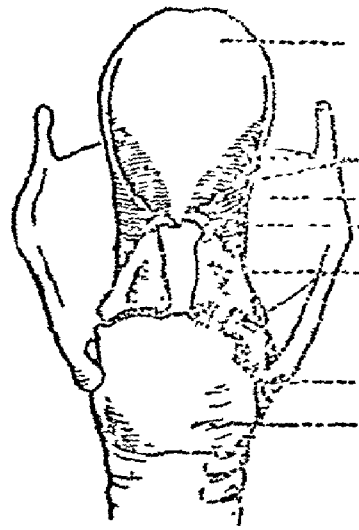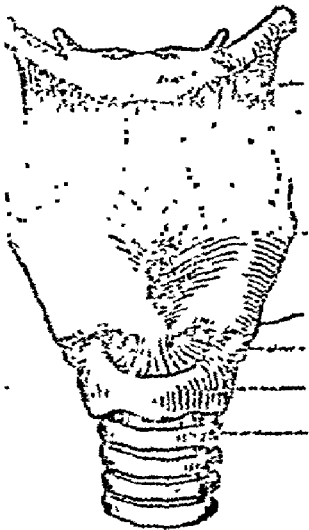
स्वर यन्त्र का अग्र एवं पृष्ठ तल

ग्रीवा के ऊपरी भाग में कण्ठकास्थि के नीचे और कण्ठ के सामने स्वरयन्त्र होता है। यह एक पोली नली है जो नौ तरुणास्थियों से निर्मित है। इसके नीचे के भाग से टेंटुवे का आरम्भ होता है। ऊपर पीपल के पत्ते के समान स्वरयन्त्रच्छद होता है। जब भोजन का ग्रास मुख से कण्ठ में जाता है तब यह स्वरयन्त्रच्छद पीछे की ओर इस प्रकार झुक जाता है कि उससे स्वरयन्त्र का मार्ग ढक जाता है। स्वर यन्त्र दो इन्च से कुछ कम होता है। स्त्रियों का स्वरयन्त्र पुरुषों की अपेक्षा छोटा होता है इसीलिये स्त्रियों का स्वर कोमल और क्षीण होता है। स्वरयन्त्र के अन्दर मध्य रेखा के इधर उधर श्लेष्मिक कला के दो झोल होते हैं। ऊपर के झोल में श्लेष्मिक कला के नीचे सौत्रिक तन्तु की एक पतली पट्टी रहती है। नीचे की झोली में जो सांत्रिक तन्तु होते हैं वे स्वररज्जु कहलाते हैं। स्वररज्जु में श्लेष्मिक कला के नीचे एक मोटी पट्टी स्थितिस्थापक सौत्रिक तन्तु की रहती है। इस पट्टी के पास एक पतली मांसपेशी रहती है। पेशियों के संकोच और प्रसार से दो स्वररज्जु एक दूसरे के निकट या दूर हो जाते हैं। बोलने या गाते समय इनका अन्तर घट जाता है और वे तन जाते हैं। जब मनुष्य चुपचाप सांस लेता है तब स्वररज्जुओं के बीच में स्वल्प सा अन्तर रहता है। गहरी सांस लेते समय अन्तर कम हो जाता है और गाने और चिल्लाने के समय यह अन्तर बहुत घट जाता है। बोलने के समय वायु उच्छ्वास क्रिया द्वारा फेफड़ों से टेंटुवे और स्वर यन्त्र में से होकर बाहर आता है। उसके स्वररज्जुओं से टकराते समय वे कांपने लगते हैं और यन्त्र की उत्कंपना से शब्द पैदा होता है। महर्षि सुश्रुत ने स्वरवह स्रोत ४ कहे हैं। उनमें देर से मनुष्य बोलता है और देर से चिल्लाता है। बोलने कंठ, तालु, जिह्वा, दन्त और ओष्ठों से सहायता मिलती है।

मस्तिष्क के वाम शंखकीय खण्ड में वाणी का केन्द्र होता है। इसी स्थल पर शब्दों को समझने, सुनने तथा लिखने का भी केन्द्र है। कफ सहित प्रकुपित वायु इन स्थानों में अवरोध उत्पन्न कर मनुष्य को बोलने की शक्ति से मूक, मिन्मिन अथवा गद्गद स्वरयुक्त बना देता है। इनमें सभी में वाचिक संस्थान में कोई विकृति पायी जाती है। इन तीनों में दोष विकृति एवं स्थान संश्रय प्रायः समान होता है। दुष्टि की न्यूनाधिकतावश रोग भेद होता है—

"एषां च समानकारणाभिधानेऽपि दुष्टेरुत्कर्षादिविरिष्टवशाद्वा भेद इत्युन्नेयम्। —विजयरक्षित

१. मूकत्व—जिस अवस्था में वाणीकेन्द्र पूर्णतया नष्ट हो जाता है तो बोलने की शक्ति भी पूर्णतया लुप्त हो जाती है इसे मूकत्व (Aphonia) कहते हैं—'मूकोऽवचनः-वचनरहितः' सहज मूकत्वप्रायः बधिर्य के कारण होता है जिसमें वाचिक संस्थान मे प्रायः विकृति नहीं पायी जाती। आंशिक विकृति होने पर रोगी कष्ट के साथ बोल पाता है। इसे कष्ट वाक्यता, वाक्कृच्छ्रता किंवा हकलाहट कहते हैं। मूकता एवं कष्टवाक्य के दो भेद किये गये हैं—

(अ) चेष्टावह मूकता एवं कष्टवाक्यता—यद्यपि रोगी जानता है कि उसे क्या कहना चाहिये तथापि वह बोलने में पूर्णतया असमर्थ रहता है अथवा बहुत थोड़े शब्द बोल पाता है। इसी प्रकार वह लिखने में भी असमर्थ हो सकता है। रोगी किसी भी सामान्य वस्तु का नाम बताने में असमर्थ हो सकता है किन्तु यदि कई नाम लिये जावें तो वह उनमें से उपयुक्त नाम चुन सकता है।

(ब) सांवेदनिक—रोगी लिख पढ़ बोल सकता है किन्तु कही गयी या लिखी हुई बात को समझने में असमर्थ रहता है।

कष्टवाक्यता (हकलाहट) प्राथमिक एवं गौण भेद से द्विविध है। प्रारम्भ में जब व्यक्ति कुछ हिचकिचाहट के साथ बोलता है तो अपनी इस त्रुटि का उसे भान नहीं होता किन्तु बाद में उसे अपनी त्रुटिपूर्ण वाक्यता का भान होने लगता है जिसके फलस्वरूप हीनभावना से ग्रसित हो जाता है।

२. मिन्मिनत्व—जब रोगी अक्षर किंवा शब्दों को नासिका के स्वर से बोलता है तब इसे मिन्मिनत्व या सानुनासिकवाक्यता (Rhinophonia) कहते हैं। मिन्मिनः सानुनासिकवाक् (डल्हण)।

३. गद्गदत्व—कभी-कभी बोलते समय रोगी कुछ शब्दों अक्षरों को छोड़ देता है, उसे गद्गदवाक्यता (Disarthria) कहते हैं। गद्गदोऽव्यक्तवाक् (डल्हण), गद्गदोलुप्तपदव्यञ्जनाभिधायी (वलय०)। स्वरयन्त्र, ओंठ, जिह्वा, तालु, ग्रसनिका आदि धातु सम्बन्धी विकारों के कारण यह विकृति होती है।

मनुष्य की सर्वतोमुखी विजय यात्रा के प्रमुख कारणों में उसका वाग्व्यापार भी है। अन्य प्राणियों के कण्ठ से ध्वनि तो निकलती है, किन्तु वाचा तो केवल मनुष्यों की ही विशिष्टता है। मूकता में यह विशिष्टता समाप्त हो जाती है। यह वाक्प्रकृति समान वायु की सहायता से होती है—"तेन भाषित गीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते।"

मूकता, गद्गदत्व (पारभेद) को भगवान् चरक ने नानात्मज विकारों के अन्तर्गत कहा है और इन विकारों को प्राणावृत समानजन्य कहा है—प्राणावृते समाने स्युर्जड़गद्गदमूकताः। —च. चि. २८/२०४

चिकित्सा—

चतुष्प्रयोगाः शस्यन्ते स्नेहास्तत्र सयापनाः।

—चरक चि० २८/२०५

वातात् वाग्धमनीदुष्टौ स्नेहगण्डूष धारणम्॥

—भै० रत्नावली

१—हल्दी, वच, कूठ, छोटी पीपल, सोंठ, जीरा, अजवाइन, मुलेठी, सेंधानमक सबको एकत्र चूर्ण कर २ ग्रा. की मात्रा से दिन में ४ बार दुगना घृत मिलाकर सेवन करें। घृत गाय का होना चाहिए। यह कल्याणक लेह है। मार्फिया का सूचीवेध करने से वेदना तो शान्त ही जायगी किन्तु विबन्ध होकर रोग कारण की वृद्धि होने से रोग बढ़ जाता है।

इस रोग में निरूह वस्ति का प्रयोग हितकारक है। गुदमार्ग में ग्लिसरीन सिरिञ्ज लगाना तथा तारपीन के तैल से उदर सेकना भी उपयुक्त है। अग्नितुण्डी वटी,

—शेषांश पृष्ठ २७४ पर देखें।

अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता ।
मिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूनीत्यभिधीयते ॥—सुश्रुत ।

अर्थात्—वर्च (मल) के आशय तथा मूत्राशय से उत्पन्न पीड़ा नीचे को जाकर गुदा और मूत्रेन्द्रिय को फोड़ती हुई सी पीड़ा करती हो, उसे तूनी कहते हैं ।

गुदोपस्थोत्थिता सैव प्रतिलोमविसर्पिणी ।
वेगैः पक्वाशयं याति प्रतितूनीति सा स्मृता ॥

अर्थात्—यदि गुदा और मूत्रेन्द्रिय से उत्पन्न हुई वही पीड़ा जब उल्टी (ऊपर को) फैलकर वेग से पक्वाशय में जाती है तब उसे प्रतितूनी कहते हैं ।

विमर्श—तूनी को वृक्कशूल (Renal colic) तथा प्रतितूनी को आन्त्रशूल (Intestinal colic) कहा जा सकता है । तूनी में तीव्र वेदना पक्वाशय तथा मूत्राशय में किसी एक आशय से अथवा दोनों आशयों से प्रारम्भ होकर गुदद्वार या मूत्र द्वार की ओर जाती है । लक्षणों की साम्यता होने से इसे गवीनी आदि में अवरुद्ध अश्मरी या शर्करा के आवरणवश उत्पन्न हुआ शूल—रीनल अथवा कालिक समझा जाता है ।

प्रतितूनी में इसके ठीक विपरीत गुदद्वार या मूत्रद्वार में तीव्र वेदना प्रारम्भ होकर उपरोक्त आशयों की दिशा में जाती है । यह कदाचित् मल की ग्रन्थियों के आवरण से हुए अपान वायु के प्रकोप के कारण हुआ शूल आधुनिकों का इन्टेस्टाइनल कालिक है ।

मल की ग्रन्थियां वायु के रूक्ष गुण का प्रकोप होने से मल की शुष्कता और पिण्डिभाव होने से इस विकार को वात का नानात्मज विकार समझना चाहिये । ऐसी स्थिति में वात को उसमें भी विशेषतया स्नेहन प्रधान उपचार द्वारा उसके रूक्ष गुण को समावस्था में लाने का प्रयास किया जाना उचित होता है । ग्रन्थियां बनने के कारण यह भी सम्भव है कि महास्रोत में आम, पच्यमान, पक्वाशय में कफ का प्रकोप हो, विशेषतया उसका मन्द गुण वृद्धि को प्राप्त हुआ हो तो महास्रोतस की अन्नपान, तथा वायु का अनुलोमन करने वाली अपकर्षणी गति मंद (स्लगिस) हो जाती है । ऐसी स्थिति में वायु तथा अग्नि सम हो तो भी उन्हें मल के द्रवांश के शोषण का समय अधिक मिलता है । जिससे मल शुष्क होकर ग्रथित हो जाता है ।

कई पुरुष दूध अथवा केले के सेवन से मल की ग्रंथियाँ बन जाने की व्यथा लेकर आते हैं, उनमें विक्रिया की सम्प्राप्ति उक्त प्रकार की ही होती है । यदाकदा पित्त का भी अनुबन्ध मल की ग्रंथियां बनने में हेतु हो सकती हैं । पित्त का तीक्ष्ण, उष्ण, गुण वृद्धि को प्राप्त हो तो वह अन्नपान तथा मलगत क्लेद (द्रव) को शुष्क कर देता है तथा वायु विक्रिया को बढ़ा देता है । यह ग्रथित मल अपान के मार्ग में क्रिया में अन्तराय उपस्थित करता है जिससे अपान कुपित होता है । अपान से संकोचात्मक प्राकृत कर्म अधिक वेग तथा अधिक बल से करने लग जाता है एवं इससे शूल उत्पन्न होता है । इससे यह निश्चित होता है कि इन दोनों रोगों की उत्पत्ति में उदावर्त आनाहजन्य विकृति उत्पन्न होती है । अतः मूल हेतु का निर्णय करना अनिवार्य है ।

प्रत्येक शूल में दोषों का पृथक् विचार किया जाय तो चिकित्सा मूलगामी होती है । विना समझे

रसोनादि वटी, शङ्ख वटी, गन्धक वटी, कुमार्यासव, अभयारिष्ट, द्राक्षासव, हिंग्वादि चूर्ण, सूतशेखर रस, पंचसकार चूर्ण, पद्मधरण योग, दीनदयालु चूर्ण, सूतशेखर रस, शूलगज केशरी, अग्निकुमार रस आदि प्रयोग लाभदायक हैं। रसतन्त्रसार का निम्न प्रयोग लाभप्रद है---

लवण भास्कर चूर्ण ४०० ग्राम, हिंग्वाष्टक चूर्ण ४०० ग्राम, एरण्ड तैल से शुद्ध किया हुआ कुचला, सुहागे का फूला, नौसादर सभी २५-२५ ग्राम, पिपरमेंट ६ ग्राम तथा बीज निकाला साफ मुनक्का ४०० ग्राम लें। पहले चूर्णों को भलीभांति कपड़छन करें फिर कुचले का चूर्ण करें। मुनक्का को अच्छी तरह पीसकर कल्क बना लेवें तथा अन्य सभी वस्तुऐं मिला चूर्ण कर लें। फिर सबको मिलाकर खरल कर १-१ रत्ती की गोली बनाकर अमृतवान में भर लें। १-२ गोली आवश्यकतानुसार दिन में ३-४ बार दें।

तूनी रोग में औषधि व्यवस्था—

प्रातः सायम्—क्रव्याद् रस १२५ मि.ग्राम, अग्नितुण्डी वटी १ गोली, शङ्ख भस्म २५० मि.ग्राम १×२ सुकुमार कुमार घृत १० ग्राम

रात्रि में सोते समय—हिंग्वादि चूर्ण ३ ग्रा. जल से

प्रतितूनी—

प्रातः सायम्—पंचसूत ६० मि.ग्रा., काशीस ... १२५ मि.ग्रा., शङ्ख वटी २ वटी १×२ उष्ण जल से

भोजन पूर्व—हिंग्वष्टक चूर्ण २ ग्राम, ...र्व लवण १ ग्राम।

भोजन के बाद—अभयारिष्ट २० मि. ली. ... जल मिला।

रात्रि में—नारायण चूर्ण, नवसादर ३-३ ग्राम जल...

—वैद्य तुलजा शंकर ...ना...

लोसिंग बाया—बडगांव (उदयपुर) ...

मूकत्व, मिन्मित्व, गद्गदत्व

पृष्ठ २७२ का शेषांश

शब्दाज्ञतामये चापि लेहः कल्याणकोहितः।

—योग रत्नाकर

२—दशमूल क्वाथ में हींग और पुष्करमूल चूर्ण मिलाकर पीने से विशेषतया मिन्मिनत्व दूर होता है।

३—ब्राह्मी जड़ तथा पत्तों सहित लेकर जल से प्रक्षालन कर ओखली में कूटकर स्वरस निकालें। ४ प्रस्थ (३ कि. ७२ ग्राम) रस में १ प्रस्थ घी तथा हल्दी, कूठ, मालती, निशोथ, हरड़ प्रत्येक १-१ पल (४८ ग्राम), पीपल, वायविडंग, सेंधानमक, चीनी तथा वच १-१ तोला लेकर कल्क करके घृतपाक करना चाहिये। इसे १-१ तोला मात्रा में सुबह शाम लेने से रोग नष्ट होते हैं।

४—वच, अकरकरा, कुलिंजन, मुलेठी, ब्राह्मी, पीपल और सेंधानमक समान भाग चूर्ण जिह्वा पर रगड़ें।

५—ब्राह्मी, वचा, शंखपुष्पी और कूठ के समभाग चूर्ण को मधु से चाटना चाहिए।

६—ब्रह्मी, वचा, अश्वगन्धा और पिप्पली के चूर्ण को भी मधु से चाटने से वाणी स्पष्ट होती है।

७—बादाम की गिरी ५० ग्राम, चांदी के वर्क १ ग्राम, केशर बढ़िया २ ग्राम सबको बारीक करके १५ ग्राम मधु मिलाकर ३-४ ग्राम की मात्रा में दूध के साथ दें

८—स्नेहगण्डूष धारण करने से स्थानीय स्ने... होता है। इसके पश्चात् छेदनीय द्रव्यों का प्रयो... हितावह है। जो द्रव्य शरीर में संचित और चिपके हु... कफादि दोषों को अपने प्रभाव से पृथक् करे उन्हें छेदनीय कहते हैं। आचार्य शार्ङ्गधर ने ऐसे द्रव्यों में क्षार, म...च एवं शिलाजतु को श्रेष्ठ कहा है। भगवान चरक ने इस निमित्त हिंगुल को सर्वश्रेष्ठ कहा है। यह बात श्लेष्महर द्रव्य है—हिंगुनिर्यासश्छेदनीय दीपनीयानुलोमिक वातश्लेष्महराणाम् (च. सू. २५)। वचा, कट्फल, लवङ्ग, दालचीनी, मुलेठी रूमीमस्तंगी, अकरकरा, हल्दी, त्रिफला, चित्रक आदि द्रव्य मूकता आदि में उपयोगी हैं। इसके अतिरिक्त अभ्रक भस्म, प्रवाल भस्म, शंख भस्म, कपर्द आदि भी छेदनीय होने से लाभप्रद हैं। प्रतिमर्श नस्य इस विकृति में हितकारी है।

आध्मान

वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य

महास्रोतस के जिस भाग तक अन्न का पाक होता है— जो आमाशय से उण्डुक तक है आमाशय कहा जाता है। उण्डुक से लेकर मलाशय तक पक्वाशय कहलाता है। आम प्रधान या सङ्गप्रधान व्याधियां जिनमें पित्त या कफ दोषरूपेण रहते हैं आमाशयोत्थ कहलाती हैं। जिन व्याधियों में वायु प्रधान दोष के रूप में हो, उन्हें पक्वाशयोत्थ व्याधि कहा जाता है। आध्मान पक्वाशयोत्थ तथा प्रत्याध्मान आमाशयोत्थ व्याधि है। पीड़ा के साथ उदर (पक्वाशय) के क्षोभ को आटोप कहा जाता है। उदर का फूलना एक सामान्य लक्षण है। जब वह मलमूत्र के अवरोध से युक्त रहता है तो उसे आनाह कहा जाता है। यह आमज एवं पुरीषज भेद से दो प्रकार का है। जब मलमूत्र की प्रवृत्ति के रहने पर भी वायवीय पदार्थों की उत्पत्ति के कारण उदर में फुलाव, क्षोभ एवं गुड़गुड़ाहट होने वाले रोग को आध्मान कहा जाता है। प्रत्याध्मान रोग में भी ये ही लक्षण पाये जाते हैं किन्तु वे आमाशय तक ही सीमित रहते हैं। आध्मान शुद्ध वातज रोग है किन्तु प्रत्याध्मान कफावृत वातज रोग है।

आध्मान—

साटोपमत्युग्ररुजमाध्मानमुदरं भृशम्।
आध्मानमिति तं विद्याद्घोरं वातनिरोधजम्॥

—सुश्रुत निदान १।८८

आटोप संचलनं तेन सह वर्तत इति साटोपम्। उदर मत्र पक्वाशयः। घोरं कष्टकारि। —डल्हण

साटोपमिति आटोपश्चलनमिति गयदास, गुड़गुड़ाशब्द इति कार्तिकः। आध्मानं वातपूर्णं चर्मपुटकस्यानीयम्।

—विजयरक्षित

इस विकार की उत्पत्ति में अजीर्ण प्रमुख कारण बनता है। इस मूल कारण के नष्ट होने से यह रोग भी नष्ट हो जाता है। कहा गया है—

प्रायेणाहारवैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम्।
तन्मूलो रोगसंघातस्तद्विनाशाद्विनश्यति॥

विष्टब्धाजीर्ण वात प्रकोप से होता है। कुपित वायु पाचक रसों और अन्न की गति में बाधक होता हुआ अपाचित अन्न को दीर्घ काल तक आन्त्र में ही रोक रखता है जिससे अन्न वहीं सड़ता रहता है। उसके सड़ने से वायु की वृद्धि होती है। यह वायु किसी भी मार्ग से निकलने में असमर्थ रहता है जिससे आध्मान और पीडा होती है। वायु के प्रकोप से अन्य वातज लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। इससे हृदय आदि पर भी दबाव पड़ता है। ग्रहणीविकार, चिरकारी उपान्त्र प्रदाह, चिरकारी प्रवाहिका, वृहदन्त्र प्रदाह आदि रोगों में प्रायः आध्मान प्रमुख लक्षण बनता है। ग्रहणी विकार का यह मुख्य लक्षण है—

हृत्पीडाकार्श्यदौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्तिका।
गृद्धिः सर्वरसानां च मनसः सदनं तथा॥
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैतिच॥

—चरक चि० १५

इसे पाश्चात्य वैद्यक में टेम्पेनाइटिस (Tympanites) कहते हैं। स्टार्च और प्रोटीन दोनों ही वायु पैदा करते हैं। प्रोटीन की अपेक्षा स्टार्च से वायु अधिक बनती है। परन्तु प्रोटीन से उत्पन्न वायु (गैस) अधिक विषैली प्राणघातक होती है। आमाशय रस (Gastric juice पित्त रस (Bile Juice), क्लोमरस एवं अन्त्ररसों की उत्पत्ति में हीनता अथवा द्रवता अधिक होने से स्टार्च प्रोटीन आदि का पाचन सम्यक्तया नहीं हो पाता परिणामस्वरूप आध्मान उत्पन्न होता है। ग्रहणी द्वार की मांसपेशियों के दुर्बल होने से किंवा अन्त्रद्वय की मांस-

पेशियों के जकड़ जाने से वायु रुक कर आध्मान को जन्म देता है। गरिष्ठ वस्तुओं के नियमित सेवन से विशुद्ध खाद्य पदार्थों के अभाव के कारण आजकल यह व्याधि बहुतायत से मिलती है। चाय काफी का अत्यधिक सेवन भी इसका प्रमुख कारण है। आध्मान के रोगी में निम्नाङ्कित लक्षण पाये जाते हैं—१. जिह्वा मलयुक्त होती है। २. पेट फूला हुआ रहता है। ३. रोगी का मल विविध प्रकार का होता है। ४. मूत्र पीत वर्ण का होता है। ५. रोगी रक्तहीन एवं आलसी होता है। ६. सामान्य तापक्रम भी मिलता है। ७. नाड़ी दुर्बल रहती है। ८ रोगी को नींद कम आती है। ९. वायु का दबाव पड़ने से हृदय की गति भी बढ़ जाती है। १०. मन्द-मन्द दर्द के साथ पेट में गुड़गुड़ाहट होता रहता है। ११ रोगी का जी घबराता है तथा उसे श्वास लेने में कठिनाई अनुभव होती है।

रोग अधिक दिन रहने पर हृदय और मस्तिष्क के रोग उत्पन्न होते हैं। हृद्द्रव, शिरःशूल, नाड़ीदौर्बल्य आदि यहां उभयार्थकारी रोग कहलाते हैं। कुछ रोग अन्य रोग को उत्पन्न कर स्वयं शांत हो जाते हैं। उन्हें एकार्थकारी रोग कहते हैं। कुछ रोग रोगान्तर को उत्पन्न करके भी बने रहते हैं उन्हें उभयार्थकारी कहते हैं। भगवान चरक ने ऐसे रोगों के विषय में कहा है—

ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः।
कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ॥
न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च।
एवं कृच्छ्रतमं नृणां दृश्यन्ते व्याधिसंकराः ॥

—चरक नि० ८

उभयार्थकारी रोग अत्यन्त कष्टप्रद एवं विरुद्धोपक्रम होने से कष्टसाध्य होते हैं। व्याधि का ज्ञान लक्षण समुच्चय से होता है। 'लक्षणों को व्याधि नहीं समझना चाहिए। वे तो व्याधि का ज्ञान कराने के साधन हैं। लक्षणों की कोई भौतिक सत्ता नहीं होती है। वे द्रव्याश्रित रहते हैं। अतः जिस पर वे आश्रित हैं वह व्याधि कही जाती है। यह तथ्य सदैव स्मरण रखने की आवश्यकता है।

(१) आध्मान होने पर हस्तस्वेद, फलवर्तिधारण करना चाहिए। दीपन-पाचन तथा शोधन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। कहा है—

आध्माने लङ्घनं पाणितापश्च फलवर्तयः।
दीपनं पाचनञ्चैव वस्तिश्चाप्यत्र शोधनः ॥

फलवर्ति—मैनफल, पिप्पली, कूट, घोड़ावच, सफेद सरसों, मंडुआ का बीज समभाग लेकर दूध से खूब गाढ़ा पीसकर उसमें यथावश्यक गुड़ मिलाकर हाथ अंगूठे जितनी मोटी वर्त्ती बनाकर घी लगाकर गुदा में प्रविष्ट करे।

(२) दारुपट्क लेप—देवदारु, घोड़ावच, कूट, सोवा, हींग और सैन्धव लवण सब समान भाग, लेकर कांजी या सिरका में पीस कर गर्म कर उदर पर लेप करे।

(३) हर्पुल अन्त्र ऊर्जावटी—पंचकोल चूर्ण, प्रवाल पंचामृत, टंकण भस्म, बाल हरड़ महीन चूर्ण, सौंफ चूर्ण, अजवाइन चूर्ण, विडंग चूर्ण, स्याह जीरा, सफेद जीरा, असली हींग भुनी हुई, सौंचर नमक, सेंधा नमक, सनाय फली का घनसत्व, अमलतास का घनसत्व, पलासक्षार ये सब ४-४ तोला लें। शुद्ध स्वर्जिकाक्षार, नौसादर, लवंगचूर्ण २-२ तो. लेकर समस्त द्रव्यों का महीन चूर्ण बनाकर अद्रक के रस में घोटकर ६ रत्ती की टिकिया बना छाया में सुखा लें। १-२ टिकिया गरम जल से भोजन के बाद दें।

(४) शुद्ध भल्लातक को सराव में बन्द कर कपड़ मिट्टी कर लघुपुट दें। इस भल्लातक कोकिल को खरल में पीसकर सूक्ष्म चूर्ण बना लें। इस भल्लातक भस्म की २-२ रत्ती की २ मात्रा प्रातः सायं दुग्ध से दें। यह गुल्म, आध्मान, आमवात, वात रोग, ज्वर हर है।

—श्री मिलापचन्द भिषगाचार्य

(५) शुद्ध हींग १ भाग, वच २ भाग काला नमक ३ भाग, सोंठ भुनी हुई ४ भाग, कलौंजी भुनी हुई ५ भाग छोटी हरड़ ६ भाग, चित्रकमूल ७ भाग, कूट ८ भाग। इन सबका कपड़छन चूर्णकर ३-६ माशा तक उष्णोदक से सेवन करे।

(६) द्राक्षापिण्डी—सोंठ, मिर्च, पीपल, सफेद जीरा, कालाजीरा, चित्रक, इलायची दाने, अकरकरा तथा सैंधव प्रत्येक ३०-३० ग्राम लेकर चूर्ण बनालें। अब १ किलो अनार का स्वरस तथा १ किलो नीबू के स्वरस में काला नमक १२० ग्रा. डाल कर पकावें। पकाते समय १२० ग्रा. गाय का घृत भी डाल देवें। जब यह कुछ गाढ़ा हो जाय तो इसमें खजूर की मज्जा ६० ग्रा., मुनक्का ६० ग्रा.

तथा मिश्री ६० ग्राम को पृथक् पृथक् वारीक कूटकर एक एक साथ डाल दें। जब यह उचित गाढ़ा हो जाय तो नीचे उतारकर उपर्युक्त चूर्ण डालकर भली प्रकार से मिला देवें तथा १-१ ग्रा. की गोलियां वना लेवें। यह परम दीपन पाचन करने वाली आध्मान, अग्निमांद्य तथा उदर शूल को नष्ट करती है तथा अत्यन्त रुचिवर्धक है।

—सिद्ध भेषज मणिमाला

(७) प्रवालपंचामृत, क्रव्याद रस, नवजीवन रस, ताप्यादि लौह, नवायस लौह, महायोगराजगुग्गुलु, सिता-मण्डूर, गन्धकवटी (राज वटी) रसोनादिवटी जम्बीर लवण वटी शंखवटी अग्नितुण्डीवटी अमर सुन्दरी वटी, चित्रकादिवटी, हिंग्वादिवटी, हिंग्वाष्टक चूर्ण, शिवाक्षार पाचन चूर्ण, नाराच चूर्ण (शा. सं.) मधुकादि (सि. यो. सं.) एरण्डपाक, कुमार्यासव, दशमूलारिष्ट, द्राक्षारिष्ट आदि शास्त्रीय प्रयोगों को काम में लाना चाहिये। अधिक विवन्ध की स्थिति में दन्ती हरीतकी (भै. र.) श्यामादि गण क्वाथ (सुश्रुत सू. ३८) नाराचघृत (भै. र.), विन्दु घृत (च. द.), अश्वकंचुकी रस, इच्छाभेदी रस आदि प्रयोग में लावें।

८. गैसहर वटी—लवण भास्कर चूर्ण, हिंग्वाष्टक चूर्ण ४००-४०० ग्राम, एरण्ड स्नेह से शुद्ध किया हुआ कुचला, सुहागा का फूला, नौसादर सभी २५-२५ ग्राम, पिपरमेंट ६ ग्राम, बीज निकाला हुआ साफ मुनक्का ४०० ग्राम लें। पहले चूर्णों को अच्छी तरह कूट, कपड़-छन करें; फिर कुचले का चूर्ण करें। मुनक्का को अच्छी तरह पीसकर कल्क वना लेवें तथा अन्य सभी वस्तुयें मिला चूर्ण कर लें। फिर सबको मिला खरल कर १-१ रत्ती की गोलीं वनाकर अमृतवान में भर लें। १-२ गोली आवश्यकतानुसार दिन में ३-४ वार जल के साथ देवें।

—रसतन्त्रसार

९. गैसेक्स (हिमालया कं०), गारलिल पिल्स, गैसारि कैपसूल (निर्मल आयु० संस्थान), गेस्ट्रेक्स (भारतीय औषध निर्माणशाला), पाचक वटी (वैद्यनाथ) आदि आयुर्वेदीय पेटेण्ट योग इस व्याधि में लाभप्रद हैं।

१०. जम्भीरीद्राव—जंभीरी नीबू का रस २॥ सेर, भुनी हींग २ तोले, अजवाइन, सोंठ, पीपल, वायविडङ्ग, लौंग, कलमी शोरा, छोटी हरड़ प्रत्येक ५-५ तोले, सैंधा-नमक २५ तोले और राई १० तोले लेना। इन सव औषधियों को कूटकर जंभीरी रस में डालकर एक महीने रखें, फिर काम में लें। १ तोला भोजन के वाद जल में मिलाकर लेवें।

—आर्य भिषक्

११. शङ्खद्राव—शुद्ध शङ्ख चूर्ण, सुहागा, फिटकरी, जंवाखार, सज्जीखार, नौसादर, पांचों नमक प्रत्येक को समभाग लेकर एकत्र चूर्ण कर लें। अव इस चूर्ण को कपड़ मिट्टी की हुई कांच की शीशीं में आधे भाग तक भर दें और चूल्हे पर रख इसके मुख में एक तिरछी कांच की नली फिट करके इस नली का दूसरा भाग एक दूसरी शीशी के मुख पर अच्छी तरह जोड़ दें और इस दूसरी शीशी को किसी जलयुक्त पात्र में रख दें। अव पहले की द्रवयुक्त शीशी के नीचे मन्द-मन्द अग्नि जलायें जिसमें द्रव्य पिघल कर वाष्प रूप उड़ कर पुनः जलरूप में दूसरी शीशी में सञ्चित हो जाय। भोजन के वाद १ बूंद शङ्खद्राव को पर्याप्त जल में मिलाकर सेवन करें।

—रस तरङ्गिणी

१२. टिंचर जिंजर (शुण्ठ्यर्क) १० बूंद; टिंचर केनिविससेटिवा (भंगार्क) ३ बूंद, टिंचर नक्सवामिका (कुचीलार्क) ३ बूंद, टिंचर केप्सिकम (अरुणमरिचार्क) ३ बूंद, टिंचर कार्डमम (एलार्क) १० बूंद, स्प्रिट क्लोरोफार्म १० बूंद, हाइड्रोक्लोरिक एसिड ३ बूंद, जल १ औंस मिलाकर सेवन करने से भी लाभ होता है। इसे भोजनोत्तर सेवन करें।

१३. डाइजीन टेवलेट (वूट्स), प्रोस्टिग्मीन टेवलेट (रोशे), सिप्लाजाइम (सिपला), अल्ट्राकार्व (ई० मर्क) आदि टेवलेट तथा जेग्लूसिस, यूपेन्टाइन (रेप्टाकोस), गैस्ट्रोलोन (स्टैण्डर्ड) आदि पेय भी एलोपैथिक औषधि रूप में सेवन किये जाते हैं।
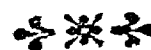
प्रत्याध्मान

विमुक्त पार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम् ।
प्रत्याध्मानं विजानीयात् कफव्याकुलितानिम् ॥

—सुश्रुत सू. १/८६

प्रत्याध्मान में आध्मान के ही लक्षण पाये जाते हैं किन्तु वे आमाशय तक ही सीमित रहते हैं। इसे आमाशयिक आध्मान (Gastric tympanitis) भी कह सकते हैं। जठरान्त मुद्रिकाद्वार के संकोच के कारण तथा आमाशयिक विस्फार के कारण यह प्रत्याध्मान होता है। प्रत्येक व्याधि में कोई स्रोतस अवश्य दुष्ट होता है। इस स्रोतोदुष्टि के ४ लक्षण बतलाये गये हैं। अति प्रवृत्ति, संग, शिराग्रन्थि एवं विमार्गगमन। प्रत्याध्मान में सङ्ग प्रकार की स्रोतोदुष्टि होती है।

आयुर्वेद के मत से आमाशय में निम्नांकित दोष प्रकार रहकर अपना कार्य करते है—

१. समान वात—अग्निसंधुक्षण
२, पाचकपित्त—अन्नपाचन, रुचि, अग्निदीप्ति
३. क्लेदक कफ अन्नसंघात क्लेदन

आमाशयस्थ वायु की दुष्टि का कारण अजीर्ण है। अजीर्ण मन्दाग्निजन्य है और मन्दाग्नि का कारण कफवृद्धि होता है। इसी वृद्धि के कारण समानवायु अपनी कोष्ठस्थ क्रियाओं के सम्पादन में असमर्थ होने के कारण रोगोत्पादक बन जाता है। समानवायु की विकृति वायु एवं कफवर्धक आहार विहार से होती है। प्रत्याध्मान कफावृत वायविकृति ही है।

आमाशय का दाहिना द्वार मुद्रिका द्वार कहलाता है जिसमें संकोच से प्रत्याध्मान उत्पन्न होता है। यह विकृति चिरकारी प्रदाह, व्रण, अर्बुद आदि के कारण होती है। यह प्रत्याध्मान का चिरकारी प्रदाह है। जो प्रत्याध्मान आमाशय के विस्तार के कारण होता है। यह रोग की तीव्र स्थिति होती है। आमाशयिक विस्तार को ही आमाशयिक प्रतान भी कहते हैं। यह विस्तार उपर्युक्त मुद्रिका द्वार के अवरोध से भी संभव है तथा आमाशय की पेशियों की अशक्तता के कारण भी संभव है। उदर के शल्यकर्मों के बाद संज्ञाहर द्रव्यों के दुष्प्रभाव से मेरुदण्ड, मस्तक अथवा शाखाओं में जोरदार अभिघात लगने से एवं फुफ्फुस खण्ड प्रदाह जैसे तीव्र उपसर्गों से कभी कभी आमाशय अत्यधिक प्रसारित हो जाता है। उदर में भारीपन, तनाव, पीड़ा, अरुचि, वमन आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। आमाशय की विदग्धता से आमविष के लक्षण उत्पन्न होकर जीर्ण आमाशय शोथ उत्पन्न हो जाता है। वमन की निरन्तरता से शरीर में जल की कमी हो जाती है। रोगी की जिह्वा सूखने लगती है।

चिकित्सा—

प्रत्याध्मान कफावृत वातजनित रोग होने से वमन अत्यावश्यक है। कहा गया है—

क्फावृते कफघ्नी तु मारुतस्यानुलोमनी ।
स्वेदा निरूहास्तीक्ष्णञ्च वमनं च विरेचनम् ॥—चरक

प्रत्याध्माने तु वमनं लङ्घनं दीपनं तथा । —चक्रदत्त

आमाशयगत वात में वमन का विधान निर्दिष्ट है—

आमाशयगते वाते छर्दयित्वा यथाक्रमम् । —सुश्रुत

आमाशयगतं मत्वा कफं वमनमाचरेत् । —चरक

वमन के लिये मदनफल चूर्ण ६ ग्रा., सैन्धव लवण ५० ग्रा' उष्णोदक में घोलकर प्रातः दूध पिलावें। सुश्रुत संहिता में वर्णित वचादिगण भी स्निग्ध मधुरादि गुणों द्वारा कफवर्धन कर उत्क्लेश करता है। वमन हो जाने पर ३-४ घण्टों तक कोई भी खाद्य पदार्थ न दें। भोजनकाल में मुद्गयूप को पंचकोल द्वारा संस्कृत कर साठी चावलों के साथ दें। अधिक विकृति में लंघन परमौषध है। लघु भोजन से शरीर में लघुत्व की उत्पत्ति होती है और लङ्घन वही है जो शरीर में लघुता (हल्कापन) उत्पन्न करे—'लंघनं यत् लाघवाय देहस्य'। दीपन कर्म

हेतु महर्षि सुश्रुत ने षड्धरण योग का निर्देश किया है—

चित्रकेन्द्रयवे पाठा कटुकातिविषाभया ।
वातव्याधि प्रशमनो योगः षड्धरणः स्मृतः ॥

इसे ४-५ ग्राम की मात्रा में सात दिनों तक सुखाम्बु से सेवन करना चाहिए । स्नेहन बस्ति का प्रयोग भी हितावह है ।

१. अभ्रक भस्म उष्ण गुण के कारण कफ को शोषित कर कफघ्न क्रिया करती है एवं वायु का शमन करती है । मुक्ता स्वर्णमाक्षिकादि भी श्लेष्मोद्रेचन कराकर कफ प्रवृत्ति बढ़ाकर कफनिःसारक बनते हैं । अतः भैषज्य रत्नावली आमाशय रोगाधिकार में वर्णित त्रिपुर सुन्दर रस का प्रयोग हितावह है ।

निर्माण विधि—रस सिन्दूर, अभ्रक भस्म, स्वर्ण माक्षिक भस्म, मौक्तिक भस्म, स्वर्ण भस्म सभी बराबर लेकर घृत कुमारी के स्वरस में सात बार मिलाकर १-१ रत्ती की गोलियां बनालें । इस गोली में २ रत्ती शङ्ख भस्म मिलाकर पिप्पल्यादि क्वाथ अथवा गरम जल से सेवन करायें ।

२. शिवामृत—त्रिफला चूर्ण ३० ग्रा., अजवाइन छोटी का चूर्ण ३० ग्रा. समुद्र लवण (मैग सल्फ) ३०० ग्रा. । मिलाकर ४ से ६ ग्रा. तक प्रातः उष्णोदक से दें ।

३. अजवाइन, मेंथी, कालानमक प्रत्येक २-२ ग्रा. जल में खूब औटाकर छानकर पिलाने से शीघ्र आराम होता है । लहसुन, हींग, जौ, सरसों का तैल आदि इसमें हितकारी हैं । रोगी को अंकुरित धान्य अधिक लाभ पहुँचाते हैं । मांस, चावल, दाल आदि प्रोटीनयुक्त खाद्य पदार्थ अपथ्य हैं ।

४. तेजोवत्यादि घृत—चव्य, बड़ी हरड़, कूट, छोटी पीपल, कुटकी, अजवाइन, पोहकरमूल, ढाक के बीज, चीते की जड़, कचूर, काला नमक, आंवला, सैंधानमक, बेल का गूदा, तालीश पत्र, जीवन्ती, वच १-१ तोला, हींग ३ माशा लेकर कल्क करें । ६४ तोला घृत तथा घृत से चौगुना जल मिलाकर घृत सिद्ध करें । ६ ग्राम से १२ ग्राम तक सेवन करते रहने से प्रत्याध्मान मिटेगा।

५. सर्वतोभद्र रस, क्रव्याद रस, लीलाविलास रस, सूतशेखर रस, रामबाण रस, प्रवाल पंचामृत, धात्री लौह, ताप्यादि लौह, पिप्पल्यादि लौह, लोकनाथ रस, अग्नि तुण्डीवटी, विड्लवणादि वटी, संजीवनी वटी, महाशङ्ख वटी, प्रवाल भस्म, ताम्र भस्म, पन्ना भस्म, नाग भस्म, शङ्ख भस्म, कपर्द भस्म, अमृतासत्व, मण्डूर भस्म, अभयारिष्ट, कुमार्यासव, अश्वगन्धारिष्ट, द्राक्षारिष्ट, हिंग्वाष्टक चूर्ण, हिंगुद्विरुत्तरादि चूर्ण, शिवाक्षार पाचन चूर्ण आदि शास्त्रीय प्रयोग हितावह हैं ।

६. गुग्गुलु वटी—नीम के फल की गूदी, शुद्ध हींग, सोंठ का चूर्ण, छिला हुआ लहसुन प्रत्येक १-१ भाग लेवें। पहले निम्ब फल की गूदी, लहसुन और हींग को एक में खूब घोट लें । फिर शुद्ध गुग्गुलु और सोंठ के चूर्ण को मिलाकर घोटकर १-१ माशा की १-१ गोली रात्रि में सोते समय उष्णोदक से सेवन करें । —चिकित्सादर्श

७. एलवा, टङ्कण, हींग, काला नमक, एरण्ड बीज, एरण्ड पत्र इन सबको समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें । इसे बैंगन के स्वरस में मिलाकर गरम कर लेप करने से प्रत्याध्मान दूर होता है ।

८. औषधि व्यवस्था—प्रातः सायं सर्वतोभद्र रस १२५ मि. ग्रा., धात्री लौह २५० मि. ग्रा., अग्नितुण्डी वटी २५० मि. ग्रा. । १×२ मात्रा--गोली दुग्ध २५० मि.ली.में ५ मि.ली.. चूर्णोदक मिलाकर सेवन करें ।

भोजन के मध्य में हिंग्वाष्टक चूर्ण ३ ग्रा. घृत में मिलाकर सेवन करें ।

भोजन के बाद अभयारिष्ट २० मि. ली. समान जल मिलाकर सेवन करें । रात्रि में सोते समय गुग्गुलु वटी १ गोली उष्णोदक अथवा अविपत्तिकर चूर्ण ३ ग्राम +नारिकेल लवण १ ग्राम उष्णोदक से सेवन करें ।

९. व्रण, कैंसर आदि कारणों से प्रत्याध्मान होने पर मूल रोग का उपचार करें ।

१०. प्रोस्टिग्मीन (रोशे), मैथीर्ड्रीन (बरोज वेल्कम) न्यायरेनोन (आर्गेनन) आदि ऐलोपैथिक टेबलेट प्रत्याध्मान को दूर करती हैं ।

★ वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य ★

अष्ठीला प्रत्यष्ठीला

वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य

वात व्याधि निदान में वर्णित अष्ठीला एवं मूत्राघात निदान में वर्णित अष्ठीला वस्तुतः पृथक् हैं। मूत्राघात वर्णित अष्ठीला चल है किन्तु वात व्याधि वर्णित अष्ठीला 'संचारी यदि वाऽचलः' है। वात व्याधि में वर्णित अष्ठीला को वाताष्ठीला कहकर इससे पार्थक्य दर्शाया गया है। मूत्राघात में वर्णित अष्ठीला वाताष्ठीला की भांति होने के कारण इसे भी अष्ठीला ही नाम दिया है। इसे मधुकोपकार ने स्पष्ट किया है—'अष्ठीलातुल्यत्वादष्ठीला, सा च वातव्याधावुक्ता' (मूत्राघात निदान)।

अष्ठीला और प्रत्यष्ठीला में विशेष अन्तर नहीं है। उदर में स्थिति के अनुसार इस व्याधि को दो नाम दिये गये हैं। अनुप्रस्थ (ऊर्ध्वाधः दिशा में) ग्रन्थि को वाताष्ठीला तथा तिरछी (Oblique) ग्रन्थि को प्रत्यष्ठीला कहा गया है। तिरछी होने से यह अधिक पीड़ा करती है। मलमूत्रावरोध एवं तज्जन्य वेदना अष्ठीला की अपेक्षा प्रत्यष्ठीला में अधिक होती है। यह ही इनमें सामान्य भेद है। सुश्रुत एवं माधवकर ने वर्णित किया है—

नाभेरधस्तात्संजातः संचारी यदि वाऽचलः।
अष्ठीलावद्घनो ग्रन्थिरूर्ध्वमायत उन्नतः।
वाताष्ठीलां विजानीयाद्बहिर्मार्गावरोधिनीम्॥

अष्ठीला

प्रत्यष्ठीला

एतामेव रुजोपेतं वातविण्मूत्ररोधिनीम् ।
प्रत्यष्ठीलामिति वदेज्जठरे तिर्यगुत्थितम् ॥
अष्ठीला उत्तरापथे वर्तुलः पाषाणविशेषः ।

—जेज्जट, कार्तिक

वस्तुतः शिलापुत्र (सिलके वटने या लोढ़े) को भी अष्ठीला कहते हैं । सुतरां उदरस्थित इसके आकार की गाँठ को ही अष्ठीला नाम दिया गया है । यदि मूत्राशय अधिक फूलता है तो अनुप्रस्थ उभार होता है और यदि मलाशय अधिक फूलता है तो तिरछा उभार उत्पन्न होता है । चरक संहिता में वर्णित रक्तग्रन्थि एवं सुश्रुत संहिता में वर्णित मूत्र ग्रन्थि को ही पाश्चात्य चिकित्सक पौरुष ग्रंथि वृद्धि कहते हैं । इससे भी मल मूत्रावरोध होकर मूत्राशय एवं मलाशय फूलते हैं । कई विद्वान इस पौरुष-ग्रंथि वृद्धि को ही अष्ठीला मानते हैं किन्तु यह व्याधि के केवल एक ही प्रकार का बोधक है । वस्तुतः गुदा और मूत्रमार्ग की संकोचनी पेशियों के स्तम्भिक संकोच (Spasmodic stricture of the Anal and Renal Sphinters) को ही अष्ठीला व प्रत्यष्ठीला कहना समुचित है । परिणामतः इसे वातव्याधि कहना भी उपयुक्त है ।

संकोचिनी पेशियों का स्तम्भिक संकोच, स्तंभिक अधरांगघात, अश्मरी, अर्बुद, व्रण आदि के द्वारा प्रक्षोभ होने से होता है । पौरुषग्रंथि वृद्धि एण्ड्रोजन की न्यूनता से होती है । इसके अतिरिक्त मूत्रनली का प्रदाह, मूत्राशय अश्मरी, आमवात, उष्णवात आदि कारणों से भी पौरुष ग्रंथि की वृद्धि हो जाती है । यह विकृति प्रायः वृद्धावस्था में होती है । कैथेटर के अनुचित प्रयोग से भी यह विकार संभव है । संप्रति ५० वर्ष की आयु से अधिक आयु वाले पुरुषों में ३०प्रतिशत यह रोग उपलब्ध होताहै ।

चिकित्सा—

अष्ठीलाप्रत्यष्ठीलयोर्गुल्माभ्यन्तरविद्रधिवत् क्रिया विभाग इति । —सुश्रुत ५/२५

इसमें स्वेदन, लेप, उपनाह लाभप्रद हैं । कोष्ठबद्धता निवारणार्थ सस्नेह विरेचन उपयुक्त है । निम्मांङ्कित औषधियों का प्रयोग लाभदायक है—

१. शुण्ठी, हींग, अजवाइन, हरीतकी और विडङ्ग के क्वाथ में एरण्ड स्नेह मिलाकर पिलाना चाहिए ।

२. हरीतकी, कुलथी, लशुन, एरण्डमूल के क्वाथ में यव क्षार मिलाकर रोगी को पिलाने से भी अष्ठीला प्रत्यष्ठीला रोग का शमन होता है ।

३. दशमूल क्वाथ में यवक्षार तथा सैंधव अष्ठीला-हर तथा दशमूल क्वाथ में एरण्ड स्नेह प्रत्यष्ठीलाहर है।

४. शोभाञ्जन शतमूलिका चित्रक विल्व करंज ।
सैंधवयुत इस क्वाथ से हो अष्ठीला भंग ॥

५. योगराज गुग्गुलु महारास्नादि क्वाथ से लें ।

६. चन्द्रप्रभावटी वरुणादिगण क्वाथ से सेवन करें ।

७. हींग १ भाग, अजवाइन २ भाग, विडङ्ग ३ भाग, शुण्ठी ४ भाग, जीरा ५ भाग, हरीतकी ६ भाग, चित्रकमूल ७ भाग, कूठ ८ भाग इन सबका चूर्ण कर ३-४ ग्राम उष्णोदक से सेवन करें ।

८. तिलमूल, शोभांजनमूल, ब्रह्मदण्डी मूल, मुलहठी और त्रिकटु का चूर्ण भी लाभप्रद है ।

९. अजमोदादि वटक (भै. र.) कांकायन वटी या वज्र गुग्गुलु त्रिफला क्वाथ से सेवन करें ।

१०. गदनिग्रह में उक्त कुमार्यासव, चविकासव, हरीतक्यासव एवं विडङ्गासव आदि आसव इस रोग में अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होते हैं ।

११. चरक संहिता के गुल्म चिकित्सा प्रकरण में वर्णित त्र्यूषणादि घृत (दशमूल युक्त), हिंगु सौर्वचलादि घृत एवं हपुषादि घृत भी लाभदायक है ।

१२. श्री कस्तूरे जी का यह योग भी अत्यन्त लाभ-प्रद सिद्ध हुआ है—बाल हरीतकी चूर्ण १६ भाग, शुद्ध तुत्थ १ भाग निम्बु रस की ७ भावना देकर रख लें । मात्रा २ से ४ रत्ती तक । अनुपान मधु ।

१३. पौरुष ग्रंथि की वृद्धिजन्य अष्ठीला में नाग भस्म, वङ्ग भस्म, शिलाजीत, गोक्षुरादि गुग्गुलु, मधु, शर्करायुक्त दशमूल क्वाथ से दें । आधुनिक चिकित्सक पौरुष हार्मोन टेस्टोस्टेरोन देते हैं । शस्त्र साध्य होने पर शल्य क्रिया की जाती है । इसकी चार विधियां हैं—

सुप्राप्यूबिक प्रोस्टेटेक्टोमी (अधिजघनग्रंथि उच्छेद), रिट्रोप्यूबिक (पश्चजघन ग्रंथि उच्छेद), पैरीनियल (मूला-धानीय) ट्रान्सयूरेथ्रल (मूत्र मार्ग में होकर)

१३. अष्ठीला के अन्य मूल कारणों के निवारण से यह भी नष्ट हो जाती है। कवोष्ण जल का स्वेदन करें ।

श्री नारायणप्रसाद खाण्डल वैद्य प्रभारी
राजकीय आयुर्वेदिक औषधालय, धनेरिया जिला पाली (राज.)

स्पृहाशून्य, शुद्ध और धृतिधर चिकित्सकों में अग्रगी श्री नारायण प्रसाद जी ने इस विशेषांक हेतु लेख प्रेषित कर अपने लेखन का श्रीगणेश किया है खल्ली विषयक लेख अपने विषय पर उत्तम प्रकाश डालने वाला है। लेखक की कतिपय विशेषतायें----

सौम्य भाव छाये सदा, किन्तु न मन अवसाद।
मधुर मृदुल व्यवहारयुत, नारायण प्रसाद ॥

---वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिष.

पैर, पिण्डली, जांघ और कलाई में ऐंठन उत्पन्न करने वाले रोग को खल्ली कहा गया है। आचार्य हारीत ने तीव्र पीड़ायुक्त विश्वाची और गृध्रसी को खल्ली माना है किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि चरक ने इसका पृथक् पाठ किया है। यह एक प्रकार का पीड़ायुक्त उद्वेष्टन (Cramp) है। पैर के मूल, जंघामूल, उरुमूल तथा हस्तमूल में होता है। यह एक स्नायुगत वातव्याधि है। भगवान चरक ने कहा है—

स वाह्याभ्यन्तरायामं खल्लीं कौवज्यमथापि वा।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात्स्नायुगतोऽनिलः॥

सामान्यतया वेदनायें तीन प्रकार की होती हैं—

(१) सामान्य वेदना या त्वगीय वेदना

(२) गम्भीर वेदना—इसमें मांसपेशियों—स्नायु-सन्धियों व मलायतनों की वेदनायें सम्मिलित हैं।

(३) कोष्ठीय क्षेत्रीय—वेदना।

खल्ली में गंभीर प्रकार की वेदना होती है। पीड़ा युक्त उद्वेष्टन नाड़ी विकृतिजन्य होता है। पेशियों के तीव्र आकुंचन अथवा संकोच को उद्वेष्टन कहा जाता है। मांसपेशियों को पर्याप्त रस रक्त ओषजन न मिल पाने से प्रबल आकुंचन होने से तीव्र शूल की उत्पत्ति होती है। विशूचिका में भी अपधातु की न्यूनता से उक्त प्रकार की खल्ली उत्पन्न होती है।

चिकित्सा—

१. खल्ली में स्निग्ध अम्ल और लवण रस वाले द्रव्यों की पोट्टली या क्वाथ चूर्ण या उद्वर्तन (कल्क) बना कर स्वेदन करना, मर्दन करना, उपनाह लाभप्रद हैं। तैल व घृत मिलाकर कृशरा, पायस आदि का उपनाह मर्दन उत्तम है। कूठ, सेंधानमक के कल्क में चूक या सिरस का और तिल का तेल मिलाकर गर्मकर मर्दन करना भी हितकर है। प्रसारणी तैल या नारायण तैल का अभ्यङ्ग भी हितावह है।

२. २५ ग्राम दशमूल लेकर उसके यथा विधि बनाए कषाय की बस्ति प्रथम दिवस देकर दूसरे दिन २५ मि.ली. नारायण तैल की बस्ति देवें। यह क्रम २-३ वार करे।

३. योगराज गुग्गुलु १ ग्राम की मात्रा से दिन में तीन वार रास्नादि क्वाथ के अनुपान से सेवन करे।

४. पंचामृत लोह गुग्गुलु ५०० मि. ग्रा. दिन में दो वार मेथी, असगन्ध, एरण्डमूल, सोंठ और कडुवे सुरंजान के क्वाथ से नियमित १०-१५ दिन देवें।

५. अश्वगन्धा चूर्ण ५ ग्राम+रससिंदूर २५० मि. ग्रा. दशमूल क्वाथ से देवें।

६. स्वर्णसिंदूर १२५ मि. ग्रा.+नवजीवन रस २५० मि. ग्रा. योगराज गुग्गुलु १ ग्राम। १×३ बलारिष्ट से देवें।

७. काली हरड, बहेडा आमला, तेजपत्र, भांगरा, पंवाड़ के बीज गिलोय सत्व प्रत्येक १-१ पाव लेकर कूट कपड़छन चूर्ण कर फिर दो पाव पुराने गुड़ की चासनी कर उसमें उक्त चूर्ण मिलाकर ३-३ माशे के मोदक बना

—शेषांश पृष्ठ ३६० पर देखें।

नामकरण—मूढवात, प्रतिलोमवात, ऊर्ध्ववात, प्रति लोम वाष्प। आयुर्वेदीय नामों की अपेक्षा 'गैस" नाम से सभी व्यक्ति परिचित हैं। यह शब्द योगरूढी बन चुका है। इस लेख में भी "गैस" नाम का प्रयोग होगा।

गैस की उत्पत्ति व उपद्रव—

सर्व प्रथम गैस की उत्पत्ति में निम्न कारण हैं—

(१) मिथ्याहार विहार से उत्पन्न आम अजीर्ण व विषमाग्नि। मलमूत्र अपानवायु आदि शारीरिक वेगों के रोकने से विकृत वायु।

(२) देश, काल और अन्न पान के अतियोग, अयोग व मिथ्या योग से उत्पन्न मन्दाग्नि के कारण जठरगत अन्नपान का सड़ना।

(३) काम क्रोध लोभ मद मोह आदि मानसिक रोगों से अभिभूत जाठराग्नि की विषमता एवं स्वकार्याक्षमता।

(४) प्रज्ञापराध, त्रिविध तापविपाक तथा पूर्वकृत अशुभ कर्मो का परिणाम का दुष्प्रभाव आत्मा व मन पर पड़ने से पाचक संस्थान, वात संस्थान आदि देह यन्त्रों की कार्यशीलता की शिथिलता अथवा विषमता होना।

(५) यूरिया आदि वैज्ञानिक खादों से भूमि की कृत्रिम उर्वरा शक्ति बढ़ाकर थोड़े समय में अन्नक्षुपों की परिवृद्धि और वातप्रधान अन्नों की आकार व भारवृद्धि।

गैस का स्वरूप व कार्य—

उक्त पाँच गैस उत्पत्ति के कारणों में सभी प्रकार के हेतुओं का समावेश हो जाता है। उदरस्थ विकृत प्रतिलोम वात पेट में भारीपन, गुड़गुड़ाहट, आनाह, आध्मान, अपान वायु का साफ़ न होना, आमजशूल, ऐंठन, परिकर्तिका, हृदय का भारीपन, मलावरोध, वात व पुरीष का शुद्ध न होना, मूत्राल्पता, मूत्राशय में पीड़ा, आचन व अजीर्ण[1] उत्पन्न करता है। मन्दाग्नि व विषमाग्नि भी पूर्वोक्त कारणों से होती है।

गैसों की निम्नगति—

गैसों की निम्नगति होने पर वंक्षणों में पीड़ा, गुरुता उरुद्वय में पीड़ा व अवसाद, घुटनों में दर्द अकड़न, पिण्डलियों में पीड़ा व भड़कन, टकनों व एड़ियों में पीड़ा व टीसन, भारीपन और स्तब्धता हो जाती है।

उक्त लक्षणों का प्रादुर्भाव, पेट में आम का संचय तथा शारीरिक वेगों के रोकने से होता है, वेगावरोध से तात्पर्य वायु के द्वारा संचारित स्वमार्ग प्रवृत्त मल-मूत्र-आदि को बलात् रोकता है। शरीरस्थ वायु भिन्न-भिन्न मार्गों में प्रवृत्त दोषों को बलात् बाहर फेंकती है। यदि आप उस वायुवेग को हठात् रोकते हैं तो रुकी हुई दूषित गैस बनकर नाना रोगों को उत्पन्न करती है।

ऊर्ध्वगति, यथा—लश्कर (ग्वालियर) से एक सरदार जी अपनी चिकित्सा कराने मेरे पास आये थे, उनको ऊर्ध्ववात (गैस) का इतना प्रकोप था कि उनके आंखों के डेले और पुतलियां अपने स्थान से बाहर निकल आते तथा बड़ा कष्ट देते थे। गैसनाशक औषधों, बाह्य उपायों से बड़ी देर में ठीक होते थे। उन्हें गैसों को अनुलोम[2] करने वाली दवाओं के सेवन से लाभ हुआ।

ऐसी ही भिन्न २ कारणों से विकृत हुई गैसें देह के विभिन्न भागों को स्फुरणशील व स्तब्ध कर देती हैं।

पृष्ठ भाग गत दूषित गैस—

जब कभी ऊर्ध्ववात (गैस) का दबाव पीठ व कमर की ओर होता है तब कमर में पीठ में दर्द अकड़न, भारीपन सूचीविद्ध वत् पीड़ा, पृष्ठ कशेरुकाओ व ग्रीवा कशेरु-

---

(1) अ—अनात्मवन्तः पशुवद्भुंजते येऽप्रभावतः। रोगानीकस्यते मूलमजीर्णप्राप्नुवन्ति हि॥ भावप्रकाश नि०॥
ब—प्रायेणाहार वैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम्॥ भाव०॥
स—ग्लानि गौरव विष्टम्भभ्रममारुत मूढताः। विबन्धो वा प्रवृत्तिर्वा सामान्याजीर्णलक्षणम्॥ भावप्रकाश॥

(2) पानानि बस्तयश्चैव शस्तो वातानुलोमनम्॥ चरक सू० ७ अ०

काओं में वेदना, कभी मेरुदण्ड में अकड़न व शूल उत्पन्न होता है। ऐसे रोगी पलङ्ग पर लेटे रहना पसन्द करते हैं। चलने फिरने में कष्ट व थकान हो जाती है।

उरःस्थल पर गैसों का दबाव—

कारण विशेषों से प्रकुपित गैस छाती फेफड़े, हृदय स्कन्धभाग, पसलियों व फेफड़ों में पीड़ा करती है। कन्धे दर्द करते व अकड़ जाते हैं, पसलियों में भारीपन व दर्द होता है, दिल की धड़कन बढ़ जाती है, श्वास-प्रश्वास में तीव्रता आ जाती है।

शिरो भाग पर गैस का दबाव—

जब दूषित गैसों का शिर पर दबाव पड़ता है तो ज्ञानेन्द्रियां भारी, शून्य व स्पन्दन करने लगती हैं। शिर में शंख प्रदेशों और ललाट में वेदना होने लगती हैं। केशों को छूने से पीड़ा होती है, मन्याओं में अकड़न हो जाती है। आंखों में दाह भी होने लगता है।

अन्य देह यन्त्रों पर प्रभाव—

यकृत्संस्थान, महा प्राचीरापेशी, वृक्कद्वय, मूत्राशय, हृदय, दोनों फेफड़ों, शिराओं धमनियों, मांस पेशियों स्नायुओं, नाड़ियों, दोनों मस्तिष्कों, सुषुम्ना काण्ड आदि में भी दूषित गैसों का प्रभाव पड़ता है जिससे यन्त्रों की कार्यक्षमता[1] न्यून हो जाती है शरीर में स्तब्धता शून्यता उत्पन्न होजाती है देह में आलस्य, स्फूर्तिका अभाव, अस्वस्थता प्रतीत होती है। मस्तिष्कगत गैसों के प्रभाव से विक्षेप, विस्मृति, भ्रांति व विक्षिप्त चित्तता उत्पन्न होती है।

मूढवात (गैस) की चिकित्सा—

जिन कारणों से रोग उत्पन्न हुआ है "निदान परिवर्जनम्" के सिद्धांत को चिकित्सा का सूत्र स्वीकरते हुए मिथ्या आहार विहार से उत्पन्न आम दोष तथा अजीर्ण और विषमाग्नि को ठीक करने के लिए नियमित और नियन्त्रित अन्नपान का सेवन व विधिपूर्वक परिश्रम, भ्रमण तथा अन्य चेष्टाओं को आयुर्वेद विधान के अनुसार करे।

उत्पन्नरोगों के लिए—उदर में संचित आम व मल को शनैः-२ प्रवाहित करे।

(क) भुनी हुई छोटी हरड़ का चूर्ण ३ माशे से ६ माशे तक १ माशे कालानमक मिलाकर कदुष्ण जल से सेवन करे, प्रातः अथवा रात्रि में एक बार १ सप्ताह सेवन करें।

(ख) गूदा अमलतास नया २॥ तोले, सौंफ नई १ तोला, सनाय मकई ३ माशे निशोथ सफेद ३ माशे, गुलाब के फूल ३ माशे, मुनक्का काले ७ नग, मिश्री १॥ तोला इनको आधासेर पानी में औटा पाव भर शेष रहने पर प्रातः पीवें। इससे आंतों में सञ्चित आम तथा पुराना मल निकलेगा। इस क्वाथ को कम से कम तीन दिन और अधिक से अधिक सात दिन पीना चाहिए। प्रातः एक बार पीना चाहिए। पथ्य—खिचड़ी दलिया आदि।

(ग) साधारणरूप में त्रिफला चूर्ण, निसोत चूर्ण, सौंफ सनाय चूर्ण थोड़ा नमक मिलाकर ६ माशे कभी-कभी पानी के साथ लेने से पेट में आम व मल का संचय नहीं होता, बड़ी हरड़ का मुरब्बा भी आम व मल भेदक है।

(घ) मल रेचक औषध का सेवन करते समय अग्निदीपन व वायु अनुलोमन के लिए 'हिंग्वाष्टक चूर्ण' १-१ चम्मच, शुद्ध घृत या नींबू का स्वरस मिलाकर दिन में दो बार लेते रहें। अदरख व सेंधा नमक भी भोजन से पूर्व खा सकते हैं।

(ङ) इन दिनों में दही, चावल, तली हुई चीजें, मिठाइयां तथा वातकारक व विष्टम्भी पदार्थ नहीं सेवन करना है। हींग, रसोन, करेला, बथुआ, मेंथी, सैंजना, लौकी, तोरई, परबल आदि हितावह है।

विशेष—वातानुलोमक औषधि शंखवटी, जमीरी सन्धान, लशुनाष्टक वटी, हिंगुवटी, आर्द्रकवटी, गन्धक वटी, लवणभास्कर चूर्ण, पिप्पल्यासव, द्राक्षारिष्ट आदि का सेवन करते रहें। पकवान गरिष्ट पदार्थों का परित्याग करना चाहिए।

—वैद्यराज डा० रणवीर सिंह शास्त्री आयु०,
एम-ए., पी. एच-डी., विद्या भास्कर, वेद व्याकरण
साहित्याचार्य, अध्यक्ष—जिला वैद्य सभा, आगरा-२

[1]—पुरीष निग्रहज वातोर्ध्वता में—

पक्वाशय शिरःशूलं वातवर्चो निरोधनम्। पिण्डिकोद्वेष्टनाध्मानं पुरीषे स्याद्विधारिते ॥चरक सं०॥

ऊर्ध्ववात

वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'

बसवराज ने अशीति वातविकारों के अन्तर्गत सर्व प्रथम ऊर्ध्ववात की गणना की है और इस व्याधि के सम्पूर्ण लक्षणों को व्यक्त किया है—

उपरोधो मलं बद्धमुच्छवासः श्वासकासकौ ।
अन्नं क्षीणं च मन्दाग्निरूर्ध्ववातस्य लक्षणम् ।।

विदग्धाजीर्ण अलसक एवं पुरीषजोदावर्त के लक्षणों में निर्दिष्ट अम्लोद्गार अपानवायुजन्य विकृति है। यह ऊर्ध्ववात प्राणवायुजन्य है। वस्तुतः वायु के इन पंच भेदों में भी प्राण एवं अपान ही मुख्य है। वैदिक साहित्य में भी वायु के मुख्यतया दो भेद ही किये गये हैं—य इमौ वातौ वातः आसिन्धोरापरावतः (ऋग्वेद)। उद्गार बाहुल्य ऊर्ध्ववात का एक विशिष्ट लक्षण है किन्तु इसके साथ बसवराजीयम् में निर्दिष्ट लक्षण भी दृष्टिगोचर होने लगते हैं—

१. उपरोधो—उपरोध का तात्पर्य आवरण, रोक, प्रतिबन्ध है। उद्गार बाहुल्य होने पर भी उरः प्रदेश में रुकावट सी मालूम होती है। यह विकृत प्राणवायुजन्य है।

२. मलं बद्धम्—अन्न पर मन्दाग्नि के कारण पूर्ण प्रतिक्रिया नही हो पाती जिससे विद्यमान मल को वायु शुष्क कर रोक देती है।

३. उच्छवास—उद्गार के साथ इसमें भी वृद्धि हो जाती है।

४. श्वास—कफपूर्वक प्राणविकृति
५. कास—उदानानुगत प्रदुष्ट प्राणविकृति
६. अन्नं क्षीणम्—अग्नि विकृति
७. मन्दाग्नि—कफ विकृति

आमाशय में क्लेदक कफ की अधिकता के कारण अम्लरस का प्रभाव नहीं हो पाता। मधुरता कफ का प्रधान गुण है और 'माधुर्यमन्नं गतमामसंज्ञम्' कहा गया है। यह आम भी ऊर्ध्ववात को उत्पन्न करने में कारणभूत बनता है।

प्रसृत सामवात का विमार्गगमन प्रमुख लक्षण है। जो प्राण भोजन को उदर तक पहुँचाती है वही साम होकर विमार्गगमन करती है तब उद्गार बाहुल्य होता है। यही ऊर्ध्ववात के नाम से जाना जाता है।

अति लङ्घन से भी वायु प्रकुपित होकर ऊर्ध्ववात को उत्पन्न करता है (चरक सू० २२/३७)। इस प्रकरण की व्याख्या में चरक चतुरानन चक्रपाणि ने कहा है कि—'ऊर्ध्वेकाये वात ऊर्ध्ववातः'। इसकी विशद व्याख्या करते हुए श्री शिवदास सेन ने कहा है कि—ऊर्ध्वकाय में वात व्याप्ति को ही यहां ऊर्ध्ववात कहा गया है जो हिक्का, श्वास, कर्णनाद, जृम्भा आदि रोगों को उत्पन्न करता है। क्योंकि लङ्घन से तो कफ का क्षय होता है और अत्युद्गारस्वरूप ऊर्ध्ववात अवरोधकफ से उत्पन्न होता है सुतरां लङ्घन से कफक्षय होता है जबकि ऊर्ध्ववात कफप्रकोपजन्य रोग है।

१. इस रोग की चिकित्सा में कफघ्न एवं वातानुलोमन उपचार लाभप्रद है। दीपन-पाचन द्रव्य इस रोग में हितावह हैं। पिप्पली, पिप्पली मूल, चित्रक, यवानी, जीरा धनियां सौंफ तेजपत्र भारङ्गी अतिविषा भल्लातक भांग सैंधानमक सौवर्चल नमक लवङ्ग सुगन्धवाला नागरमोथा सम्भालू बीज गंभारी बृहती (बड़ी भटकटैया) बिल्व (आम) नीबू वास्तूक यवानीशाक पटोलपत्र पटोलफल आदि हितावह हैं।

२. पिप्पली कृष्णजीरक तथा मत्स्याक्षी का समभाग चूर्ण हितकारी है।

३. इसी प्रकार चतुर्बीज चूर्ण समभाग लेकर ३ ग्रा. की मात्रा में उष्णजल से सेवन करें—

मेथिका चन्द्रशूरश्च कालाजाजी यवानिका।
एतच्चातुष्टयं युक्तं चातुर्बीजमिति स्मृतम् ।।
तच्चूर्णं भक्षितं नित्यं निहंति पवनामयम् ।।

४. लशुन को श्लेष्मच्छेदन तथा वातभेदनोत्तम् कहा गया है तथा च आवरणों में लशुन का प्रयोग लाभप्रद है।

५. चित्रक सैंधव हरीतकी हिंगु विधारा सोंठ।

ऊर्ध्ववात आमय हरे इन द्रव्यों का क्षोद ।।

चित्रक सैन्धव १०-१० ग्रा. हरड़ ३० ग्रा. भुनी हींग ४० ग्रा. विधारा सोंठ १००-१०० ग्रा. इन द्रव्यों का चूर्ण वनाकर ४-५ ग्राम की मात्रा में सेवन करें ।

६. शुद्ध हिंगु अरु गुग्गुलु चित्रक शुण्ठि रसोन ।
ऊर्ध्ववातहर योग यह मिश्रित सैन्धव लोन ।।

इन छः द्रव्यों का समभाग चूर्ण १-२ ग्रा. की मात्रा से सेवन करें ।

७. त्रिवृत् मूल सावित दुग्ध में वासास्वरस मिलाकर पीने से भी लाभ होता है ।

८. सोंठ कालानमक एवं वड़ी हरड़ तीनों १००-१०० ग्रा. लेकर उसमें हींग (भृष्ट) १० ग्रा. मिलाकर रख लें । २-३ ग्रा. चूर्ण सुखोष्ण जल से दें ।

९. जीरक हिंगु यवानिका सैंधव मिसि शशिसूर ।
यवक्षार सोरक करे ऊर्ध्ववात को दूर ।।

१०. वातानुलोमनार्थ यह प्रयोग हितकारी है । सोंठ सौंफ कालानमक छोटी हरड़ प्रत्येक १०-१० ग्रा. सनाय ४० ग्रा. । इन द्रव्यों को कूट पीसकर ४-५ ग्रा. की मात्रा में रात्रि में सोते समय उष्ण जल से सेवन करें ।

११. कुमारिका स्वरस कागजी नीबू स्वरस आर्द्रक स्वरस तीनों १००-१०० मिली. में २० ग्रा. सैंधानमक मिला रखलें । भोजन के वाद १५ मिली. की मात्रा में समान जल मिलाकर सेवन करें ।

१२. सोंठ २५ ग्राम अजवाइन २५ ग्राम में नीबू का रस इतना डालें कि वे भली प्रकार भीग जांय । फिर छाया में सुखाकर वारीक पीसकर थोड़ा नमक मिलाकर रख लें और प्रयोग में लावें ।

१३. घृतकुमारी ५०० ग्रा. लेकर उसे छीलकर छोटे छोटे टुकड़े कर लें । उसमें कालीमिर्च सौंफ १०-१० ग्रा. त्रिफला अजवाइन और काला नमक का कपड़छन चूर्ण मिलाकर कांच या मिट्टी के वर्तन में १५ दिनों तक धूप में रख दें । इसके पश्चात् प्रतिदिन २ टुकड़े गरम जल से भोजन के वाद सेवन किया जाय तो कफ का शमन होकर वातानुलोमन होगा ।

१४. सुश्रुतोक्त (सू० ३८/२२) पिप्पल्यादि गण की औषधियों का प्रयोग भी लाभप्रद है क्योंकि यह गण कफहर वातानुलोमन दीपन-पाचन तथा आम पाचन है अतः यह श्रेष्ठ रोगहर प्रयोग है ।

१५. पुदीना को 'अरोच वैरस्ययकृद्वमिक्रिमिप्रभंजन-श्लेष्मगदप्रभंजनः' कहा गया है सुतरां इसके स्वरस में या अर्क में जीरा काला नमक और हींग मिलाकर सेवन करें ।

१६. पं० राजेश्वर दत्त जी शास्त्री द्वारा निर्दिष्ट अनुलोमन चूर्ण भी लाभकारी है—

एरण्ड तैल में भुनी छोटी हरड़ तवे पर अधकचरी भुनी सौंफ प्रत्येक २ भाग और तवे पर भुनी सोंठ १ भाग । सवको एक में कूटकर चूर्ण वनावें । मात्रा १ ग्रा. गौघृत २० ग्रा. ।

१७. मयूर पङ्ख का चंदोवा, वड़ी इलायची (डोंडा) की भस्म शङ्ख भस्म २-२ तो. हरड़ वहेड़ा आंवला पीपल लोह भस्म प्रवाल भस्म १-१ तो. । सवको यथाविधि पीस लें । मात्रा—४ रत्ती से १ माशा तक शहद से प्रातः सायं या आवश्यकतानुसार ।

गुण—यह योग हिक्का और अत्युद्गार (ऊर्ध्ववात) दोनों के वेग को शमन कर देता है ।

—वैद्य श्री सुन्दरलाल जी वैद्य भूषण
(धन्वन्तरि गुप्तसिद्ध प्रयोगाङ्क भाग ४, १९५८)

वाह्य प्रयोगार्थ स्नेहन स्वेदन के विविध योग लाभप्रद हो सकते हैं—

स्वेदाभ्यंगैः कटुक्षारैः स्नेहैर्वा भोजनैर्घृतैः ।
तैलैः रसौषधैर्द्रव्यैर्मारुतं नाशयेद्भिषक् ।।

कफावृत वात में स्वेदन विरेचन तीक्ष्ण वमन निरूह वस्ति आदि उपक्रम तथा यव पुरातन घृत तिल सरसों का तैल पथ्यरूपेण लाभदायक हैं ।

वसवराज ने वातारि रस नामक एक ऊर्ध्ववात हर रस का उल्लेख किया है । यह ऊर्ध्ववात में अत्यन्त उपयोगी है—

क्रमोत्तरगुणं शुद्धं रसं गन्धं फलत्रयम् ।
चित्रकं गुग्गलुं मर्द्य पञ्चैरण्डकतोलकैः ।।
पुन्नागं [illegible] देवदारुसुचूर्णकम् ।

एतत्पूर्वौ पथसमं मर्दयेद्यामंमात्रकम् ।
कर्षं खादेत्पिबेत्क्वाथं नागरैरण्डमूलजम् ॥

यद्यपि रस की यह मात्रा अधिक है। इसे अनुकूल मात्रा में सेवन करें। सोंठ तथा एरण्डमूल क्वाथ का अनुपान उत्तम है जो कफवात शामक है। अन्य उपाय जो कहे गये हैं---

अभ्यंगैरण्डतैलेन पृष्ठे स्वेदं हि कारयेत् ।
विरेचनं भवेत्तेन स्निग्धमुष्णं च भोजयेत् ॥
रसो वातारिनामायमूर्ध्ववातं च नाशयेत् ॥

प्रवाल, शङ्ख, कपर्द आदि सुधाघटित योग शनैः शनैः क्रिया करते हैं किन्तु स्थिर एवं मूलगामी होते हैं। वायु को ये साम्यावस्था में लाते हैं। विरेचन द्रव्यों के संयोग से पाचन संस्थान के विकारों में विशेषतया विबन्धजात विकारों में ये योग अधिक लाभप्रद हैं। इन द्रव्यों का समवेतयोग प्रवाल पञ्चामृत के नाम से विख्यात है। यह ऊर्ध्ववात में गुणकारी है। भैषज्य रत्नावलीकार ने इसे 'अजीर्णमुद्गारहृदामयघ्नं' कहा है।

इस योग में मुक्ता भस्म, शङ्ख भस्म, शुक्ति भस्म तथा कपर्द भस्म १-१ भाग तथा प्रवाल भस्म २ भाग ली जाती है। द्विगुण प्रवाल होने से इस योग का नाम प्रवाल पञ्चामृत है। २ रत्ती की मात्रा में इसे प्रतिदिन दो बार सेवन करें। इस योग को मधु, सिता+निम्बु-स्वरस अथवा गोघृत के साथ सेवन करें।

इसके अतिरिक्त निम्नांकित शास्त्रीय प्रयोग भी यथावश्यक लाभप्रद हो सकते हैं—

१. क्रव्यादि रस [रसेन्द्रसार सं.] २५० मिग्रा. १ मात्रा
२. अग्निकुमार रस [र.र. समु०] ,, ,,
३. रामबाण रस [रसेन्द्रसार सं०] ,, ,,
४. अग्निसंदीपन रस [भै०र०] ,, ,,
५. संजीवनी वटी [शा०संहिता] २ गोली ,,
६. लशुनादि वटी [वैद्य जीवन] ,, ,,
७. चित्रक वटी [चरक संहिता] २ गोली १ मात्रा
८. गन्धक वटी [र०रा० सुन्दर] २ गोली १ मात्रा
९. अर्क वटी [भै०मणिमाला] २ गोली १ मात्रा
१०. जंबीरलवण वटी [सि०यो०संग्रह] २ गोली १ मात्रा
११. अग्नितुण्डी वटी [शा०संहिता] २ गोली १ मात्रा
१२. हिंग्वादि वटी [भै०र०] २ गोली १ मात्रा
१३. पानीयभक्त वटी [र०सा०सं०] २ गोली १ मात्रा
१४. शङ्ख वटी [भै०र०] २ गोली १ मात्रा
१५. सामुद्रादि चूर्ण [योगरत्नाकर] ३ ग्रा. १ मात्रा
१६. हिंग्वाष्टक चूर्ण [चक्रदत्त] ३ ग्रा. १ मात्रा
१७. लवण भास्कर चूर्ण [शा०संहिता] ३ ग्रा. १ मात्रा
१८. यवानीखाण्डव चूर्ण [चक्रदत्त] ३ ग्रा. १ मात्रा
१९. अष्टांग लवण [चक्रदत्त] १-२ ग्रा. १ मात्रा
२०. अभयारिष्ट [चरक संग्रह] २० मिली० १ मात्रा
२१. जीरकाद्यारिष्ट [भै०र०] २० मिली० १ मात्रा
२२. द्राक्षासव [भै०र०] २० मिली० १ मात्रा
२३. मृतसंजीवनी सुरा [भै०र०] २० मिली० १ मात्रा
२४. अग्निकर घृत [यो०र०] ५-१० ग्रा. १ मात्रा
२५. स्थिरादि घृत [चरक संहिता] ५-१० ग्रा. १ मात्रा
२६. दशमूल घृत [यो०र०] ५-१० ग्रा. १ मात्रा

औषधि व्यवस्था—

प्रातः सायं—प्रवाल पञ्चामृत अग्नितुण्डी वटी २५०-२५० मिग्रा. दशमूल घृत ५ ग्रा. १×२।

कृष्णा+जीरक+नागर+एरण्डमूल क्वाथ

भोजन के पूर्व में—हिंग्वाष्टक चूर्ण ३ ग्रा. १×२

पुरातन गोघृत के साथ

भोजन के बाद—अभयारिष्ट २० मिली. द्राक्षासव १० मिली. १×२। समान जल मिलाकर तत्पश्चात् लशुनादि वटी २-३ सेवन करें।

सोते समय—पञ्चसकार चूर्ण ३ ग्रा. उष्ण जल से अथवा एरण्ड तैल+त्रिवृत चूर्ण (अधिक मलावरोध में)

गैस रोग परिचय एवं उपचार

वैद्य दरबारी लाल आयु० भिषक्
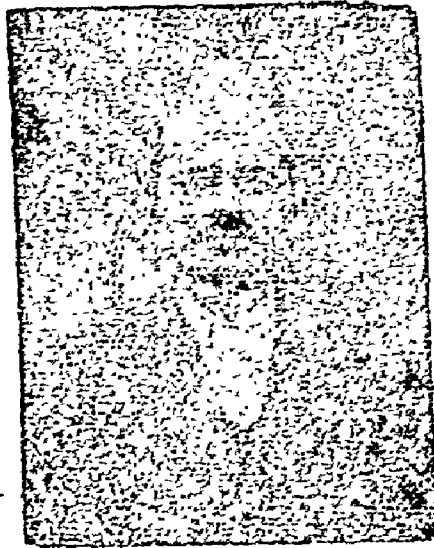
जो व्यक्ति विषमाग्नि से पीडित रहते हैं उन्हें यह गैस रोग घेर लेता है। आध्मान उदावर्त उदरशूल जठरगौरव (पेट का भारीपन) तथा अन्य कूजन आदि लक्षण वातकृत ही हैं। कहा भी गया है—"विषमो वातजान् रोगान्"। फिर गैस रोग को वात रोगों के अन्तर्गत क्यों न लिया जाय? महर्षि सुश्रुत ने तो वातव्याधिनिदान प्रकरण में आध्मान प्रत्याध्मान का वर्णन किया ही है। आयुर्वेद समाज के जाने माने विद्वान वैद्य श्री दरबारी लाल जी ने इसी रोग पर सपरिचय उपचार लिखकर भेजा है। आप मूल विषय को स्पष्ट समझाने में एवं सामान्य चिकित्सोपयोगी सामग्री प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त हैं। आपने गैसरोग को उदर रोग का ही भेद समझा है। प्राणाग्न्यपान संदूष्य दोष उदर रोगों को उत्पन्न करते हैं। अम्लपित्त के प्रकरण में कथित आचार्य कश्यप का यह वाक्य महत्वपूर्ण है जो प्रायः सभी व्याधियों का नियमनोपाय कहा जा सकता है—

युक्ताहारविहारस्य युक्त व्यायामसेविनः। भुक्तकोऽयमलोलस्य शाम्यत्यात्मवातः सतः॥

अधिक मात्रा में, हींग इमली प्याज, चाय, काफी, मक्खन या जडवाली सब्जियां, सूखी मछली, मांस, गरम मसाला लालमिर्च, आम की खटाई, सरसों का तेल पूड़ी परांठे कचौड़ी आदि घी तेल में तली हुई गरिष्ठ वस्तुयें, अधिक पान खाने अधिक तम्बाकू खाने अधिक बीड़ी सिगरेट पीने से पित्त बढ़कर पेट तथा छाती में और कंठ में जलन पैदा करता है। जिससे खट्टी कड़वी डकार सडांयद व अधपचे आहार के स्वाद का अनुभव होता है। पेट में वायु अधिक बनने लगती है। यह वायु (गैस) पेट में रुककर पेट में भरीपन उदरशूल चक्कर आदि शिकायतें पैदा करती हैं। यही गैस दिमाग छाती व हृदय की ओर जाकर सिर में चक्कर दिल में धड़कन छाती में जलन आदि पैदा करती है। अपान वायु नीचे की ओर न जाकर पेट में ही चक्कर काटती है। यह सब रोग गैस ही से पैदा होते हैं।

गैस रोग का मुख्य कारण मंदाग्नि और अजीर्ण है। जो लोग खाने पीने में संयम नहीं रखते हैं उन्हीं को यह बीमारी हो जाती है। मन्दाग्नि रोग होने पर फिर उससे अनेक रोग पैदा होते हैं। जैसाकि प्रसिद्ध ग्रन्थ योग रत्नाकर में लिखा है कि—

रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणितु।
अजीर्णान्मलिनैश्चान्नैर्जायन्ते मल संचयात्॥

जिसका अर्थ यह है कि सभी रोग मन्दाग्नि से उत्पन्न होते हैं। विशेष कर उदर रोग तो मन्दाग्नि से ही होते हैं तथा अजीर्ण से, मलीन अन्नों के खाने से तथा मल के संचय से उदर रोग होते हैं।

गैस रोग को भी उदर रोगों के एक भेद के रूप में ही समझना चाहिये। गैस के रोगियों में अधिकांश रोगी ऐसे मिलेंगे जिनके यकृत में शोथ होगा और इसलिये उनको गैस की शिकायत परेशान करती रहती है। यकृत

शोथ (जिगर की सूजन) दूर होने पर गैस की शिकायत अपने आप मिट जाती है। हमारे पास गैस के रोगी जो आते हैं उनके पेट की परीक्षा करने पर लगभग सभी रोगियों में यकृतशोथ पाया जाता है। उनके यकृत के शोथ का तथा गैस का इलाज करने से बिल्कुल ठीक हो जाते हैं। यकृत शोथ की परीक्षा के लिये रोगी को चित्त (पृष्ठ के बल) लिटाकर यकृत के स्थान पर अंगुली से दबायें। यदि दबाने से रोगी दर्द अनुभव करे तो समझ लेना चाहिये कि यकृत में शोथ (जिगर की सूजन) है।

यकृत में शोथ क्यों होता हैं? इसका विवेरण नीचे दे रहा हूँ ताकि इनसे बचा जाय। यकृत में शोथ होने का कारण तीव्र, अधिक गरिष्ट एवं चरपरा भोजन मद्य (शराव) का अधिक सेवन, आलसी स्वभाव अर्थात शारीरिक परिश्रम न करना, असात्म्य भोजन, मन्द ज्वर, मलेरिया (विपम ज्वर, शीत ज्वर) होने से, भारी अन्न सेवन करने से, अध्यशन (भोजन पर भोजन करने) से यकृत में शोथ हो जाता है। प्रवाहिका, अजीर्ण, मलवद्धता आदि भी इस रोग को उत्पन्न करने में कारण होते हैं। मलेरिया की जलवायु वाले देशों में प्रायः सभी रोगियों में यकृत शोथ पाया जाता है।

चिकित्सा—

गैस के रोगी जिनको यकृत शोथ भी हो उनको निम्न प्रकार दवायें दी जांय जिससे वे निश्चित रूप से बहुत शीघ्र ठीक हो जायेंगे। ये दवायें सैकड़ों रोगियों पर प्रयोग कर चुका हूँ। कभी फेल नहीं होतीं सबको लाभ पहुँचाती हैं—

१. पुनर्नवादि मंडूर १ गोली आरोग्यवर्द्धनी वटी १ गोली दोनों को मिलाकर प्रातः काल निहार मुँह पानी से दें और इसी प्रकार शाम को दें।

२. भोजन के बाद दोपहर शाम को लवणभास्कर चूर्ण १ माशा हिंग्वष्टक चूर्ण १ माशा सोड़ाबाई कार्ब (खाने वाला सोड़ा) ३ रत्ती, नौसादर पिसा हुआ २ रत्ती सबको मिला लें। यह एक खुराक हुई। ऐसी एक खुराक दोनों समय भोजन के बाद पानी से लें।

३. यदि साथ में उदर में या छाती में या कंठ में जलन भी पड़ती हो तो नीचे लिखी दवा विदग्धारि ४-४ रत्ती शर्वत अनार में दिन में ३ वार चटायें तो जलन दो ही दिन में शांत हो जायेगी।

विदग्धारि इस प्रकार बनायें—प्रवालपिष्टी, मुक्ताशुक्ति पिष्टी, शंख भस्म कपर्द भस्म शुक्ति टंकण सत गिलोय, गेरू चूर्ण सबको समान भाग मिला लें। बस विदग्धारि तैयार होगई।

४. यदि रोगी को वमन (उलटी, कै) भी हो तो उसको अर्क सौंफ १ तो. शर्वत अनार ६ मा. अमृतधारा ५ बूंद मिलाकर पिलावें। वमन फौरन वन्द होगी।

५. यदि रोगी को मलवद्धता भी हो तो उसको पंचसकार चूर्ण १० ग्राम गरम जल से रात को सोते समय दें। इससे प्रातःकाल एक दो दस्त साफ आकर मलवद्धता नष्ट हो जायेगी।

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित शास्त्रोक्त दवायें भी इस रोग में लाभप्रद प्रमाणित हुई हैं—

चित्रकादि वटी—मात्रा २ से ४ गोली तक जल के साथ भोजन के बाद लें। आमाशय के बिगड़ जाने पर अन्न ठीक से हजम नहीं होता है। आंव मिला हुआ कच्चा मल दस्त के साथ निकलता हो (यदि इसकी दवा की जाय तो आगे चलकर संग्रहणी हो जाती है) तो जल के साथ सुबह शाम उस वटी का सेवन करने से अग्नि प्रदीप्त हो जाती है और भूख खुलकर लगती है। भोजन का परिपाक ठीक होने लगता है जिससे आंव का बनना बिल्कुल बन्द हो जाता है, पाचनशक्ति ठीक हो जाती है। आंव पाचन के लिये यह सर्वोत्तम लाभदायक है। पेट में गैस का प्रकोप होने पर उदरशूल, विबन्ध, अफारा आदि कष्ट हो जाते हैं, उनमें इस वटी के सेवन से शीघ्र लाभ होता है।

लशुनादि वटी—मात्रा १ से ४ गोली भोजन के बाद गरम जल से लें।

गुण और उपयोग—यह गैस की उत्तम दवा है। इसके सेवन से मन्दाग्नि, उदर वायु (गैस), पेट-दर्द आदि शीघ्र ठीक हो जाते हैं। यह जठराग्नि को बढ़ाने वाली, पाचक तथा गैसनाशक है। अपचन, वि

★ वैद्य दरबारीलाल आयु०

आदि मंदाग्नि मूलक रोगों में वहुत फायदा करती है। अजीर्ण के कारण जब पेट में वायु (गैस) भर जाती है जिससे डकारें आने लगती हैं। ऐसी दशा में यह वटी वहुत उपयोगी है। यह वायु को पचाकर डकारों को बन्द करती है। पेट में वायु कुपित होकर ऊर्ध्वगति हो जाती है जिसे लोग वायगोला कहते हैं। दिमागी काम करने वालों को यह शिकायत वहुत होती है। इसमें जी मिचलाना, शिर भारी रहना, दिल धड़कना चक्कर आना, खट्टी कड़वी डकारें आना पेट फूलना (अफरा) आदि कष्ट होते हैं। इस वटी के प्रयोग से ऊर्ध्ववात शमन होकर सभी कष्ट मिट जाते हैं।

गंधक वटी (राजवटी)—मात्रा १-१ गोली भोजन के बाद गरम जल से सेवन करें।

गुण और उपयोग—यह वटी दीपक पाचक व स्वादिष्ट है। अजीर्ण रोग में वहुत लाभ करती है। अन्न अच्छी तरह पचता है और दस्त भी साफ आता है। अरुचि अजीर्ण उदरशूल गैस पीड़ा, आंव, मलवद्धता खून खराबी अम्लपित्त आदि रोगों में यह वटी वहुत लाभ करती है। इससे भोजन अच्छी तरह पचता और भूख खुलकर लगती है। इसके सेवन से किसी देश के जल का बुरा प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ता है। हैजा में भी यह लाभ करती है।

पथ्यापथ्य—इस रोग में पथ्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए। मात्रा में कम शीघ्रपाकी और ताजा खाना खाना चाहिए। गेहूं की रोटी मूंग, अरहर की दाल नींबू संतरा मुसम्मी पपीता अंगूर सेव नासपाती आदि लें। मूली वथुआ लें। गरिष्ठ भोजन से वचें। पूड़ी कचौड़ी पराठे घी तेल में तली चीजें नहीं खानी चाहिये। मिठाई भी नहीं खानी चाहिए। उपवास करना, दही खिचड़ी खाना लाभकारी है।

—वैद्य दरवारी लाल आयु. भिषक्,
अशोक-भैषज्य भवन, फतेहगढ़ (फर्रुखावाद)

खल्ली :: पृष्ठ २८२ का शेषांश

लेवें। २ मोदक वटक जल के साथ २ माह तक सेवन करने से सम्पूर्ण वातरोग नष्ट होते हैं। ५ माह तक सेवन करने से पलित रोग दूर होता है। —काकचण्डीश्वर

८. कुलिजन और सैंधानमक के चूर्ण को तैल में मिलाकर मन्दोष्ण कर मर्दन करने से खल्ली में लाभ होता है। —वनौषधि विशेषांक भाग २ (धन्वन्तरि)

९. सेहुण्ड के कोमल काण्ड या शाखा के टुकड़ों से पुटपाक विधि से निकाले स्वरस में समभाग तिल तैल सिद्धकर मर्दन करने से भी लाभ होता है।

—धन्वन्तरि वनौषधि विशेषांक भाग ३

१०. चूका, कूठ, अफीम १-१ ग्रा. को १० ग्रा. तिल तैल में मिलाकर मन्दाग्निसे पाक करें। जब तैल में फेन उत्पन्न हो जाय तो उतार कर छान लें। इसके अभ्यङ्ग से अत्यन्त लाभ होता है। —सि.भै. मणिमाला

११. दालचीनी, तेजपात, रास्ना, अगर, सहिजन की छाल, कूठ, वच, सौंफ के कल्क द्वारा सिद्ध किये गये तैल के अभ्यङ्ग से भी यही लाभ होता है। —चक्रदत्त

१२. बबूल की छाल, रास्ना, गिलोय, शतावरी, सोंठ, सौंफ, असगन्ध, हाऊवेर, विधारा, यमानी, अजमोद चूर्ण को समीरदावानल क्वाथ (यो.र.) से अथवा उष्ण जल से सेवन करना हितावह है। —भैषज्य रत्नावली

१३. माजून कुचला—शुद्ध कुचला १२ तो., गुले गावजवान ८ तो., छोटी इलायची, कपूर, शकाकुल, सफेद चन्दन, आंवला दल, वड़ी हर्र का दल प्रत्येक ४-४ तोला, अगर, लौंग २-२ तो., मग्ज चिलगोजा, मग्ज नारियल, मग्ज भिलावा तीनों ६-६ तो., नागरमोथा २ तो., शुद्ध वच्छनाग १ तो., काली मिर्च, असगंध २-२ तो. चोपचीनी ८ तो., सुरंजान कड़ुवा ६ तो. जायफल २ तो., जावित्री २ तो., अकरकरा ४ तो.। इन सवका कपड़छन चूर्ण तथा अभ्रक भस्म, लोह भस्म २-२ तो. और शुद्ध संखिया १॥ माशा ले, सवको तीन गुने शहद में मिलाकर कांच की वरनी में भर कर रख लें। उचित मात्रानुसार दूध से दें। —सिद्धयोग संग्रह

—श्री नारायणप्रसाद खाण्डल वैद्य प्रभारी
राजकीय आयुर्वेद औष०,
धनेरिया (पाली) राज०
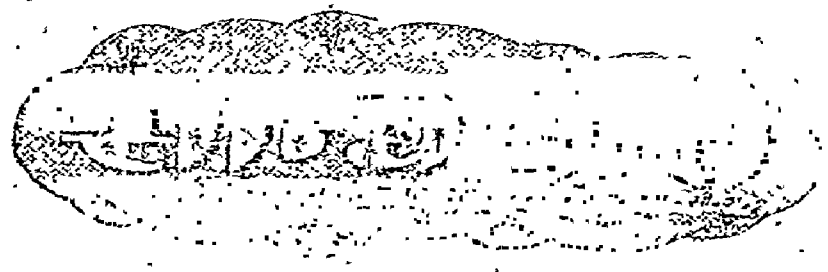
अपने कार्य एवं दायित्व के प्रति पूर्णतः समर्पित सुयोग्य लेखक श्री सत्यनारायण जी पाण्डेय ने मेरे आग्रह पर यह लेख भेजकर एक गौरवपूर्ण परम्परा में सम्मिलित होकर हमें उपकृत किया है। आपने सन्धिवात पर उपयोगी लेख प्रेषित किया है जिसमें है सन्धिवात–आमवात का भेद, आयुर्वेदिक चिकित्सा, यूनानी चिकित्सा एवं आधुनिक चिकित्सा। सहज में ही पाठक इस लेख से इनकी विद्वता का अङ्कन कर लेंगे।

—वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य।

हन्ति सन्धिगतः सन्धीञ्छूलशोथौ करोति च ॥

भावप्रकाश में वर्णन है कि सन्धिगत वात सन्धियों का विश्लेषण कर देता है तथा शूल एवं शोथ उत्पन्न करता है।

चरक संहिता में भी वर्णन है कि —

वातपूर्णदृति स्पर्शः शोथः सन्धिगतेऽनिले।
प्रसारणाकुञ्चनयोः प्रवृत्तिश्च सवेदना ॥

अर्थात् जब वायु प्रकुपित होकर सन्धियों में आश्रित होती है तब सन्धियों में स्पर्श से वातपूर्ण गति के समान अनुभव होता है तथा अङ्गों के प्रसारण आकुञ्चन की प्रवृत्ति में पीड़ा होती है अथवा अङ्गों का प्रसारण या आकुञ्चन नहीं हो पाता है। इस प्रकार सन्धिवात में कुपित वायु सन्धियों में शूल, तनाव एवं शोथ उत्पन्न करता है।

महामहोपाध्याय श्री गणनाथ सेन सरस्वती ने सन्धिवात के पांच भेद किये हैं—१. रसवात (आमवात) २. रक्तवात ३. विषवात ४. जीर्णवात ५. जरावात। वस्तुतः सन्धिवात एक वात रोग है और आमवात साम वात रोग। आधुनिक विद्वान् भी केवल सन्धिगत विकारों को सन्धिवात (Arthritis) और साम सन्धिवात को आमवात (Sino-arthritis) कहते हैं। आयुर्वेद मनीषी श्री यदुनन्दन जी उपाध्याय ने श्री महामहोपाध्याय जी के मत का खण्डन करते हुये लिखा है कि आमवात का 'रस वात' नाम उपयुक्त नहीं है क्योंकि शुद्ध रस से विकारोत्पत्ति नहीं होती और दूषित रस को ही आम कहते हैं अतः प्राचीन प्रचलित आमवात शब्द के रहते रसवात शब्द की कल्पना व्यर्थ है। आमवात में अभ्यङ्ग करने से पीड़ा बढ़ती है किन्तु सन्धिवात में अभ्यङ्ग करने से लाभ होता है। इस उपशयात्मक निदान पद्धति से रोग का निर्णय कर लेना उपयुक्त है। वातरक्त में वात एवं रक्त प्रकुपित होते हैं।

पुरुषों की अपेक्षा यह रोग स्त्रियों में अधिक होता है। स्त्रियों में भी बहुप्रसूता को यह प्रायः होता है। यह सामान्य एवं संक्रमित भेद से दो प्रकार का है। यह सन्धियों की एक जीर्ण व्याधि है जिसमें सन्धियों की कोमलावस्था और झिल्लियां निकृष्ट या नष्ट हो जाती हैं। कोमलास्थियां शुष्क होकर अस्थियों का रूप धारण कर लेती हैं जिसके फलस्वरूप सन्धियां कठिन और विकृत हो जाती हैं। आमवात में सन्धियां इस प्रकार विकृत नहीं होतीं। आमवात औपसर्गिक मेहजन्य भी होता है एवं तीव्र आमवात में तीव्र ज्वर, स्वेदाधिक्य (अम्लगन्धी) होता है। सन्धिवात में बड़ी बड़ी सन्धियां ही आक्रान्त होती हैं। वात रक्त प्रायः वंशज होता है जो धनाढ्यों किंवा विलासी व्यक्तियों को होता है। वातरक्त में सन्धियों के अन्दर यूरेट्स जम जाते हैं जो सन्धिवात में बिल्कुल नहीं होते।

सन्धि के इतस्ततः कोमल तन्तु शोथमय हो जाते हैं। यह शोथ आगे चलकर सन्धिकोष को प्रभावित करता है। कालान्तर में वहां की तरुणास्थि भी शोथमय हो जाती है। परिणामतः वे जुड़ जाती हैं और सन्धि अचल बन जाती हैं।

पूर्व में हाथ-पांव की सन्धियां प्रभावित होती हैं। इसके पश्चात् कलाई, टखना, कोहनी, घुटना, कन्धा, वंक्षण और हनुसन्धियां प्रभावित होती हैं। इस रोग में यह विशेषता है कि जब कोई सन्धि प्रभावित होती है तो दोनों ओर की सन्धियां प्रभावित होती हैं। सन्धिशोथ एवं सन्धिशूल इस व्याधि का प्रमुख लक्षण है।

✱ श्री सत्यनारायण पाण्डेय एम. ए. आयुर्वेदाचार्य, वैद्याचार्य ✱

पीड़ा-रात को अधिक बढ़ जाती है। व्याधि के प्रारम्भ में सन्धि पीड़ा एवं शोथ प्रारम्भ हो जाते हैं। कई रोगियों में पहले दुर्बलता, थकावट, विवर्णता, स्पर्श असहिष्णुता, अत्यधिक स्वेद, हृदयगति में वृद्धि एवं रक्ताल्पता आदि लक्षण प्रकट होते हैं। कुछ रोगियों में ये लक्षण बाद में उत्पन्न होते हैं। यह रोग यदि बच्चों को होता है तो कष्टसाध्य होता है।

चिकित्सा—

कुर्यात्सन्धिगते वाते दाहस्नेहोपनाहनम्।

इस व्याधि में स्नेहन स्वेदन का विशेष महत्व है। सैन्धवादि तैल, विषगर्भ तैल आदि अभ्यङ्गार्थ हितकर है। सन्धियां पोस्त के डोंडों के क्वाथ से या सम्भालू के पत्तों के क्वाथ से स्वेदित कर वे ही पत्ते गर्म कर ऊपर से बांध देना चाहिए। रोग की तीव्रावस्था में रोगी को आराम से लिटाये रखना चाहिये। शनैः शनैः सन्धि में चेष्टा करते रहें। विद्युत चिकित्सा भी लाभप्रद है।

स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी नियमों का उचित रूप से पालन करना अनिवार्य है। रोगी एवं विशेषतया आक्रांत स्थान को शीत से बचाना चाहिए। ऐसे रोगी को जांगल देश में रहना हितावह है। रोगी को पथ्य पौष्टिक किन्तु सुपाच्य दें। विटामिन बी और सी वाला भोजन अधिक लाभप्रद है। क्षीण रोगी को दूध, घी, मक्खन-मलाई दें। ध्यान रहे कि रोगी को विबन्ध न होने पाये। निम्नाङ्कित औषधियां कार्य में लावें—

(१) इन्द्रायण मूल तथा पिप्पली को गुड़ में मिला १ तोले की मात्रा में खाने से सन्धिवात नष्ट होता है।

(२) एरण्ड की जड़, देवदारु, गिलोय और सोंठ इनका क्वाथ बनाकर पीने से सन्धिपीड़ा दूर होती है।

(३) सौंफ, देवदारु, वच, रास्ना, हरड़, सोंठ, एरण्ड की जड़, नागरमोथा, अतीस, शतावरी, वासा, गिलोय, धमासा इनका क्वाथ कर खांड मिलाकर पीयें।

(४) योगराज गुग्गुलु या महायोगराज गुग्गुलु या सिंहनाद गुग्गुलु २-२ गोली दूध के साथ किंवा निर्गुण्डी पत्र स्वरस+मधु किंवा उष्णोदक से दिन में २-३ बार दें।

(५) वृहद् वातचिन्तामणि रस १०० मिग्रा.+समीर पन्नग १०० मिग्रा.+आरोग्यवर्द्धनी वटी २५० मिग्रा. १×३ मात्रा पुनर्नवादि क्वाथ से देते रहने से शूल-शोथ मिटकर रोग में शान्ति होती है।

(६) वृहद् वातगजांकुश १०० मिग्रा.+रसराज रस १०० मिग्रा.+शुण्ठी चूर्ण २५० मिग्रा. १×३—मधु से।

(७) रससिन्दूर १०० मिग्रा., शु. कुपीलु ५० मिग्रा. +पुनर्नवामण्डूर २५० मिग्रा. १×३—दशमूलक्वाथ से।

(८) अग्नितुण्डी वटी २५० मिग्रा.+मण्डूर भस्म २५० मिग्रा.—रजत भस्म ५० मिग्रा. १×३ मात्रा मधुयुक्त रास्ना सप्तक क्वाथ से देवें। साथ में ही तर्पणार्थ भोजनोत्तर द्राक्षासव भी देते रहें। सात दिन बाद औषधि १ दिन बन्द कर पुनः प्रारम्भ करें। उष्णकाल में कुपीलु या कुपीलु के योग न देवें।

(९) यह यूनानी माजून भी इस रोग में अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होता है—

बुरादा चोपचोनी ५ तोला, सुरंजानशीरी २ तोला, गुल सुर्ख, गुलगावजवान, बादरजवोया प्रत्येक १-१ तोला, पोस्त हलेला काबली, पोस्त हलेला जर्द, निशोथ सफेद प्रत्येक ६-६ मांशा सबको कूट छान शहद में मिला रख लेवें। मात्रा ६ माशा रात को सोते समय।

(१०) एलोपैथिक चिकित्सा में एतदर्थ मायोक्राईसीन मांसगत इन्जेक्शन देते हैं तथा एसगेपाइरिन, ब्यूटाजालिडीन, सिनकोफान गोलियां दी जाती हैं। साथ में ही विटामिन बी12 का प्रयोग भी किया जाता है। मायोक्रासीन से मूत्र में एल्ब्यूमिन आने का भय रहता है अतः यह औषधि वृक्करोगों में नहीं देते तथा इसके प्रयोगकाल में समय समय पर मूत्र में एल्ब्यूमिन की परीक्षा करते रहें।

पोटास आयोडाइड १० ग्रेन आधे गिलास पानी में डाल करके भोजन के बाद दोनों समय देना चाहिए।

जब रोग जीर्ण हो जाय तब आक्रान्त सन्धि पर लिनिमेंट आयोडीन लगाना और सेक करना भी लाभप्रद है—

पोटास आयोडाइड ५ ग्रेन, टिन्चर ग्वायसाई एमोनिएट २० बूंद, कासकारा इवेक्यूएन्ट २० बूंद, ऐक्स्ट्रैक्ट आरसा लीक्विड १ ड्राम, एक्वा क्लोरोफार्म १ औंस तक। इस प्रकार की १-१ मात्रा दिन में दो बार दें।

—श्री सत्यनारायण पाण्डेय एम०ए०,आयु०
गिरारी, वाया राजेन्द्र ग्राम (शहडोल) म०प्र०

आमवात का विकृति विज्ञानीय अध्ययन एवं उसकी आयुर्वेदीय चिकित्सा

वैद्यराज पं० सुन्दरलाल जैन

वैद्यराज पं० श्री सुन्दरलाल जी जैन वयोवृद्ध अनुभवी विद्वान व्यक्ति हैं। आपने यह उत्तम लेख प्रेषित कर कृतार्थ किया है। सार्वजनिक किंवा व्यक्तिगत स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले तथा कथित आधुनिक सभ्यता, प्रगतिशील समाज एवं भौतिक वातावरण ने अनेकानेक व्याधियों को जन्म दिया है। भारतीय संस्कृति का आधार उसकी आध्यात्मिकता है। जब तक ऐहिक विषय भी आध्यात्मिकता से अनुस्यूत नही होंगे तब तक—— होगा ध्वंस, कराल काल विप्लव के खेल रचेगा।

प्रलय प्रकट होगा धरणी पर हाहाकार मचेगा॥ ——विशेष सम्पादक

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में व्याधि विज्ञानीय अध्ययन को विशेष महत्व दिया जाता है। इससे व्याधि विनिश्चय करने में सुगमता रहती है। इस व्याधि के विकृति विज्ञानीय अध्ययन के अनुसार सामान्यतः हाथ की अंगुलियों की पहली और दूसरी सधियों में धीरे धीरे तकुए के आकार का शोथ दिखाई देता है। संधियों में यद्यपि लालिमा दिखलाई नही पडती, किन्तु रोगी को उसमें वेदना का अनुभव होता है। इस वेदना का अनुभव विशेषतः रात्रि में या अंगुलि संचालन के समय होता है। प्रातःकाल उठने पर शोथयुक्त उन अंगुलियों की संधियों में जकड़ाहट प्रतीत होती है जिससे मुट्ठी एकदम नही खुल पाता। एक शोथयुक्त संधि का परीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि संधि के स्नायु तन्तु के सरेस सदृश्य पदार्थ में शोथ होता है। अर्थात् वहां पर रक्त के अतिमात्रा में संचित होने से संधिकोष में जल की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। जल का अधिक मात्रा में बढ़ जाना ही शोथ का ज्ञापक है। प्रारम्भिक अवस्था में यह शोथ साध्य एवं चिकित्स्य होता है। इसके पश्चात् संधि के मध्यस्थित श्लेष्म कला में शनैःशनैः रक्ताधिक्य या अधिक रक्त संचय के कारण वह प्रदेश या वहां उत्पन्न हुआ शोथ रक्त वर्ण का कुछ स्थूलता युक्त तथा कुछ उन्नत प्रवर्धनों से युक्त दिखाई लगता है। उसमें से जो श्लेष्म स्राव होता है
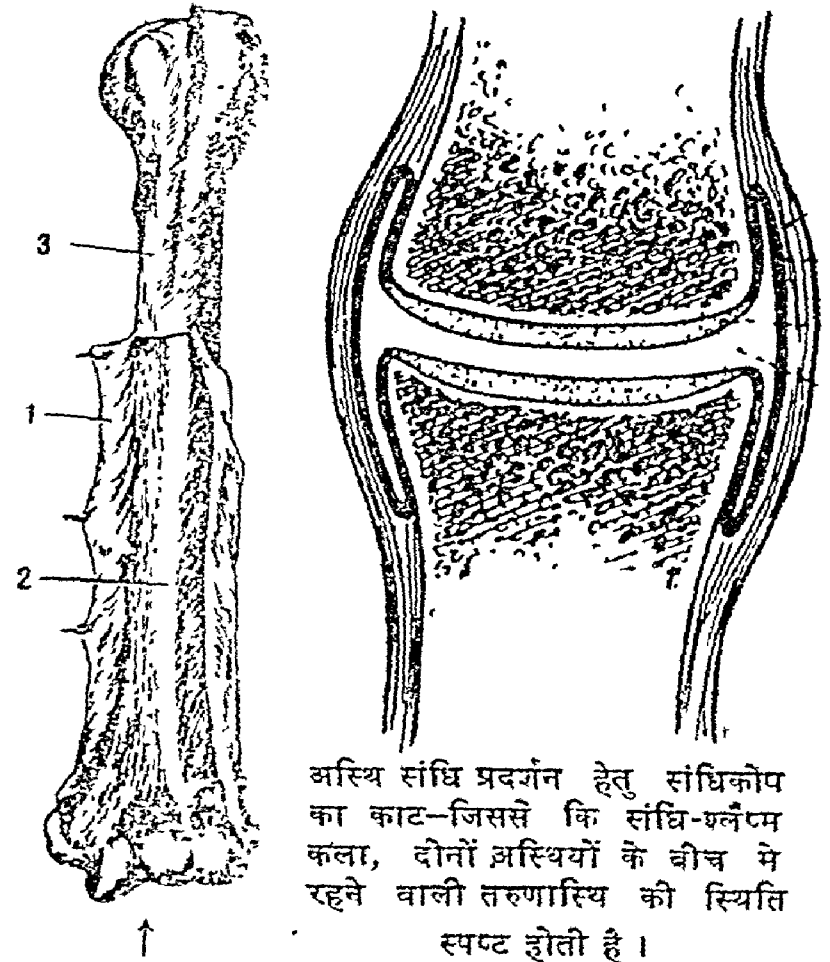
१—अस्थ्यावरण कला
२—अस्थ्यावरण कला रहित अस्थि
३—अस्थ्यावरण कला सहित अस्थि

अस्थि संधि प्रदर्शन हेतु संधिकोष का काट—जिससे कि संधि-श्लेष्म कला, दोनों अस्थियों के बीच मे रहने वाली तरुणास्थि की स्थिति स्पष्ट होती है।

उसकी मात्रा बढ़ जाती है और वह स्राव स्वस्छ एवं स्पष्ट न हो होकर धुंधला सा रहता हैं । संधिकोष का बाह्यावरण भी इसी प्रकार शोथ एवं स्थूलता युक्त दिखलाई पड़ता है ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि यह एक प्रकार का श्लैष्मिक शोथ है और श्लैष्मिक शोथ की इस प्रथम अवस्था में संधिकोप और उसके चारों के ओर अवयवों (ऊतकों तन्तुओं) में शोथ हो जाता है जिससे संधि मोटी दिखलाई पड़ती है और उसमें विशेषतः वेदना की अनुभूति होती है । तत्काल उपचार करने पर शोथ और वेदना का शमन शीघ्र हो जाता है । उपचार नहीं करने की स्थिति में जब प्रारम्भिक अवस्था के वाद संधियों में शोथ अधिक समय तक बना रहता है तो संधियों की अन्तः श्लैष्मिक कला में स्नायु तन्तु अधिकाधिक उत्पन्न हो जाता है और वृद्धि को प्राप्त होकर सम्मुख स्थित तरुणास्थियों के आभ्यन्तर पृष्ठ को भी यह तन्तु आवृत कर देता है । इससे तरुणास्थियों के पृष्ठ कुछ क्षत हुए से लगते हैं। इसके परिणामस्वरूप वे तरुणास्थियां धीरे-धीरे क्षीण होने लगती हैं । अभिप्राय यह हैं कि उन तरुणास्थिां में स्नायुतन्तु आ जाता है और फिर क्षत हुई उन तरुणास्थियों के परस्पर न्यूनाधिक जुड़ जाने से संधियां चेष्टाहीन हो जाती हैं और उनका संधिकोप भी लुप्त हो जाता है । इसीलिए इस व्याधि की जीर्णावस्था में अंगुलि की संधियां स्तब्ध हो जाती हैं, उनमें हिलने, डुलने की सामर्थ्य नहीं होती है । यदि उन्हें हिलाया या चलाया जा सकता है तो उनमें कष्ट एवं वेदना का अनुभव होता है । इस अवस्था में अंगुलियों की संधियों में जो क्षति होतीहै वह स्थाई होने से संधियों के पूर्ववत् स्वस्थ होने की संभावना भी क्षीण हो जाती है । देखा गया है कि शनैःशनैः आमने-सामने की अस्थियों के शिरों में भी पोलापन या भंगुरता होजाती है ।

इस व्याधि में यदि क्षकिरण-परीक्षण किया जाय तो ज्ञात होता है कि इस स्थिति में प्रायः तरुणास्थियां नष्ट हो जाती हैं और संधियों को बांधने वाले सौत्रिक तन्तु मोटे एवं संकुचित हो जाते हैं। आस पास की मांसपेशियां क्षीण हो जाती हैं जिससे उनका आकार लघु हो जाता है । प्रसारक मांसपेशियों में प्रथम यह लघुतायुक्त क्षीणता होती है जिससे सन्धियों में संकोच उत्पन्न हो जाता है । अन्त में दोनों अस्थियों के सिरे परस्पर जुड़ जाने से सन्धियां स्तब्ध चेष्टारहित हो जाती हैं । परिणामतः वे अपना प्राकृत नियमित कार्य करने में असमर्थ हो जाती हैं। हाथों की अंगुलियां तक केवल संकुचित ही नहीं होतीं अपितु अन्दर की ओर मुड़ सी जाती हैं । अंगुलियों की इस प्रकार की यह विषम स्थिति इस व्याधि का मुख्य लक्षण है जिसके आधार पर व्याधि का निर्णय सुगमता से किया जा सकता है । (चित्र २९९ पृष्ठ पर देखें)

उपर्युक्त विकृति विज्ञानीय अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया कि दोनों हाथ अथवा पैर की अंगुलियों की छोटी संधियों से आमवात व्याधि की शुरुआत होती है । आरम्भ में उक्त संधियों में क्षीणता की स्थिति उत्पन्न होती है और क्षीणता के लक्षणों से युक्त शोथ उत्पन्न होता है । क्षीणता के लक्षणों से युक्त शोथ क्रमशः ऊपर की अन्यान्य संधियों में भी फैल जाता है । कालान्तर में रोगी की शारीरिक स्थिति एवं रोग प्रतिरोधक क्षमता के अनुसार रोग का प्रसार या व्याप्ति होती जाती है ।

इस प्रकार इस रोग में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से जो विकृति पाई जाती है वह मुख्यतः संधियों कीश्लेष्मकला और तरुणास्थि जन्य होती है जो प्रारम्भिक अवस्था में चिकित्सा साध्य और वाद में प्रायः असाध्य मानी जाती है ।

चिकित्सा सूत्र एवं सामान्य चिकित्सा—

१. आमवात की प्रथमावस्था में सामज्वर, गात्र गुरुता और अग्निमांद्य आदि उपद्रवों का शमन करने के लिये रोगी को सर्वप्रथम लंघन कराना चाहिए । लंघन से रोग के सभी प्रवल उपद्रव प्रायः शान्त होजाते हैं ।

२. संधियों में शोथ का आधिक्य और शूल होने पर स्वेद अत्यधिक लाभकारी होता है । अतः वालुका स्वेद से स्वेदन करना चाहिए ।

३. इस रोग में विवन्ध नहीं होने देना और दस्त साफ रहना अत्यन्त आवश्यक है। अतः उदर शुद्धि के लिये विरेचन देना चाहिए । विरेचन के लिए मृदुकोष्ठ रोगी

को वैश्वानर चूर्ण गरम जल से देना चाहिए। इससे भी यदि दस्त साफ न हों तो सेंधानमक ६ रत्ती, सोंठ ३ रत्ती निशोथ मूल चूर्ण ३ माशा मिलाकर गरम जल या कांजी से देना चाहिए। इससे अच्छा विरेचन हो जाता है।

४. लंघन के पश्चात् पंचकोल क्वाथ से पकाया गया साबूदाना अथवा जौ का पानी देना चाहिए। खील मुरमुरा भी खाने को दिया जा सकता है।

५. इस रोग की चिकित्सा करते समय अग्निवर्धक, मलमूत्रकारक और पसीना लाने वाली औषधियां प्रयुक्त करनी चाहिए।

६. प्रातः और रात्रि में सेंक देना, सेंक के पश्चात् लेप करके रुई से इस अंग को बांध देना लाभकारी है।

७. इसके अतिरिक्त कपास, कुलथी, जौ, एरण्ड की जड़, काला तिल, अलसी, संहजना की छाल, पुनर्नवा और संभालु पत्र समभाग लेकर कांजी में पीसकर ५-७ पोटलियां बना लेनी चाहिए। फिर इन पोटलियों को वाष्प से गरम कर पीड़ित अंगों को सेंकना चाहिए।

८. प्रातःकाल सेंक करने के बाद शार्ङ्गधर में उल्लिखित उपर्युक्त दोपहर लेप को कांजी में पीसकर गरम कर लेप करना चाहिये अथवा सेंहजना की छाल, धतूरा के पत्ते, आक-पत्र, सेंधानमक, हरीमिर्च पीसकर गरम कर लेप करना चाहिये या सफेद सरसों, एलुआ, सेंहजना की छाल, काली मिर्च, अदरक, काला नमक और धतूरा मूल पीसकर गरम करके लेप करना लाभदायक होता है।

९. साम आमवात ज्वर में हिंगुलेश्वर रस विशेष लाभदायक है। इससे यदि लाभ न हो तो लक्ष्मीविलास रस १ रत्ती मिलाकर आर्द्रक और पान के रस के साथ मिलाकर देना चाहिए।

१०. पिप्पल्यादि क्वाथ अथवा लहसुन ६ माशा, एरण्ड की जड़ ६ माशा, सम्भालू पत्र ४॥ माशा और सोया ३ माशा इनका क्वाथ बनाकर देने से आमवात की साम ज्वरावस्था में बहुत लाभ होता है।

११. संधियों में यदि वेदना अधिक हो तो माणिक्य रस [कुष्ठ रोगाधिकार] पान के रस में देने से शीघ्र ही वेदना का शमन हो जाता है।

१२. वेदना की अधिकता के कारण यदि रोगी को निद्रानाश और बेचैनी हो जाय तो रात्रि में रस सिन्दूर १ रत्ती, शुद्ध कुचला १/४ रत्ती, शुद्ध अफीम १/४ रत्ती और सोंठ ४ रत्ती मिलाकर गरम जल के साथ देने से रोगी को शीघ्र ही निद्रा आ जाती है।

यहां यह स्मरणीय है कि कोष्ठबद्धता की स्थिति में अफीम के योग का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए।

१३. आम रस के पाचन के लिए अलम्बुपादि चूर्ण या शतपुष्पादि चूर्ण कांजी अथवा गरम जल से दें।

१४ पुरातन आमवात में वेदना, शरीर का भारीपन आदि उपद्रवों के होने पर वृ. सेंधवादि तैल, विजय भैरव तैल, प्रसारिणी तैल आदि में से किसी तैल की मालिस करना अभीष्ट है।

१५. आमवात और कटिशूल के लिए एक बार सोंठ और दो बार गोखरू का क्वाथ पिलाना चाहिए।

रोग का आक्रमण होने के बाद उपर्युक्त प्रकार से ही यदि चिकित्सा की जाय तो शीघ्र ही रोग का शमन हो जाता है। रोगाक्रमण की प्रबलता कम होने पर यदि रोगी नियमित रूप से पथ्यादि का सेवन करता रहे तो उसे गरम जल से स्नान कराते रहना चाहिए। इसके साथ ही इस समय योगराज गुग्गुल या रसोन पिण्ड और रास्नादि क्वाथ कुछ दिन तक सेवन कराना चाहिये।

आमवात में दुष्ट आम रस संचित होकर संधि प्रदेश एवं कण्डराओं में संकुचन उत्पन्न करता है। चिकित्सा के द्वारा शोथ आदि उपद्रवों का प्रशमन होने पर भी संधियों के संकोच के कारण रोगी अपने शरीर या अङ्गों का पर्याप्त प्रसार नहीं कर सकता। इसके लिए प्रथमावस्था से ही रोगी को पुनः संधियों के संकोच और प्रसारक अभ्यास कराते रहना आवश्यक है। अन्यथा रोग का आरम्भ होते ही कण्डरा और संधियों का प्रसार अत्यन्त कठिन हो जाता है।

जीर्णावस्था में आमवात के रोगियों को विबन्ध न होने पाये और दस्त साफ होता रहे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए। क्योंकि मलावरोध या कब्ज की स्थिति में वेदना वृद्धि होने की सम्भावना रहती है। पच्यमान अवस्था में कोष्ठ शुद्धि के लिए रास्ना सप्तक क्वाथ में
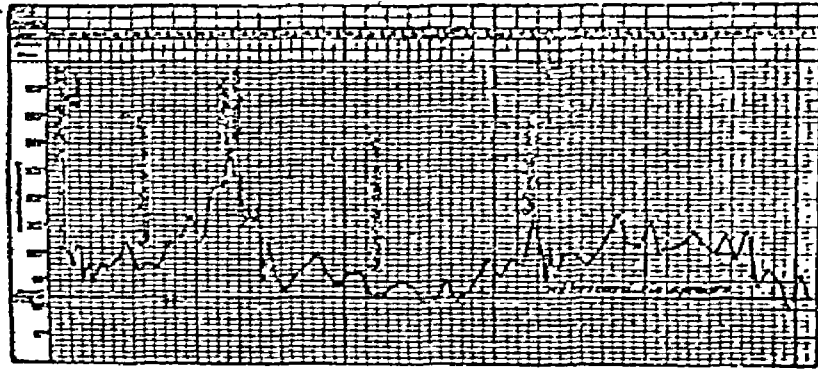
आमवातिक ज्वर रोगी का तापमान चार्ट.

एरण्ड तेल का प्रक्षेप देकर पिलाना श्रेयस्कर होता है। मध्याह्न एवं रात्रि में वातगजेन्द्र रस गरम जल से देना चाहिए। यदि ज्वर भी रहता हो तो सांयकाल वृहत् कस्तूरी भैरव या महालक्ष्मी विलास रस अदरक या पान के रस के साथ देना चाहिए। यदि ज्वर न हो तो सायंकाल वातारि गुग्गुल गरम जल से देना चाहिए।

इस प्रकार औषधि प्रयोग करने पर रोग के उपद्रवों का उपशम होने के बाद भी कुछ दिन तक प्रातः महारास्नादि क्वाथ में शुंठि चूर्ण अथवा अलम्बुपादि चूर्ण प्रक्षेप देकर पिलाना चाहिए। मध्याह्न में प्रसारिणी योग एवं सायंकाल वातगजांकुश रस देना चाहिये। सेंक एवं प्रलेप आदि प्रयोजन के अनुसार दिया जाना चाहिये। पुरातन आमवात रोग में वेदना नाश के लिए सफेद मूसली, अदरक, सहजना की छाल, संभालू के पत्ते, थूहर के पत्तों के रस में पीस कर गरम करके लेप करना चाहिए। संधियों के संकोच का उपशमन करने के लिए रास्ना, एरण्ड मूल, खरैटी, प्रसारिणी और उड़द इन सबको समभाग लेकर अच्छी तरह इन्हें पीस कर कपड़े में बांध कर ५-७ पोटली बनाकर फिर एक एक पोटली को जलीय वाष्प-ताप से गरम कर संकुचित अंग को सेंकना चाहिये।

पूयमेह की पुरातन अवस्था और अतिरिक्त धातुक्षय होने पर अग्नि की मंदता से आमवात होता है। प्रमेह जन्य आमवात प्रायः वर्षा ऋतु में ही होता है। इसमें कटि पृष्ठ त्रिकस्थान में मुख्यतः वेदना होती है। पूयजन्य आमवात का आक्रमण प्रायः प्रबल होता है और वह आक्रमणः प्रायशः त्रिक, संधि, वक्ष एवं गुल्फ में अधिक होता है (पूयमेह तथा फिरंगजन्य आमवात का आक्रमण रात्रि में अधिक होता है। इन दोनों प्रकार के आमवात में विशेषतः पिण्डलियों में भड़कन होती है।) प्रमेहजन्य आमवात में यदि ज्वर भी रहता है तो जयावटी देने से लाभ होता है। अन्य सम्पूर्ण चिकित्सा आमवात के ही समान है। विशेष यह कि प्रमेह तथा आमवातनाशक चन्द्रप्रभा वटी (प्रमेहाधिकार), शुक्रमातृका वटी, मेहमुद्गर रस देना चाहिए।

प्रमेहजन्य आमवात की पुरातन अवस्था में मकरध्वज रस एवं वृहत् अश्वगंधा घृत देने से अपूर्व लाभ होता है। पूयमेहजन्य आमवात में प्रमेह चिन्तामणि रस और इसकी पुरातन अवस्था में पंचतिक्त घृत गुग्गुल देना चाहिए। फ़िरङ्गज आमवात में शरीर की वृहत्-ग्रन्थियोंमें शोथ उत्पन्न हो जाता है और रक्त भी दूषित हो जाता है। रोग के पुरातन होने पर शरीर में रक्त की मात्रा भी घट जाती है। महारास्नादि क्वाथ के द्रव्यों के साथ रक्तशोधक तथा कोष्ठशुद्धिकारक सारिवादि क्वाथ मिलाकर पिलाना अति हितकारी होता है। कैशोर गुग्गुल या शिवा गुग्गुलु के साथ ३ माशे की मात्रा में चोपचीनी मिलाकर देने से आशातीत लाभ होता है। लेप तथा सेंक की व्यवस्था पूर्ववत् ही करनी चाहिये। बाद में विष दूर करने के लिये वृ० सारिवादि अवलेह एवं कैशोर या शिवा गुग्गुलुका अभीष्ट काल तक प्रयोग करना चाहिये। मर्दन के लिये महा विजयभैरव तैल उत्तम है। उष्ण, अम्ल, लवण मधुर द्रव्य सेवन नहीं करने चाहिये।

फिरङ्गजन्य आमवात में वेदना के शमन के लिये मकोय के लेप से सामयिक लाभ होता है। कई बार संग्रह ग्रहणी रोग सूचिका रोग में भी आमवात के लक्षण परिलक्षित होते हैं। संग्रह-ग्रहणी जन्य आमवात में कोष्ठबद्धता रहने पर भी विरेचक औषधि न देकर रक्तशोधक, अग्निवर्धक,संग्रह-ग्रहणी नाशक रामबाणरस,रसपर्पटी,वातगजेन्द्र आदि औषधि प्रशस्त हैं। सूतिकावल्लभरस, महाशार्दूलरस आदि औषधियां सूतिका-ग्रहणीजन्य आमवातनाशक हैं। संग्रह-ग्रहणीजन्य आमवात प्रारंभ होने पर आमवात गजसिंह मोदक तथा सूतिका ग्रहणी जन्य आमवात प्रारम्भ होने पर जीरकाद्य मोदक बहुत दिन सेवन करें।

वैद्य श्री विद्यानन्द शुक्ल, चिकित्साधिकारी—जनपद आयु० औष०,
अकोली छाया-मांढर (रायपुर) म० प्र०

—✲⚜✲—

जिस व्याधि में वात दोष प्रायः सन्धियों में विकृति उत्पन्न करता है उसे आमवात कहते हैं। दूषित दोषों के परस्पर संमीपन से आम की उत्पत्ति होती है।

आधुनिक दृष्टिकोण से जब प्यूरिन नामक प्रोटीन का पाचन भलीभांति नहीं हो पाता, उस स्निग्ध प्रोटीन से मूत्राम्ल (Uric acid) नाम का एक विशेष द्रव्य निर्माण होता है। इसी तरह शरीर की पेशियों की केंद्रकों की टूट-फूट से मूत्राम्ल अधिक बनता है। यह मूत्राम्ल वृक्कों की किसी कार्यहीनता या कमजोरी से मूत्र में मिलकर शरीर के बाहर नहीं जा पाता और रक्त में पुनः वापिस प्रविष्ट होने लगता है। इसी के कारण रक्तस्थ मूत्राम्ल की स्वाभाविक मात्रा बढ़ती है। इस मूत्राम्ल की स्वाभाविक मात्रा का बढ़ना ही आमवात का कारण है। यही मूत्राम्ल सन्धियों के स्नायु एवं मृदुस्थियों (Cartiladge) में जमा हो जाता है। इसकी अम्लता से उन सन्धियों के श्लेष्मिक आवरण में दाह होता है एवं पीड़ा होने लगती है। इसी प्रकार कार्बोहाइड्रेट तथा स्नेहों के अपूर्ण पाक से तक्राम्ल (Lactic acid) बनता है, जिसका स्थान संश्रय पेशियों में होकर उस पेशी में शोथ एवं शूल उत्पन्न कर देता है। व्याधि विज्ञान में रूक्षादि गुणयुक्त शूलकर आम द्रव्य को ही वात कहते हैं।

निदान एवं सम्प्राप्ति —

विरुद्ध आहार विहार करने वाले मन्दाग्नि और निश्चेष्ट अथवा स्निग्ध भोजन करने के उपरान्त व्यायाम करने वाले मनुष्य का आम रस प्रकुपित वायु से प्रेरित होकर श्लेष्मा के मुख्य स्थान सन्धि तथा आमाशय, उर, सिर एवं कण्ठ की ओर जाता है, वहां वायु द्वारा और अधिक विकृत या अर्धपक्व होकर यह आमरस धमनियों में पहुंच जाता है। धमनियों में स्थित तीनों दोषों से और अधिक दूषित हुआ यह विभिन्न वर्णों वाला पिच्छिलता गुणयुक्त आमरस शरीर के स्रोतों में भर जाता है। इससे दुर्बलता तथा हृदय में भारीपन हो जाता है। यह आम

रस शरीर की अनेक व्याधियों का कारण होने से अत्यन्त भयङ्कर होता है। वात और कफ एक साथ प्रकुपित होकर कोष्ठ, त्रिक प्रदेश तथा सन्धियों में प्रविष्ट हो जाते हैं एवं सारे शरीर को जकड़ देते हैं। यह रोग आमवात कहलाता है।

कविराज गणनाथ सेन के अनुसार विरुद्ध आहार विहार अथवा स्निग्ध भोजन के तुरन्त पश्चात् व्यायाम करने से आहार का परिपाक सम्यक्तया नहीं होता जिसके परिणामस्वरूप आमरस की उत्पत्ति होती है, यह आम रस प्रदूषित होकर रक्तवाहिनियों के द्वारा सर्व शरीर में
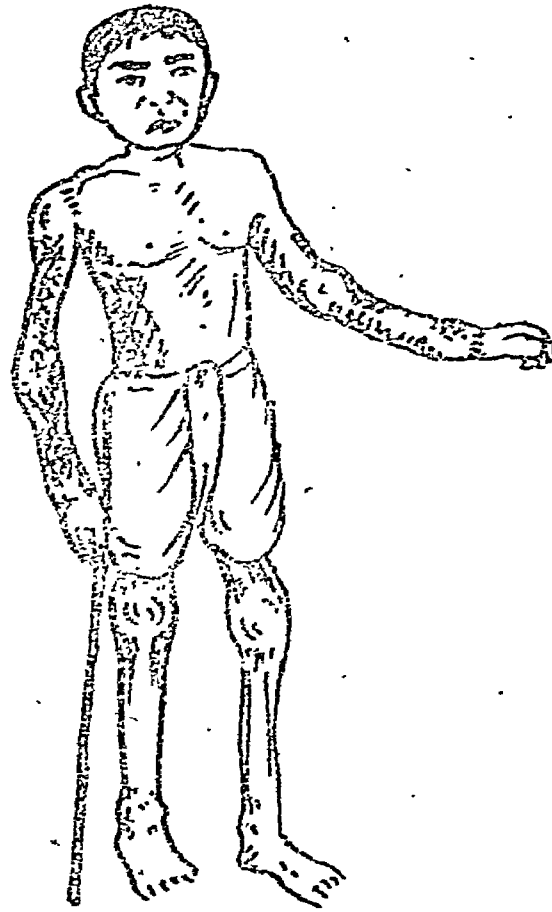
आम वात रोगी के जोड़ सूज गये हैं।
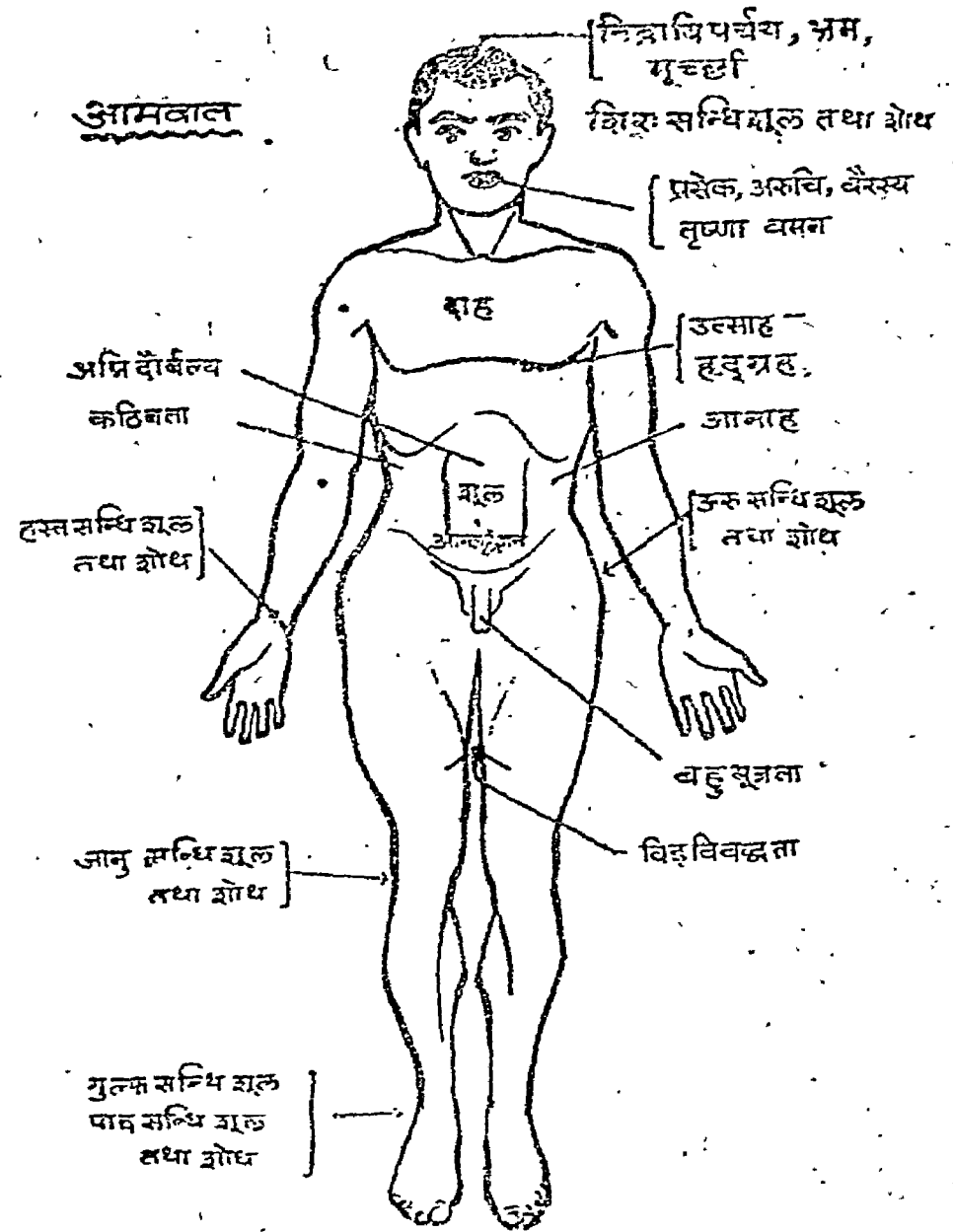
आमवात रोगी के लक्षण

परिभ्रमण करता है, अपने सजातीय श्लेष्मा के प्रधान अधिष्ठान सन्धियों में अवस्थित होकर वायु को आवृत कर लेता है और आमवात रोग को उत्पन्न करता है। इनके अनुसार यह रोग हाथ की मध्यमे अंगुली से प्रारम्भ होता है, इसके पश्चात् दूसरी अंगुलियों में भी फैल जाता है। अन्ततोगत्वा मणिवन्ध, गुल्फ, कफोणि (Elbow), जानु, त्रिक तथा पृष्ठवंश की सन्धियों में भी फैल जाता है। प्रायः शरीर के उभय पार्श्व में यह विकृति होती है। प्रारम्भ में इसके आक्रमणों के पश्चात् शरीर में कोई विकृति नहीं रहती किन्तु आक्रमणों की अनेक पुनरावृत्तियों के फलस्वरूप स्नायु, पेशी तथा तरुणास्थियां सूखने लगती हैं।

कुछ लोग आमवात से आमवातिकज्वर (Rheumatic Fever) का ग्रहण करते हैं किन्तु उसका समावेश समसान्निपातिक सन्धिगतज्वर में लीन होजाता है। आमवात से मुख्यतः सामसन्धिवात (Rheumatoid Arthritis) का ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि आमविष के लक्षणों में ज्वर को प्राधान्य नहीं दिया गया है। आम

रस से दूषित वात को ही आमवात कहते हैं।

सामान्य लक्षण—विभिन्न अंगों में पीड़ा होना, अरुचि, प्यास, आलस्य, शरीर में भारीपन, ज्वर, भोजन का परिपाक न होना, अङ्गों में सूजन आदि।

अन्य लक्षण—आमवात की प्रवृद्ध अवस्था सब रोगों से कष्टसाध्य होती है। इससे हाथ, पैर, शिर, गुल्फ, त्रिक (Secrum), जानु तथा उरु (Thigh) की सन्धियों में पीड़ायुक्त शोथ उत्पन्न होता है। इनके अतिरिक्त भी जिस स्थान पर आमदोष पहुँच जाता है वहां भी जलन एवं वेदना होती है। इसमें अग्निमांद्य, अरुचि एवं गौरव के लक्षण होते हैं। उत्साह हीनता हो जाती है, मुख में विरसता एवं शरीर में जलन होती है, पेट में भारीपन एवं शूल होता है। प्यास, वमन, आलस्य आदि लक्षण हो जाते हैं।

आमवात में वात का अनुबन्ध होने पर पीड़ा तीव्र होती है, पित्त का अनुबन्ध होने पर रुग्ण स्थान पर जलन एवं लालिमा रहती है। कफ का अनुबन्ध होने पर स्तिमितता, भारीपन एवं कण्डु आदि लक्षण होते हैं। सन्निपातामवात में तीनों दोषों के लक्षण होते हैं। सन्निपातिक आमवात कष्टसाध्य है।

आमवात एवं वातरक्त में भेद
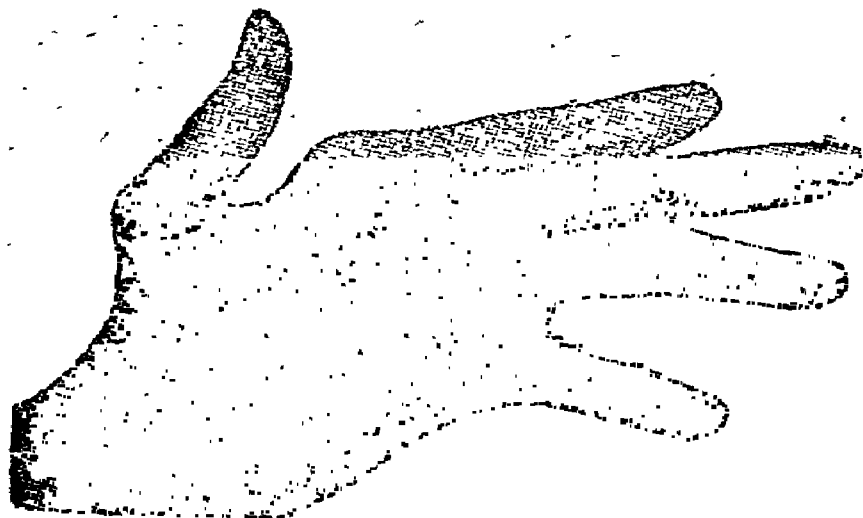
आम वात	वात रक्त
१. बड़े जोड़ों में होता है।	१. छोटे जोड़ों में दर्द होता है।
२. पीड़ा भ्रमणशील रहती है।	२. भ्रमणशीलता प्रायः नहीं रहती है।
३. बाल्यावस्था में प्रारम्भ होता है।	३. ४० वर्ष के लगभग ही प्रारम्भ होता है।
४. सीलसिलेट या गुग्गुलु से विशेष लाभ होता है।	४. इससे बहुत कम लाभ होता है।

चिकित्सा—

सामान्य चिकित्सा—आम वात में आम का संचय मुख्यतः अग्नि के मन्द होने के कारण होता है अतः रोगी का आम पाचन होने तक लंघन करना चाहिए। लंघन से आम का पाचन होकर स्रोतों का अवरोध कम हो जाता है, यथा शक्ति लंघन अवश्य करना चाहिये। एरण्ड स्नेह के एक उत्तम आम पाचक होने से आम वात में आम का पाचन एवं विरेचन दोनों के लिये एरण्ड स्नेह का उपयोग होता है। आम वात में आम का पाचन होने के बाद वायु का शमन करना परम आवश्यक है, अतः आम का पाचन होने के बाद वायु का शमन होने के लिये अमृतप्राश घृत, नारायण तेल आदि में से आवश्यकतानुसार किसी एक का

★ विद्यानन्द शुक्ल ★

शुण्ठी फाण्ट किंवा दूध के साथ पीने से उपयोगानुसार सेवन करें। शास्त्रों में निरूह वस्ति देने को कहा है। वस्ति के लिये वचा, मदन फल, बलामूल, कुष्ठ, सेंधव, पिप्पली, अतिविषा, रास्ना, कायफल एवं पुष्कर मूल प्रत्येक १-१ माशे लेकर चूर्ण करें। यह चूर्ण वृहत सेंधवादि तेल ८ तोले में मिला दें। वाद में इसे अच्छी तरह मथें। इस द्रव्य में से ३२ तोला द्रव्य लेकर प्रथम वार वस्ति देवें। इसी प्रमाण में द्रव्यों को एकत्रित कर द्वितीय एवं तृतीय वार २४-२४ तोला की वस्ति देवें। इस वस्ति से वायु का शोधन होने के कारण आनाह, विवन्ध, संधिग्रह आदि शांत होते हैं।

शतपुष्पादि लेप—सौंफ, वचा, सहजन की छाल, गोखरू, वरुण की छाल, वला की जड़, कचूर, गन्ध प्रसारिणी, जयन्ती का फल एवं हींग इन्हें सिरके एवं कांजी के साथ पीसकर गरम कर सुखोष्ण लेप करने से आमवात नष्ट होता है।

अमलतास के पत्तों को सरसों के तेल के साथ कढ़ाई में भर्जित करके भोजन के साथ सेवन करने से आमवात नष्ट होता है।

नागर चूर्ण—एक कर्ष भर सोंठ के चूर्ण को कांजी में मिलाकर सेवन करने से आमवात नष्ट होता है।

त्रिवृतादि चूर्ण—निशोथ+सैन्धव लवण+सोंठ इन्हें सम प्रमाण में लेकर महीन चूर्ण करके १-२ माशा कांजी के साथ सेवन करने से विरेचन होकर यह रोग नष्ट होता है।

एरण्ड तैल पानम्—रास्नासप्तक क्वाथ के साथ एरण्ड तेल का पान करने वाला रोगी आमवातजन्य शूल से मुक्त हो जाता है।

एरण्डादि क्वाथ—एरण्डमूल+गोखरू+रास्ना+सौंफ+पुनर्नवा इन सवों का विधिवत सिद्ध उष्ण क्वाथ पीने से आम दोष का पाचन उत्तम रीति से होता है।

रसोनादि क्वाथ—लहसुन की गिरी+सोंठ+निर्गुण्डी की जड़ इन्हें सम प्रमाण में मिलाकर आधे पल भर लें। ३२ तोले जल में क्वथित करके ८ तोले शेष रहने पर पीड़ित रोगी को पिलावें। इससे श्रेष्ठ कोई औषधि नहीं है।

रास्ना पंचक—रास्ना+गिलोय+एरण्ड की जड़+देवदारु का चूरा+सोंठ इन्हें समप्रमाण में मिलाकर यथा विधि क्वाथ करके पीने से आमवात अवश्य नष्ट होता है।

शुण्ठ्यादि क्वाथ—सोंठ १ तो.+गोखरू १ तो. भर लेकर ३२ तोले जल में क्वथित करके चौथाई शेष रहने पर प्रतिदिन सेवन करने से आम दोष का पाचन होकर शूल नष्ट होता है।

हिंग्वाद्य चूर्ण—घृतभर्जित हींग १ भाग+वच २ भाग+विडलवण ३ भाग+सोंठ ४ भाग+पिप्पली ५ भाग+काला जीरा ६ भाग+पोहकरमूल ७ भाग लेकर सवको महीन कूट पीसकर चूर्ण छानकर रखें। इसको यथासंभव उष्ण जल से सेवन करें।

अमृतादि चूर्ण—गिलोय+सोंठ+गोखरू+मुण्डी+वरुण की छाल इन्हें सम प्रमाण में लेकर महीन चूर्ण बना कर रखें। आधा से एक तोले दही के पानी से सेवन करने से आमवात नष्ट होता है।

चित्रकादि चूर्ण—चित्रक की जड़+इन्द्रयव+पाठा+कुटकी+अतीस+हरड़ इनके समभाग गृहीत २ माशे भर चूर्ण को गर्म जल के साथ खाने से आमवात नष्ट होता है।

पथ्यादि चूर्ण—हरड़+सोंठ+अजवाइन इन्हें वरावर-वरावर लेकर महीन करके चूर्ण वना के रखलें। इस चूर्ण को मट्ठा या गरम जल के साथ सेवन करने से आमवात, मंदाग्नि, पीनस, कास, हृदय रोग, स्वर भेद, अरुचि आदि नष्ट होते हैं।

सोंठ+शतावर+कचूर+पुनर्नवा+गुरुच+गोरखमुण्डी+देवदारु प्रत्येक १-१ तोला लेकर कूट पीसकर महीन चूर्ण वनाकर ३-६ माशा कांजी के साथ भोजन के पश्चात् सेवन करें।

वातारि गुग्गुल—२-२ वटी सुवह-शाम गरम जल से सेवन करने से असाध्य आमवात भी नष्ट होता है। वटी को चवाकर खायें।

वैश्वानर चूर्ण—सेंधानमक २ तो.+अजवाइन २ तो. अजमोद ३ तो.+सोंठ ४ तो.+हरड़ १२ तोले। इनका कपड़छन चूर्ण वनाकर रखें। मात्रा ६-६ माशा सुवह-शाम गरम जल से दें।

सुगम योग—

असगंधा बूटी की जड़ को छाया में सुखाकर सूक्ष्म पीसकर सम प्रमाण में खांड मिलाकर रखलें। ६ माशा से १ तोला तक उष्ण दुग्ध से सुवह-शाम सेवन करायें। ईश्वर की कृपा से खाट पर पड़ा रोगी भी शीघ्र स्वस्थ होगा। (अनुभूत योग चिंतामणि से)

मीठी सुरंजान १ तो.+वढ़िया एस्परिन २ माशा महीन पीसकर ८ पुड़िया वनाकर रखलें। १ पुड़िया उष्ण दुग्ध से दें। पीड़ा दूर करने में अद्वितीय है।

(अनुभूत योग चिंतामणि से)

अजवाइन+गुग्गुल+मालकांगनी+कालादाना चारों समप्रमाण लेकर जल के साथ घोटकर चने प्रमाण गोली बनाकर रख लें। ३-५ गोली उष्ण दुग्ध से दें।

लौंग+शुद्ध सुहागा+एलुआ+काली मिर्च समभाग लेकर घृत कुमारी के रस में भलीभांति पीसकर २-२ रत्ती की ४ गोली रात के सोते समय दुग्ध से दें।

उशवापाक (यह प्रयोग स्व. डा. गणपतिसिंह वर्मा कृत अनुभूत योग चिंतामणि का है)—उत्तम एवं प्रभावशाली है। सनाय के पत्ते ३ तो.+उशवा ३ तो., निशोथ ३ तो+ कपूर-कचरी+ सौंफ+ गुलाव पुष्प+ छड़+ लाजवर्द+ अमरवेल प्रत्येक ४॥ माशा+सुरंजान मीठी १ तो.+मधु १० तो.+मिश्री ३ तोले। सव औषधियों को कूट छानकर माजून की विधि से वनालें। मात्रा केवल १ तो.। प्रातः सायंकाल उष्ण दुग्ध से दें। २०-२५ दिन सेवन करने से ईश्वर ने चाहा तो आमवात, संधिवात तथा उपदंश दूर हो जायेंगे।

शुद्ध गंधक ८ तो.+शुद्ध गुग्गुल ८ तो.+त्रिफला क्वाथ+एरण्ड तेल दोनों ६२-६२ तो.। सभी को मिला कड़ाई में गाढ़ा होने तक अग्नि पर रखें। पश्चात १॥-१॥ माशा की गोली सुवह-शाम शक्कर या मधु से दें।

सैन्धव+जवाखार +अजवाइन २-२ भाग+सोंठ ५ भाग+हरड़ १० भाग, इन सवका महीन चूर्ण करके रखें। गोमूत्र या मधु से सेवन करायें।-

संजीवनी वटी अर्क—अफीम ४ ड्राम+छोटी इलायची के दाने १ औंस+जायफल २ औंस+कपूर ४ औंस +रेक्टीफाइड स्प्रिट २० औंस लेवें। इन सवको वोतल में भरकर १ सप्ताह के वाद फिल्टर पेपर से छानलें, जितना स्प्रिट कम हो उतना और मिला दें।

मात्रा—५-१५ बूंद दिन में ३ वार १-१ औंस जल से दें। यह जीर्ण आमवात में उत्तम प्रयोग है।

रस औषधियां—

वृहत्-सिंहनाद गुग्गुल—१-४ तो. प्रातःकाल जल से।

अश्वगंधादि गुग्गुल—१-३ गोली रास्नादि क्वाथ से। जिन्हें पेचिश हो उन्हें एवं सगर्भा स्त्री को भी न दें।

आमवातेश्वर रस—२-४ रत्ती दिन में २ वार रास्नादि क्वाथ से।

वात गजेंद्रसिंह रस—१-२ गोली दिन में २ वार दूध से

अमृतादि घृत—१-१ तो. भोजन के साथ २ वार दें।

समीर गज केसरी—१-३ गोली जल से। उदर शुद्धि के पश्चात् इसका सेवन करायें।

आमवातारि रस—२-४ गोली दिन में २ वार मधु एवं अदरख के रस से।

त्रैलोक्य चिंतामणि रस (स्वर्ण युक्त)—६० से २०० मि. ग्राम अदरक के रस एवं मधु से।

महायोगराज गुग्गुल नं० १ (स्वर्ण युक्त)—१-२ गोली रास्नादि क्वाथ से।

महायोगराज गुग्गुल नं० २-३-३ गोली मधु एवं रास्नादि क्वाथ से।

वातगजांकुश रस २५० मि. ग्रा. दिन में २ वार मधु से ऊपर से रास्नादि क्वाथ दें।

रोगी पीड़ा से वेचैन हो निद्रा न आती हो तो सोते समय अफीम १/४ से १ रत्ती+शु. कुचला चूर्ण १/४ रत्ती +रससिंदूर १ रत्ती इन तीनों की १ गोली वना जल से दें। विना कोष्ठ शुद्ध किये इसका प्रयोग न करें।

तैल—महामाष तैल,नारायण तैल,विषगर्भ तैल आदि।

पथ्यापथ्य—उष्ण जल, वाजरा, मूंग, जव, करेला, परवल, तोरई, लहसुन, प्याज, हींग, सोंठ गोमूत्र, मूली एरण्ड तेल, दूध आदि पथ्य हैं। गुड़, अधिक जागरण, वासी व गरिष्ठ भोजन, मांस, मछली का सेवन एवं दूषित जल, अधारणीय वेगों का धारण, उड़द एवं पिष्टमय पदार्थ अपथ्य हैं। ★

★ वैद्य पं० विद्यानन्द शुक्ल आचार्य ★

डा० महेन्द्र कुमार शर्मा एम. ए., ए. एम. बी. एस.
प्रवक्ता–काय चिकित्सा—ललित हरि राजकीय आयु० कालेज, पीलीभीत (उ० प्र०)

आमवात अन्य रोगों की अपेक्षा अधिक कष्टप्रद होता है। रोगी के विभिन्न अङ्गों में वेदना, अरुचि, तृष्णा आलस्य, गुरुता, भोजन का उचित परिपाक न होना, शोथ की विद्यमानता आदि लक्षण मिलते हैं। यह आमदोष शरीर का अत:विष है जो अपनी विषाक्तता के कारण उपरोक्त लक्षणों को उत्पन्न करता है। जिन स्थानों पर इस आमदोष का अधिक प्रभाव पड़ता है वहां पर वृश्चिकदंश के समान पीड़ा का अनुभव होता है। सामान्यतया 'आम' शब्द का अर्थ कच्चा अपाचित अथवा जो ठीक प्रकार से पाक न हुआ हो उसे आम कहा जाता है किन्तु आयुर्वेद मतानुसार मंद कायाग्नि की क्रिया से उत्पन्न वस्तु को आम कहा जाता है। इसमें निम्न विवरण महत्व के हैं—

१. अपक्व आमरस को ही आम कहा जाता है।

२. दुर्गन्धित एवं बहुपिच्छिलतायुक्त अपाचित अन्नरस जो शरीर में अवसाद करता है आम कहा जाता है।

३. आहार रस का अपाचित शेष भाग आम कहलाता है। जो पाचकाग्नि की क्षीणता के कारण उत्पन्न होता है।

४. शरीर में मलों के संचय को ही आम कहते हैं।

५. दोष दुष्टि की प्रथम अवस्था को आम कहते हैं।

दोषानुसार प्रमुख लक्षण—

पित्त का अनुबन्ध होने पर दाह एवं लालिमा होना, वात का अनुबन्ध होने पर पीड़ा तथा कफ के प्रभाव के कारण भारीपन खुजली, स्तिमितता आदि लक्षण होते हैं।

सम्प्राप्ति—

मंदाग्नि से पीड़ित रोगी जो विरुद्ध आहार-विहार करने वाले हैं। अथवा स्निग्ध भोजन कर तुरन्त व्यायाम करने वाले मनुष्यों में मंदाग्नि के परिणामस्वरूप आम उत्पन्न होता है। आमदोष वायु से प्रेरित होकर श्लेष्मा के प्रधान स्थान संधि, आमाशय, उरु, शिर, कंठ की ओर गमन करते हुए वहां वेदना को उत्पन्न करता है। यह आमदोष धमनियों में पहुँच कर दोषों के सम्पर्क में आने से उन्हें भी सामदोष युक्त बना देता है। इस अवस्था में सामदोष स्रोतों को प्रभावित कर दुर्बलता तथा हृदयप्रदेश में गुरुता आदि लक्षण उत्पन्न कर देता है। वात एवं कफ एक साथ कुपित होकर कोष्ठ एवं संधियों में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण शरीर को ही जकड़ लेते हैं।

चरक ने आमवात का वर्णन नहीं किया है। अपितु 'मेदसावृतो वातः' के अन्तर्गत लक्षणों का उल्लेख मिलता है। तथा आढ्यवात की संज्ञा प्रदान की है। आढ्यवात को विद्वानों ने वातरक्त एवं उरुस्तम्भ के संदर्भमें भी पढ़ा है।

आधुनिक मतानुसार कार्बोहाइड्रेट तथा स्नेह के अपूर्ण पाक से उत्पन्न अम्लों (तक्राम्ल आदि) का मांसपेशियों में जब संचय होता है तब जो व्याधि उत्पन्न होती है उसके लक्षण 'आमवात' से साम्य रखते हैं। इससे Rheumatoid Arthritis का ग्रहण किया जा सकता है।

साध्यता एवं असाध्यता–एक दोषयुक्त साध्य है। द्विदोषज याप्य एवं सन्निपातिक कृच्छसाध्य होता है।

चिकित्सा—

(१) सन्तर्पण चिकित्सा। (२) अपतर्पण चिकित्सा।

इसमें आमदोष प्रधान व्याधियों की चिकित्सा 'अपतर्पण' प्रधान होती है (तत्र आमप्रदोषजानां विकाराणामतर्पणे नैवपरमो भवति) (चरक)। निरामावस्था में ही सन्तर्पण चिकित्सा को सामान्य रूपसे उपयोग में लाया जाता है। रोगी के बलाबल पर दृष्टि रखते हुए अपतर्पण चिकित्सा करनी चाहिए। अल्पदोष होने पर लंघन, मध्य

—शेषांश पृष्ठ ३०४ पर देखें।

वैद्य रघुनाथ प्रसाद पारीक आयु० शास्त्री

प्राय: शरीर में चुनचुनाहट, जलन, स्पर्श की अनुभूति न होना और चकत्तें निकलना ये स्पर्शवात के लक्षण हैं—

अंगेषु तोदनं प्रायो दाह: स्पर्शं न विन्दति ।
मण्डलानि च दृश्यन्ते स्पर्शवातस्य लक्षणम् ॥
—यो. र.

चरक ने त्वक्स्थित प्रकुपित वात लक्षणों में कहा है—

त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते ।
आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वक्स्थितेऽनिले ॥
—च. चि. २८/३०

वातप्रकोप से रसक्षय होने के कारण त्वचा में रूक्षता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं—

तत्र वात वृद्धो त्वक्पारुष्यं कार्श्यं गात्रस्फुरणमुष्णकामिता······ । —सुश्रुत सू. १५/१५

उपर्युक्त प्राय: सभी लक्षण परिसरीय वातनाड़ी शोथ (Peripheral neuritis) से मिलते हैं । अत: स्पर्शवात को आधुनिक 'परिसरीय वातनाड़ी शोथ' नाम दिया जा सकता है ।

(१) अंगेषु तोदनं प्राय:—वात विकृति से त्वचा अधिक संवेदनशील हो जाती है जिसे आधुनिक 'हायपर एस्थेसिया' कहते हैं । कम्प हर्ष तोद आदि तज्जन्य लक्षण ही हैं । सुई चुभाने सदृश वेदना की प्रतीति को आयुर्वेद में तोद नाम से व्यवहृत किया गया है । आचार्य शार्ङ्गधर ने वात के नानात्मज विकारों में तोद को कहा है । इसमें व्यान वायु की विशेषेण विकृति होती है ।

(२) दाह—पित्तावृत व्यान से क्वचित् दाह भी संभव है । वात योगवाही है वह तेज से संयुक्त होने पर दाह करता है । त्वचा में भ्राजक पित्त स्थित है । साधक पित्त भी आवश्यक संज्ञाओं के स्पर्श में रुचि अथवा अरुचि कराता है । यह त्वक् की मिथ्यारूप विकृति है ।

(३) स्पर्शं न विन्दति—यह स्पर्शेन्द्रिय के कार्यक्षय का परिणाम है । कुष्ठके पूर्वरूप में यह स्थिति मिलती है। सुतरां समुचित चिकित्सा के अभाव में स्पर्शवात कुष्ठ का रूप ले सकता है । आचार्य शार्ङ्गधर ने प्रसुप्तता को वात के नानात्मज रोगों के अन्तर्गत पढ़ा है ।

(४) मण्डलानि च दृश्यन्ते—ये मण्डल रूक्ष एवं वर्ण में कृष्ण-श्याव किंवा अरुण वर्ण होते हैं । ये मण्डल वातविकृति के परिणामस्वरूप दिखलाई देते हैं । महर्षि सुश्रुत ने सात प्रकार की त्वचा का वर्णन किया है। चौथी जो ताम्रा नामक त्वचा है वही कुष्ठादि की अधिष्ठात्री है । आधुनिकों द्वारा प्रतिपादित अंकुर (Papillary Layer) इसमें रक्तवाहिनियों के भी अंकुर होते है । प्रकुपित वायु रक्तगत होने से भी सन्ताप एवं विवर्णता उत्पन्न होती है ।

चिकित्सा—

इसमें स्वेदन, शतावर्यादि तैल (शा० सं०), शतावरी नारायण तैल (यो. र.) आदि तैलों से अभ्यङ्ग तथा वातशामक द्रव्यों के क्वाथ में अवगाहन करावें । हृद्य अन्न इसमें सदैव पथ्य है । परूपक, द्राक्षा, दाडिम, त्रिफला आदि हृद्य हैं । भगवान चरक ने आम्र, आम्रातक, लकुच, करमर्द, वृक्षाम्ल, अम्लवेतस, कुवलय,

बदर, दाडिम, मातुलुङ्ग आदि १० द्रव्यों को हृद्य कहा है। मण्डलोत्पत्तिरूप विकृति होने से इसमें विरेचन भी उपयोगी है। विरेचन हेतु यह प्रयोग काम में लावें—

दशमूल द्रव्य १ किलो, त्रिफला ३०० ग्रा. अथवा अमलतास का गूदा २५० ग्रा. लेकर क्वाथ करें। क्वाथ में १ किलो एरण्ड स्नेह मिलाकर पकावें। तैल मात्र रहने पर छानकर रखलें। इसे यथावश्यक प्रयोग में लावें।

दाह होने पर चन्दन बलालाक्षादि तैल, जात्यादि तैल या पुराण घृत में कपूर मिलाकर अभ्यङ्ग करें। रस तरङ्गिणी २२ मे वर्णित गैरिकाद्य मलहम भी दाह एवं मण्डलों को नष्ट करने में श्रेष्ठ है—शुद्ध स्वर्ण गैरिक, हरिद्रा चूर्ण १-१ तोले, सिन्दूर १ मासा और सिक्थ तैल ६ तोले लेकर यथाविधि मिला लेवें। कांच की शीशी में रखकर इसे प्रयोग में लावें। तुवरक तैल या सोमराजी तैल को दशमूल तैल में मिलाकर अभ्यङ्ग करना हितकारक है। निम्नऔषधि व्यवस्था सुखावह है—

प्रातः सायं—ताल भस्म ६० मिग्रा., मकरध्वज १२५ मिग्रा., पंचतिक्त घृत १० ग्रा. १×२ गोदुग्ध से।

मध्याह्न एवं रात्रि में सोते समय—कैशोर गुग्गुलु ५०० मिग्रा. त्रिफला क्वाथ से।

विशेष—प्रातः सायं रसादि गुटिका (भै. र.) का भी प्रयोग हितावह है।

—वैद्य रघुनाथ प्रसाद पारीक आयु०शास्त्री
श्री वर्द्धमान दातव्य औषधालय, पचार (सीकर) राज०

—पृष्ठ ३०२ का शेषांश— — स्पर्शवात —

दोष में लंघन पाचन तथा प्रभूत दोष युक्त होने पर शोधन चिकित्सा करनी चाहिए। वाताधिक्य होने पर वस्तिकर्म, स्वेदन, दीपन, विरेचन, आवश्यकतानुसार वमन, तिक्त स्नेह रहित उपनाह का उपयोग करना चाहिए।

औषधियां—

१. एरण्डतैल प्रयोग। (५ मि. ली. से ३० मि.ली.) अनुपान—दुग्ध अथवा दशमूल क्वाथ या शुंठी क्वाथ।

क्वाथ चिकित्सा—

१. रास्ना सप्तक क्वाथ। (भै.), २. दशमूल क्वाथ (च. प्र.) ३. शुंठ्यादि क्वाथ (भा. प्र.)

चूर्ण चिकित्सा—

१. वैश्वानर चूर्ण (भै.) मात्रा १ ग्रा. से ३ ग्रा.। अनुपान—कोई उचित क्वाथ।

२. अमृतादि चूर्ण (च. द.)—मात्रा ५ ग्रा. से १० ग्रा. अनुपान—कांजी।

३. पथ्याद्य चूर्ण (भा.प्र.)—(५ ग्रा. तक) अनुपान—तक्र, गर्म जल।

घृत तैल चिकित्सा —

१. शुंठीघृत (भै.) ६ ग्रा. अनुपान—दुग्ध के साथ। २. शृङ्गवेराद्य घृत (भै.) ६ ग्रा., दुग्ध से। ३. विजय-भैरव तैल (भै.) उपयोग—अभ्यङ्ग एवं पानार्थ (ताम्बूल पत्र के साथ) ४. सैन्धव तैल (भै.) सैंधवाद्य तैल (भै.) उपयोग—अभ्यंग।

रसौषधियां एवं गुग्गुलु प्रयोग—

१. आम वातारि रस (भै.) २५० मि. ग्रा. से, ५० मि. ग्रा. अनुपान—उष्णजल या उचित क्वाथ। २. आमवाताद्रि वज्ररस (भै.) २५० मि. ग्रा. से ५०० मि ग्रा. उष्णजल, उचित क्वाथ। ३. अमृतमंजरी रस (र. सा. सं.) २५० मि.ग्रा. से ५०० मि. ग्रा. गर्म जल ४. आमवातेश्वर रस (भै.) २५० मि. ग्रा. उचित क्वाथ। ५. वृ. योगराजगुग्गुलु (भै.) ५०० मि.ग्रा. से १ ग्रा. अनुपान गर्म जल उचित क्वाथ। ६. योगराज गुग्गुल (भै.) ५०० मि. ग्रा. से ५ ग्रा. गर्म जल, उचित क्वाथ। ७. शिवा-गुग्गुल (र. सा. सं.) ५०० मि. ग्रा. से १ ग्रा. गर्म जल, क्वाथ। ८. सिंहनाद गुग्गुल (च. द्र.) ५०० मि. ग्रा. से १ ग्रा. गर्म जल से।

पथ्य—उष्ण, कटु, तीक्ष्ण आमनाशक द्रव्यों का उपयोग। तक्र, सुरा, रसोन, बैंगन बथुआ, पटोल, करेला, आर्द्रक जांगल जीवों का मांस रस, गर्मजल, कुलथी, मूंग पुराना मधु, एरण्ड तैल, गेहूं की रोटी, दलिया. दुग्ध को पंचकोल से श्रृत करके तथा अन्य अग्निवर्धक पदार्थ।

अपथ्य—मछली, कच्चा दुग्ध, गुड़ उड़द दूपित जल, गुरु, स्निग्ध अजीर्ण और असात्म्य भोजन, अभिष्यन्दी पदार्थ, रात्रि जागरण अधारणीय वेगों का धारण करना।

★ डा. महेन्द्र कुमार वर्मा एम. ए., ए. एम. बी. एस. ★

वैद्य वैंकटलाल शर्मा भिषगाचार्य वैद्य प्रभारी
बड़ायली (नागौर) राज०

हिमवन्ति हि गात्राणि रोमाणि स्फुरितानि च ।
शिरोऽक्षिवेदनालस्यं शीतवातस्य लक्षणम् ।। —यो.र.

अर्थात् जिसमें अङ्ग ठण्डे हो जाते हैं, रोमाञ्च होता है, सिर एवं नेत्र में पीड़ा होती है तथा आलस्य बना रहता है। ऐसे लक्षणों वाला रोग 'शीतवात' कहलाता है। बसवराजीयम् में मूर्च्छा आदि लक्षण और कहे गये हैं—

देहेऽतिशीतलं मूर्च्छा नेत्रभ्रमणमेव च ।
कण्ठशूलं शिरच्छूलं शीतवातस्य लक्षणम् ।।

इति।' शीतांग सन्निपात जो सन्निपात का एक भेद है वह भी वातश्लेष्मोल्वण ही है। कफावृत वात के लक्षणों में कहा गया है—

शैत्यगौरवशूलानि कट्वाद्युपशयोऽधिकम् ।
लङ्घनायासरूक्षोष्णकामिता च कफावृते ।।

'हिमवन्ति हि गात्राणि, देहेऽतिशीतलं' । इसी शैत्यं के द्योतक हैं। महर्षि सुश्रुत ने सू० स्थान अध्याय १५ में कफवृद्धि के लक्षणों में शैत्य स्पष्ट लिखा है।

२. रोमहर्ष—यह कफावृत वातविकार है। प्रकुपित वायु विकारों में रोमहर्ष को कहा गया है—

यथा—चरक नि० १/२१, चरक नि० ३/७ में।

३. शूल—'न वातेन बिना शूलं' अनुसार यह प्रकुपित वायु का प्रमुख कर्म है। अङ्गशूल को वायु के नानात्मज विकारों में कहा गया है। शीतवात में यह वात शिरःशूल, अक्षिशूल, कण्ठशूल आदि उत्पन्न करता है।

४. आलस्य—'शक्तस्य चाप्यनुत्साहः कर्मस्वालस्यमुच्यते। भगवान चरक ने सू० २०/१७ में श्लेष्म विकारों के अन्तर्गत आलस्य को लिखा है।

चिकित्सा—वायु के प्रकोपक अगणित कारणों में

> कर्त्तव्य के प्रति जागरूक स्नेह और करुणा से सराबोर यशस्वी चिकित्सक के यदि आप दर्शन करना चाहें तो मित्रवर श्री वैंकटलाल से अवश्य सम्पर्क करें। व्यस्त जीवन में से समय निकालकर यह लेख आपने मेरे आग्रह पर प्रेषित कर अध्ययनकालीन स्नेह की यथास्थिति के दर्शन कराये हैं। जटिल रोगों की चिकित्सा में आप निपुण हैं—
>
> जटिल रोग हर कर रहे निशदिन मनुज निहाल ।
> मान्य विनोदी वैद्यवर श्रीयुत वैंकटलाल ।। —वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'

उपर्युक्त वर्णन से यह सिद्ध होता है कि यह कफावृत वात विकृति है। बसवराजीयम् में उक्त स्थिति शीतवात की उग्र अवस्था है। यह सन्निपातज है।

१. शैत्यम्—यह कफ का गुण है। यद्यपि चरक सू. २० वायु का भी शैत्य गुण कहा गया है किन्तु इसके समाधान में महामहोपाध्याय श्री गणनाथ सेन जी ने अपनी तत्वदर्शिनी व्याख्या में व्यक्त किया है—'शीतत्वं तु वायोः स्वाभाविकमपि न नियतं दृश्यते–तस्य योगवाहित्वात्। तथा चोक्तं–योग वाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्। दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्

आवरण एवं धातुक्षय को प्रमुख कहा गया है। कफावृत वातप्रकोप में कफ तथा उसके तुल्य स्वभाव वाले आम को दृष्टि में रखकर योग्य उपचार करने पर वायु आवरण से मुक्त हो जाये तो वात विरोधी उपायों के बिना भी वात विकारों का शमन हो जाता है। जैसे शास्त्र का संकेत है—

कफावृते कफघ्नी तु मारुतस्यानुलोमनी ।

इस निमित्त हितकारी उपायों में निर्दिष्ट है—

स्वेदानिरूहास्तीक्ष्णाश्च वमनं सविरेचनम् ।
जीर्णं सर्पिस्तथा तैलं तिलसर्षपजं हितम् ।।

—शेषांश पृष्ठ ३०८ पर देखें।

सुप्ति वात

वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य

महर्षि सुश्रुत ने सप्त त्वचा का जो वर्णन किया है उनमें पंचमी वेदिनी नामक त्वचा है। 'विद् वेदने' धातु से वेदिनी की निरुक्ति की गई है। वेदना से यहां संवेदना किंवा स्पर्श करना समझना चाहिये। इस वेदिनी त्वचा में त्वगिन्द्रिय (Organ of touch) स्थित है ऐसा कहा जा सकता है। स्थूल दृष्टि से त्वचा के दो भाग किये जा सकते हैं—बहिस्त्वक् एवं अन्तस्त्वक्। इनमें बाह्य त्वचा बहुत पतली और रञ्जक कणों को आश्रय देती है। अन्तस्त्वक् त्वचा मोटी होती है, शरीर का रक्षण करती है। ऊष्मा के संग्रह में यह बड़ा महत्वपूर्ण भाग लेती है। इसमें संज्ञावह नाड़ियों के प्रान्त रहते हैं। ये नाड़ियां स्पर्शज्ञान का वहन करके मस्तिष्क में मध्य कुल्या के पीछे के किनारे पर स्थित स्पर्शसंज्ञा क्षेत्रों में ले जाती हैं। आयुर्वेद में नाड़ियों के बदले रक्तस्थ वात को ही प्राधान्य देकर धमनी व्याकरण शारीर की व्याख्या की गई है। इसका विस्तृत विवेचन डा० श्री भास्कर गोविन्द घाणेकर ने सुश्रुत शारीर अध्याय ६ में किया है। इनमें ऊर्ध्वगा दश धमनियां शब्द स्पर्शरूप रसादि का वहन करने वाली कही गई हैं। इनमें स्पर्शवाहिनी धमनियां पृष्ठवंश में स्थित सुषुम्नाकाण्डस्थ (Spino cerebellar nerves) हैं, जो अनेक विध स्पर्श संज्ञाओं को मूल की ओर ले जाती हैं। इसी भांति तिर्यग्गामिनी धमनियों के वर्णन में बतलाया गया है कि ये उत्तरोत्तर विभक्त होकर असंख्य हो जाती हैं और इनसे ही सम्पूर्ण शरीर जाल के समान व्याप्त होता है। इनके मुख रोमकूपों से लगे रहते हैं। इनसे ही स्पर्श के प्रकार का ग्रहण होता है। ये तथाकथित धमनियां सर्वांग में व्याप्त हैं। त्वगिन्द्रिय से स्पर्श के ग्रहण में निम्नांकित दोषों का कार्य होता है—

१. प्राणवायु—इन्द्रिय बुद्धि को धारण कर सुखद दुःखद स्पर्शों का बोध कराता है।

२. व्यान वायु—इसके नियन्त्रण से ही ऊर्ध्वगा तिर्यगा धमनियां स्पर्श को वहन का कार्य करती हैं।

३. उदानवायु—विविध स्पर्श अनुभूति का स्मरण कराता है।

४. साधक पित्त—त्वचा में आवश्यक संज्ञाओं के स्पर्श में रुचि अरुचि कराता है।

५. भ्राजक पित्त—मलों को हटाकर स्पर्श ग्रहण में सहायता पहुंचाता है।

६. तर्पक कफ—त्वचा को अपने स्पर्श ग्रहण के कार्य में आवश्यक रचना विशेष का नियमन करता है।

वात विकृति में त्वचा में प्रधानतया तीन प्रकार की विकृति होती है—१. अतिरेकरूपा (Hyperaesthesia) २. मिथ्यारूपा (Parasthesia) ३. क्षयरूपा (Anaesthesia)। इनमें क्षयरूपा विकृति ही सुप्तिवात के नाम से जानी जाती है। इसे संज्ञानाश भी कहा जा सकता है। इसमें रोगी को किसी प्रकार के स्पर्श का ज्ञान नहीं होता। उक्त धमनियों किंवा वात नाड़ियों की यह विकृति है। सुप्ति का अर्थ है स्पर्शाज्ञत्व। सुप्ति की उत्पत्ति में प्राणवायु, व्यानवायु, समानवायु एवं रक्त आदि का कार्य होता है।

गुरुवर्य श्री कल्याणप्रसाद जी महाराज के कथनानुसार आवरण दो प्रकार के होते हैं—द्रव्यात्मक एवं क्रियात्मक। द्रव्यात्मक आवरण के २२ भेद बतलाये गये हैं और क्रियात्मक आवरण के २० भेद बतलाए हैं। इनका विस्तृत वर्णन चरक संहिता एवं अष्टाङ्गहृदय में देखना चाहिए। उन क्रियात्मक (अमूर्तस्यामूर्तेणावरणं क्रियात्मकम्) आवरणों में जो प्राणावृत व्यान एवं व्यानावृत प्राण का उल्लेख है इन स्थितियों में सुप्ति लक्षण प्रकट होते हैं। भगवान चरक ने प्राणावृत व्यान के लक्षणों में 'सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वम्' और व्यानावृत प्राण के लक्षणों में 'सुप्तगात्रता' का वर्णन किया है।

यह सुप्ति पाद में विशेषेण होने से भगवान चरक ने वात के नानात्मज विकारों के अन्तर्गत 'पादसुप्तता' को भी गिना है। आचार्य शार्ङ्गधर ने तो 'प्रसुप्तता' का

इन विकारों के अन्तर्गत स्पष्ट उल्लेख किया है। महर्षि सुश्रुत एवं वाग्भट ने रक्तान्वित वा 'सुप्ति' प्रमुख लक्षण कहा है।

महर्षि सुश्रुत ने सूत्र स्थान के आवरणीय अध्याय में आठ दुश्चिकित्स्य महागदों में वातव्याधि को प्राथमिकता दी गई है और उसके उपद्रवों में 'शूनं सुप्तत्वचम्' को प्रमुखता दी है।

रोगी की आंखों पर पर्दा लगा कर उसके शरीर के कुछ भागों को छूकर उसकी स्पर्शानुभूति का ज्ञान करना चाहिए। रोगी की आंखें बन्दकर विभिन्न भागों से धीरे-धीरे रुई छुआई जानी चाहिए। यदि इसका ज्ञान रोगी को हो जाता है तो लघु स्पर्श का बोध होता है। स्पर्श का सम्यक् विवेचन करने के लिए आजकल एक परकार (कम्पास) काम में लाया जाता है जिसके दोनों सिरे कुण्ठित होते हैं। दोनों सिरों को अलग हटाकर उन्हें एक साथ त्वचा पर रखते हैं और रोगी को पूछते हैं कि वह दो स्थानों पर छुआ गया या एक स्थान पर। परकार को उठा उठाकर और सिरों का अन्तर बढ़ा घटाकर स्पर्श का विवेचन किया जाता है।

यहां यह स्मरण दिलाना उपयुक्त रहेगा कि शिरस्थ सीमंत मर्म (Cerebral cortex) के नीचे ही समस्त इन्द्रियों का क्षेत्र है और सुषुम्ना की नाड़ियां जो स्पर्शादि का संवहन करती हैं और इनसे ज्ञान होता है। यह संवहन और ज्ञान क्रमशः व्यान तथा प्राण वायु से होता है। सुप्तिवात उक्त सीमंत मर्म के आघात से भी संभव है और इन सुषुम्ना की नाड़ियों की विकृति से भी होता है।

चिकित्सा—

सुप्तिवाते त्वसृङ्मोक्षं कारयेद्बहुशो बुधः।
दिह्याच्च लवणागारधूमैस्तैलविमर्दितैः॥

—चक्रदत्त

श्रृङ्ग, अलाबू, जौंक लगाकर किंवा सिराव्यध करके अनेक बार रक्तमोक्षण करना चाहिए। रूक्ष एवं क्षतक्षीण व्यक्ति में विशेषतया वातवृद्धि का भय रहता है अतः ऐसे व्यक्ति का रक्तमोक्षण न करें। रक्तमोक्षण के पश्चात् सेंधानमक, आगारधूम (चूर्णरूप में रसोई घर का धुंआ) और वातनाशक तैल को मिलाकर मर्दन (वातनाशाय मर्दनम्) करना चाहिए। रक्तगत वात की रक्तमोक्षण मुख्य चिकित्सा है—

शीता प्रदेहा रक्तस्थे विरेको रक्तमोक्षणम्।

व्यानावृत प्राण में सस्नेह विरेचन की उपयोगिता है और प्राणावृत व्यान में ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों के अनुसार चिकित्सा श्रेयस्कर है। व्यान की विकृति में ऊर्ध्वगमन, अनुलोमन और संशमन आवश्यक है।

सुप्तिवात में निम्नाङ्कित प्रयोग लाभप्रद हैं—

१. कैशोर गुग्गुलु १-१ ग्राम प्रातःसायं त्रिफला गुडूची के क्वाथ से सेवन करना चाहिए।

२. शुद्ध गन्धक ३७५ ग्राम, हरड़, बहेड़ा, आंवला, सोंठ, मिर्च, पीपल, पीपलामूल, विडङ्ग, दालचीनी, इलायची, तेजपत्र, जीरा तथा चित्रक प्रत्येक द्रव्य का कपड़छन चूर्ण ६२॥-६२॥ ग्राम लेकर इन सबको खरल करें। प्रथम दिन इस चूर्ण की ४ ग्राम मात्रा शहद के साथ देवें तथा प्रतिदिन दोनों समय १-१ ग्राम की मात्रा बढ़ाते जायें। ९ वें दिन जब मात्रा १२ ग्राम हो जाय तो ४० दिन पर्यन्त यही मात्रा स्थिर रखें। यह सुप्ति वात का विशेष औषधि कल्प है। (सि० भै० मणिमाला)

३. शुद्ध कुचला चूर्ण २ तोला, समभाग पारद गन्धक की कज्जली २ तोला, सोंठ, मिर्च, पिप्पली चूर्ण ४ तोला लेकर एकत्र खरल में डालकर सात भावना निर्गुण्डी स्वरस की और सात भावना ढाक के बीज कषाय की देकर २-२ रत्ती की गोलियां बनालें। यह रस सुप्ति वात को नष्ट करने में श्रेष्ठ है। —रस तरंगिणी २४

४. पारद भस्म, गन्धक, कान्त लौह की भस्म, अभ्रक भस्म और ताम्र भस्म को समान भाग लेवें। सबको खरल करें पुनर्नवा, गिलोय, चित्रक, तुलसी और त्रिकटु इनको स्वरस में पृथक्-पृथक् ३-३ दिन खरल करें, फिर लघु पुट देवें। जब शीतल हो जावे तब निकाल लें। इसे वात राक्षस रस कहते हैं। यह भी सुप्ति वात रोग नाशक कहा गया है—

सुप्तवातं वातशूलमुन्मादं च विनाशयेत्।

—रसराज सुन्दर

५. गन्धक आमलासार ४ छटांक, घी १ छटांक, दूध १ सेर। कढ़ाई में घी और गन्धक डालकर आग पर रखें। जब गन्धक पिघल जावे तो दूध में छोड़ देवें। कुछ क्षण बाद गन्धक दूध के तल में जम जावेगा। गंधक को निकालकर नया दूध और घी लेकर फिर इसी तरह करें। तीन बार इसी प्रकार करने से गन्धक शुद्ध हो जाता है। यह गन्धक १२ तोले पीस लें, फिर ३० पल बावची लें, ७ दिन तक गोमूत्र में भिगो देवें। पीछे उसका छिलका उतार कर बारीक चूर्ण कर लें और दोनों को मिलाकर बारीक खरल करलें। इस दवा को प्रतिदिन ६ माशे से १ तो. तक शहद के साथ ४६ दिन तक प्रातःकाल खावें तो सुनबहरी (सुप्ति वात), रक्त मण्डल, वातरक्त आदि रोग ठीक होते हैं। —मेघ विनोद

६. सर्वेश्वररस २५० मिग्रा.+अमृतासत्व ५०० मिग्रा., पंचतिक्त घृत गुग्गुलु १० ग्रा.। १×२ अष्टविंशक गण क्वाथ (शा. सं.) से। भोजनोत्तर अश्वगन्धारिष्ट+सारस्वतारिष्ट का सेवन करें। यह प्रयोग २१ दिनों तक करना चाहिए। साथ में ही सैंधवादि+आगारधूमाद्य तैल का अभ्यङ्ग भी करते रहना चाहिए।

७. गन्धक रसायन ५०० मिग्रा.+ताप्यादि लौह २५० मिग्रा.+अग्नितुण्डी वटी २५० मिग्रा.+ताल भस्म ६० मिग्रा.। १×२ मंजिष्ठादि क्वाथ (शा. सं.)+पिप्पली चूर्ण २५० मिग्रा.+गुग्गुलु ५०० मिग्रा. के साथ। साथ ही रास्नापूतिक तैल (योग रत्नाकर) का अभ्यङ्ग हितावह है। एक सप्ताह बाद एक समय औषधि बन्दकर पुनः चालू करनी चाहिए। औषधि १ मास तक दें।

निम्नांकित बाह्य प्रयोग लाभदायक होते हैं—

१. चित्रक की छाल को पानी में पीसकर या इसके चूर्ण को तैल में मिलाकर लेप या मर्दन करने से सुप्ति वात में लाभ होता है। —धन्वन्तरि वनौ० विशे० ३

२. जवासे का स्वरस २० तो. और सरसों का तैल १० तो.। दोनों को मिलाकर मन्दाग्नि से पकावें। जब तैल मात्र रह जाय तो उतार कर छान लें। इस तैल की मालिश करने से सुप्ति वात मिटता है।

३. नाखूना और कड़वा सुरंजान दोनों को समान भाग लेकर आग पर गर्म कर सुन्न स्थान पर सुहाता-२ लेप करें। —श्री हरिदास जी

✦:-०-:✦
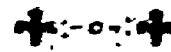
★ शीत-वात → पृष्ठ ३०५ का शेषांश ★

इसमें निम्नाङ्कित योग लाभप्रद सिद्ध होते हैं—

१. कुचला ८ तोले लेकर भट्टी में भुनालें, फिर ऊपर से छिलके उतार लें और बीच की गिरी भी निकाल लें और बारीक चूर्ण कर रखलें। उसमें से १ या २ रत्ती लेकर खावें और ऊपर से ५ नग लौंग चबावें।

—मेघ विनोद।

२. व्योषदारु अभयावचा कट्फल पुष्करमूल।
गोजल क्वाथ हरण करै शीतवातकृत शूल॥

३. इस रोग की यह उत्तम औषधि व्यवस्था है—रसायन योगराज गुग्गुलु ३ रत्ती, शुद्ध कुपीलु १ रत्ती, शीतारि रस (र.सा.सं.) ३ रत्ती

—मिश्रित ३ माशा।

अररख रस ६ माशा, कालीमिर्च चूर्ण २ रत्ती और मधु के साथ प्रातः, मध्याह्न और सायं। अगुर्वाद्य तैल (चरक) महानारायण तैल का अभ्यङ्ग करना चाहिये।

४. हिंगु १ तोला, अफीम ३ माशा, लहसुन स्वरस ३ तोला, कडु तैल १० तोला एकत्र मिलाकर पकावें। जब दवा जल जाय तब इस तैल की मालिश करे तो सब प्रकार का शीत वात नष्ट हो परन्तु शीतल जल से बचा रहे। —रसराज महोदधि

—वैद्य श्री वेंकटलाल शर्मा
राज० आयुर्वेदिक औषधालय,
बड़ायली (नागोर) राज०

★——★

★ सुप्ति-वात ★
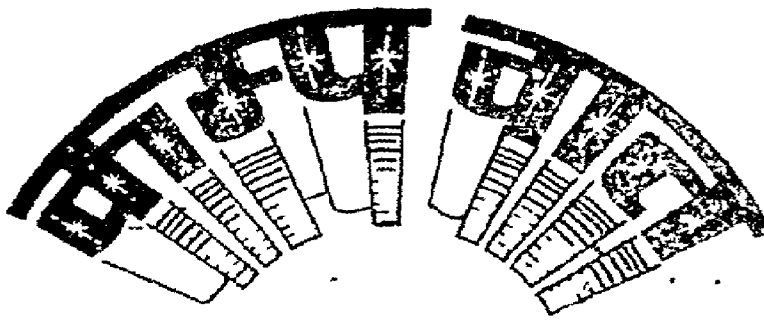
वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य

मानस विज्ञान की दृष्टि से कंप (वेपथु) भावना प्रधान मानस व्यापार है। यह क्रोध, शोक, भय की स्थिति मे प्रकट होता है।

यह कंप (वेपथु) जब मानस भाव न होकर शारीरिक विकृति के रूप मे प्रकट होता है तो कंपवात (Parksonism) कहा जाता है। मानस भाव अस्थायी होते हैं किन्तु कंपवात नामक वातव्याधि स्थायी होती है जो समुचित उपचार से शान्त होती है।

प्रकुपित वायु नाडी मण्डल की स्थिरता को नष्ट कर यह रोग उत्पन्न करता है। किसी अज्ञात कारण से शजील पिण्ड (Corpus striatum) के चेष्टावह कोषों का अपजनन होने से इस रोग की उत्पत्ति होती है। यह रोग सहसा प्रकट होता है। कभी कभी अत्यधिक श्रम, आघात अथवा तीव्र संक्रामक ज्वर के परिणामस्वरूप भी इस रोग की उत्पत्ति होती है। इसे स्तम्भयुक्त पक्षाघात भी कहा जाता है। यद्यपि इसमे पूर्णत. पक्षाघात तो नही होता किन्तु चेष्टाओ मे असमर्थता का लक्षण ही मूलरूप मे परिलक्षित होता है। यह रोग प्रत्येक आयु मे हो सकता है फिर भी वृद्धावस्था में ५० वर्ष की आयु के बाद ही अधिकतर देखने को मिलता है। कभी कभी यह रोग मस्तिष्क शोथ के बाद भी होते हुए देखा गया है। माधवकर ने इसके वर्णन मे कहा है—

'सर्वाङ्गकंप. शिरसो वायुर्वेपथुसंज्ञकः।'

यहां पर शिर शब्द उपलक्षण मात्र है। इससे हस्त ग्रीवादि प्रत्येक अङ्ग के कंपों का भी ग्रहण होता है। अतः इस कंपवात के दो भेद किये जा सकते हैं—

१. सर्वाङ्ग कंप—कंपवात

२. एकाङ्ग कंप—वेपथुवात

व्यान वायु के चल गुण से यह कंपवात उत्पन्न होता है। असाध्य अर्दित, वातरक्त तथा उरुस्तम्भ में भी कंपवात देखा जाता है। सीमन्तमर्म के घात होने से भी पित्तनाश होकर इन्द्रिय हानि से कंपवात होता है। कभी कभी Chlorpromazin group की औषधियों (लारजेक्टिल, सिक्विल आदि) के अधिक या गलत प्रयोग से भी कंपवात रोग हो जाया करता है।

लक्षण—

शरीर में कंपन रहता है जो एक अङ्ग से उत्पन्न होकर दूसरे अङ्गों को आक्रान्त करता है। प्रारम्भ मे रोगी के एक हाथ मे या चेहरे मे किंचित कठोरता और कंप होता है। शनैः शनैः यह विकृति सम्पूर्ण शरीर को आक्रान्त कर लेती है। मुख की कान्ति नष्ट हो जाती है। पलक झपकने की शक्ति नष्ट हो जाती है। अनाम्यता (Rigidity) मुख, ग्रीवा, धड तथा शाखा के अग्र मे विशेप रूप से पाई जाती है। खड़े होने पर रोगी आकुंचन की स्थिति मे रहता है। रोगी गर्दन मोड़ने तथा सीधे खड़े होने में असमर्थता प्रकट करता है। पेशियों की सम्पूर्ण क्रियायें मन्द हो जाती है। मेरुदण्ड तथा हाथ पैर झुक जाते हैं। लिखना पढना कठिन हो जाता है। कठिनाई से लिखने पर हाथों में कंप होता हैं। अक्षर टेढे मेढ़े लिखे जाते हैं। रोगी के हाथों में कंपन इस प्रकार होता है मानो वह गोलियां बना रहा है। रोगी चलते समय छोटे छोटे पग रखता है। थोड़े से धक्के से वह गिर सकता है। गति हंस के समान फिसलती हुई तथा क्रमशः तीव्र होती जाती है। यह विदूषक गति कही जाती है।

यद्यपि कंप सोते समय मिट जाते है किन्तु रोग की उग्र अवस्था में शयनकाल में भी कंप होते रहते हैं। अन्तिम अवस्था में रोगी असहाय होकर खाट पकड लेता है। मानसिक विकृति, नेत्र विकृति, अस्पष्ट भाषा एव मूर्च्छा आदि उपद्रव हो रोगी का प्राणान्त होता है।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्रियों के द्वारा निर्दिष्ट लासक (Chorea) रोग जो फिरंग, योषापस्मार आदि के कारण रक्तवाहिनियो की विकृति से अथवा सहज

विकृतिस्वरूप होता है; जिसमें कंपनयुक्त गतियां होती हैं। आयुर्वेदोक्त कंपवात में ही समाविष्ट हो जाता है।

चिकित्सा—

१. रोगी का पंचकर्म द्वारा शोधन करना अत्यावश्यक है।

२. निम्नाङ्कित तैलों का प्रयोग लाभकारी है—

(क) लघु विषगर्भ तैल द्वितीय (यो० र०)

(ख) महालक्ष्मी नारायण तैल (यो० र०)

(ग) माष तैल (वसव राजीयम्)

(घ) कार्पास तैल (वसव राजीयम्)

(ङ) वायुच्छायासुरेन्द्र तैल (भै. र.)

(च) रास्नादि तैल (चरक, भेल संहिता)

इस रोग में सर्वाधिक उपयोगी तैल योग रत्नाकर में वर्णित विजय भैरव तैल है। पारद, गन्धक, मनःशिला, हरताल सबको शुद्धकर समभाग लेकर बारीक चूर्णकर कांजी में कल्क बनाकर रेशमी वस्त्र में लपेटकर एक वर्ति बनाकर उसके अग्रभाग में आग लगानी चाहिए। जलने पर तैल टपकने लगता है। इसे पात्र में एकत्रित कर तिल तैल में मिलाकर नस्य, अभ्यङ्ग एवं पीने के कार्य में प्रयोग करना चाहिए।

शुन्दवेदस्तर, हींग, अकरकरा ४-४ माशा को ५ तोला जैतून के तैल में मिलाकर भी आक्रान्त अङ्ग पर अभ्यङ्ग करने से लाभ होता है।

३. आभ्यन्तर प्रयोग हेतु निम्नाङ्कित योग लाभप्रद है—कंपवातारि रस (र. रा. सु.), विजय भैरव रस (वसवराजीयम्); महावातविध्वंसन रस (रसयोग सागर), वातान्तक रस (व. रा.), वात राक्षस रस (यो. र.), स्वर्णसमीरपन्नग रस (भै. र.), बृहद् वातचिन्तामणि रस (भै. र.), समीरगजकेशरी रस, चतुर्भुज रस (भै. र.), सुवर्ण भूपति रस (यो. र.), नारसिंह चूर्ण (च. द.) आदि उपयोगी हैं।

४. फिरंगजन्य कंपवात में मल्ल के योग देना श्रेयस्कर है। हरताल, मनःशिला आदि भी मल्ल के यौगिक होने से प्रयोग में लाये जा सकते हैं।

५. शिर के कंपन में रससिंदूर का प्रयोग बला क्वाथ से तथा कर-कंप में रसतरंगिणी में उक्त यह योग लाभप्रद है जो अनुभूत है। इस योग का पद्यानुवाद है—

यशदभस्म घनसार रससिंदूर मिलाय के।
दिन में दें दो बार कर-कंपन कवलित करे॥

इस योग के सेवन की विधि इस प्रकार है—रस सिंदूर १२५ मिग्रा., यशद भस्म २५० मिग्रा., शुद्ध देशी कपूर २० मिग्रा., गोघृत ६ ग्राम। १×२ प्रातःसायं सेवन कर ऊपर से सितायुक्त गोदुग्ध पीवें।

६. इस योग की एक उत्तम औषधि व्यवस्था इस प्रकार की जानी चाहिए—

प्रातः सायम्—सुवर्ण भूपति रस १२५ मि. ग्रा.
यशद भस्म २५० मि. ग्रा.
१×२ मधु एवं आर्द्रक स्वरस से।

मध्यान्ह में—नारसिंह चूर्ण ५ ग्राम, ५ ग्राम घृत एवं १० ग्राम मधु में मिलाकर ऊपर से गोदुग्ध पीवें।

रात्रि में सोते समय—महायोगराज गुग्गुलु २ गोली —महारास्नादि क्वाथ से

विबन्ध की स्थिति में एरण्ड स्नेह या एरण्ड पाक की भी योजना की जानी चाहिए। अभ्यङ्गार्थ उपर्युक्त तैलों में से किसी तैल को काम में लावें।

७. निम्न पाक भी जीर्ण व्याधि में लाभप्रद हैं—

लहसुन ५०० ग्राम को १ किलो ग्राम गोदुग्ध में भलीभांति पकावें। जब लहसुन पक जाय तब ३०० ग्राम मधु तथा १०० ग्राम गोघृत मिलावें। इसके पश्चात् जावित्री, जायफल, छोटी इलायची, बड़ी इलायची, हरड़ का छिलका, सोंठ, दालचीनी, मस्तङ्गी प्रत्येक २०-२० ग्राम का कपड़छन चूर्ण तथा ५ ग्राम अगर चूर्ण ५ ग्राम केशर मिलाकर रखलें। ५-१० ग्राम की मात्रा में दूध के साथ सेवन करें।

शङ्ख पुष्पी का चूर्ण या पानक तथा बादाम पाक भी उपयुक्त है। मस्तिष्क शोथजन्य कंप में यह अधिक हितावह है। दशमूली पाक, ब्राह्म रसायन, च्यवनप्राश, भल्लातक पाक आदि रसायन भी प्रयोग में लाने से लाभ होता है।

—शेषांश पृष्ठ ३१४ पर देखें।
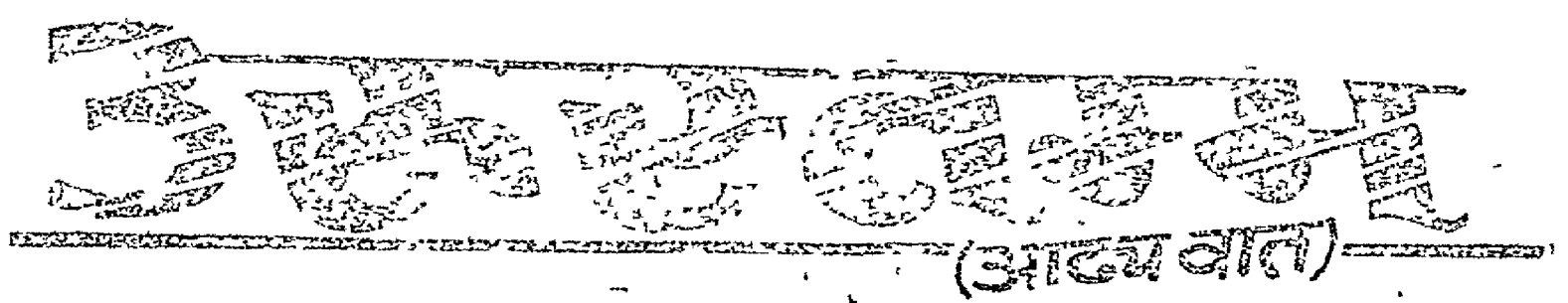
वैद्यराज श्री रघुनाथ प्रसाद पारीक आयुर्वेद शास्त्री
प्रधान चिकित्सक—श्री वर्धमान दातव्य औषधालय, पचार (सीकर) राजस्थान।

★ ★ ★

महाभारत के शान्तिपर्व में जनक ने पुलभा से कहा है कि ज्ञान हो जाने पर मनुष्य यत्न करता है और यत्न के इस मार्ग से ही अन्त में महत्तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। यही महती शिक्षा सनातनकाल से हमारे साहित्य में व्याप्त है—'एष धर्मः सनातनः।' इस धर्म की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं परमादरणीय पुण्य श्लोक पिता श्री वैद्य रघुनाथ प्रसाद जी जो, जीवन की अन्तिम अवस्था मे भी मनसा वाचा कर्मणा आतुर विकार प्रशमन मे लवलीन रहते हैं। आपने 'सर्वत्र विजयं वाञ्छेत् पुत्रात् शिष्यात् पराभवम्' के अनुसार मन्द बुद्धि इन पंक्तियों के लेखक को जो श्रेय दिया है यह इनकी उदारता एवं महानता का परिचायक है। वस्तुतः इस जग में ऐसे व्यक्ति विरले ही हैं—

मनसि वचसि कार्ये पुण्यपीयूषपूर्णाः त्रिभुवनमुपकार श्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीयकृत्य नित्यं निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

उरुस्तम्भ नामक रोग विशेष पर आपने यह लेख प्रदान कर इस ग्रन्थ की शोभा बढ़ाई है।

—वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'।

इस उरुस्तम्भ को ही आढ्य वात भी कहा गया है। धनिक व्यक्ति पैदल चलते नही है और कभी पैदल चलने का काम पड़ जाता है तो अथवा घोड़े आदि की सवारी पर चलने से उनकी जांघ भर आती है। परिणामस्वरूप यह दारुण व्याधि उत्पन्न हो जाती है। अन्य वात रोगो की अपेक्षा इसमें स्नेहादि करने से रोग मे वृद्धि होती है—यही इसके निदान का प्रमुख हेतु है। अग्निवेशादि शिष्यों ने भगवान आत्रेय से एक ऐसा ही प्रश्न किया था कि 'क्या कोई ऐसा भी दोषज रोग है जिसमे पञ्चकर्म सभी व्याधियों का प्रमुख एवं निरापद उपक्रम है किन्तु एक ऐसा भी रोग है जिसमे पञ्चकर्म कुछ भी नही कर सकते और वह रोग है—उरुस्तम्भ (अस्त्यूरुस्तम्भ)।

यद्यपि सुश्रुत ने इस रोग में वात की प्रधानता व्यक्त कर इसे महावातव्याधि के अन्तर्गत पढ़ा है किन्तु भगवान चरक ने इसमें कफ की प्रधानता व्यक्त की है। इस मत का मधुकोपकार श्री विजय रक्षित ने समाधान प्रस्तुत किया है कि कफ द्वारा आवृत होकर वायु उरुस्तम्भ को उत्पन्न करता है। अतः आवरक कफ की चिकित्सा पहले करने के अभिप्राय से चरक ने इसे कफ प्रधान कहा है किन्तु वस्तुतः स्तम्भ का कारण वायु ही होने से आरम्भक दोष के अनुसार सुश्रुत आदि ने इसे वात प्रधान रोग कहा है। दूषित वात और कफ के साथ मेद और आम का भी संसर्ग होता है। इसके वातादि भेद से भेद नहीं होते, एतावता भगवान चरक ने कहा है—'एक एव उरुस्तम्भ' (त्रिदोषारब्ध.)।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के अनुसार इस रोग को क्या नाम दिया जाय यह एक विवाद का विषय है। कई व्यक्ति इसे स्तम्भिक अधरांगघात (Spastic Paraplegia) मानते हैं। कई व्यक्ति सन्धिकला शोथ (Synovitis) तो कई नितम्बसन्धिरोग (Hip Joint Disease) मानते हैं। आयुर्वेद के आधुनिक उद्भट विद्वान विचारक आचार्य श्री यदुनन्दन जी उपाध्याय इसे मांसपेशी की

श्रान्ति कहना उपयुक्त समझते हैं। माधव निदान की व्याख्या में आपने जो इस विषयक मन्तव्य प्रकट किया है वह वर्णनीय है—

मेरे विचार से उरुस्तम्भ को जांघ भरना कह सकते हैं। प्राचीनकाल में व्यायाम विशेषत: दण्ड बैठक अधिक करने की तथा पैदल चलने या घोड़े आदि की सवारी की अधिक प्रणाली थी अतः प्राचीनकाल में यह रोग अधिकता से पाया जाता था। अत्यधिक व्यायाम से और व्यायाम के बाद अकस्मात् शीत जल स्पर्श आदि करने से मांसपेशियां कठिन, अकर्मण्य और पीड़ायुक्त हो जाती हैं। अर्वाचीन विद्वान इसे मांसपेशी की श्रान्ति (Fatigue) कहते हैं। व्यायाम से मांसपेशियों में सार-क्षीराम्ल (Sarco-lactic Acid) की उत्पत्ति होती है। स्वाभाविक अवस्था में यह क्षीराम्ल (Lactic acid) और मधुजन (Glycogen) में परिणत हो जाता है किन्तु अति व्यायाम के कारण अधिक उत्पत्ति होने पर इसके घन कण (क्रिष्टल) बन जाते हैं और वे अधस्त्वम् मांसपेशियों में संचित होकर नाड़ीक्षोभ और पीड़ा को उत्पन्न करते हैं। नमक मिले पानी से धोने पर यह घुल जाते हैं और स्वस्थता उत्पन्न होती है किन्तु जब पेशी सूत्रों का विनाश हो जाता है तब यह रोग असाध्य होता है। मधुकोषकार ने व्यायाम जनित समूढ वात कहा है।

कारण—

भोजन के कुछ भाग के परिपक्व और कुछ भाग के अपक्व रहने पर शीत उष्ण, द्रव्यशुष्क, गुरु लघु तथा स्निग्ध रूक्ष आदि परस्पर विपरीत गुण वाले पदार्थों का सेवन करने से, दिन में सोने से और रात्रि जागरण से, अधिक परिश्रम करने एवं पैदल चलने आदि से क्षोभ होने से इस रोग की उत्पत्ति होती है।

सम्प्राप्ति और लक्षण—

कफ और मेद के साथ आमदोषयुक्त वायु प्रकुपित होकर और पित्त को दबाकर जांघों में पहुँचता है और पैर (जांघ) की अस्थियां भीतर से गाढ़े कफ से पूर्ण हो जाती हैं तब एक प्रकार की स्तब्धता (जकड़न) पैदा होती है जिससे जांघें जकड़ी हुई स्पर्श में ठण्डी, संज्ञाहीन और पीड़ायुक्त हो जाती हैं तथा ऐसा भार अनुभव होता है कि यह अपनी न होकर किसी दूसरे की टांगें हैं। इस रोग में अन्य रूप एवं पूर्वरूप निम्नाङ्कित होते हैं—

पूर्वरूप—निद्रा, अत्यधिक चिन्ता, स्तिमितता, आर्द्र-चर्म से आवृत होने की प्रतीति, ज्वर, रोमहर्ष, अरुचि, छर्दि, जङ्घा सदन (शक्तिहीनता), ऊरु सदन।

रूप—अत्यधिक चिन्ता, विभिन्न अंगों में पीड़ा, स्तिमितता, ज्वर, तन्द्रा, अरुचि, छर्दि, पाद सदन, पाद सुप्ति, पैर उठाने में असमर्थता।

साध्यासाध्यता—जब उरुस्तम्भ से पीड़ित व्यक्ति के पैर में दाह, बेचैनी, सुई चुभाने के समान कष्ट हो और शरीर में कम्प हो जाय तो रोगी को वह उरुस्तम्भ रोग मार डालता है। इन लक्षणों के विपरीत (उक्त उपद्रवों से रहित) या नवीन रोग साध्य है।

पूर्व वर्णित आधुनिक रोगों से इस रोग का विभेद विवरण भी यहां देना समीचीन होगा—

अधराङ्ग घात (Paraplegia)	उरुस्तम्भ
१. स्नेहन से लाभ होता है।	१. स्नेहन से हानि होती है।
२. पूर्णतया कर्महीनता होती है।	२. पूर्ण कर्महीनता नहीं होती, कृच्छ्रता होती है।
३. पूर्णतया वेदनाहीनता होती है।	३. वेदना होती है।
४. प्रायः स्पर्श ज्ञान का भी अभाव होता है।	४. केवल शीत स्पर्श के ज्ञान का अभाव रहता है।
५. दाह प्रायः नहीं होता।	५. दाह हो सकता है।

नितम्ब सन्धि दोष (Hip Joint Disease)	उरुस्तम्भ
१. स्निग्ध और बृंहण द्रव्यों का ही प्रयोग हितकर है।	१. इसमें अपकर्षण और रूक्षोपचार का ही उपदेश है।
१. प्रायः एक ही पार्श्व में होता है।	२. दोनों ही टांगों में होना बताया गया है।

★ उरुस्तम्भ ★

'गूढलिंग व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत' के अनुसार वातव्याधि और उरुस्तम्भ की सापेक्ष निश्चिति के लिए स्नेहन कराया जाता है। स्नेहन से लाभ होने पर इसे वात व्याधि और हानि की स्थिति में उरुस्तम्भ का निर्णय किया जाता है।

स्नेहन एवं वस्तिकर्म से आवरक दोष कफ की वृद्धि होती है। दोष ऊरुगत होने से वमन और विरेचन से भी लाभ दृष्टिगोचर नहीं होता। जङ्घा और ऊरु प्रदेश वात का स्थान है और उरुस्तम्भ में यह स्थान शीतल रहता है, इसलिए इस स्थान में जो दोष प्रविष्ट होते हैं, वे जकड़ जाते हैं। अतः ये दोष वमन तथा विरेचनादि से सुखपूर्वक नही निकाले जासकते हैं,जैसे अत्यन्त गहरे नीचे के भाग में रहने वाला जल सुखपूर्वक नहीं निकाला जा सकता है। उसी प्रकार इस रोग में वमन विरेचन द्वारा दोषों का निर्हरण नही कराया जा सकता है। वमन विरेचन का प्रभाव तो आमाशय और पक्वाशयगत दोषों के निर्हरण में ही होता है। किंवा कफ और आम दोष वात स्थान में होने से और भी स्तब्ध हुये रहते हैं। वायु के ऊपर कफ का आवरण होने से स्नेहन, वस्तिकर्म से कफ की वृद्धि अधिक होती है जिससे विकृति अधिक बढ़ती हैं। इस विवरण का विस्तृत विवेचन चरक संहिता में देखा जा सकता है। चिकित्सा से पूर्व इन बातो की जानकारी होना अत्यन्त आवश्यक है।

चिकित्सा—

इस व्याधि में संशोधन की अपेक्षा संशमन श्रेयस्कर है। वही औषधि उपयुक्त है जिससे कफ का नाश हो और वात का प्रकोप न हो। पहले कफनाशक रूक्ष चिकित्सा करें इसके उपरान्त वातशामक चिकित्सा करें। आभ्यन्तर उपचारों में शिलाजीत ५०० मिग्रा. से १ ग्रा., गुग्गुलु २५०-५०० मिग्रा., पिप्पली चूर्ण तथा सोंठ चूर्ण ३-६ ग्रा. गोमूत्र के साथ अथवा दशमूल क्वाथ से सेवन करें।

बाह्य उपचारों में भी स्नेहन वर्जित द्रव्यों से उत्सादन एवं क्षार तथा मूत्रयुक्त द्रव्यो से स्वेदन का विधान किया है। भगवान चरक ने बाह्य उपचार में उत्सादन के लिए अन्य द्रव्यों के साथ मिट्टी और ईंटों के चूर्ण का विशेष महत्व प्रकट किया है। साथ ही कंकरीली या रेतीली जमीन पर संभल संभल कर टहलने एवं नदी या तालाब में तैराने का उपदेश भी दिया है।

नमक के घोल (जिसमें अल्प मात्रा में क्षार भी मिश्रित हो) से धोने पर लैक्टिक एसिड घुलकर रक्त द्वारा स्थानान्तरित होने पर श्रान्ति की निवृत्ति होती है। प्रायोगिक परीक्षणों से यह सिद्ध हुआ है कि श्रान्ति का प्रधान विकृति केन्द्र मांसपेशी या उसको प्रदाय करने वाली नाड़ियों में न होकर मांसपेशीगत नाड्यग्रों (Nerve endings) में होता है। श्रान्त अभ्यागतों या अतिथियों की टांगों को नमक के पानी से मलकर धोने की प्रथा भारतीय ग्रामों में जो अब तक है उसका यही रहस्य है।

रूक्षण से वात प्रकोप हो तो वातघ्न स्नेहन स्वेदन करना चाहिए—

रूक्षणाद्वातकोपश्चेन्निद्रा नाशार्ति पूर्वकः।
स्नेहस्वेदक्रमस्तत्र कार्यो वातमयापहः॥

यदि उरुस्तम्भ अपतर्पण जन्य हो तो वहां सन्तर्पण की आवश्यकता समझी जानी चाहिए।

इस रोग में निम्नाङ्कित शास्त्रीय योग लाभप्रद हैं—

योग का नाम	ग्रन्थ संदर्भ	मात्रा (ग्राम मे)	अनुपान
वातगजांकुश रस	र.सा.सं.	०.२५०	पिप्पली चूर्ण + हरीतकी क्वाथ
गुञ्जाभद्र रस	भै. र.	०.२५०	हिंगु + सैन्धव + उष्ण जल
सिद्ध दरदामृत	रस तर.	०.१२५	गोमूत्र
स्वर्ण भूपति रस	यो०र०	०.१२५	मधु
हंस मण्डूर	र.र.स.	०.५००	गोमूत्र
शिलाजत्वादि गुग्गुलु	रस तर.	१.५००	,,
कैशोर गुग्गुलु	यो०र०	१ ग्राम	दशमूल क्वाथ
महायोगराज गुग्गुलु	शा०सं०	०.२५०	,,

★ वैद्य श्री रघुनाथ प्रसाद पारीक आयुर्वेद शास्त्री ★

योग का नाम	ग्रन्थ संदर्भ	मात्रा (ग्राम में)	अनुपान
नाराच घृत	यो०र०	३.५	उष्ण जल
वृहत् नारायण घृत	भै०र०	५-१०	,,
रसोन पिण्ड	सि.यो.सं.	,,	,,
नारायण चूर्ण	शा०सं०	३-४	,,
त्रिफला चूर्ण	चरक	३-५	कुटकी चूर्ण + मधु
वातहर गुटिका	र.तं.सा.	१-२ गोली	घृत
धात्री भल्लातक वटी	आ.नि.मा.	,,	जल
पिप्पल्यासव	शा०सं०	१०-२०	समान जल
विडङ्गारिष्ट	भै०र०	,,	,,
गुग्गुलासव	गद नि.	,,	,,
पुनर्नवादि क्वाथ	यो०र०	५-१०	यथाविधि पकाकर
पिप्पल्यादि क्वाथ	च०द०	,,	,,
वचा हरिद्रादिगण क्वाथ	अ०हृ०	,,	,,
भल्लातकादि क्वाथ	च०द०	१ ग्राम	,,
चव्यादि कल्क	च०द०	१० ग्राम	,,
पिप्पल्यादि कल्क	शा०सं०	,,	मधु

वाह्य प्रयोगार्थ निम्नाङ्कित योग लाभप्रद हैं—

क्रम	नाम योग	ग्रंथ संदर्भ	विशेष
१.	रास्नाद्युद्वर्तन योग	भेल संहिता	लेपनार्थ
२.	करञ्जादि लेप	,,	दुग्ध में पीसकर लेप
३.	क्षौद्रादि लेप	च०द०	लेपनार्थ
४.	अष्टकट्वर तैल	,,	अभ्यङ्गार्थ
५.	सैन्धवादि तैल	भै०र०	,,
६.	धत्तूरादि तैल	शा०सं०	,,

इनके अतिरिक्त निम्नाङ्कित प्रयोग भी लाभदायक होते हैं—

(१) चित्रक, इन्द्रजौ, पाढ, कुटकी अतीस और हरड़ के चूर्ण को उष्ण जल से सेवन करना चाहिये।

(२) बांबी की मिट्टी, मूली के बीज, असगन्ध इन तीनों को जल में पीसकर मलने से उरुस्तम्भ मिटता है।

(३) अश्वगन्धा तथा सोंठ के समभाग चूर्ण (४ ग्रा.) को उष्ण जल के साथ दिन में तीन बार सेवन करें।

(४) मधु या गुड़ के साथ वर्धमान पिप्पली का सेवन करना भी हितावह है।

—:o:—

※ पृष्ठ-३१० का शेषांश ※

८. पीली बोतल द्वारा सूर्यतप्त जल की २५ मिली. की ७ खुराक एक दिन में दें। नीबू मिला हुआ जल भी दिन में २-३ बार दें। ३-४ मिनट का वाष्पस्नान भी लाभप्रद है।

९. आधुनिक एलोपैथिक योगों में एसगिप्राइरन एवं मेक्राबीन के इन्जेक्शन लाभप्रद हैं। पैराकार्टिन, पैसीटोन, टालिसेरान, हाइपरकोल, आरटेन आदि गोलियां हितकारी हैं। औषधिजन्य कंपवात में पेसीटोन अधिक लाभप्रद है। इनमें आरटेन ७३ प्रतिशत रोगियों को लाभप्रद सिद्ध हुई है। केमाड्रीन, डिसीपल आदि भी लाभ पहुँचाती हैं।

आजकल शल्यक्रिया द्वारा भी कंप वात को दूर किया जाने लगा है। सर्जन ग्लोवस पैलीडस के अन्दर या पास की रचनाओं को तेज इलेक्ट्रो मैग्नेटिक वाइब्रेशन या नेक्रोटाइजिंग कैमीकल एजेन्ट से नष्ट कर देते हैं। आजकल वेसल गेंग्लिया पर ग्लोवस पैलीडस के बजाय थेलेमस पर आक्रमण करके अधिक लाभ, रोगी के लिए अधिक सुरक्षा अनुभव की जा रही है। इस पद्धति को क्रायोथैलोमोटोमी (Cryothalamotomy) कहा जाता है।

o o o

सान्निपातिक ज्वरों में वातजन्य उपद्रव एवं उनकी चिकित्सा

— आयुर्वेद चक्रवर्ती गिरिधारी लाल मिश्र
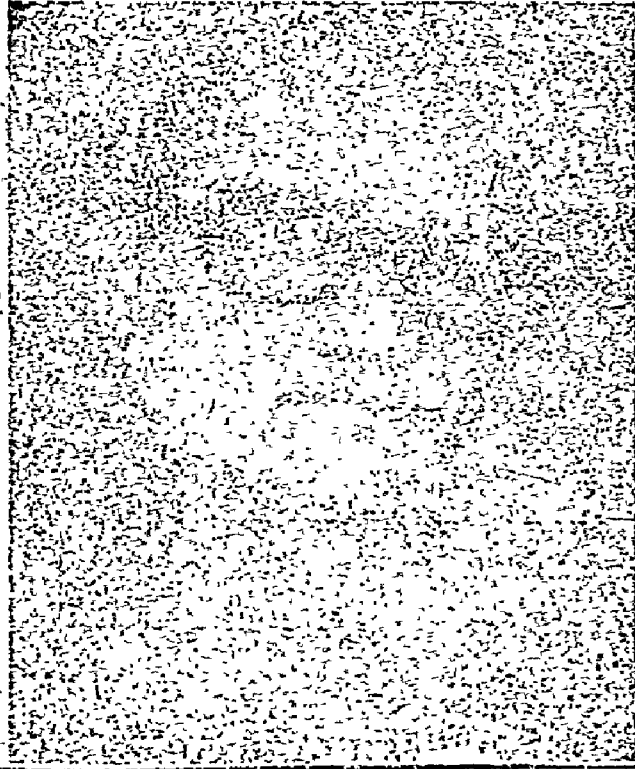
आयुर्वेद चक्रवर्ती श्रीयुत मिश्र जी एक प्राणाभिसर के व्यापक मूल्यों के संवाहक हैं। शालीनता, विनम्रता एवं कर्त्तव्य के प्रति समर्पण आपके चरित्र के ऐसे गुण हैं जिससे भारतेतर मनीषी भी आपसे प्रभावित हैं। आपके भाषण, लेख सरस होते हैं। सरस कृति का आदि मध्य अन्त सरस होता है—

सरसो विपरीतश्चेत् सरसत्वं न मुञ्चति।

आपने सदैव सृजनशील समर्पित सेवा को अपनाया है, जिसके लिए स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा था—'मुझे मुक्ति या भक्ति की परवाह नहीं, वसन्त की भांति मौन दूसरों की सेवा करना ही मेरा धर्म है।'

मेरे आग्रह पर आपने दुश्चिकित्स्य सान्निपातिक ज्वर विषयक लेख प्रेषित कर कृतार्थ किया है।

—वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य।

'वातस्यानुजयेत्पित्तं पित्तस्यानुजयेत्कफम्' परन्तु सान्निपातिक ज्वरों में यह क्रम पूर्णतया बदल जाता है तथा 'कफस्यानानुपूर्व्या वा सन्निपात ज्वरं जयेत' के अनुसार सर्वप्रथम कफ तथा कफस्थान का उपचार करना चाहिए। कारण ज्वर आमाशय समुत्थ ही होते हैं तथा आमाशय कफस्थान है एतदर्थ लंघन आदि का चिकित्सा में उपक्रम होता है। प्रस्तुत लेख का विषय 'सान्निपातिक ज्वरों में वातजन्य उपद्रव एवं चिकित्सा' होने के कारण सन्निपातज ज्वरों पर विस्तृत विवेचन न लिखकर वातजन्य उपद्रवों पर विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

सन्निपात ज्वरों के २५ भेद बताये गये हैं जिनमें क्षीण दोष से उत्पन्न १० प्रकार के तथा वृद्धदोषों से उत्पन्न १३ प्रकार के सन्निपातज ज्वर माने जाते हैं। क्षीणदोष रोग उत्पन्न नहीं कर सकते एतदर्थ वृद्धदोषज त्रयोदश सन्निपात ही चिकित्सा का विषय है। सन्निपातज ज्वरों में तीव्र विषमयता होती है तथा उस विष का प्रभाव मस्तिष्क के केन्द्रों पर होकर कहीं बाधिर्य, कहीं मूकता तो कहीं स्वर का लोप तथा तन्द्रा, प्रलाप आदि उपद्रव होते हैं। एतदर्थ उपद्रवों के आधार पर ही विविध प्रकार के सन्निपातों के नामकरण किये गये हैं जिनमें वात दोषज उपद्रवों की चिकित्सा का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) प्रलापक सन्निपात—तीव्र ज्वरों एवं सन्निपात ज्वरों में यह एक प्रधान उपद्रव पाया जाता है जिसमें रोगी असम्बद्ध बातें करता है, अटपट बकता है, चिल्लाता है, शैय्या से उठता और भागता है। आचार्य माधव लिखते हैं—

कम्प प्रलाप परितापन शीर्षपीड़ा-
प्रौढ़ प्रभाग वमन परोक्त चिन्ता।
प्रज्ञाप्रणाश विकल प्रचुर प्रवाद
क्षीणं प्रयाति पितृपालपदं प्रलापी॥

★ आयुर्वेद चक्रवर्ती गिरिधारीलाल मिश्र ★

शरीर में कंपन, बड़बड़ाना, शरीर में भयंकर पीड़ा दर्द, चिन्ता, बेचैनी तथा बुद्धिनाश होकर पागल की तरह बकना आदि लक्षण इस रोग में होते हैं।

प्रलापक ज्वर बनाम इन्सेफेलाइटिस—सन् १९८१ के नवम्बर माह में पूर्वांचल भारत के असम नागालैंड आदि प्रदेशों तथा बंगाल एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश में यह महामारी के रूप में फैला, जिससे हजारों लोग आक्रांत हुए और आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा इसका इन्सेफेलाइटिस नामकरण करते करते सैकड़ों लोग कालकवलित हो गये। इधर आयुर्वेदज्ञ 'विकारनामाऽकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन' नाम पर जोर न देकर लक्षणों के अनुसार औषधि व्यवस्था कर जीवनदान देने में समर्थ रहे। हमने इस महामारी को रोकने के लिए मृत्युञ्जय रस, लक्ष्मीविलास रस तथा विषमुष्टि वटी तीनों समभाग के कैपशूल भर केवल १०-१० कैपशूल के कोर्स से रोगियों को स्वस्थ किया तथा उक्त अवसर पर आयोजित असम राज्य आयुर्वेद महासभा के वार्षिक अधिवेश में इन्सेफेलाइटिस सेमीनार तथा उक्त प्रयोग बहुचर्चित विषय रहा।

प्रलाप उपद्रव रूप में—ज्वर में प्रलाप एक जटिल उपद्रव माना जाता है, जब रोगी चिल्लाना और कपड़े फाड़ना शुरू कर देता है तो रोगी के संरक्षणगण भी घबड़ा जाते हैं और चतुर वैद्य यदि प्रलाप पर तत्काल नियन्त्रण न करे तो रोगी दूसरे चिकित्सक के हाथ चला जाता है। अतः इस उपद्रव की अवज्ञा कभी भी न करें।

वेताल रस—त्रिदोषज विषमज्वर के उग्र तापमान तथा प्रलाप में अत्यन्त उपयोगी है। शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध विष, शुद्ध हरताल, कालीमिर्च सब समान भाग लें, कज्जली बनाकर सबको मिलाकर पान रस की भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियां बनालें। १-२ गोली रोगी की अवस्थानुसार मधु से या अदरख रस से देनी चाहिए। साथ में दशमूल क्वाथ पिलाना उत्तम है। प्रलाप बन्द होने पर इसका प्रयोग बन्द कर देना चाहिए तथा दिन में ३-४ बार से अधिक नहीं देना चाहिए। यह बड़ी उग्र औषधि है अतः रोगी की अवस्थानुसार सावधानीपूर्वक प्रयोग करना चाहिए, आशुफलप्रद योग है।

ब्राह्मीवटी (वृहद)—१-२ गोली दिन में २-३ बार अदरख रस, मधु व दूध से दें। यह निरापद योग है। आन्त्रिक ज्वर में इसका प्रयोग करते रहने से निरापद आरोग्यता प्राप्त होती है। भ्रम, चक्कर, निद्रा न आना आदि सभी उपद्रव इससे दूर होकर रोगी को बल प्राप्त होता है। सन्निपात में बल बनाये रखने में सर्वोपरि है।

तगरादि क्वाथ—तगर, पित्तपापड़ा, नागरमोथा, कुटकी, जटामांसी, असगन्ध, ब्राह्मी, द्राक्षा, श्वेत चन्दन, दशमूल की औषधियां तथा शङ्खपुष्पी—ये सब द्रव्य समभाग लेकर जौकुट कर रखलें। १ तोला को १६ तोला पानी में क्वाथ बनाकर ४ तोला शेष रखें, छानकर देना चाहिए। प्रलापक सन्निपात में इसका प्रयोग अत्यन्त ही लाभदायक है। हमने ब्राह्मी वटी (वृहद) व कस्तूरी भैरव रस का प्रयोग इस क्वाथ से कई रोगियों पर किया है तथा तत्काल फलप्रद है। सोते समय ब्राह्मी वटी (वृहद) तगरादि क्वाथ से देने पर रात को गहरी न आती है तथा प्रलाप में पहली मात्रा ही से लाभ होता है। जिन रोगियों को ज्वर अवस्था में अतिसार हो उन्हें इस क्वाथ का प्रयोग कराते समय से रेचक द्रव्य कुटकी, अमलतास, मुनक्का निकाल देना चाहिए।

(२) सन्धिक सन्निपात—ज्वर के साथ संधियों में वेदना और शोथ होने का त्रयोदश सन्निपात लक्षणों के अन्तर्गत 'सन्धिक सन्निपात' संज्ञा दी है जिसकी तुलना आधुनिक आमवातिक ज्वर या Rheumatic Fever से की जाती है। सन्धियों में दोष प्रकुपित होकर तीव्र ज्वर के साथ किसी सन्धि में शोथ एवं पीड़ा हो जाती है। पीड़ा तीव्र होती है। पहले पैर की गुल्फ की सन्धि प्रभावित होती है फिर मणिबन्ध की सन्धि एवं सर्वाङ्ग की सन्धियों में पीड़ा होकर भयङ्कर तीव्रज्वर हो जाता है। विषमयता के कारण सन्धियों में तीव्र पीड़ा, जोड़ों में जड़ता, मन्यास्तम्भ, अत्यधिक क्लान्ति, प्रस्वेद, रक्ताल्पता तथा क्वचित् पक्षाघात प्रभृति उपद्रव भी हो जाते हैं। यद्यपि इस रोग की उत्पत्ति का कारण आमदोष है जिसमें वात का प्रकोप होता है और 'वायुना यत्र नीयते

तत्र गच्छन्ति मेघवत्' के अनुसार वायु जहां जहां आम दोष के साथ पहुँचती है वहीं सन्धियों में वृश्चिक दंश के समान वेदना करती है। यह वेदना भ्रमणशील होती है अतः यह बड़ा कष्टप्रद एवं कष्ट साध्य रोग है।

१. हिंगुल क्षार रस—शुद्ध हिंगुल, शुद्ध वच्छनाग और पिप्पली चूर्ण २-२ तोला लेकर अदरख के रस में घोटकर २-२ रत्ती की गोलियां बनालें। १-२ गोली रोग की अवस्थानुसार मधु + अदरख रस से दें। यह आमवात नाशक तथा वातज्वरनाशक प्रभावशाली योग है। तीव्र ज्वर, सन्धियों में वेदना, शरीर कम्प, शिरःशूल आदि में इसका प्रयोग तत्काल फलप्रद है। रोग की तीव्रावस्था में—

२. हिंगुलेश्वर रस २ रत्ती, कल्पतरु रस २ रत्ती, समीरपन्नग रस १ रत्ती, त्रिकटु चूर्ण ५ रत्ती, पिप्पली मूल चूर्ण ५ रत्ती, १ मात्रा। ४-४ घण्टे अन्तर से दशमूल क्वाथ व रास्नादि क्वाथ से देने पर दीपन-पाचन क्रिया तीव्र होकर स्वेदन होकर दोष का स्राव होता है तथा ज्वराधिक्य एवं वेदनाधिक्य दोनों में ही तत्काल आशातीत लाभ होता है। अनेक रोगियों पर परीक्षित है। विबन्ध वाले रोगियों में रास्ना सप्तक क्वाथ से देना उत्तम है।

३. सिंहनाद गुग्गुलु का प्रयोग रास्नादि सप्तक क्वाथ से देने से शीघ्र लाभदायक है।

४. वृहद् कस्तूरी भैरव रस का प्रयोग भी खासतौर पर ज्वर बन्द न हो तो अवश्य करते रहना चाहिए।

५. आमवात प्रमथिनी—कलमी शोरा, आक की जड़ की छाल, शुद्ध गन्धक, लौह भस्म, अकीक भस्म- ५ औषधियों को समभाग मिलाकर ३ दिन अमलतास के क्वाथ में खरल कर २-२ रत्ती की गोलियां बनालें। १-२ गोली अदरख रस + मधु से देने से तीव्र शूल, वृश्चिक दंशवत् शूल में अत्यन्त लाभदायक है। ज्वर का वेग कम हो जाने पर इसका प्रयोग करना व जीर्णावस्था में इसका प्रयोग उत्तम है।

६. दूधिया तैल (तार्पिन मर्दन)—तारपीन तैल ४५० मिली., मृदु साबुन (Soft Soap) ५०० ग्राम, पानी १ लीटर। पहले पानी को गरम कर उसमें साबुन का घोल बनालें फिर तारपीन तैल मिलाते जावें और हिलाते जावे। एकजीव होने पर छानकर रखलें। दूधकी तरह लगने से हमारे सहायक चिकित्सक ने इसका नाम दूधिया तैल या सफेदतैल रख दिया जो हास्पीटल का बहुप्रचलित योग है। आमवातिक संधिवेदना में लाभप्रद है।

७. वैश्वानर चूर्ण १ माशा में समीरपन्नग रस २ रत्ती मिलाकर रास्नादि क्वाथ से देना उत्तम है।

८. दशाङ्ग लेप, ९. हिंस्रादि लेप, १०. शताह्वादि लेप का वाह्य प्रयोग भी लाभदायक है।

११. एरण्ड तैल का पान—आमवातरूपी हाथी को नष्ट करने हेतु एरण्ड तैल रूपी सिंह अकेला ही पर्याप्त है।

(३) कर्णिक सन्निपात—कर्णमूल ग्रंथि (Parotid gland) में शोथ होकर तीव्र ज्वर होने को कर्णिक सन्निपात या कर्णमूल सन्निपात कहा जाता है। कान के नीचे स्तब्धता, अङ्गमर्द और तीव्रशोथ के साथ ज्वर का आक्रमण होता है, दोनों कान के मूल मे भी हो सकता है और एक कान के मूल में भी हो सकता है, बालकों और युवकों को शिशिर, हेमन्त ऋतु के समय इसका आक्रमण होता है तथा तीव्र आक्रमणावस्था में यदि उचित चिकित्सा न हो तो रोगी शीघ्र ही यमराज का प्रिय हो जाता है—

> सन्निपात ज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः।
> शोफ संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते॥

ज्वर के अन्त में कर्णमूल शोथ हो तो कोई रोगी कभी कभी बचता है अन्यथा मृत्युकारक होता है। ज्वर के प्रारम्भ में कर्णशोथ हो तो असाध्य रहता है, मध्य में कृच्छ्र साध्य तथा ज्वर के अन्त में जब बल शक्ति का ह्रास हो जाता है तो शोथ का उपशम कठिन हो जाता है एवं शोथ में पूय की उत्पत्ति होने से रोग असाध्य एवं मृत्युकारक हो जाता है।

यह सन्निपात ज्वर के आम उपद्रव है जिसमें वात प्रकुपित होता है एतदर्थ रोगी को वायु से बचाना चाहिए तथा कर्णमूल स्थान को ऊनी वस्त्र से ढके रखना चाहिए। निम्न औषध व्यवस्था अनुभूत है—

(१) हिंगुलेश्वर रस, विष मुष्टी, कल्पतरु, गोदन्ती

प्रत्येक २-२ रत्ती, त्रिकटु चूर्ण ४ रत्ती, सुबह शाम दिन में २ बार मधु से दें। यदि शोथ के साथ पूयोत्पत्ति हो तो इस योग में प्रताप लंकेश्वर रस २ रत्ती का भी मिश्रण करना चाहिए।

(२) कांचनार गुग्गुलु—२-२ गोली १०.३० बजे उष्ण जल से देनी चाहिये।

(३) दुर्जलजेता रस—२-२ गोली उष्ण जल से भोजन के बाद सेवनीय हैं।

(४) दशांग लेप व Balladona plaster स्थानीय शोथ पर लगाना चाहिए।

(५) मुख की सफाई का ध्यान रखना अत्यन्त जरूरी है एतदर्थ गरम जल व नमक मिश्रित गर्म जल व डिटोल के पानी से गरारे कराने चाहिए।

४. कण्ठ कुब्ज सन्निपात—सन्निपात की इस अवस्था में कण्ठावरोध होकर मूकता आ जाती है। शिरः शूल, मूर्च्छा, कम्प, प्रलाप आदि उपद्रवों के साथ गले में पीड़ा होती है और कण्ठ से आवाज आनी बन्द हो जाती है। पहले स्वर भंग होता है फिर आवाज बन्द हो जाती है। इसमें निम्न कषाय उत्तम रहता है—

(१) फलत्रिकादि कषाय—त्रिफला, त्रिकटु, नागरमोथा, कुटकी, इन्द्रजौ, वासा और हल्दी समभाग लेकर इनका कषाय बनाकर प्रयोग करावें। साथ में अन्य उपचार भी करते रहना चाहिये।

(२) लक्ष्मीविलास रस नारदीय, मृत्युञ्जय रस २-२ गोली, कल्याणावलेह १ माशा, सुबह, दोपहर, शाम मधु से चटाकर फल त्रिकादि कषाय पिलावें।

(३) अकरकरा चूर्ण को मधु में मिलाकर जिह्वा पर मलना चाहिए।

(४) कुलंजन वटी—कुलंजन ५ तोला, कूठ, वच, अकरकरा, लौंग, सोंठ, कालीमिर्च, छोटी पिप्पल, इलायचीदाना, जावित्री, तेजपात, कपूर, नागरमोथा, कत्था, बहेड़ा १-१ तोला, केशर ३ माशा, कस्तूरी १ माशा, सबको नागरबेल पान के रस में घोटकर गोलियां बनालें। १-२ गोली मुख में रखकर दिन में १० गोली तक चूसते रहना चाहिये।

५. जिह्वक सन्निपात—सन्निपात की इस अवस्था में जिह्वा पेशियों का घात हो जाता है (Gloso pliaryngeal paralysis) जिह्वा स्तब्ध हो जाती है। रोगी इस अवस्था में जीभ को मुख से बाहर नहीं निकाल सकता तथा न ही कुछ निगल सकता है। जीभ कड़ी और कांटेदार हो जाती है तथा कभी कभी जिह्वा फट जाती है। अन्य उपचारों के साथ इसमें कवल धारण करायें।

किरातादि कवल—चिरायता, अकरकरा, कुलिंजन, कचूर, पिप्पली सबका समभाग का चूर्ण करके सरसों तैल तथा निम्बू का रस डालकर कल्क या काढ़ा बनाकर मुख में कवल धारण करना चाहिये।

जिह्वा फट जाने पर बोरोग्लिसरीन (बोरिक पाउडर मिश्रित ग्लिसरीन) अथवा मुनक्का को पीसकर उसमें मधु+घृत मिलाकर लेप करना चाहिये।

६. भुग्ननेत्र सन्निपात—सन्निपात की इस अवस्था में विषमयता की अधिकता से रोगी निद्रित सदृश अर्द्ध खुले नेत्र से स्तब्ध पड़ा रहता है। ज्वर, बलनाश तथा स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है। प्रलाप, कम्प, मूर्च्छा होकर आंखें टेढ़ी हो जाती हैं। यह मारक अवस्था है। रोगी को होश में लाने के लिए अर्द्ध नारीनटेश्वर रस का नस्य देना चाहिए। निम्न नस्य भी उत्तम रहता है—

असगन्ध, सैंधानमक, वच, महुए का सार, काली मिर्च, पिप्पली, सोंठ, लहसुन इन द्रव्यों को गोमूत्र में पीसकर छानकर नस्य देना चाहिए।

७. चित्त विभ्रम सन्निपात—सन्निपात की इस अवस्था में रोगी को चित्त विभ्रम हो जाता है। स्मरणशक्ति का अभाव हो जाता है तथा रोगी परिचित व्यक्तियों को पहिचान नहीं पाता। बहकी-बहकी बातें करता है। भूतदोष, शिर नेत्र सम्बन्धी पीड़ा, बेहोशी, चक्कर आदि उपद्रव होते हैं।

(१) वात कुलान्तक रस १-१ गोली मधु+अदरख स्वरस से देना उत्तम है।

(२) कृष्ण चतुर्मुख रस का प्रयोग भी चित्तविभ्रम की अवस्था में लाभदायक है।

—शेषांश पृष्ठ ३६० पर देखें।

वातोल्वण ज्वरों में वातजन्य उपद्रवों के शमनार्थ सफल औषधि योग

प्राणाचार्य हर्षुल मिश्र आयु. प्रवीण

वातप्रधान ज्वरों में उपद्रवरूप में सर्वांगपीड़ा, शिरःशूल, हृदशूल, कटिशूल, मुखशोष, श्वासवृद्धि, अनिद्रा, प्रलाप, मलावरोध, मूत्रावरोध आदि होते देखे जाते हैं। इन कष्टों को तत्काल दूर करने हेतु आधुनिक चिकित्सक, क्षणिक पीड़ा नाशक वा ज्वर शामक औषधियां प्रयोग करते हैं। परन्तु ये क्षणिक प्रभाव वाली औषधियां रोगी की पीड़ा में क्षणिक लाभ अवश्य पहुंचाती हैं, परन्तु इनसे कभी कभी हृदयावसाद की स्थिति भी होजाती है। मैं इस लेख में अपने सुयोजित स्वानुभूत पीड़ा नाशक ज्वर शामक हृद्य योग प्रस्तुत कर रहा हूं -

(१) प्राण संयोजक वटी—गोमेदरत्न भस्म, जटामांसी घनसार, वच घनसार, अर्जुन घनसार सब २-२ तोला, सर्पगन्धा घनसार, दशमूल घनसार चार-चार तो., सत्व गिलोय, गोदन्ती हरताल भस्म, सुवर्ण माक्षिक भस्म, लाल रोहतकत्वक् घनसार २-२ तोला, सत पिपरमेंट, सत अजवायन, देशी कपूर १-१ तोला लवंग चूर्ण २ तोला। सबको खरल में डालकर कृष्ण भांगरे के स्वरस की भावना देकर चार चार रत्ती की गोलियां बना लें। मात्रा—१ गोली से ५ गोली तक। बच्चों को १/२ गोली से १ गोली तक। अनुपान—मधु तथा दशमूल क्वाथ। छोटे बच्चों को मातृ दूध या मधु। प्रति चार घण्टे के अन्तर से दिन रात में ३ बार दें। वातोल्वण ज्वर के समस्त उपद्रव इसके सेवन से पहिले ही दिन शान्त हो जाते हैं। ज्वर का वेग और पीड़ा की तीव्रता २ घण्टे के अन्दर कम हो जाती है। इसे लगातार तीन-चार दिन सेवन करायें। ज्वर उतरते ही ज्वरनाशक औषधि देने से ज्वर का आक्रमण रुक जाता है।

(२) हर्षुल वातरोगांतक—निर्गुण्डी मूलत्वक् घनसार, सन के बीज का घनसार, पंचकोल घनसार, अमलतास का गूदा, इन्द्रायण मूल घनसार, एरण्ड बीज मिगी, एरण्ड मूल घनसार, दशमूल घनसार, सर्पगंधा चूर्ण, टंकण भस्म, कान्तलौह भस्म, हिंगुल भस्म, अर्जुनत्वक् घनसार, मधुयष्ठी घनसार, वंग भस्म प्रत्येक ५-५ तोला, शुद्ध कुचला १० तोला, लाल रोहतक घनसार, सरफोंका मूलत्वक् घनसार, अश्वगंध घनसार, मेंथी चूर्ण सब ५-५ तोला।

निर्माण विधि—समस्त द्रव्यों को एक बड़े पत्थर के खरल में डालकर १ सेर निर्गुण्डी पत्र स्वरस तथा १सेर कृष्ण भांगरा स्वरस की भावना देकर चार चार रत्ती की गोलियां बनालें।

मात्रा—बच्चों को चौथाई गोली से आधी गोली। वयस्कों को १ से २ गोली।

अनुपान—बच्चों को माता के दूध में। वयस्कों को गर्म गौदुग्ध या निर्गुण्डी पत्र स्वरस,नागर पान स्वरस, अद्रक स्वरस आदि में से किसी एक में मिलाकर दें। लकवा में दशमूल काढ़े के अनुपान में दें।

लकवा, गृध्रसी (साइटिका), संधिवात, अंग शैथिल्य, अंग पीड़ा, रक्तदाब वृद्धि पर इस हर्षुल वातरोगांतक का प्रभाव दो घण्टे के बाद अत्यन्त ही सुखावह प्रतीत होने लगता है। कम्पवात, धनुर्वात (टिटनस), अंगघात

(पोलियो-माइलिटिस) पर इसका प्रभाव १२ घण्टे के अन्दर राहत देने वाला प्रतीत होता है। वातज उदर-शूल, अन्नद्रव शूल, परिणाम शूल, स्नायु शूल; मलावरोध, अजीर्ण, मन्दाग्नि, यकृत विकारों पर ७२ घण्टे में इसका सुखावह प्रभाव प्रतीत होने लगता है। औषधि सेवन करते ही वायु अनुलोम होने लगती है और ३ घण्टे में शूल का वेग शान्त हो जाता है। दो से तीन माह तक सेवन करने पर समस्त वातरोग स्थायी रूप से आराम हो जाते हैं। इस हर्षुल वात रोगान्तक से यकृत, आन्त्र, फुफ्फुस, हृदय और मस्तिष्क को वल तथा ऊर्जा प्राप्त होती है। अनिद्रा भी २ गोली के सेवन से दूर होजाती है।

वात रोगों पर निश्चित प्रभावशाली वनौषधियाँ

(१) लकवा और अङ्ग शैथिल्य पर—निर्गुण्डी मूलत्वक् चूर्ण ३ माशा, निर्गुण्डी पत्र स्वरस, असली मधु १-१ तोला के साथ तीन माह लगातार सेवन करने से उत्तरोत्तर वल और ऊर्जा वढ़ेगी।

(२) निर्गुण्डी पत्र स्वरस, अर्क पत्र स्वरस, धत्तूर पत्र स्वरस, एरण्ड पत्र स्वरस, सरसों तैल प्रत्येक १-१ सेर, लशुन कल्क १ पाव। सव द्रव्यों को एक हाँडी में डालकर आग की ताप में जलाओ। जव सव जलीय तत्व जल जांय और तैल मात्र शेष रह जांय तव तैल उतार कर उसे सुखोष्ण होने दें, फिर छानकर शीशी में भरकर रख लो। इस तैल को नित्य वातपीड़ित अङ्ग पर मलें तो अङ्ग की पीड़ा निश्चयपूर्वक मिटेगी और वल वढ़ेगा।

(३) सन के वीज का चूर्ण १ तोला, जल १६ तोला दोनों को एक छोटी सी हांडी में डालकर अग्नि के ताप पर जलावें। जव २ तो० जल शेष रह जाय, उस क्वाथ को छानकर उसमें ढाई तोला शहद मिलाकर घोल दें। ४ रत्ती से ६ रत्ती तक रूमीमस्तङ्गी का चूर्ण मुंह में रख कर इस सन वीज के मधुमिश्रित काढ़े को प्रातःसायं पीयें तो भयङ्कर भेदन, जंघा पीड़ा ४५दिन में आराम हो जाती है। इस काढ़े से मेद निश्चयपूर्वक कम होता है।

(४) एरण्ड मूलत्वक् के १ तोला चूर्ण का उपरोक्त विधि से क्वाथ बनाकर उस क्वाथ में १ माशा शुण्ठी और एक चाय चम्मच गोघृत मिला प्रातःसायं पीने से सर्वाङ्ग वात और संधी वात १ माह में आराम होते हैं।

(५) वैतूल जिले में पैदा होने वाली तिखाड़ी घास का सुगंधित तैल वात पीड़ित अंग में मलते ही १० मिनट में पीड़ा शान्त हो जाती है। १५ दिन में पीड़ा कर समस्त वातरोग स्थायी रूप से आराम हो जाते हैं। इसे शिर में लगाने से शिर की पीड़ा भी मिटती है।

(६) असली सरसों वा राई के तैल की नस्य लेते ही शिर पीड़ा मिटती है।

(७) कायफल की नस्य सूंघने से शिरदर्द दूर होता है।

(८) निर्गुण्डी के पत्रों के कल्क को पानी में उवलने तक गर्म करें। फिर इस गर्म जल से चोट-मोच और और संधि पीड़ा के अंगों को सेकें।

—प्राणाचार्य श्री हर्षुल मिश्र आयु० प्रवीण,
पेन्शन वाड़ा, रायपुर (म०प्र०)

✤ पृष्ठ ३१८ का शेषांश ✤

(३) ब्राह्मी वटी (वृहद) का प्रयोग भी स्मृतिसागर रस के साथ देना श्रेयस्कर है।

(४) प्रचेतना गुटिका—पिप्पली, कालीमिर्चें, वच, सैंधानमक, करंज बीज, धतूरा फल, त्रिफला, सरसों, हींग और सोंठ समभाग को वकरी दूध में घोटकर गोली वनाकर रखलें। इसके आंख में अञ्जन करने से अचेत रोगी में चेतना जागृत होती है।

८. अन्तक सन्निपात—सन्निपात की यह सांघातिक अवस्था है जिसमें कोई उपचार लाभप्रद सिद्ध नहीं होता तो अन्त में रोगी का नाश (अन्तक) होजाता है। इसमें मुक्ति का आश्रय चिकित्सा का आश्रय पूर्णतया निष्फल हो जाता है। यह रोगी की मृत्यु सन्निकट अवस्था का काल होता है। ऐसी अवस्था में एक मात्र भगवत् आराधना, दैवव्यापश्रय उपायों का अवलम्बन ही एकमात्र साधन रहता है। अतः मृत्युंजय व महामृत्युंजय के जप प्रभृति उपायों का आश्रय लेना अन्तिम उपाय है।

अतः सन्निपात ज्वरों में वातजन्य उपद्रव ही अधिकतर रोगी की स्थिति को जटिल वनाकर मारक होते हैं जिनका यथासम्भव उपचार दिया गया है।

—आयु० चक्रवर्ती गिरधारीलाल मिश्र आयु० वाग.
अधीक्षक—केदारमल आयु० हास्पीटल,
तेजपुर (असम)

अन्य व्याधियों में वात प्रकोप एवं निवारण

वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य

१. वातोल्वण सन्निपात—प्रातः सायम् वृ.वात चिन्तामणि ५० मिग्रा., वेताल रस १०० मिग्रा., शुद्ध सौभाग्य १०० मिग्रा. । १×२ अष्टादशाङ्ग क्वाथ से ।

मध्यान्ह एवं रात्रि में त्रैलोक्य चिन्तामणि १०० मि. ग्रा., वचा चूर्ण २०० मिग्रा. । १×२ आर्द्रक स्वरस २० बूंद+मधु ३ ग्रा. से ।

२. अनिद्रा—ब्राह्मी वटी (स्व०यु०) २०० मिग्रा., मुक्ता भस्म १०० मिग्रा., स्वर्ण माक्षिक भस्म २५० मि. ग्रा. सर्पगन्धाघन वटी २५० मिग्रा. । १×२ । महिषी दुग्ध से ।

भोजनोत्तर—सारस्वतारिष्ट, अश्वगन्धारिष्ट, द्राक्षासव तीनों १५-१५ मिली. । १×२ समान जल मिलाकर

३. वातज उदरशूल—शूलवज्रिणी वटी, ताप्यादि लौह २५०-२५० मिग्रा., गोमूत्र शोधित मण्डूर ५०० मिग्रा., त्रिफला ६ ग्रा. । १×३ । असमान घृत+मधु से

४. वातज गुल्म—प्रातःसायं अग्निकुमार रस २५० मिग्रा., हिंग्वादि वटी २ गोली । १×२ निम्बू स्वरस से

मध्यान्ह में महाशङ्ख वटी २ गोली दशमूल क्वाथ से

भोजन के बाद वैश्वानर चूर्ण ३ ग्रा., चविकासव २० मिली. । १×२ उष्ण जल मिलाकर

सोते समय—दीनदयालु चूर्ण ४ ग्रा.—उष्ण जल से

५. हिक्का—ताम्र भस्म १०० मिग्रा., स्वर्ण भस्म ५० मिग्रा., रससिंदूर १०० मिग्रा. । १×४ रेणुका तथा पिप्पली के कवोष्ण क्वाथ में थोड़ी हींग मिलाकर सेवन करायें । साथ में पुनः पुनः दशमूल क्वाथ भी पिलाते रहें । अजा दुग्ध में शुण्ठी मिलाकर पथ्य में देवें । यही उपचार पक्षाघातादि रोगों के उपद्रवस्वरूप हिक्का में करें ।

६. मूत्रकृच्छ्र—प्रातःसायं—कबाबचीनी, कलमी शोरा, गोंद बबूल ५००-५०० मिग्रा., शुभ्रा भस्म २५० मिग्रा. । १×२ दुग्धोदक से ।

मध्यान्ह व रात्रि में—चन्दन का तैल, विरोजा, शीतल चीनी का तेल १०-१० मिली. मिश्रित । १० बूंद दिन में २-३ बार दें ।

७. मूत्राघात—चन्द्रप्रभा वटी २ गोली, चित्रकादि घृत ६ ग्राम । १×४ बच के क्षीर पाक से ।

८. अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र में—शु० स्फटिक ४०० मिग्रा., शु० कलमी शोरा, हजरल यहूद भस्म, पिप्पली चूर्ण २००-२०० मिग्रा. । १×४ कुशावलेह १० ग्राम से

९. वातज हृद्रोग—प्रातः सायं स्वर्ण सिन्दूर, वृ. वात चिन्तामणि, नागार्जुनाभ्र १००-१०० मिग्रा., बलादि घृत ५ ग्रा. । १×२ अर्जुन साधित दुग्ध से ।

मध्याह्न एवं रात्रि में प्रभाकर वटी २ गोली । १×२ । पुष्करमूल+बलामूल+पिप्पली क्वाथ से ।

भोजनोत्तर हिंग्वादि वटी दो दो गोलीं उष्ण जल से

१०. स्वरभेद—(१) कल्याणावलेह ३ ग्रा. । १×४ घृत+मधु से ।

(२) तिल तैल में सेंधानमक डालकर कवल (कुल्ला) करना चाहिए ।

(३) भोजन के बाद एवं पूर्व में १ ग्रा., पिप्पली चूर्ण १० ग्राम गोघृत मिलाकर सेवन करें ।

(४) बला तैल का अभ्यङ्ग तथा नस्य उपयोगी है ।

११. कास [शुष्क] प्रातःसायं—महालक्ष्मीविलास रस ५० मिग्रा., चन्द्रामृत रस, अपामार्ग क्षार १००-

—शेषांश पृष्ठ ३४१ पर देखें ।
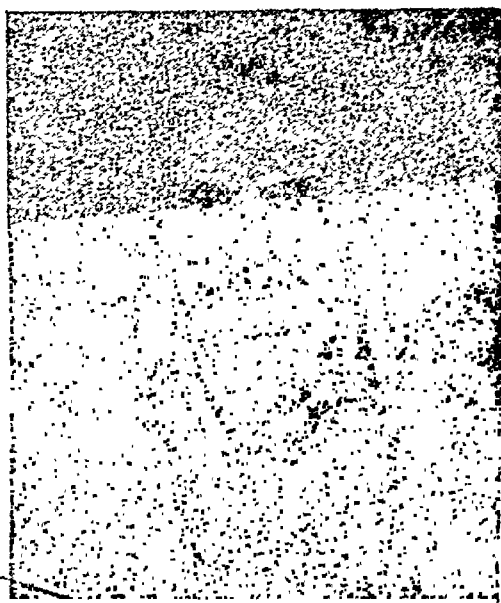
(१) वात गजांकुश रस—रससिन्दूर, लौहभस्म, सुवर्ण माक्षिक भस्म, शुद्ध गन्धक, शुद्ध हरताल, शुद्ध बच्छनाग, बड़ी हरड़, काकड़ासिंगी, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, अरणी की छाल और सुहागे का फूला, इन सबको समभाग लेवे। फिर यथाविधि मिलाकर गोरखमुण्डी और निर्गुण्डी के रस में १-१ भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियां बना देवे। [रसेन्द्रसार संग्रह]

मात्रा—१-१ गोली दिन में [illegible] बार पीपल के चूर्ण के साथ तथा ऊपर से मजीठ या हरड़ का काढ़ा पीवें।

उपयोग—यह रसायन सब प्रकार के वात रोगों को दूर करता है। त्रिदोषज भयङ्कर गृध्रसी (वातश्लेष्मात्मक) रोग को ७ दिन में दूर कर देता है। यह क्रोष्टुशीर्षक अर्थात् वात रक्तात्मक गोड़े की बादी, अपबाहुक अर्थात् वातश्लेष्मात्मक बाहु की बादी, उरुस्तम्भ (श्लेष्म, मेद और वात प्रकोप से उत्पन्न आढ्यवात), हनुस्तंभ, पक्षाघात, इन सबके लिए अति उत्तम रसायन है।

(२) महावात विध्वंसन रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, नाग भस्म, वङ्ग भस्म, लौह भस्म, ताम्र भस्म, अभ्रक भस्म, लेन्डी पीपल, सुहागे का फूला, कालीमिर्च, सोंठ, इन ११ औषधियों को १-१ तोला तथा शुद्ध वच्छनाग ४॥ तोला लेवे। पहले कज्जली करके भस्म मिलावे, पश्चात् शेष औषधियों का कपड़छन चूर्ण मिला देवें, फिर त्रिकटु(सोंठ, मिर्च, पीपल) का क्वाथ, त्रिफला का क्वाथ, चित्रक मूल का क्वाथ, भांगरे का स्वरस, कूठ का क्वाथ, निर्गुण्डी के पत्तों का स्वरस, आंकड़े का द्रव्य, आंवले का स्वरस, अदरख का रस और नीबू का रस इन सबकी ३-३ भावना देकर १-१ रत्ती की गोलियां बना ले। (रस चन्द्रिका)

मात्रा—तीव्र वात रोग पर भांगरे के रस या शहद तथा अदरख के रस के साथ १ से २ गोली दिन में ३ बार देवें तथा आमवात होने पर अरण्डी के तेल, घी या निवाये जल के साथ देवें।

उपयोग—अपतानक, अपतन्त्रक, आक्षेपक और तीव्र

वाले आशुकारी पक्षाघात में वातवृद्धि के लक्षण अधिक होने पर इस रसायन के सेवन से वात प्रकोप का शमन होकर वात शाम्यता प्रस्थापित होती है। आमवात की तीव्रावस्थामें यह अप्रतिम औषधि है। केवल वातक्षोभ से सिर दर्द होता हो, तो वह अति त्रासदायक होता है। उस समय व्याकुलता बनी रहती है। शिर में कील गाड़ने के समान वेदना होती है। विशेषकर मस्तिष्क की दाहिनी ओर में अतिशय व्यथा होती है। कुछ समय वेदना होकर कम हो जाती है, पुनः वेदना तीव्र हो जाती है। इस प्रकार बार-बार आक्षेप के समान तीव्र वेग उत्पन्न होता है। ऐसे शीर्षशूल पर यह रसायन अति लाभदायक होता है।

महावात विध्वंसन का कार्य वातवाहिनियां, वातवह मण्डल और वात स्थानों पर क्षोभनाशक होता है। इसमें ताम्र आक्षेपनाशक है और वातशामक है। अभ्रक भस्म वातवाहिनियों पर बल्य और शामक असर पहुँचाती है।

(३) आमवात प्रमथिनी बटी—कलमी शोरा, आंकड़े की जड़, शुद्ध गन्धक, लोह भस्म, अभ्रक भस्म इन पांचों औषधियों को समभाग लेकर अमलतास के क्वाथ में ३ दिन तक खरल करें। पश्चात् २-२ रत्ती की गोली बना लें। (रसयोग सागर)

मात्रा—१ से २ गोली रोज सुबह ६ माशे से १ तोले तक निशोत क्वाथ के साथ लेवे।

उपयोग—यह औषधि आमवात तथा आमवातजनित रोगों को दूर करती है, तीव्र आमवात में जब तीव्र बिच्छू के काटने की सी पीड़ा होती है तब एवं आमवात की जीर्णावस्था में भी यह परमोपयोगी औषध है।

(४) आमवातारि वटिका—पारा १ भाग, गन्धक २ भाग, त्रिफला ३ भाग, चीतामूल ४ भाग तथा गूगल ५ भाग एकत्र कर एरण्ड का तैल देकर बिल्कुल महीन होने तक घोटे, १-१ कर्ष एरण्ड के तेल के साथ खावे तथा ऊपर से गर्म पानी पीवे। (रसेन्द्रसार संग्रह)

उपयोग—इससे अति उग्र आमवात नष्ट हो जाता है, इसमें दूध तथा मूंग को त्याग देवे।

(५) स्मृतिसागर रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध हरताल, शुद्ध मैनसिल, ताम्र भस्म इन पांच औषधियों को समभाग मिलाकर वच और ब्राह्मी के क्वाथ की २१-२१ भावना और मालकाङ्गनी के तैल की १ भावना देने से स्मृतिसागर रस तैयार हो जाता है। यदि स्मृतिसागर में ब्राह्मी के क्वाथ की भावना देने के पहले मालकांगनी तैल की भावना दी जाय, तो गोलियां आसानी से बन जाती हैं और स्वर्णमाक्षिक भस्म मिला दी जाय तो इसके गुणों में और भी वृद्धि हो जायगी। (यो०रत्ना०)

मात्रा—आधा रत्ती से एक रत्ती मक्खन या घी के साथ देवें।

उपयोग—यह सहस्रार और वात वाहिनियों पर शामक असर पहुँचाता है। महावात विध्वंसन, एकांगवीर और स्मृतिसागर ये वातशामक त्रयी हैं। (महावात विध्वंसन योग क्र.२ पर वर्णित है) पक्षाघात की जीर्णावस्था में स्मृति सागर स्वतंत्र रूप से या एकाङ्गवीर और स्मृति सागर दोनों कुछ दिनों तक एक ही दिन में अलग अलग समय देते रहने से अति उत्तम परिणाम प्रतीत होते हैं।

अपतानक आदि जिन विकारों में झटके आते हैं, उनमें सुषुम्णा और मस्तिष्कावरण की विकृति हो जाती है। इन श्लेष्म संसर्ग और जड़ता अधिक हो उन पर स्मृति सागर अति उत्तम औषधि है।

आक्षेपक वात में झटके कम होकर फिर सर्वाङ्ग में जड़ता, गरदन शून्य सी भासना, सर्वाङ्ग में तानअनाह, मुंह में वैरस्य, नेत्रों में धुन्ध आ जाना आदि लक्षण प्रबल होने पर स्वर्ण माक्षिक युक्त स्मृतिसागर रस का उत्तम प्रयोग है।

गर्भवात के विकार में पहले से जड़ता आदि लक्षण होने पर फिर बड़े-बड़े झटके आने, जड़ता, उन्माद, तन्द्रा, अतिशय शिथिलता आदि लक्षण मुख्य हों तो स्मृतिसागर का उपयोग कराना चाहिए। बेहोशी होने पर भी स्मृतिसागर अति लाभप्रद होता है।

स्मृतिसागर का कार्य मनोदैहिक, सहस्रार सुषुम्ना, आशावाहिनियों और स्नायुओं पर शामक और आक्षेपघ्न होता है। (आयुर्वेदीय औषधि गुणधर्म शास्त्र)

६. एकाङ्गवीर रस—रससिन्दूर, शुद्ध गंधक, कान्त लोह भस्म, वङ्ग भस्म, नाग भस्म, ताम्र भस्म, अभ्रक

भस्म, लोहभस्म, सोंठ, मिर्च, पीपल इन ११ औषधियों की समभाग मिलाकर त्रिफला, त्रिकटु, निर्गुण्डी, अदरख, चित्रकमूल सहजने की छाल; कूठ, आंवला, कुचला, आक का मूल और हार सिंगार इन बारह औषधियों के क्वाथ या रस को प्रथक्-प्रथक् ३-३ भावना देकर १-१ रत्ती की गोलियां बना लेवें। (निघण्टु रत्नाकर)

मात्रा—१ से २ गोली दिन में ३ बार रास्नादि अर्क के साथ देवें।

उपयोग—यह रसायन पक्षाघात, अर्दित, धनुर्वात, अर्धाङ्गवात, गृध्रसी, अवबाहुक आदि सब प्रकार के वात रोगों को निःसंदेह दूर करता है।

७. सूत शेखर रस—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, सोहागे का फूला, शुद्ध वच्छनाग, स्वर्ण भस्म, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, शुद्ध धतूरे के बीज, दालचीनी, तेजपत्र, नागकेशर, इलायची, बेलगिरी (बेल फल की गिरी), शंख भस्म, कचूर इन १७ औषधियों को समभाग मिला भांगरे के रस में घोट १-१ रत्ती की गोलियां बनावें। (योग रत्नाकर)

मात्रा—१ से ३ गोली दिन में २ से ३ बार दूध, मिश्री, घी और शहद के साथ लेवें।

उपयोग—सूत शेखर रस पित्त और वातपित्तात्मक व्याधियों में विशेषतः मध्यमकोष्ठ के भीतर पचनक्रिया करने वाले अवयवसमूह पर शामक असर पहुँचाता है। सूतशेखर रस की शामकता इस तरह की है कि इसके सेवन करने से रोगी को मूल रूप से जिस विकार या रोग के कारण वेदना होती है, रोगी के उस मूल विकार को नष्ट करता है। सूतशेखर रस के सेवन से वातवाहिनियां बधिर नहीं होती है और वात वाहिनियों में वात वहन कार्य अर्थात वायु को ले जाने का कार्य व्यवस्थित हो जाता है। सूतशेखर हृद्य भी है।

आक्षेपक वात में झटके अधिक आने पर भी सूतशेखर अति उत्तम होता है। वातज शीर्षशूल में वात प्रकोप कारण होता है, इस पर सूतशेखर उत्तम उपयोगी है। वातातिसार व पित्तातिसार पर भी सूतशेखर का अच्छा उपयोग अनुभव में आया है। सूतशेखर में विशेष धर्म यह है कि यह शारीरिक घटकों को बाधा न पहुँचाते हुए कीटाणुओं का नाश करता है तथा इस कारण से शारीरिक घटकों पर दुष्ट परिणाम भी बिल्कुल नहीं होता।

उदावर्त की उत्पत्ति वात विकृति से होती है। इस रोग में विशेषकर अपान समान वायु की विकृति होती है। अपान के अवरोध से अन्त्र की क्रिया प्रतिलोम होती है और अन्त्र की पुरःसरण क्रिया विलोम होकर अन्त्र फूलने लगती है, अफरा आने पर उदर में पीड़ा होने लगती हैं। इस प्रकार में सूतशेखर विशिष्ट कार्य करता है। त्वचा के अन्तर्भाग में रही हुई वात वाहिनियां, विशेषतः संज्ञा वाहिनियों में क्षोभ उत्पन्न होकर दाह होता है। शराबियों को यह दाह अति उग्र होता है, अतः इस पर सूतशेखर बहुत अच्छा फायदा करता है। संक्षेप में सूतशेखर कीटाणुनाशक वात वाहिनियों पर शामक, और हृद्य है। यह वात वाहिनियों पर कार्य करके वात और पित्त दोष को शमन करता है।

८. प्रताप लंकेश्वर रस—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, शुद्ध वच्छनाग ये तीनों १-१ तो., कालीमिर्च, या चित्रकमूल ३ तोले, अभ्रक भस्म १ तोला, लोह भस्म ४ तोले, शंख भस्म ८ तोले, और आरने कंडे की कपड़छान की हुई रेख १६ तोले लेवें। फिर सबको मिला देवें। इसे ६ रत्ती दिन में २ या ३ बार अदरख के रस और शहद या तुलसी के पत्तों के रस के साथ देवें। (यो० रत्नाकर)

उपयोग—यह रसायन गृध्रसी, धनुर्वात आदि रोगों को दूर करने में अत्यन्त लाभदायक है। सूतिका ज्वर में या सद्योव्रण के बाद व्रण विकृति होकर हनुस्तम्भ (दांती भिचना) के लक्षण उत्पन्न होने पर वह धनुर्वात का पूर्व रूप हो जाता है। फिर धीरे-धीरे धनुर्वात के झटके आने लग जाते हैं। अतः हनुस्म्भ का प्रारम्भ होते ही प्रताप लंकेश्वर रस की तुरन्त योजना करनी चाहिये जिससे धनुर्वात की उत्पत्ति रुककर अन्य ललण भी धोरे-२ कम हो जाते हैं। गृध्रसी, विश्वाची तथा खल्ली रोग में, वात का उद्वहन कार्य विकृत होता है। वात वाहिनियों के कार्य में प्रतिबन्ध उत्पन्न होता है, इस कारण इन दोनों-तीनों विकारों में एक प्रकार का दर्द उत्पन्न होता है। उसे यह रस दूर कर देता है। वातज श्वास रोग में यह अप्रतिम है। यह सगर्भा स्त्री को नहीं देना चाहिए।

—वैद्यवर पं० श्री अनन्त नारायण ठाकुर
श्री रामकृष्ण मन्दिर, देवगढ़ (देवास) म०प्र०

वात रोगों में पथ्यापथ्य
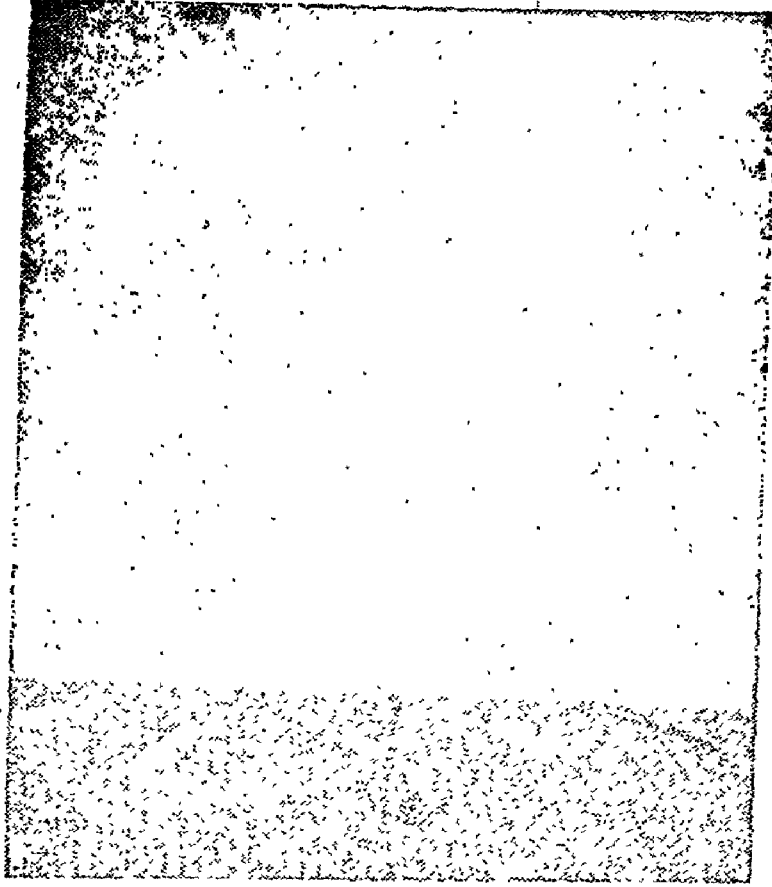
श्रीमती वैद्या मीना जोशी, जोधपुर।
श्री वैद्य अम्बालाल जोशी, जोधपुर।

——*

वैद्य श्री अम्बालाल जी जोशी की धवल कीर्ति किसके लिए अविदित है? आप पीयूषपाणि चिकित्सक, कुशल लेखक, उन्मुक्त विचारक तथा सफल सम्पादक हैं। आपने धन्वन्तरि के ज्वर चिकित्सांक नामक विशाल विशेषांक तथा वातरक्त और सापेक्षनिदान नामक लघु अङ्कों का सफल सम्पादन किया है। वाल्मीकीय रामायण से तथा लोक साहित्य से आयुर्वेदीय तत्व को प्रकट करने वाले आदरणीय जोशी जी आयुर्वेद की सच्ची सेवा कर रहे हैं। आपकी लेखनी से आयुर्वेद साहित्य सम्पन्न हुआ है एवं होता रहेगा। इस लेख में श्रीमती मीना जी जोशी ने भी आपका सहयोग दिया है।

—वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'

वात व्याधियों में विहार सम्बन्धी व्यवस्था—

१. अभ्यङ्ग—तेल चुपड़ना २. मर्दन—तेल मलाना या यों ही मसलना ३. वस्ति—वस्तिकर्म ४. स्नेहन—स्नेह कर्म ५. स्वेदन—पसीना लाना (स्वेदकर्म) ६. अवगाहन—(मर्दन कर स्नान करना) ७. संवाहन—देह मर्दन ८. संशमन—दोषशमन करने वाले कर्म ९. वायु के सीधे आघात से बचना १०. अग्निकर्म करना (दग्ध चिकित्सा) ११. उपनाह—प्रलेप करना १२. भू-शय्या—पृथ्वी पर सोना (हार्ड बेड रेस्ट) १३. स्नान—नहाना (गर्म जल से) १४. आसन—बैठना १५. तैल द्रोणी—तैल भरे बड़े बर्तन में गले तक डूबकर बैठना १६. शिरोवस्ति—सिर पर तैल की वस्ति करना १७. शयन—सोना १८. नस्य—नाक में औषधि सूंघना १९. आतप—धूप सेवन करना २०. सन्तर्पण—तृप्तिकार्य २१. बृंहण—पुष्टिकर कार्य करना २२. वमन [विशेष स्थिति में] वायु आमाशय में स्थित होने पर २३. विरेचन (जुलाब) वायु पक्वाशय में स्थित होने पर स्निग्ध विरेचन २४. लंघन—आध्मान होने पर २५. दीपन—अग्निमांद्य होने पर २६. श्रम, दशा (रोगी तथा रोग की) तथा आवरण में तदनुसार।

वात व्याधि में पथ्य व्यवस्था [आहार व्यवस्था]—

१. तैलम्—तैल २. घृतम्—घी ३. वसा ४.

मज्जा—मांस ५. दधि—दही ६. किलाट—फटाहुआ दूध ७. मधुर रस सेवन ८. अम्लरस सेवन ९. लवण रस सेवन १०. नवीन तिल ११. नवीन गोधूम [गेहूं] १२. माष—उड़द सेवन १३. साठी चावल [१ वर्ष पुराने] १४. कुलथी १५. सुरा [मदिरा] १६. गो—गाय १७. अश्व—घोड़ा १७. उष्ट्र—ऊंट १९. रासभ—गदहा २०. छागल—बकरा २१. कोल—रीछ २२. महिष—भैंसा २३. वाराह—सुअर २४. सिंह २५. गैंडा २६. हाथी २७. हंस २८. कादम्ब २९. चित्र—मतान्तर से क्रकस—ककवा ३०. भेक—मेंढक ३१. गोधा—गोह ३२. नकुल—नोला ३३. प्रसाविप ३४. भ्रटक—चिरौटा ३५. कुक्कुट—मुर्गा ३६ बर्ही—मोर ३७. तित्तर—तीतर ३८. शिलिन्द ३९. पर्वत ४०, वक्र—नाका मछली विशेष ४१. गर्गर—मछली विशेष ४२. कवेथी—क्रकच पक्षी ४३. हल्लिश—मत्स्य विशेष ४४. एरण्ड ४५. चुलीकी—शिशुमार विशेष ४६ कूर्म कछुआ ४७. शिशुमार सूंस ४८. तिर्मिगिक ४९. मद्गुर ५०. काग ५१. वर्मी-नदी में पैदा होने वाली मछली विशेष ५२. खुड्डिश ५३. फंख—मछली ५४. पटोल—परवल ५५ शिग्रू—सहिंजना ५६ वार्ताकम ५७. लशुन -लशुन ५८. दाड़िम द्वय—दोनों अनार बेदाणा तथा बीज वाली ५९. पक्वताल ६०. रसालम्—आम ६१ नलदाम्बु—कमल जल ६२. परूपकम—फालसा ६३. अम्बीर—नीबू ६४ बदर—बेर ६५. द्राक्षा—दाख ६६. नारङ्ग—नारङ्गी ६७. मधूक महुआ ६८. प्रसारिणी ६९. गोक्षुर—गोखुरू ७०. शुकाक्षी ७१. पारिभद्र—देवदारु ७२. पय—दूध ७३. पेटी—पाठामूल ७४. रुबु तैल एरण्ड तैल ७५. गवाजलम्—गोमूत्र ७६. मिश्री ७७. ताम्बूलम्—पान ७८. धान्याम्ल—कांजी ७९ तिन्ति डीक—इमली ८०. वर्ति—वटेर।

उपरोक्त द्रव्यों के सिवाय वात रोगों में—१. स्निग्ध भोजन (चिकना भोजन) २.-उष्ण भोजन (गर्म खाना) ३. स्निग्ध लेप ४.उष्ण प्रलेप ५. वातानुलोमक द्रव्य सेवन।

अष्टांग में—गुल्मवत पथ्य; वीर्यगत वात में क्षयवत पथ्य, संधिगतवात, मांसगतवात, रुधिर गत वात, शिरा गत वात फस्त खुलवाना।

अपथ्य—

१. चिन्ता फिकर २. प्रजागर जागरण ३. वेग विधारण—वेगों को रोकना ४. छर्दि—उलटी-वमन ५. काम थकान आने जितनी मेहनत ६. अनशन—भूखों मरना ७. व्यवाय—स्त्री संग ८. वाहनों का अतियोग—हस्ति, अश्व, यान आदि ९. चंक्रमण भ्रमण।

आध्मान तथा अर्दित वात वाले को विशेष कर नहाना खराब जल से मुख या दांतों को धोना या घिसना।

वात व्याधि में अपथ्य खाद्य—१. चणक—चना २. कलाय—मटर के प्रकार ३. नीवार—तृण धान्य ४. कंगुनी—कंगनी ५. शण—पिण ६. वेणु—बांस ७. कोर—कोंदो ८. श्यामक—सामा ९. कुरुविन्द—कुलत्थ १०. धान्य—चावल ११. तृणज—तृण १२. राजमाष—माष विशेष १३. मुद्ग—मूंग १४. तडाग जल—तालाब का पानी १५. नादेय जल—नदी का पानी १६. करीर—करीर १७. जम्बुक—जामुन १८. कसेरुक—कसेरु १९.तलक—सुपारी २० मृणाल—कमल २१. निस्पावबीज—शिम्बी धान्य विशेष २२. तालफल २३. शालूक—कमल कन्द २४. तिन्दुक—तेन्दू २५. कठिल्लक करेला २६. कालताल—कच्चा ताडफल २७. शिम्बी—सेमल २८. पत्र शाक—पत्तों की सब्जी २९. उदुम्बर—गूलर ३०. शुष्क पकंज ३१. क्षौद्र—मधुर रस ३२. कषाय—रस ३२. कटु रस ३४. तिक्त—रस।

वात व्याधि में सदा पथ्य—१-दूध २-मासरस ३-यूप४-कलम आदि धान्य ५-यव ६-गोधूम ७-माष ८-गुग्गुलु

वात व्याधि में सदा अपथ्य—१-व्यायाम (अधिक) २-आतप (अति सेवन) ३—रूक्ष भोजन ५—ठंडे पानी से नहाना ५—बहुभोजन—अधिक खाना ६—अधिक पवन सेवन या शीत पवन सेवन ७—स्त्री सङ्ग ८—यान यात्रा ९—गधी का दूध १०—विरुद्ध आहार ११—क्षार सेवन १२—शुष्क मांस १३—रुधिर स्राव।

आज के युग में उपरोक्त पथ्यों के सिवाय अनेक पथ्यापथ्य और प्रचलित हो गये हैं जिन पर विचार करना भी आवश्यक हो गया है। उदाहरणार्थ—डिब्बे में बन्द खाद्य, डबल रोटी बिस्कुट आदि खाद्य वात वर्धक है। वायु वेग से चलने वाले यान 'सुपरसोनिक' भी वायुवर्धक हैं। उर्वरक द्वारा उत्पादित खाद्य वायुवर्धक होते हैं। ★

★ वातरोगों में पथ्यापथ्य ★

वात व्याधियाँ पर होम्यो दवाएँ

डा० प्रकाश चन्द्र गंगराडे, बी.एस.सी.,डी.एच बी.,डी.फार्मा. विद्यारत्न, साहित्यालंकार, आयु. वारिधि

यदा यदा हि धातूना वैषम्यं संप्रजायते ।
अभ्युत्थानञ्च दोषाणां तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।

रोग के इस अभिभाषण से यह ध्वनित है कि धातुवैषम्यस्वरूप दोष को बाहर-निकालने हेतु ही रोगों की उत्पत्ति होती है ।. शनैश्चरी व्याधि को शीघ्र समाप्त करने के लिये व्याधि के उद्दीपन हेतु निदान के समान द्रव्यो का प्रयोग किया जाता है । आयुर्वेद के शब्दो मे इसे हेतु विपरीतार्थ उपशय (चिकित्सा) कहा जाता है । अधुना यह चिकित्सा पद्धति होमियोपैथी के नाम से जानी जाती है । वात व्याधियों पर इन प्रमुख औषधियो का विवरण प्रेषित करने वाले है विश्रुतकीर्ति डा० श्री प्रकाश चन्द जी गंगराडे । भगवान चरक द्वारा निर्दिष्ट हितायु (च.सू. ३०।२४) के लक्षणों से युक्त श्री गंगराडे ज्ञान विज्ञानोपशमशील किंवा परीक्ष्यकारी जन कर जनता जनार्दन के हित कार्यों में अहर्निश सलग्न रहते हैं । ईश्वर आपको सतत उत्साहित कर सफलता प्रदान करता रहे यही मंगल कामना है ।

—वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'

रस टाक्स—

वात रोगों के लक्षणो मे इस दवा का प्रयोग प्रमुखता से होता है अत. यह सर्वोत्तम औषधि मानी जाती है । इसके प्रधान लक्षण ये है—दर्द और बेचैनी के साथ रोगी को निरन्तर चलते रहने से आराम । कभी-कभी कटिवात में गति से कष्ट बढता है । बैठे रहने से, बैठे से उठने पर या चलना शुरू करते ही वात का दर्द बढ़ना । गरम सेक से दर्द मे आराम मिलना, धूप या आग तापने से भी सभी कष्ट घटते हैं जबकि ठंडक, सीली आबहवा, ठंडी हवा सहन न हो और कष्टो में वृद्धि करे । दर्द के स्थान पर जलन और कडापन मिलता है । सूई चुभने जैसा खिंचने वाला दर्द अनुभव होता है। पीठ और कमर के दर्द मे खास-तौर से प्रभाव रखती है । इसका प्रभाव विशेष रूप से पैरों मे होता है । कड़े परिश्रम से, बोझ उठाने से उत्पन्न कष्ट में लाभदायक है ।

ब्रायोनिया—

इसका वात प्रकोप जोडो पर होता है । रोगी पूर्णतया शांत रहना चाहता है क्योंकि किसी भी प्रकार की गति करने से दर्द में वृद्धि होती है । पेशियो मे जलन, सूजन और प्रदाह के साथ लाली, गर्मी और कड़ापन । दर्द तेज, सूई चुने जैसा, हाथ से छूने मात्र से बढना लेकिन पीडित अङ्ग पर दबाव से आराम मिलना इसका खास लक्षण है। रोगी पीड़ित अंग को दबाकर लेटना चाहता है ।

कास्टिकम—

इस दवा की बेचैनी केवल रात मे होती है । दर्द के कारण रोगी लगातार चलने को मजबूर होता है लेकिन कुछ भी आराम नही आता । सूखी ठंडी बर्फीली हवा से उत्पन्न वात मे उपयोगी है । इसका खास लक्षण है--जोडो का कडापन, बंधनियो का खिंचाव । पुराने गठियावात मे लाभप्रद । हाथों और बाजुओं खिंचाव के साथ मन्दा-मन्दा दर्द । हाथ, पैर आदि अङ्गों के विघात से उत्पन्न विकृति में इसका प्रयोग करें ।

पल्सेटिला—

स्थान बदलने वाले वात रोग मे यह दवा मुफ्त ग़र

से कार्य करती है। घूमने वाली वात वेदना, घुटने, टखने और पैर की लम्बी हड्डियों के जोड़ों में वात का दर्द, सुजाक के कारण उत्पन्न वात रोग, यकृत और पाकाशय की गड़बड़ी से उत्पन्न वात रोग में इस औषधि का प्रयोग किया जाना चाहिए। याद रखने योग्य बात यह है कि पल्सेटिला और रस टक्स दोनों के लक्षण हरकत करने से घट जाते हैं परन्तु पल्सेटिला कष्ट खुली ठंडी हवा में घूमने फिरने से घटता है और रसटाक्स के लिए गरम खुश्क हवा चाहिए।

लीडम पाल–

इसके प्रमुख लक्षण–संधिवात पांव से शुरू होकर ऊपर की ओर फैलता, छोटे-जोड़ों और सन्धियों मे गांठें पड़ जाना और दर्द होना, बिछौने की गरमी से रात को रोग बढ़ना, गति वेदना पैदा करती है, त्वचा पर लाल दाग पड़ जाना आदि हैं, जिनमें यह अच्छा कार्य करती है। इसके रोगों में ठण्डक से आराम आना अत्यन्त महत्व की बात है यहां तक कि रोगी दर्द से आराम पाने के लिए पीड़ित अङ्ग को सर्द पानी में रख देता है।

कैल्मिया–इसका संधिवात ऊपर से नीचे की ओर आता है। घूमने वाले वात में भी यह दवा लाभप्रद है। ऐसे रोगी जिनके संधिवात जगह बदलने वाले हों और वे हृदय रोग से भी पीड़ित हों तो उन्हें पल्सेटिला देने से पहले कैल्मिया देना चाहिये। इस औषधि का दर्द प्रायः हाथ के नीचे होता है।

सिमिसिफ्यूगा–अत्यन्त अस्थिरता, पेशियों में निरंतर दर्द, हाथ-पैर की छोटी पेशियों की अपेक्षा पेट और धड़ की बड़ी पेशियों से वात का आक्रमण अधिक होना, जो रात में और गीली ठंडी हवा में बढ़ता है। ये लक्षण जिस वात रोग में मिले उसमें यह दवा गुणकारी है।

कालचिकम–इसका वात भी स्थान बदलता है। सन्धियों की सूजन जो एक जगह से दूसरी जगह चली जाये, दर्द शाम को अधिक, जरा हिलने-डुलने पर दर्द का बढ़ना, रोगी का चिड़चिड़ा होना, दुबले-पतले व्यक्तियों के वात रोग आदि में यह दवा उपयोगी है। हाथ-पैरों के छोटे २ जोड़ों के दर्द में भी इससे आराम मिलता है।

फाइटोलेक्का--कोहनियों और घुटनों के दर्द में यह विशेष तौर पर लाभकारी है। दर्द चलता फिरता रहता है, रात में सीली आबहवा में रोग वृद्धि, पेशियों के भीतर कड़ापन, स्नायुकोप में वात प्रकोप, रेशे वाली तन्तुओं में वात प्रकोप होने पर भी इसका प्रयोग लाभदायक है।

गुएकम--वात रोग से उत्पन्न अनेक उपसर्गो में इसका प्रयोग किया जाता है। पेशीबन्धनी का संकोचन, जो अंगों को खींच कर विकृत कर देता है, जोड़ों के भीतर गांठें बन जाना, जोड़ों में कड़ापन और पेशियों में जलन की उपस्थिति, गर्मी रोग या पारे के दुष्परिणाम से पैदा हुए वात रोग में इस दवा से आराम मिलता है।

आर्निका--सीली आबहवा, ठंडक और पेशियों के अत्याधिक परिश्रम के कारण उत्पन्न वात में यह उपयोगी है। पीड़ित अङ्ग में जलन के साथ कुचलने जैसी अनुभूति होना पसलियों के मध्य होने वाले वात में भी इसी दवा से फायदा होता है।

डल्कामारा–यकायक आबहवा के बदलने, ठंडे और सीलन भरे वातावरण में, पानी से भीग जाने पर उत्पन्न वात कष्ट में यह एक गुणकारी औषधि है।

एकोनाइट–तरुण संधिवात, संधियों और पेशियों में छेदने जैसा दर्द, पीड़ित स्थान का लाल और सूजा होना ज्वर की प्राथमिक अवस्था में एक लाभकारी औषधि है।

लिथियम कार्ब—अंगुलियों के जोड़ों का वात साथ ही हृदय रोग की तकलीफ का होना। बार-बार रोग के आक्रमण में लाभप्रद।

रूटा—कलाई के वात में गुणकारी औषधि।

मैग्नेशिया कार्ब—दाहिने कंधे का वात जो गरम सेंक से अच्छा हो तथा बिछौने की गर्मी से बढ़े।

साईलिशिया—पैतृक वात रोगी होना, दर्द में रात को बढ़ोतरी, गर्म सेंक से आराम मिलना।

कैल्केरिया कार्ब—जो लोग पानी में अधिक समय तक रहकर कार्य करते हैं, उनके वात रोग में यह दवा गुणकारी है।

कैल्केरिया फ्लुर—कमर दर्द में सफलतापूर्वक उपयोग में लिया जाता है, जो चलना आरम्भ करते ही बढ़ता हो लेकिन लगातार चलते रहने से आराम पहुँचाताहै।

--डा. प्रकाश चन्द्र गंगराड़े,
क्वा. ६०२, एन-२, हबीबगंज, भोपाल

१. आक्षेपक (Convulsions)

चिकित्सा—रोगी को स्वच्छ हवा मे रखे।

इन्जेक्शन—

१ गार्डिनल सोडियम इन्जेक्शन, निर्माता (मे एन्ड बेकर) ६ मिग्रा./प्रति किग्रा. शारीरिक भार के अनुसार मांसपेशीन्तर्गत इसके साथ ५-१० मिग्रा./किग्रा. रोजाना के हिसाब से कई खुराकों मे बांटकर मुख द्वारा इसकी टिकिया दें। या—

पैराल्डीहाइड—इसे विभिन्न कम्पनिया तैयार करती हैं। १-२ मिली. मांसपेशी मे।

२. १०% कैल्शियम सैन्डोज विटामिन सी सहित—१-२ मिली./किग्रा.

३. डेक्स्ट्रोज २०%—२-४ मिग्रा./किग्रा. शिरान्तर्गत यदि फिर भी आक्षेप बना रहे—

१. कम्पोज इन्जेक्शन (निर्माता रैनबैक्सी)—२.२५-०.५ मिग्रा./किग्रा. मांसपेश्यन्तर्गत या शिरान्तर्गत। या—लार्जैक्टिल इजेक्शन (निर्माता मे एण्ड बेकर)—०.५-१ मिग्रा./किग्रा. के अनुसार ३-४ खुराकों में बांटकर

२. ग्लैडाक्सीन (Gladoxin)—ग्लैक्सो द्वारा निर्मित पाइरीनडाक्सीन का इन्जेक्शन है। ५-१०० मिग्रा. मांसान्तर्गत।

पेय (Syrup)—

१. लार्जैक्टिल पीडियैट्रिक सीरप (५ मिग्रा./प्रति चम्मच) मात्रा ०.५-१ मिग्रा./प्रति किग्रा.। या

कम्पोज सीरप आधा से एक चम्मच × ३ वार। या

ब्रोमोटोन (Bromotone) सीरप (निर्माता इस्टर्न ड्रग) चौथाई से एक चम्मच आवश्यकतानुसार दिन में २ या ३ वार तक दें।

इस रोग की सबसे अच्छी दवा गार्डिनल है जिसके इन्जैक्शन एवं टेबलेट की मात्रा का वर्णन ऊपर कर दिया गया है। आक्षेप या आक्षेपक चूंकि बच्चों की बीमारी है यानी यह बच्चों की स्वतंत्र बीमारियों तथा अन्य बीमारियों के लक्षण के रुप मे दृष्टिगोचर होता है किन्तु आक्षेप वयस्कों मे भी देखा जाता है जो अन्य रोगों के उपद्रव के रूप में होता है। जैसे वयस्कों मे भी टिटनस, मैनिन्जाइटिस, इन्सेफलाइटिस, इक्लेम्पेशिया (गर्भाक्षेपक), टाइफस इत्यादि रोगों मे भी आक्षेप होता है जिसकी चिकित्सा इन्जेक्शन द्वारा निम्न विधि से करते हैं—

१. लार्जैक्टिल (Largactil) इन्जेक्शन २५-५० मिग्रा: मांसान्तर्गत या शिरान्तर्गत (ग्लूकोज यम नार्मल

सलाइन में घोलकर ३ या ४ वार स्थिति अनुसार। या,

कम्पोज इन्जेक्शन १० या २० मिग्रा. मांसान्तर्गत या शिरान्तर्गत १ या अधिक वार स्थिति अनुसार।

२. १०% फ्रूक्टोडेक्स इन सलाइन [निर्माता रैप्टाकोप] १ हजार या २ हजार मिली. तक बूंदपात विधि से

२. टिटनस या धनुस्तम्भ-

१. ए.टी.एस. [Anti Tetanus Serum] निर्माता बी. आई., बरोज वेलकम, वायोलोजीकल इवैन्स, सीरम इन्स्टीट्यूट इत्यादि।

शिशुओं को ५ हजार ई.यूनिट [इन्टरनेशनल यूनिट] दश हैजार यूनिट रोज [६ दिनों तक] या आवश्यकतासार [रोग की गम्भीरता के अनुसार]

बच्चों को पचास हजार यूनिट रोग की गम्भीरता के अनुसार मांसान्तर्गत.

वयस्कों को १ लाख या २ लाख यूनिट तक बहुत ही धीरे धीरे शिरान्तर्गत तथा सप्ताह में २० हजार यूनिट और ए.टी.एस. की मात्रा रोगी की वीमारी के अनुसार उसकी गम्भीरता को देखते हुये करना चाहिये।

१९६६ में मैंने एक ८ वर्षीय वालिका का इलाज किया था। रोग तो इतना गम्भीर था कि शरीर वस्तुतः धनुष की तरह मुड़ गया था। आक्षेप तुरन्त-तुरन्त होता था। जबड़ा पूरी तरह वैठ गया था। उसको मैंने ए. टी. एस. ५० हजार यूनिट सुवह शाम ५ दिनों तक दिया था वेन्जाइल पेनिसिलीन १० लाख सुवह शाम मांसान्तर्गत तथा लार्गैक्टिल इन्जेक्शन ५० मिग्रा. × ३ वार मांसान्तर्गत तथा डेक्सोना २ मिली. × २ वार मांसान्तर्गत दिया तथा १०% फ्रूक्टोडेक्स इन सलाइन बूंदपात विधि द्वारा शिरान्तर्गत २-३ वोतल रोज दिया। नाक द्वारा राइल्स ट्यूव लगाकर उसीके द्वारा दूध, हार्लिक्स दिया। ठीक हो गई। पुनः १९६८ में इसी तरह के चिकित्सा व्यवस्था द्वारा एक ३२ वर्षीय औरत की जान वच पाई, जिसे वचने की उम्मीद किसी भी व्यक्ति को नहीं थी।

१९८१ के नवम्बर या दिसम्बर में एक १३ दिन के शिशु को इस रोग से मुक्ति के लिये रोज ५ हजार यूनिट सुवह शाम ३ दिनों तक तथा वाद में ३ दिनों तक ५ हजार यूनिट तथा वेन्जाइल पेनिसिलीन ढाई लाख सुवह शाम तथा डेक्सोना १/२ मिली. × २ वार मांसान्तर्गत तथा लार्जेक्टिल पीडियैट्रिक सीरप दिया। वच्चा रोग मुक्त हो गया।

२. पेनिड्यूरला [निर्माता जानवाइथ] वयस्क को २४ लाख यूनिट [१२-१२ लाख दोनों कूल्हों पर] गहरे मांस में दें। बच्चों को १२ लाख यूनिट गहरे मांसपेशी में तथा शिशुओं को ६ लाख यूनिट गहरे मांसपेशी में। इसका इन्जेक्शन सुग्राहिता की जांच करने के वाद ही लगाना चाहिये।

३. डायजीपाम [Diasepam] जैसे वैलियम [Valum] [निर्माता रोश], कम्पोज की टिकिया को २० मिग्रा. प्रत्येक २ घण्टे पर रायल्स ट्यूव [Ryle's tube] द्वारा दें। वयस्कों के लिये अधिकतम मात्रा १५ मिग्रा./प्रति किग्राम २४ घण्टे की दर से। बच्चों को कम्पोज लार्जेक्टिल का सीरप दिया जाए। जलाभाव होने पर शिरान्तर्गत ग्लूकोज सलाइन दे सकते हैं। अधिक प्रोटीन युक्त भोजन राइल्स ट्यूव द्वारा दें।

घातक अवस्था में कार्टीसोन जैसे डेकाड्रान [निर्माता मर्क शार्प], डेक्सोना [Dexona] निर्माता कैडिला भी मात्रानुसार दे सकते हैं।

३. पक्षाघात [Hemiplegia]

यह रोग अनेकानेक कारणों द्वारा शरीर में आता है, जैसे चोट शिर पर घातक चोट, रसुली [Tumors], मस्तिष्कगत अन्तःशल्यता [Cerebral Embolism], मस्तिष्कगत घनास्रता [Cerebral Thrombosis], मस्तिष्कगत रक्तस्राव [Cerebral Haemorrhage], एवं अनेक संक्रमण व्याधियों के पश्चात् शरीर इस रोग का शिकार वन जाता है। अतः इसकी चिकित्सा मूल कारणों के अनुसार की जाती है।

१. पेनिड्युरला-१२—इस इन्जेक्शन को कूल्हा पर गहरे मांस में लगाना चाहिये। ७ दिनों पर दुहराया जा सकता है। इन्जेक्शन लगने से पहले सेन्सीटिविटी टेस्ट करना अनिवार्य है।

२. कम्प्लामिना [जर्मन रेमेडिन]—१ ऐम्पुल × २-३ वार मांसान्तर्गत या शिरान्तर्गत। अधिकतम मात्रा ६ ऐम्पुल प्रतिदिन।

३. आप्टीन्युटोन (लुपीटेट)—१ ऐम्पुल रोज मांसान्तर्गत ।

समकक्ष—१. न्यूरोबियोन (ई. मर्क) २. एरिस्टो-न्युरोल (एरिस्टो) ३. नियाडाक्सीन (बी.ई.) ४. सायो-न्युरोन (एलवर्ट डेविड) ५. न्यूरोफिन (डोल्फीन) ।

४. इन्सेफाबोल सस्पेन्शन [ई. मर्क]—१-१ चम्मच × ३ बार । या इसीका १-१ टेब अथवा २ बार रोगानुसार

५. पारालाइटोल [हर्बल्स]—आक्रान्त भाग पर ३ या ४ बार मालिश करायें । जैसे ही रोग घटना शुरू हो रोगी आराम कुर्सी इत्यादि पर बैठाना चाहिए और बैठने का समय रोज रोज बढ़ाते जाने चाहिये । मुख द्वारा औपधि खाने की स्थिति में कम्प्लामिना १ टेबलेट ३ या ४ बार या कम्प्लामिना रिटार्ड १ टेबलेट × २ बार खिलाना आरम्भ कर देना चाहिए । ऐसी स्थिति में इसका इन्जेक्शन बन्द कर देना चाहिये । रोगी के हाथ एवं पैरों के संचालन पर काफी ध्यान देना चाहिए । रोगी की सफाई पर तो गंभीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिए । हाँ पाखाना और पेशाब रोगी को होता है या नहीं इसे भी देखना चाहिए । यदि कब्जियत की शिकायत है तो क्रिमाफीन सस्पैन्सन ३ चम्मच दवा आधा ग्लास गर्म दूध मे घोलकर रात को सोते समय देना चाहिए । पेशाब के लिये कोई अल्कलाईन मिक्श्चर देते रहना अच्छा रहता है । यथा—अल्कासोल [निर्माता स्टेटमेड], साइट्राल्का [पार्क डेविस] इत्यादि । मात्रा—दो दो चम्मच × ३ बार पानी में घोलकर । इस रोगमे फ्रैन्को इण्डिया क. का ग्लुटान्युरोन टेबलेट भी ६ या १२ टेबलेट तक रोज पानी में घोलकर देना चाहिए ।

४. अपतन्त्रक [हिस्टेरिया]

१. लार्जेक्टिल इन्जेक्शन २ या ३ दिन तक ५० मिग्रा. मांसान्तर्गत ३ बार या वैलियम १०—१ ऐम्पुल मांसान्तर्गत २ या ३ बार ।

२. सोनेरिल [एम एण्ड बी]—१-१ टेबलेट × ३ या ४ बार या गार्डिनल टेबलेट (एम एण्ड बी)—६० मिग्रा. की १ टेबलेट ३ या ४ बार ।

इस रोग में गार्डीनल के इन्जेक्शन भी दिये जा सकते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी शामक औषधि इस बीमारी मे प्रमुख औषधि के रूप में व्यवहार कराया जा सकता है ।

३. कार्बन डायक्साइड—सुंघाया जाए ।

५. अर्दित या Bell's Palsy

१. इन्फ्रारेड द्वारा या किसी अन्य व्यवस्था द्वारा सम्पूर्ण या सिर्फ आक्रान्त चेहरे को सेक कराना चाहिए ।

२. आक्रान्त भाग पर ५ मिनट तक दिन में २ बार मालिश करनी चाहिये । कान और चेहरे को रूई के पैड से ढक देना चाहिए तथा खुली आंख मे लिक्विड पाराफीन की कुछ बूंदें डालकर बन्द कर देना चाहिए ।

४. वेदना या अन्य लक्षणों की लाक्षणिक चिकित्सा करनी चाहिये ।

५. पक्षवध मे वर्णित आप्टोन्युरोन ग्रुप का इन्जेक्शन लगावें ।

६. हनुग्रह

यह कोई स्वतन्त्र रोग नही है । यह अन्य किसी खास रोगों का लक्षण है । जैसे—टिटनस, मेनिन्जाइटिस, हिस्टीरिया, विष खाये रोगियों में, एन्सेफलाइटिस, दांत एवं जबड़े का दर्द, टान्सिलाइटिस आदि रोगों मे यह लक्षण दृष्टिगोचर होता है ।

खास रोग की चिकित्सा मे यह लक्षण स्वतः समाप्त हो जाता है ।

७. मन्यास्तम्भ

यह भी कोई खास रोग नही है, बल्कि टिटनस, मेनिन्जाइटिस, इन्सेफलाइटिस, इक्लेम्पशिया, चोट लगने के कारण उत्पन्न होता है । खास रोगों की चिकित्सा से यह लक्षण स्वयं जाता रहता है ।

चोट लगने के कारण उत्पन्न हुए मन्यास्तम्भ मे—

१. आक्साल्जीन (कैडिला) टेबलेट १-१ टेबलेट × ३ बार ।

२. आयोडेक्स + मिथाईल सैलीसिलेट मलहम (एम. के. एफ.) या यूयेरिया (बङ्गाल कैमीकल) की मालिश २-३ बार ।

८. गृध्रसी

(१) नोवल्जीन (हेस्ट)—५ मिली. मांसान्तर्गत रोजाना। या जोलैन्डीन १ ऐम्पुल रोज या १ दिन बीच देकर मांसान्तर्गत। या एसजीपाइरीन-एक(शुहृद गायगी)—३-५ मिली. रोजाना या १ दिन छोड़कर।

(२) विटन्यूरान (ग्लैक्सो)—या न्युरोवियोन (ई. मर्क)—१ ऐम्पुल रोज मांस में।

(३) क्वीलाकोर्टिन (Quilocorten tab.) (मैंक लेंव) १-३ टेवलेट रोज। या डेक्सा वुटारिन (थेमिस)—१-३ टेवलेट रोज।

(४) बी. जी. फास (मर्क शार्प)—२ चम्मच दवा + वरावर पानी × ३ वार।

जान वाइथ क० का एल्जीपान, बंङ्गाल से निकलने वाली यूथेरिया या मेडिक्रीम की मालिश, दर्द के स्थानों पर कराने से आशातीत लाभ होता है। इन औषधियों का अच्छा प्रभाव न होने पर नोवोकेन (हेक्स्ट) या जेसीकेन (सु० गायगी) के ४% घोल को ४ मिली. की मात्रा में गृध्रसी नाड़ी में सूचीवेध करने से अवश्य लाभ होता है।

९. कोष्टुक शीर्षक

इस रोग की चिकित्सा रोग के मूल कारणों के अनुसार की जाती है। इसके अनेक कारण हैं, यथा-रूमेटायड आर्थाराइटिस, वातरक्त, सेप्ठिक अर्थाराइटिस, गोनोकोक्कल अ०, अथ्रोस्केलेरोसिस इत्यादि। वैसे इस रोग की चिकित्सा एन्टीवायोटिक्स इन्जेक्शनों, कैपसूलों एवं एन्टी इन्फ्लामेटरी टेवलेटों। जैसे- रूमाकोर्ट १ या २ टेवलेट × २ या ३ वार या रिडयूसिन-ए १ या २ टेवलेट × २ या ३ वार या ब्रूफेन १ टेवलेट × २ या ३ वार देकर करें। विजली का सेक भी किया जाता है।

१०. अंसशोष

तीव्र अवस्था में—कैपसूल व्युटा-प्रोक्सीयान २ कैपसूल × ३ वार भोजनोपरान्त × १ सप्ताह तक। वाद में १ कैप × २ वार भोजनोपरान्त × ३ सप्ताह तक।

डायजीन जेल सस्पेंशन (वूट्स)—३ चम्मच (चाय के चम्मच से) प्रत्येक वार उपरोक्त कैपसूल खाने के वाद।

आक्रान्त भाग को कुशा (Splint) की सहायता से ठीक स्थिति में (आराम की स्थिति में) रखें। शारीरिक कसरतों का परित्याग करें।

पुराने रोग में—टेवलेट ब्रूफेन ४०० मिग्रा की १ टेवलेट × ३ वार भोजनोपरान्त डिस्प्रीन-२ टेवलेट × ३ वार भोजनोपरान्त।

टेवलेट कैटाक्सीमैज्मा (टैप्टाकोस) १ या २ टेवलेट × उपरोक्त प्रत्येक खुराक खाने के वाद। एक महीना के वाद उपरोक्त सभी टेवलेट का १-१ टेवलेट × २ वार।

११. वातरक्त

तीव्र अवस्था में—इन्डोमेथासीन जो दवा सिपलासीड के नाम से सिप्ला कं० का, इन्मेसीन, इडीसीन इत्यादि होता है—५० मिग्रा. प्रत्येक ६ घण्टे पर जव तक स्थिति में पूर्ण सुधार न होजाए। ७ या १० दिन तक दें।

या फेनिलव्युटाजोन २०० मिग्रा. × प्रत्येक ६-६ घण्टे पर।

इसमें वूटारिन का इन्जेक्शन (थेमिस) ५ मिली., १ दिन वीच देकर गहरे मांसपेशी में दिया जा सकता है।

या एसजीपायरिन-एन (सु. गायगी)। उपरोक्तानुसार पुराने रोग में—

टेवलेट जाइलोरिक या सिपलोरिक २०० या ३०० मिग्रा. प्रतिदिन। टेवलेट कोलचिसिन २ टेवलेट प्रतिदिन

गृध्रसी में वर्णित सभी टेवलेट इस रोग की चिकित्सा में दिये जा सकते हैं।

१२ ऊर्ध्ववात (Eructation)

नियोपेप्टीन (रैप्टाकोस)—१ या २-कैपसूल × २ या ३ वार

यूनी एन्जाइम टेवलेट (यूनीकेम)—२ टेव. × २वार

एल्युड्राक्स (जान वाइथ)—२-२ टेवलेट प्रत्येक वार भोजन के वाद।

पेरिनोर्म टेवलेट (इपका)—१ टेवलेट × २ या ३ वार भोजन से पहले।

मोलजाइन फेयरडील) २ टेवलेट × २ वार।

डायोमाल (कार्टर वालैस)—२ टेवलेट × २-३ वार

पेय—

इन्जाइमेक्स सीरप (इपका) १ चम्मच × २-३ वार

मोलजाईम (फेयरडील)—१-२ चम्मच × २-३ वार

डाइजाइम (यूनीकेम)—१ या २ चम्मच × २ वार

डायोमाल (कार्टर वालेस,—२ चम्मच × ३ वार।

वात व्याधियों के सन्दर्भ में

आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सा का दृष्टिकोण

श्री योगेन्द्रनाथ मिश्र एम० ए० एन० डी०

स्थिति का विश्लेषण करने के पूर्व हम शरीरगत उन अङ्गों की प्रकृति को देखना चाहेंगे जो प्राय: वात के उदगम केन्द्र में सहज ही बन जाते हैं। प्रमुख अङ्ग हैं--

१. आमाशय, २. छोटी-बड़ी आंतें, ३. स्नायु, ४. मस्तिष्क, ५. मांसपेशियां।

उक्त सभी अंगों की रचना ठोस नहीं है बल्कि पोली है। कोई भी पोला स्थान 'शून्य' की स्थिति में नहीं होता वहां वायु की उपस्थित स्वयं सिद्ध है।

गति एवं प्रतिरोध गति-कोर्स

आंतों को सशक्त बनाने के लिये विशेष प्रकार की गतियों (मूवमेंट) का प्रयोग कारगर सवित हुआ है। आंतों की सर्वोत्तम गति नौलि क्रिया है--इसमें साधक को आंतों को वायें से दायें अथवा दायें से वायें एक विशेष स्नायु नियन्त्रण प्रक्रिया द्वारा गति दी जाती है। इसमें उड्डीयबंध का प्रयोग होता है। स्वास्थ विज्ञान के क्षेत्र में योग शास्त्र की यह एक महत्वपूर्ण देन है।

आज कल स्नायु और मांसपेशियां इतनी शिथिल पड़ चुकी है--इसलिये अधिकांश लोग नौलि क्रिया का प्रयोग करने में अपने को असमर्थ पाते हैं।

हमारे शोध केन्द्रों में नौलि क्रिया के आधार पर विशेष गति-कोर्स[1] विकसित किये गये हैं जो प्रतिरोध-गतिकोर्स के

साथ चमत्कारिक प्रभाव देते हैं। यह स्थाई प्रभाव होता है। इससे आंतों की गति उचित रूप से संचालित की जा सकती है। इन प्रक्रियाओं से आंतों और उनकी कार्य क्षमता को सवल बनाया जा सकता है। इसका प्रभाव--न केवल आंतों की कार्य पद्धति पर वल्कि स्वस्थ आंतों के निर्माण पर भी होता है। गति-कोर्स, व प्रतिरोध-गति कोर्स-की विशेष एवं चिकित्सकीय जानकारी के लिये जवावी पत्र भेजकर अलग से सम्पर्क करें।--लेखक

आहार असंयम अधिक खाने की वृत्ति, पाचक रस को उत्तेजना देने वाले द्रव्यों का सेवन, मानसिक अस्थिरता आदि देखे जाते हैं।

पाचक रस की स्थिति के साथ वात रोगों में शिथिल आन्त्र क्रिया-जिसे मन्दाग्नि--धीमी पाचन क्रिया कहा जा सकता है आदि आंत्र प्रदेश में वायु का कारण वन जाता है। मन्दाग्नि की दूसरी विकारीय स्थिति आँव की होती है, जो वात रोगियों के साथ प्रायः देखने को मिलती है--

१. आमाशय में पाचक रस की हीन स्थिति
२. आंतों में मन्द पाचन गति

वात रोगों में आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सा:—

सभी प्रकार के वात रोगों में पाचन प्रक्रिया को सवल बनाना--आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सा का आरम्भ बिन्दु माना जा सकता है। पाचन यन्त्र की शक्ति को विकसित करने के लिये आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सा में निम्न बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है, यथा--

१. आंतों को सशक्त बनाना
२. आंतों के विश्राम और कार्य का संतुलन रखना
३. आंतों को उचित खाद्य देना

आमाशय से निकल कर छोटी आंतों तथा वड़ी आंतों में आहार का द्रव्यीकरण और शोषण निरन्तर होता है। आयु और शरीर के विकास के अनुसार शोषण क्रिया--की एक गति सीमा होती है। यदि यह गति कम या अधिक किसी कारणवश हो जाये तो सम्पूर्ण पाचन क्रिया पर इसका प्रभाव पड़ सकता है। आंतों में इस स्थिति विशेष को मन्दाग्नि कहा जाता है--जो एक असत्य भाषण है। वास्तव में आंतों में मन्द गति पैदा हो जाती है जिससे द्रव अवस्था को प्राप्त आहार आवश्यकता से अधिक समय तक आंतो में पड़ा सड़ता रहता है। आंव की स्थिति विशेष महत्व की है क्योंकि आंव का यदि शोषण शुरू हो जाये तो सम्पूर्ण रक्त दूषित--विकारीय वन जाता है। हम ऊपर कह आये हैं कि सभी वात व्याधियों के मूल में दूषित अपूर्व पाचन क्रिया तथा पाचन अंगों की शिथिलता देखी जाती है। सभी प्रकार की औषधियां जो पाचन अङ्गों को उत्तेजित करती हैं--उनके परिणाम भी आंतों की मन्दगति में आते हैं। अधिक सुविधाजनक होगा कि साधक पाचन अंगों को परेशान करने के वजाय आहार संयम को अपनायें। औषधि असंयम की ओर प्रेरित करती हैं। यदि रोगी को भूख नहीं लगती तो उसका अर्थ है कि आमाशय में पाचक रस की उपस्थिति नहीं है। भूख एक नैसर्गिक लक्षण है जो आहार संयम के साथ एक विश्वसनीय मार्गदर्शक बनता है।

सही आहार का महत्व—

वात व्याधियों में औसत चिकित्सक विशेष कर आयुर्वेद में सुपाच्य आहार के विषय में सोचता है लेकिन व्यवहार में वह वेईमान वन जाता है। आहार की पाच्यता अथवा गरिष्ठता पाचन अङ्गों की कार्य क्षमता के अनुपात से होती है। कोई आहार सुपाच्य या गरिष्ट नहीं होता। सुपाच्य आहार से एक एक खतरा यह भी वढ़ने लगता है कि पाचन अङ्ग हीन पाचन क्रिया के आदी वनने लगते हैं जिसका दूरगामी परिणाम-स्वास्थ्य पर बुरा पड़ता है—फिर रोगी तथाकथित टानिक खोजता फिरता है।

प्राकृतिक चिकित्सा की दृष्टि से जहां आहार रोगी की प्रकृति—पाचन गति के अनुसार हो वहां यथा सम्भव उसका प्राकृतिक सन्तुलन न विगाड़ा जाये। पूर्ण आहार वही हो सकता है जिसमें अपना रासायनिक संतुलन हो। उदाहरण के लिये मैदा—असंतुलित है जवकि गेहूँ का आटा संतुलित है। इस दृष्टि से काट-छांट किये गये डिब्बे वंद अथवा तैयार आहार की कीमत रोगी को अच्छी-खासी देनी होती है।

वात व्याधियों में आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सा का दृष्टिकोण औषधि चिकित्सा से अलग है। हम शास्त्रीय वहस में जाना नहीं चाहते—पर इतना अवश्य है कि वात व्याधियों के मूल कारण की ओर ध्यान न देना स्वयं में एक गंभीर नैतिक अपराध है। प्राकृतिक चिकित्सा कम से कम इस अपराध से अपने को मुक्त मानती है।

वातरोग और प्राकृतिक चिकित्सा

श्री रमेश चन्द्र पारीक, केशियर—नगर परिषद, जयपुर
श्री पुण्यनाथ मिश्र आयु. चिकित्सक—अरियादह रामानन्द दातव्य औषधालय,
५ एम. एम. फीडर रोड, कलकत्ता

महात्मा गांधी की मान्यता थी कि हमारे देश की परिस्थिति के अनुरूप यदि कोई चिकित्सा पद्धति है, तो वह प्राकृतिक चिकित्सा है, अतः उन्होंने इसे अपने रचनात्मक कार्यक्रमों में स्थान दिया था। आयुर्वेदोक्त हेतु व्याधि विपरीत अन्न एवं विहार चिकित्सा ही प्राकृतिक चिकित्सा का मूल है।

इस विषय के हमें दो लेख प्राप्त हुये। श्री पुण्यनाथ जी का जो विस्तृत लेख प्राप्त हुआ उससे प्राकृतिक चिकित्सा विषयक प्रकरण एवं श्री रमेश चन्द्र जी के लेख के सामञ्जस्य से यह लेख तैयार किया गया है। श्री पुण्यनाथ जी से पाठक परिचित हैं आप उच्च कोटि के चिकित्सक एवं लेखक हैं।

श्री रमेश चन्द्र जी प्राकृतिक चिकित्सा के पक्षपाती हैं। आपका इस चिकित्सा पर अच्छा अधिकार है। उपलब्ध साहित्य से अपने एतद् विषयक ज्ञान को बढ़ाकर आर्तजनों को सत्परामर्श देते रहते हैं। इनका जीवन ही प्राकृतिक सिद्धान्तों के अनुरूप ढला हुआ है। आप सदाचारपूरित आस्तिक विचारों के व्यक्ति हैं।

—वैद्य गोपीनाथ 'गोपेश'

वातरोगी को पहले सामान्य उपवास करा सुबह-शाम डेढ़ किलो गुनगुने गरम पानी का एनिमा देना चाहिए। एनिमा से पूर्व पेडू पर मिट्टी की पट्टी रखनी चाहिए। इसकी विधि है—साफ मिट्टी को कूट कर आटे की तरह गूंथ कर उसकी एक इंच मोटी पट्टी पेडू पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला दें और उसके ऊपर कम्बल का एक टुकड़ा डाल दें। इस पट्टी को पेडू पर आध घंटे तक रखें। इसके बाद उतार कर एनिमा दें। इससे पेट में चिपका मल साफ होगा और रोगी को आराम मिलेगा। रोगी का सारे बदन की गीली पट्टी भी अन्य चिकित्सा में लाभप्रद सिद्ध होती है। नहाने के पहले साफ तथा छनी हुई मिट्टी सारे शरीर पर लगा कर सुखा लेनी चाहिए। रोगी को धूप स्नान या भाप स्नान देने से उसकी त्वचा अधिक क्रियाशील होती है। त्वचा की क्रियाशीलता बढ़ाने के लिये रोगी को प्रतिदिन स्पंज भी किया जा सकता है।

कोई भी रोग हो भोजन में फल-तरकारियों का प्रयोग अधिक लाभप्रद है। प्रातःकाल एक पाव सेव, अमरूद, गाजर आदि का नाश्ता, दोपहर और शाम को सब्जी एवं चोकरदार आटे की रोटी उपयुक्त है। रोगी को दो सब्जी देनी चाहिए। एक सब्जी में यदि कोई खनिज लवण या विटामिन आदि कुछ कम हुये तो दूसरी से उसे प्राप्त होते रहेंगे। तीसरे पहर गाजर का रस या नीरा (ताजा मीठा खजूर या ताड़ का रस) चूस चूस कर पीना चाहिये। दुग्ध कल्प भी उपयुक्त है। अमृतान्नों में अंकुरित गेहूँ, चना और मूंग तीनों १००-१५० ग्राम की मात्रा तक खाया जा सकता है। रोटी के साथ खाने के लिये बनी हुई सब्जी में तेल मसाले के नाम पर सिर्फ नमक और जीरा ही होना चाहिए। वात रोगी में निम्नाङ्कित उपाय लाभदायक हैं—

१ उपवास—

उपवास से पाचन प्रणाली को जो अत्यधिक कार्य-भार से लदी रहती है—विश्राम का अवसर मिलता है। शरीर की शक्तियों को नवप्राण मिलता है। शरीर का शुद्धिकरण होने से रोगी रोगमुक्त हो जाता है। उपवास से रुग्ण कोषाणु खंडित होते हैं। मस्तिष्क भी अधिक सक्रिय बनता है।

उपवास का प्रारम्भ एक भोजन छोड़ने से होता है और अन्त स्वाभाविक भूख लौटने से। अतः स्वाभाविक भूख लौटने तक उपवास करना चाहिये। उपवास काल में पर्याप्त पानी पीना तथा मस्तिष्क को संतुलित रखना आवश्यक है।

वात व्याधि से चाहे एक अङ्ग ग्रस्त हो या सम्पूर्ण शरीर सभी में उपवास की उपयोगिता है। रोग के लक्षण चाहे जो हों और शरीर में वे चाहे जिस स्थान पर प्रकट हों उपवास उपयोगी है। क्योंकि रोग मात्र शरीर में विपाक्त पदार्थों का संग्रह होने से उत्पन्न होता है। उपवास इस मूल कारण को समाप्त करता है। उपवास तोड़ने के वाद २-३ दिनों तक फलों के रस पर रखना चाहिए। फिर फल और कच्ची तरकारियों के साथ पकी हुई तरकारियां १०—१५ दिनों तक लेने के याद उपयुक्त आहार पर आना चाहिए।

२. खुली और शुद्ध वायु में वास—शुद्ध वायु पाने के लिये खुली वायु में रहना चाहिये और शरीर पर कम वस्त्र धारण करने चाहिए। यदि सूर्य की प्रातःकालीन किरणें वृक्षों पर पड़ती है तो उनमें विशेष फल आते हैं अतः मनुष्य भी यदि प्रातः शीघ्र उठकर खुली हवा में घूमे तो वह मन और शरीर पर सूर्य की पड़ने वाली किरणों का प्रभाव तत्काल अनुभव कर सकेगा।

३. प्रसन्न चित्त रहना—चिकित्सारत रोगी को चिन्ता, निराशा त्याग कर सदैव सरल शान्त रह कर प्रकृति में पूर्ण आस्था रखनी चाहिए। वात रोगी को मानसिक संतुलन रखना अनिवार्य है।

४. त्वचा को स्वस्थ और साफ रखना—त्वचा के सम्पूर्ण छिद्रों को सक्रिय एवं खुला रखने के लिए कम वस्त्र धारण करने चाहिये। त्वचा को रोज नियमित रूप से शुष्क घर्षण व्यायाम देना चाहिए।

५. विश्राम और शिथिलीकरण—विश्राम आधारभूत क्रियाओं को प्रोत्साहित करने वाला है। इससे थकान समाप्त होती है। व्यथित अङ्ग में विश्राम से नव प्राण का संचार होता है। निद्रा लाने वाली दवा से थकान को वढ़ाती है। अतः उनका प्रयोग उपयुक्त नहीं है। विश्राम शिथिलीकरण और गाढ़ी निद्रा से थकान से उत्पन्न दूषित स्राव शरीर में एकत्रित नहीं होते। अतः वात रोगों में इनकी नितान्त आवश्यकता है।

६. व्यायाम और योगासन—सामान्यतया योगासन नाड़ियों को वलशाली वनाते हैं और साधारण व्यायाम मांसपेशियों को। यह कार्य पृथक् पृथक् ही होना चाहिए। योगासन प्रातःकाल तथा व्यायाम सायंकाल करें।

व्यायाम शब्द व्यायाम अर्थात् शरीर का फैलाव (टु स्ट्रेट आउट) से बना है। जिस क्रिया में देह के अवयवों को खूब खीचना पड़े उसे व्यायाम कहते हैं। शरीर की स्थिरता और वल की वृद्धि दोनो कामों के लिये व्यायाम अपेक्षित हैं। किन्तु अपेक्षा से अधिक व्यायाम नहीं करें।

वातरोगों में आसनों का विशेष महत्व है। किंतु समुचित विधि से तथा नियमित होना अनिवार्य है कुछ उपयोगी आसनों विषय में यहां वर्ण किया जावेगा।
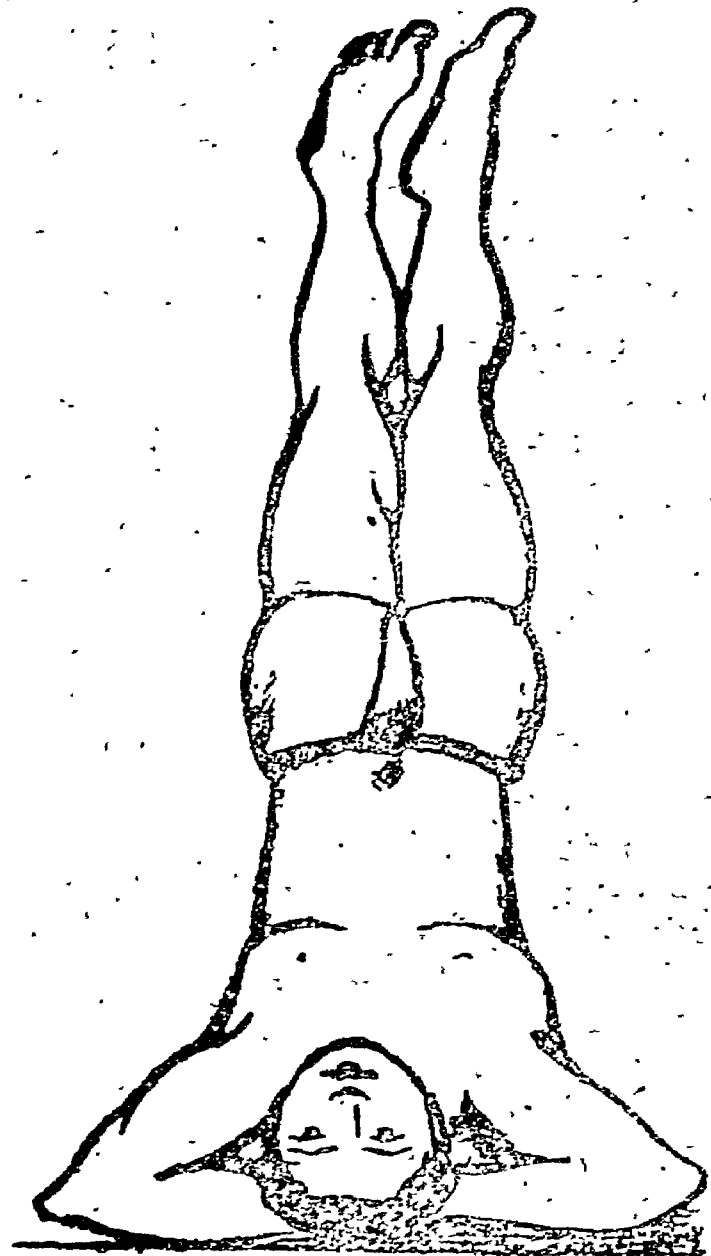
:: शीर्षासन ::

शीर्षासन—इसे प्रति सप्ताह एक मिनट के हिसाब से बढ़ाकर धीरे-धीरे १५ मिनट तक किया जा सकता है। इससे शिरोगत, वस्तिगत और शुक्रगत वायु का शमन होता है। नाड़ी दौर्बल्य, अग्निमांद्य, कोष्ठवद्धता, अनिद्रा मस्तिष्क विकार, रक्त विकार, पलित, धातु क्षीणता आदि रोग नष्ट होते हैं।

विधि—जमीन पर दो फीट लम्बी और दो फीट चौड़ी कम्बल आदि की मुलायम गद्दी बिछाकर हाथों को कुहनियों तक अर्थात् बांह का अगला भाग गद्दी पर रखें। और घुटने जमीन पर टेकें। अब एक की अंगुलियां दूसरे हाथ की अंगुलियों में फंसाकर दोनों हाथों को बांध लें और आगे को सर झुकाकर उसी गद्दी पर इस तरह ले जायें कि सिर का पिछला भाग हथेलियों में आ जाय। तत्पश्चात् सर के बल शरीर का बोझ डालकर धड़ को ऊपर उठावें। धीरे-धीरे टांगों को ऊपर ले जायें यहां तक कि शरीर सीधा होजाय और ऊपर से नीचे तक एक सरल रेखा सी बन जाय।

शीर्षासन के बाद थोड़ी देर के लिये एकदम सीधे खड़े रहने के बाद शवासन शीर्षासन के समय से अधिक करें किंतु आधा घंटे से अधिक न करें। विधि यह है—

आसन पर चित लेटकर टांगों को एक दूसरे से मिला कर सीधे फैलावें। एड़ियां मिली रहें और पंजे खुले रहें। हाथ जमीन पर धड़ से सटे रहें। आंख बन्द या अधखुली रहें। अब सिर से पैर तक की मांसपेशियों और स्नायुओं
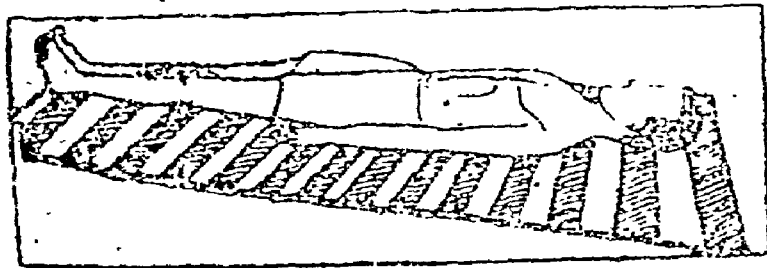
शवासन

को एकदम ढीला छोड़कर शव के समान बन जावें। सांस स्वभावतः चलती रहेगी। इससे शरीर के प्रत्येक अवयव को आराम एवं शक्ति मिलती है शिथिलीकरण के लिये यह आसन सर्वोत्तम है।

सर्वाङ्गासन—कम्बल बिछाकर पीठ के बल लेट कर शरीर को ढीला, पैर सीधे, हाथ बगल में और हथेलियों को फर्श पर रखें। अब सांस खींच कर पैरों को सीधे रखते हुए नितम्ब संधि के पास से धीरे-२ उठाकर के तीस अंश का कोण बनावें और चार-पांच सेकंड इस स्थिति में रह कर सांस बाहर निकालें। अब पुनः सांस लेकर पैरों को और उठावें और साठ अंश का कोण बनावें और सांस रोकें। इसके बाद पैरों को उठाकर समकोण बनालें। अब तक हाथ और कुहनियां बिल्कुल निष्क्रिय पड़ी हुई थीं
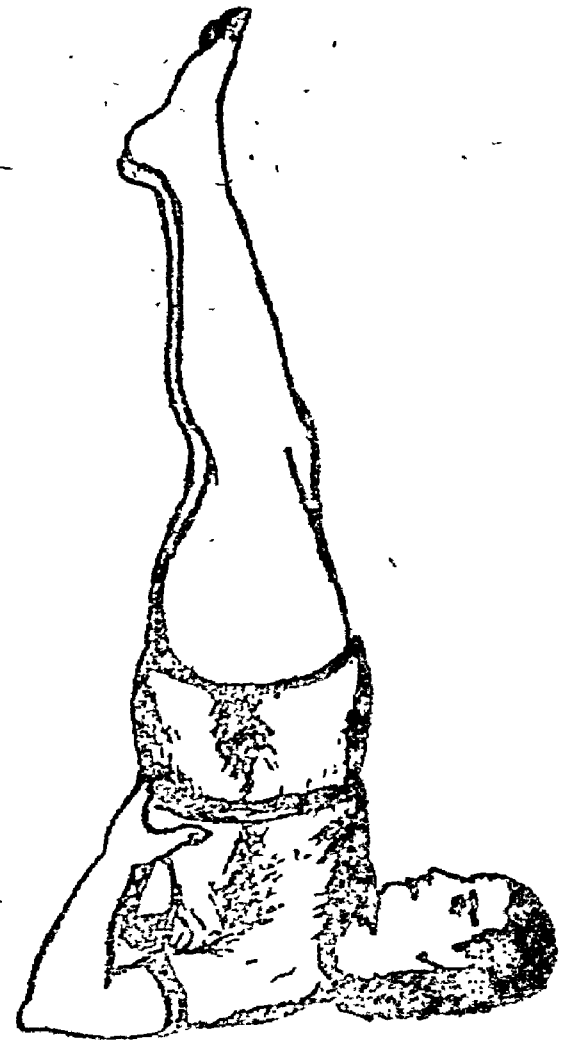
सर्वांगासन

अब बाहुओं पर भार देकर नितम्बों के पास से धड़ को सीधे ऊपर ले जावें जिससे सीना हड्डी का स्पर्श करने लगे। इसके बाद कुहनियों के पास से हाथों को मोड़कर उनसे धड़ को ऊपर की ओर धकेलिये जिससे ठुड्डी पर धड़ का दबाव बढ़ जाय। धड़ को टेढ़ा होने

से रोकने के लिये हाथों को भलीभांति जमाये रखें। यही सर्वाङ्गासन की पूर्णावस्था है। धीरे धीरे पूर्ववत् स्थिति में आना चाहिये।

यह आसन आधे मिनट से आरम्भ कर हर हफ्ते एक मिनट बढ़ाते हुये छः मिनट तक करना चाहिये। इससे समस्त वात विकार नष्ट होते हैं। आमाशय यकृत प्लीहा धमनियों-नाड़ियों की क्रियायें ठीक होने लगती हैं। रक्त-चाप की वृद्धि में यह उपयुक्त नहीं है। यह आसन थायराइड ग्रन्थि को स्वस्थ बनाने का शक्तिशाली साधन है।

मत्स्यासन—आसन पर पैरों को फैलाकर बैठ जाइये दोनों हाथ जमीन पर बगल में रहें। फिर दोनों पैरों को मोड़कर पद्मासन लगाइए। दोनों जमीन से सटे रहेंगे। अब कोहनियों को पीछे की ओर जमीन पर बगल में लाइए और शरीर को पीछे की ओर झुकाइये। भार कोहनी पर होगा। ऐसा करने से सारा धड़ जमीन पर आजायेगा। अब दोनों तलहथियों को कान के पास जमीन
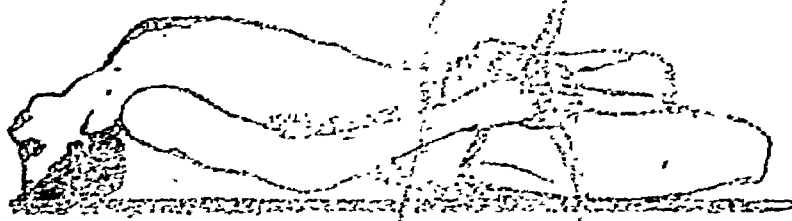
मत्स्यासन

पर लाइये। हाथ पर वजन देकर सिर को पीठ की तरफ जितना पीछे ले जा सकें ले जाइये। अब समूचे धड़ का बोझ सिर पर होगा। अब दोनों हाथों से पैरों के अंगूठे पकड़िये। कोहनी जमीन पर ही रखें। सर्वांगासन से चौथाई समय ही इस आसन को करने में देना चाहिए। इससे भी सर्वाङ्गासन के समान ही लाभ होता है। विशेषतया अर्दित में यह लाभप्रद है।

पद्मासन—बायां पैर दाहिनी जांघ पर और दाहिना पैर बायीं जांघ पर रखिये। इस तरह कि एड़ियां पेट से छूयें। दोनों जांघें और दोनों घुटने पृथ्वी से लगे रहेंगे, पीठ एकदम सीधी होगी, ठोडी कण्ठ से लगी रहेगी। अब दृष्टि को नाक के अग्र भाग पर जमाइये, यही पद्मासन है। इसमें हाथों को घुटनों पर रखें। मल-मार्ग की संकोचनी पेशियों का संकोच कीजिये। इससे अपान वायु के विकार नष्ट होते हैं। सुषुम्ना नाड़ी सीधी रहती है। गृध्रसी रोग नष्ट होता है।

इसके अतिरिक्त हलासन से कटि, पीठ एवं ग्रीवा के रोग दूर होते हैं। आध्मान, प्रत्याध्मान में धनुरासन, शलभासन, भुजंगासन उपयोगी हैं। वातरोगों में धनुरासन की अपनी विशिष्टता है। मयूरासन से आध्मान, गुल्म आदि रोग नष्ट होते हैं।

७. ईश प्रार्थना—प्राकृतिक चिकित्सा ईश्वरीय चिकित्सा है। इसका सम्बन्ध भी आयुर्वेद की तरह अध्यात्म से अटूट है। आस्तिक व्यक्ति को यह बहुत शीघ्र लाभ पहुँचाती है। अतः नियमित रूप से ईश प्रार्थना प्रतिदिन करना इस चिकित्सा का प्रमुख अङ्ग है।

८. भोजन का वायु शमनार्थ कवल धारण—इस पांचों वायु से अमृतोपम (अमृत तुल्य) आहार उचित रूप में अग्नि (जठराग्नि) को प्राप्त हो एतदर्थ भोजनकालिक यह कवल (कौर) धारण मन्त्र इस प्रकार है—

"ॐ प्राणाय स्वाहा" मेरा यह प्रथम कवल (कौर) ग्रास प्राणवायु के द्वारा ग्रसित आहार शारीरिक अग्नि को प्राप्त हो। इसी प्रकार

"ॐ अपानाय स्वाहा"

"ॐ व्यानाय स्वाहा"

"ॐ उदानाय स्वाहा"

"ॐ समानाय स्वाहा"

ये पांचों मन्त्र पांच बार कवल ग्रहण करने के बाद "ॐ स्वः स्वाहा" इस मन्त्र द्वारा कवल ग्रहणकर धरती पर रख दिया जाता है। इसका सारांश यह होता है कि मैं स्वयं आहार ग्रहण करने के लिये पंचतत्व अधिष्ठात्री पृथ्वी को साक्षी रख यह कवल समर्पित करता हूँ।

९. प्राणायाम

प्राणायाम के द्वारा वायु का आरोह एवं अवरोह से मानसिक ग्रहबाधा दूर कर दिमाग को सन्तुलित रखता है। ब्रह्म मुहूर्त (सुबह ४ बजे से ६ बजे तक) स्नान कर पूर्वाभिमुख (पुरतः सर्वे देवाश्च-पूरब दिशा में ही सब देवताओं का वास है) ईश्वर का ध्यान करते हुये 'पद्मासन'

बनाकर प्रकृतिस्थ शुद्धवायु का उच्छ्वास लेते हुए आसन पर बैठकर प्रथम दाहिने हाथ के अंगूठे से दाहिने नासापुट को बन्द करके तीन बार वेदवादिनी सावित्री मन्त्र का मानसिक जप करते हुए बांये नासा से श्वास का आरोहण करें।

तत्पश्चात—मध्यमा, अनामिका अंगुली से बांये नासापुट को भी बन्द करें कौम्भिक प्राणायाम (दोनों नाक को बन्द कर) करते हुए तीन बार उक्त मन्त्र का मानसिक पुरोच्चारण कर श्वास निरोध रखें।

ततःपर—अंगुष्ठ संपुटित दाहिने नासापुट में श्वास का अवरोह करते हुये पुनः तीन बार इस मन्त्र मानसिक उच्चारण करता हुआ जपान्त में नाकाग्रभाग बिल्कुल मुक्त करदें।

मन्त्र: ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यम् ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् । ॐ आपोज्योतिः रसोऽमृतम् ब्रह्म भूर्भुवस्वरोम् ।

इस तरह साधक, कुम्भक और रेचक तीन प्रकार का प्राणायाम रोज प्रातः एक बार किया जाय और संध्याकाल एक बार किया जाय तो शरीरगत वायु ही नहीं वायु से प्रभावित कार्य करने वाला पित्त और श्लेष्मा भी निराम होकर कार्य करने लगेगा और शरीर स्वस्थ रहकर मानसिक विकास तथा प्रतिभाशील होगा।

इस क्रिया का वैज्ञानिक रहस्य यह है कि श्वास के परस्पर आरोह अवरोह से समस्त शरीर की आवश्यकता अधिक वायु संचरण को इस क्रिया से बाहर निक्षेप होकर शरीर शुद्धि हो जाता है और दिमाग में लघुता बोध होता है। प्राणवायु पर विशेष प्रभाव के कारण मनुष्य वायु को दमन कर दीर्घायुष्य होता है।

वातकृत शूल को दूर करने के लिये मालिश, बारी बारी से गरम और ठण्डे पानी का स्नान लाभप्रद है। आक्रान्त स्थान पर ५ मिनट गरम फिर ५ मिनट ठण्डी पट्टी बारी बारी से आध घण्टे तक देना भी लाभ करता है। रोग की वृद्धि में प्रत्येक दो घण्टे बाद १५ मिनट से आध घण्टे तक आक्रान्त स्थान पर वाष्प स्नान देने के बाद उस पर उष्ण कर ठण्डी पट्टी का प्रयोग करना चाहिये।

पक्षाघात के रोगी के पेट को साफ कर निम्नोक्त उपचार करना चाहिये—

प्रतिदिन लाल कपड़ा ओढकर २ घण्टे तक धूप नहान लेने के बाद पैरों को गरम पानी में रखकर और सिर पर ठंडे पानी से भीगा कपड़ा रख कर १५ मिनट तक कटि स्नान करना चाहियें। लाल कपड़ा ओढ़ते समय सर को नहीं ढकना। धूप नहान लेते समय यदि आध घण्टे तक सारे शरीर पर मालिश भी हो तो अधिक उपयुक्त है। वाष्प स्नान और कटि स्नान भी किया जा सकता है। तत्पश्चात शीघ्र एक साधारण स्नान ठण्डे पानी से कर लेना चाहिये। इस सारी क्रिया को शाम को भी दोहराना चाहिए।

प्रतिदिन रोगी के मेरुदण्ड पर आधा घण्टे तक गरम और ठण्डी सेक देना भी उपकारी है। जो अंग सुन्न हो गया हो उस पर कपड़े की गीली पट्टी बांधकर ऊपर से गरम कपड़ा लपेट देना चाहिये। इस पट्टी को खोलने के बाद स्नान कर भीगी तौलिया से पोंछ कर सूखी मालिश करके लाल कर देना चाहिए।

रोगी को पीली बोतल के सूर्य तप्त पानी की छः खुराक (आधी छटांक मात्रा की) रोज पिलानी चाहिए। आक्रान्त स्थान पर रोज पहले एक घण्टे तक लाल प्रकाश डालना चाहिये, इसके बाद दो घण्टे तक नीला प्रकाश। गठिया के रोगी के पीड़ित स्थान पर नारङ्गी और नीला प्रकाश डालने के बाद नारंगी रंग की बोतल के सूर्यतप्त पानी की २॥ तोले मात्रा की ४ खुराक पिलानी चाहिये।

यहां पर यह स्मरण दिलाना आवश्यक होगा कि प्राकृतिक चिकित्सा मांसाहार को अम्ल उत्पन्न करने वाला मानती है और रोगोत्पत्ति का एक कारण बताती है। अतः रोगी को मांसाहार का परित्याग कर अपने भोजन में फल तरकारियां बढ़ाकर स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करना चाहिये।

★ श्री रमेश चन्द्र पारीक, श्री पूर्णनाथ मिश्र आयु० ★

अमृत सागरीय
लसण पाक

वैद्य श्री अम्बालाल जोशी आयु० केशरी

राजस्थान में राजस्थानी भाषा में लिखित ग्रन्थ अमृत सागर अथवा प्रताप सागर एक लोकप्रिय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का प्रणयन जयपुर राज्य के महाराजा श्री सवाई प्रताप सिंह जी ने किया है। स्वर्गीय महाराज ने लोकहित की दृष्टि से रजवाड़ी (राजस्थानी) भाषा में इसका लेखन करवाया जिसकी टीका श्रीमान पण्डित श्रीधर शिवलाल ने सूक्ष्म कथा के नाम से की।

पुस्तक का प्रथम प्रकाशन बिना टीका संवत १६१७ विक्रम के प्रथम आश्विन में हुआ। बाद में पण्डित जी ने जब यह देखा कि पुस्तक को ठीक ढंग से समझा न जा रहा है तो सं० १६३७ भाद्रपद में इसकी टीका सूक्ष्म कथा लिख कर पुनः प्रकाशित की। उपरोक्त टीका सहित पुस्तक की प्रस्तावना में टीकाकार ने लिखा है—

सर्व प्रजा का हित के अर्थ श्री सवाई जयपुर में श्री मन्महाराजाधिराज राज राजेन्द्र श्री १०८ श्री सवाई प्रतापसिंह जी महाराज हुकम पोहचायो आपका राज्याश्रय विद्वान हाज्यां पर वैविद्वान् कैसाकहा ज्यांकै आयुर्वेद का ग्रंथ कण्ठस्थ पाठहा सौवैद्यक ग्रन्था की सायासों हुकम के अनुकूल होयकर अमृत सागर तथा प्रतापसागर नाम ग्रन्थ रच्यो अरु श्रीदरबार की संमती जी पूर्ण ग्रन्थ पर हुई सो या ग्रन्थ में बड़ी महनत सौं संवत् १६१७ प्रथम आश्विनी में···छास्यो।

(पं० श्रीधर शिवलाल)

इसीके समर्थन में तरङ्ग पहला प्रारम्भ—

अथः श्री मन्महाराजाधिराज महाराज राजेन्द्र महाराज श्री सवाई प्रताप सिंह जी विचार कर मनुष्यों का रोगों की दूरि करवा के वास्ते परम करुणा करके चरक,सुश्रुत,वाग्भट, भावप्रकाश, आत्रेय ने आदि सों लेकर वेंके वक का सर्व ग्रन्था ने विचार करि, वाको सार काढि अति संक्षेप ते सर्व रोगांको निदानपूर्वक, अमृतसागर नाम ग्रन्थ कर्‌यो, तींकी वचनि काकरिकें औषधांका अनेक प्रकार का अजमाया जतन विचारपूर्वक लिखते हैं—

ग्रन्थ की समाप्ति पर भी—

इति श्रीमन्महाराजाधिराज महाराज राजेन्द्र श्री सवाई प्रताप सिंह जी विरचते अमृत सागरनाम ग्रन्थे···।

इस आधार पर यह माना जा सकता है कि जयपुर नरेश ने स्वयं अपनी देखरेख में इस ग्रन्थ को लिखाया और इसकी रचना की। महाराजा का जन्म १० दिसम्बर १७६४ में राज्याभिषेक समय (राज्यकाल) १४ अप्रेल १७८७ से १ अगस्त १८०३ तक का रहा है। अतः यह ग्रन्थ इसी अवधि में रचा गया (१७८७ से १८०३ के बीच)।

आपने इस ग्रन्थ में वात व्याधियों का वर्णन करते समय क्रम २७ पर—

अथ अष्टम तरङ्ग में पृष्ठ १५२।

वातरोग २६, वातव्याधी रोग ८० प्रकार की है। कोईक आचार्य का मत सौ चौरासी वातव्याधि हैं।

इसी अनुभव संकलित ग्रन्थ में लसण पाक एक योग वात व्याधि प्रकरण के अन्तर्गत देखा गया। यह प्रयोग मैंने किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं देखा। प्रयोग अनुभव किया
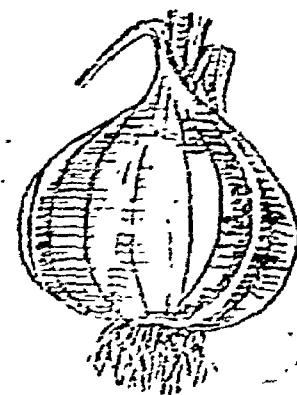
गया तथा उपयोगी पाया। इसी दृष्टि से उन्हीं के शब्दों में इसे यहां उद्धरित किया जा रहा है—

अथः लवण पाक की विधि लिखते। लसण पईसा ५ मस्यौ लीजै। तीकौमिहि जीरोसो कतरी लीजै फेरी दूध पईसा १ भस्यौ पाणीतीमैं अधेला भस्यौती मैं चढ़ाय आंच दीजै सौ दूध लसण में सुसि जाय तदि लसण में बरस कीजै सेलुगदी बधि जाय तब घृत अधेला भरिबे मैंनाथि आंच दीजै आंच सूं सुरपी पडि आवै तदि उतारि लीजे शिवाय घृत रहे सो काढिनापिजे फेरि मिश्री पईसा दोय भर की चासणी कीजे तीमैं कस्तूरी रत्ती आधी, लौंग रत्ती ४, जायफल माशा १, दालचीनी मासो १, सोनाकीतबक २, ये सारी औषधि पिसि चासणी में नाषणीपाछे औलसणनांपिगोली ४ बांधणी गोली १ प्रभातवाय अरुषणीवाय सोय तो दूजी गोली आंथणाउषा-मतो वा यको आराम होय। पथ्य में तद्यां गोली दीन २१ वाय, बाहा वाय होयतो दिन ४९ पाय और गोली सिवाय करणी होयतो इहिसावसूं औषदि वा लसण तौल मफिक वधायले ईसलसण पाक ने पार्यासर्ववायका विकार दूर होय भरयो लसण पाक शरीर नें पुष्ट करैछै, बर भूपनें वधावैछै इति लसण पाक की विधि संपूर्णम्। उपरोक्त योग का हिन्दी रूपान्तर

रसौन पाक —

इकपोतिया रसौन	१०० ग्राम	(अनुमानतः)
गोदुग्ध	२० ,,	,,
पानी	१० ,,	,,
गोघृत	१० ,,	,,
मिश्री	४० ग्राम	,,
कस्तूरी	१/२ मिग्रा.	,,
लौंग	५ ग्राम	,,
जायफल	१.५ ,,	,,
दालचीनी	१.५ ,,	,,
स्वर्ण वर्क	५ नग	,,

विधि—सर्वप्रथम लहुन का छिलका उतारकर साफ कर लें। फिर इसे बारीक जीरे की तरह कतर लें। इस कतरे हुए लसुन को दूध या पानी में डालकर उबालें। पानी तथा दूध न दीखने पर नीचे उतार कर सरल करें। पूरी पिस जाने पर घृत में पकावें। सुर्खीयुक्त पक जाने पर आग पर से नीचे उतार लें। यदि अधिक घृत हो तो निकाल लें। फिर मिश्री की गोली बन्द चाशनी कर उसमें सभी दवायें पीसकर मिला दें फिर रसौन भी मिला दें। वर्क डाल दें। फिर ४ गोली बांध लें। नित्य प्रातः खाना। अधिक वायु हो तो सायं खाना। कुल २१ दिन या अधिक वात हो तो ४१ दिन खाना।

यह लसुन पाक वायु का उत्तम रीति से शमन करता है। पक्षाघात में भी उपयोगी है। हृदय में वायु के आवरण को भी दूर करता है। यह प्रयोग अन्य पुस्तकों में नहीं देखा गया है। इसी दृष्टि से इसे उल्लिखित किया है जिससे पाठक लाभ उठा सकें।

—वैद्य पं० अम्बालाल जोशी आयुर्वेद केशरी
आयुर्वेदाचार्य, साहित्याचार्य
पुंगल पाड़ा, जोधपुर (राजस्थान)

:: पृष्ठ ३२१ का शेषांश ::

१०० मिग्रा., मधुयष्टि चूर्ण ३ ग्रा.। १×२ घृत १ ग्रा. + मधु ६ ग्रा. से।

मध्यान्ह एवं सोते समय—तालीसादि चूर्ण ३ ग्रा., प्रवाल भस्म २०० मिग्रा., कण्टकार्यवलेह १० ग्रा.। १×२ कवोष्ण अजादुग्ध से।

चूसने हेतु—मरिचादि वटी

भोजनोत्तर—द्राक्षारिष्ट, बब्बूलारिष्ट १५-१५ मिली. १×२ समान जल मिलाकर

१२. कफावृत वातोल्वण शुष्क श्वास—प्रातःसायं—श्वासकास चिन्तामणि, श्वासकुठार, अपामार्ग क्षार १२५-१२५ मिग्रा.। १×२ भार्गी+शुण्ठी क्वाथ से.

मध्यान्ह व रात्रि में तालीशादि चूर्ण ३ ग्रा., कण्टकार्यवलेह १० ग्रा.। १×२ वनप्सादि क्वाथ से

१३. भ्रम—स्वर्ण वसन्त मालती १०० मिग्रा., पिप्पली चूर्ण २५० मिग्रा., दालचीनी चूर्ण ५०० मिग्रा.। १×२ शतावर, वरियारा की जड़ की छाल व बीज और दाख से क्षीरपाक विधि से पकाया गोदुग्ध में मिश्री मिलाकर सेवन करायें।

वात व्याधिनाशक विविध तैल

श्री चन्द्रभान शर्मा

(१) नारायण तैल

बेल का गूदा, अरणी, सोनापाठा, पाढल, नीम (या करहद), गन्ध प्रसारणी, असगंध, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, खिरेंटी, कंघी, गोखरू, पुनर्नवा पृथक् पृथक् आधा-आधा सेर लेकर १०२ सेर ३२ तो. (४ द्रोण) जल में पकाना चाहिए। चतुर्थांश शेष उतार छान ६ सेर ३२ तो., तिल का तेल, सौंफ, देवदारु, जटामांसी, छरीला, वच, रक्त चन्दन, तगर, कूठ, इलायची, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, रासन, असगन्ध, सेंधानमक, पुनर्नवा, पृथक पृथक आठ तो. लेकर कल्क करें। शतावर का रस ६ सेर ३२ तो., गाय या बकरी का दूध २५ सेर ४८ तो. सबको लेकर तैल की विधि से तैल सिद्ध करें। यह तैल पीने, बस्ति तथा अभ्यंग एवं खाने के लिए अत्यन्त उत्तम है। पंगु तथा लकड़िया के सहारे घसीट कर चलने वाला भी इस तैल के प्रयोग से निरोग हो जाता है। सर्वांगाग तथा सिर में स्थित वात शान्त होता है। दन्तशूल, हनुस्तम्भ, गर्दन का जकड़ना तथा जिसका एक अंग सूख रहा हो, गति विह्वल हो, इन्द्रियों की सामर्थ्य नष्ट हो गई हों, शुक्र क्षीणता हो, ज्वर से क्षीण हो गया हो, बहिरे, जिह्वा शक्ति रहित, मन्द बुद्धि वाले पुरुष, जिन स्त्रियों के सन्तान न होती हो या जिन्हें गर्भ धारण ही नहीं होता हो, जिसके वृषण (अण्ड) वात से दूषित हों, भयङ्कर अन्त्र की वृद्धि हो उनके लिये नारायण तैल अत्यन्त लाभदायक है। —चक्रदत्त

(२) महानारायण तैल

शतावर, अरिवन, पिठवन, कपूर, खिरेंटी की जड़, रेंड की जड़ की छाल, छोटी कटेरी की जड़, बड़ी कटेरी की जड़, (१) नाग बला की जड़, पियावांसा की जड़, पृथक पृथक १० पल (४० तो.) पानी २५ सेर ४८ तो. लेकर पकाकर चतुर्थांशावशेष उतार छानकर इस क्वाथ में पुनर्नवा, वच, देवदारु, सौंफ, रक्त चन्दन, अगर, छरीला, तगर, कूठ, इलायची, जटामासी, मासपर्णी, खिरेंटी, असगन्ध, सेंधानमक, रासन प्रत्येक २-२ तो. इनका कल्क गाय और बकरी का दूध पृथक पृथक प्रस्थ, शतावर का रस १ प्रस्थ, तिल तैल १ प्रस्थ छोड़ कर तैल सिद्ध करें।

इस तैल के प्रयोग करने से हृदयशूल, पार्श्वशूल, अधकपारी, अपची, गण्डमाला, वातरक्त, हनुस्तम्भ, पाण्डु, अश्मरी ये सब इसके सेवन से नष्ट हैं। —चक्रदत्त

(३) अश्वगन्धा तैल

५ सेर असगन्ध १ द्रोण पानी में पकाकर चतुर्थांशावशेष उतार छान कर तैल १ प्रस्थ, दूध ४ प्रस्थ कमल की डण्ठल, कमल की जड़, कमल के तन्तु (बिस), कमल केशर, मालती का पुष्प, सुगन्धवाला, मुलेठी, शालिवा, कमल के पुष्प, नागकेशर, मेदा पुनर्नवा, मुनक्का मजीठा, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, छोटी इलायची, एलुवा, त्रिफला, नागर मोथा, रक्त चन्दन पद्माख, सबका मिश्रित कल्क तेल का चतुर्थांश लेकर तेल सिद्ध करें। इसके सेवन से खून में स्थित वात नष्ट होता है। यह पुष्ट तथा बल को बढ़ाता तथा कृश व्यक्तियों के मांस को बढ़ाता है। —चक्रदत्त

(४) रसोन तैल

लहसुन के कल्क तथा स्वरस के द्वारा सिद्ध किये गये तेल को जो व्यक्ति पीता है उसका वातरोग शा

कुचक न पड़े मर्दे या कुंवर के हाथ में पड़े हुए विशाल वृक्ष की भांति शीघ्र ही नष्ट होता है। —चक्रदत्त

(५) सैंधवादि तेल—सैंधानमक २ पल, सोंठ ५ पल, पीपलामूल, चीता की जड़ २-२ पल, भिलावा की गुठली २०, काञ्जी २ आढ़क, तेल १ प्रस्थ लेकर तेल सिद्ध करें। इस तेल के सेवन से गृध्रसी, ऊरुस्तंभ, अर्श तथा सम्पूर्ण वातरोग नष्ट होते हैं। —चक्रदत्त

(६) माषतैल—उड़द १ प्रस्थ लेकर १ आढ़क जल में पकाकर चौथाई शेष रहने पर उतार कर छान लें। इसका चौगुना दूध (४ प्रस्थ), तेल १ प्रस्थ, जीवनीय गण की औषधें, सौंफ, सेंधा नमक, रासना, कौंच के बीज, मुलैठी, खरेटी, त्रिकटु, गोखरू पृथक् पृथक् १ तो. लेकर कल्क कर तेल पाक करें।

इसे पक्षाघात, अर्दित (लकवा), कर्णशूल, कम सुनाई देना या बहिरता, त्रिदोषज, तिमिर रोग, हाथ का कांपना, विश्वाची, अवबाहुक और कलायखंज ये सब रोग पान, मालिश तथा बस्ति के द्वारा नष्ट होते हैं। —चक्रदत्त

(७) महामाष तैल

दशमूल १ सेर १६ तो. लेकर २५ सेर ४८ तो. पानी में क्वाथ कर चतुर्थांशावशेष [६ सेर ३२ तो.] उतार लें। उड़द १ प्रस्थ, पानी १६ प्रस्थ अवशेष क्वाथ ४ प्रस्थ। तेल १ प्रस्थ [६४ तो. द्रव्य द्विगुण्यात् १२८ तो.], दूध तेल के बराबर [१ प्रस्थ], असगन्ध, कचूर, देवदारु, खिरेटी, रास्ना, प्रसारिणी, कूठ, फालसा, भारंगी, विदारीकन्द, क्षीरविदारी, पुनर्नवा, बिजौरा नीबू का फल, सफेद जीरा, भुनी हींग, सौंफ, शतावरी गोखरू, पिपरामूल, जीवनीयगण की औषधें, सेंधानमक इनका बराबर भाग लेकर कल्क करें। इस महामाष तैल का बस्ति, मालिश, नस्य तथा पान करने से पक्षाघात, हनुस्तम्भ, अर्दित, अपतन्त्रक, अवबाहुक, विश्वाची, खञ्ज, पंगुता, हनुस्तम्भ, मन्यास्तम्भ, अधिमन्थ, शुक्रक्षय कर्णनाद कलाय खञ्ज ये रोग शान्त होते हैं। —चक्रदत्त

(८) कुब्जप्रसारणी तेल

गन्धप्रसारणी ५ सेर १ द्रोण जल में क्वाथ कर चतुर्थांशावशेष उतार कर क्वाथ के बराबर तेल दही तथा कांजी और तेल का दूना दूध और चीता की जड़ पिपरामूल मुलेठी सेंधानमक वच सौंफ देवदारु रास्ना गजपीपल गन्ध प्रसारणी की जड़ जटामांसी भिलावा प्रत्येक २-२ पल [८ तो.] इनके कल्क के साथ मन्दाग्नि में तेल पाक करें। इसके प्रयोग से वात तथा कफ के रोग दूर होते हैं। अस्सी प्रकार के वातरोग कुब्ज जकड़ाहट पंगुता गृध्रसी वातकण्टक अर्दित हनुपृष्ठ शिर तथा ग्रीवा के स्तम्भ को [जकड़ाहट को] दूर करता है। —चक्रदत्त

(९) महासुगन्धि तेल

मंजीठ मटेला देवदारु धूपसरल छोटी कटेरी वच दूधिया सुपारी की छाल तेजपात गन्धपत्र [यूकेलिप्टस] कचूर हरड़ बहेड़ा आंवला नागरमोथा प्रत्येक को प्रथम कहे गये शोधन आदि से शुद्ध कर ८-८ तो. सबको मिलाकर कल्क कर १ प्रस्थ (१ सेर ४८ तो.) तेल में चौगुना पंचपल्लवोदक मिलाकर पाक करें। प्रथम पाक हो जाने पर तेल से चौगुना गन्धोदक तथा जटामांसी मुरा दवना चम्पा प्रियंगु दालचीनी पिपलामूल सुगन्ध वाला कूठ मरुवा और असवरग प्रत्येक ८ तो. गन्धबिरोजा कुन्दरु नखी नलिक सौंफ प्रत्येक का कल्क ४ तो लेकर पुनः पाक करना चाहिये। इस प्रकार द्वितीय पाक समाप्त कर पुनः तेल का चौगुना गन्धोदक गन्ध द्रव्य से भावित पानी और इलायची लोंग शिलारस सफेद चन्दन जावित्री कंकोल अगर लता कस्तूरी केशर प्रत्येक २-२ तोला कस्तूरी १ तो. कपूर ६ माशे ४ रत्ती लेकर कल्क कर धीमी आंच पर पकाकर तैल सिद्ध करें इस में कस्तूरी का पञ्चमांश कपूर मिलाना चाहिए कपूर और कस्तूरी की मात्रा पत्र कल्क से आधी रखनी चाहिए। यह तेल वात से होने वाले समस्त विकारों को नष्ट कर पुष्टि कान्ति मेधा वीरज और बुद्धि को उत्कृष्ट बनाता है। —चक्रदत्त

(१०) लक्ष्मी विलास तेल—पूर्व में (महासुगन्धि तेल में) कहे गये सुगन्धित कल्क द्रव्यों को द्विगुण लेकर यदि शुद्धि तथा संस्कारों से विशोधित कर तेल पाक करें

तो इसे महालक्ष्मीविलास तैल कहते हैं। इस तेल के पाक के लिये प्रथम पाक पंगपल्लव के जल से दूसरा पाक गन्धोदक से और तीसरा पाक पुनः गन्धोदक से धूसित जल से करना चाहिये। इस तेल से समस्त वातविकार नष्ट होकर पुष्टि, कान्ति, मेधा, धीरज और बुद्धि उत्कृष्ट होती है। —चक्रदत्त

(११) बला तैल

बला (खरेटी) के मूल, दशमूल, जौ, बेल, फुलथी, इन पांचों का अलग अलग क्वाथ ८-८ सेर, गोदुग्ध ८ सेर, तिल का तेल १ सेर और निम्न औषधियों का कल्क २० तोले मिलाकर यथाविधि पाक करके तेल को सिद्ध करके छान लेवा।

कल्क के लिए मधुरादि गण (काकोली क्षीर काकोली, मेदा, महामेदा, जीवक, ऋषभक, ऋद्धि, वृद्धि, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, गिलोय, काकड़ासिंगी, वंशलोचन, पद्माख, मुनक्का, जीवन्ती, मुलहठी और पुण्डरिया—इनमें जो मिल सके), सेंधानमक, अगर, राल, बीजबन्द (खरेटी के बीज), देवदारु, मजीठ, सफेद चन्दन, कूठ, छोटी इलायची, कृष्ण सारिवा शतावर असगन्ध सोया पुनर्नवा की जड़ इन सबको समभाग मिलाकर जल में पीसकर कल्क तैयार करना। (सु. सं.)

इस तेल को पिलाने से प्रसूता स्त्री के सम्पूर्ण वात प्रकोप का शमन होता है। आक्षेपकादि वातव्याधि भी इससे नष्ट होती हैं। —सु. सं.

(१२) विषतिण्दुक तेल—कुचला के बीज १ तो. लेकर ८ तो. शुद्ध तिल तेल में डालकर इस तेल को मन्द मन्द अग्नि से तब तक पकावें जब तक कि कुचला बीज रक्त वर्ण का न हो जाय। बीज के रक्त वर्ण का होने पर तेल को नीचे उतार लें। इस प्रकार यह कुचला तैल तैयार हो जाता है।

इस तेल को शरीर में मालिश करने से पक्षाघात आदि वातरोग निश्चित दूर हो जाते हैं। —रसतरङ्गिणी

(१३) विषगर्भ तेल

काले तिल का तेल भुती का क्वाथ कनेर जड़ का क्वाथ धतूरे का स्वरस निर्गुण्डी के पत्तों का स्वरस आक के पत्तों का स्वरस जटामांसी का क्वाथ इन सबको २५६-२५६ तो. मिलाकर तेल सिद्ध करना। पश्चात् धतूरे के बीज कूठ फूल प्रियंगु वच्छनाग सत्यानाशी की जड़ रास्ना सफेद कनेर की जड़ मालकांगनी कालीमिर्च दन्ती की जड़ जटामांसी बच चित्रक जड़ पीपली सरसों देवदारु हल्दी अरंड की जड़ लाख त्रिफला मजीठ इन २३ औषधियों के ४-४ तो. का बारीक चूर्ण उपरोक्त तेल में मिलाकर ७ दिन धूप में रखकर छान लेना। इस तेल की मालिश से सम्पूर्ण प्रकार के वातरोग सन्धिवात कटिवात अर्धांग वात सर्वांग वात गृध्रसी दण्डापतानकादि वातरोग कर्णनाद कान से कम सुनना आदि रोगों को दूर करता है। —योग रत्नाकर

(१४) महाविषगर्भ तेल

धतूरे के बीज निर्गुण्डी के बीज कड़वी तुम्बी के बीज पुनर्नवा की जड़ अरण्ड के बीज असगन्ध पुवाड़ चित्रक मूल सहजने की छाल काकमाची कलिहारी के मूल नीम की अन्तरछाल बकायन की छाल दशमूल (शालपर्णी आदि १० औषधियां) शतावर और करेले सारिवा गोरखमुण्डी विदारीकन्द सैहुण्ड आक मेढ़ासिंगी सफेद कनेर की जड़ पीली कनेर की जड़ काक जङ्घा की जड़ अपामार्ग की जड़ बला अतिबला नागबला महाबला छोटी कटेरी अडूसे के पत्ते गिलोय और प्रसारिणी इन ४३ औषधियों को ४–४ तो. लेकर १०२४ तो. जल में मिलाकर चतुर्थांश क्वाथ करना। पश्चात् त्रिकटु कुचिला रास्ना कूठ पीपल सोमल नागरमोथा देवदारु काला वच्छनाग जवाखार सज्जीखार पंचलवण नीलाथोथा कायफल पाठा भारंगी नौसादर त्रायमाण शवासा जीरा इन्द्रायण का फल इन २६ औषधियों को १-१ तोला लेकर जल के साथ पीसकर कल्क करना। पश्चात् कल्क क्वाथ और काले तिल के ४ सेर तेल को मिलाकर यथाविधि सिद्ध करना। इस तेल की मालिश से वात रोग नष्ट हो जाते हैं। —योग रत्नाकर

(१५) बृहत्सैंधवादि तैल

सेंधानमक त्रिफला रास्ना पिप्पली प्रत्येक २–२ तो. गजपीपल सज्जीखार कालीमिर्च कूठ सोंठ कालानमक बिडनमक अजवायन अजमोद पोहकर मूल जीरा मुलेठी सौंफ हरेक २–२ तोला लेकर कल्क करें और मूर्च्छित

एरण्ड तैल १ प्रस्थ के साथ सौंफ का क्वाथ १ प्रस्थ दही का पानी तथा कांजी प्रत्येक २–२ प्रस्थ लेकर तेल पाक करें। इसका पान अभ्यंग तथा बस्ति रूप में सेवन करने से आमवात दूर होता है। सब प्रकार के वातज रोग नष्ट होते हैं तथा अग्नि बढ़ती है। कटि जानु (घुटना) जंघा तथा सन्धि पसली हृदय तथा वक्षगत वात बात होता तथा वातज अन्त्रवृद्धि नष्ट होती है। —चक्रदत्त

(१६) धत्तूरादि तेल

धत्तूर कनेर भांगरा अतिबला नीमपत्र सहंजन चित्रक अश्वगन्धा प्रसारिणी सिरस कुटजत्वक् अनन्तमूल सेमरत्वक् करञ्ज पत्र-लाल कमल बकायनत्वक् अरण्ड मूल शल्लकी बला ज्योतिष्मती निशोथ चक्रमर्द इन सबके स्वरस या क्वाथों को सर्षप तैल के समान ले लें। फिर देवदारु हरिद्रा दारुहरिद्रा जटामांसी कुष्ठ चन्दन मरिच निशोथ दन्ती हरताल मनःशिला कम्पिल्लक गन्धक कन्था पिप्पली बच रसौत सिन्दूर सरलधूप रक्त चन्दन इरिमेद तुम्बी मंजीठ निर्गुण्डी बीज कनेर मूल रास्ना सोंठ स्थलपद्म पुष्कर मूल कचूर तालीस पत्र प्रियंगु रेणुका चातुर्जात के ४ द्रव्य अंजीर कंकोल जावित्री ज्योतिष्मती प्रत्येक १–१ पल कडुवा तेल १ आढ़क गोमूत्र ४ आढ़क डाल लोह पात्र मन्दाग्नि पर पाककर तेल सिद्ध करालें। अभ्यंग मज्जाश्रितवात त्वग्गतवात मज्जाश्रित वात उरुग्रह वात आढ्यवात मूत्रकृच्छ्र वात दण्ड.ग.त.नक (Tetanus) कुब्जत्व शोथ पक्षाघात अर्दित हनुस्तम्भ (Lockjaw) शिरःकंप मूर्च्छा दृष्टिविभ्रम अपस्मार उन्माद अपतन्त्रक आक्षेपक (Tremors) अस्थिभग्न आदि मे गुणप्रद है। —शारंगधर संहिता

(१७) सिक्थादि तैल

देशी मोम ८० तो. सज्जी २० तो. सांभर नमक १० तो. शिंगरफ ५ तो. शु० संखिया १ तो.। सबको एक कढ़ाई में डालकर गर्म करके मिला दें। फिर डमरू यन्त्र द्वारा मन्दाग्नि से इसका तैल निकाल कर शीशी में भरलें। इस प्रभावक सुप्रसिद्ध तेल की मालिश करने से पक्षाघात गृध्रसी गठिया आदि अनेक वातरोग बड़ी तेजी से ठीक हो जाते हैं। —सि०भै०म०

(१८) हिमसागर तेल

काले तिलों का तैल शतावर का रस विदारीकन्द या तालकुम्हेड़ का स्वरस आमलों का रस सेमर की जड़ का रस बड़े गोखरूओं का रस या काढ़ा नारियल का पानी केले के पेड़ का रस। प्रत्येक ४-४ सेर। गाय का दूध १६ सेर। सबको सम्हालकर और तोलकर रखलो। रक्त चन्दन सफेद चन्दन तगर कूठ मजीठ अगर जटामांसी कवीला मुलहठी देवदारु नख बड़ी हरड़ वरियारा लोध मोथा दालचीनी छोटी इलायची तेजपात नागकेशर लौंग जावित्री कचूर फेई का फल हल्दी—प्रत्येक २-२ तो. लेकर कूट लो और फिर सिल पर डालकर पानी के साथ महीन पीस कर चटनी (कल्क) बनालो।

अब कढ़ाई में तेल एवं कल्क को भरकर आग पर चढ़ा दो। आग धीमी रखो और धीरे-२ क्रमशः १-१ रस डालते जाओ और समाप्त करते जाओ। अन्त में दूध डालकर उसे पकाओ। जब तेल मात्र शेष रह जाय तो कढ़ाई को उतार कर ठण्डा करलो।

यह तेल वात-पित्तज विकारों को दूर करने में परमोत्तम है। इस तेल की मालिश मे पित्तमय वात के समस्त रोग तथा उनके सभी उपद्रव भी मिट जाते हैं। हाथ पैर के तलवों की जलन शरीर से चिनगारियां सी उठना शरीर का सूखना लकवा गठिया पक्षाघात आदि। पित्त प्रकृति वाले के पक्षाघात के लिए तो परमोत्तम है।

(१९) अष्टपत्र तेल

अर्क पत्र धतूर पत्र अरणी पत्र अरण्ड पत्र असगन्ध पत्र सेहुण्ड पत्र भृंगराज पत्र और काले धतूरे के पत्ते इन सबका अर्क रस पाव-२ भर। कुल अर्क २ सेर लेकर आधा सेर तिल तेल में मिला दो। फिर कढ़ाई में डाल कर धीमी आग पर पकाओ। जब तेल मात्र शेष रहे तब उसमें अजवायन २।। तो, अफीम देशी मोम १-१ तो. डालकर आग से नीचे उतार लें। ठण्डा हो जाने पर छानलें और शीशियों में भरलें। इस तेल की मालिश रात में करनी चाहिये। मालिश करके ऊपर से एरण्ड पत्र बांध दो। पक्षाघात मिटता जायगा।

—श्री चन्द्रभान शर्मा
निवाणा (जयपुर) राजस्थान।

वातरोगों पर अनुभूत योग

वैद्यराज डा० रणवीर सिंह शास्त्री विद्याभास्कर आयुर्वेदाचार्य एम० ए०, पीएच० डी०
वेदव्याकरण-साहित्याचार्य, अध्यक्ष—जिला वैद्य सभा, आगरा (उ० प्र०)

वात व्याधियों को समूल नष्ट करने में समर्थ स्वानुभूत योगों को संक्षेप में लिखा जा रहा है। इनमें स्वकल्पित व शास्त्रीय योगों पर अपने चिकित्सा सम्बन्धी अनुभव प्रकट कर रहे हैं।

(१) कारस्कर गुटिका (कल्पित—समस्त वातरोग नाशक शुद्ध कुचला ५० ग्राम छोटी हरड़ २० ग्राम त्रिकुटा (सोंठ काली मिर्च छोटी पीपल) ३० ग्राम सबको सूक्ष्म चूर्ण कर ग्वारपाठे के गूदे में घोटकर १-१ रत्ती की गोलियां बनालें। मात्रा १ गोली से ३ गोली तक दिन रात में तीन बार गर्म दूध चाय, या पानी से।

विशेष गुण—आयु व रोग के बलाबल को देखकर मात्रा की कल्पना करनी चाहिये। साधारणतया ४२ दिन तक सेवन करें, पूर्णलाभ के लिए अधिक दिन भी सेवन करना चाहिये।

अपथ्य—ठण्डी, खट्टी, काबिज, पक्वान्न का परित्याग करना चाहिये। मिठाई, दही मट्ठा मूली चावल आदि हानिकारक है।

विशेष—गर्भिणी स्त्री को उक्त गुटिका न दें, बालकों को स्वल्प मात्रा में दें। दूध घृत का सेवन अधिक मात्रा में करते रहें।

(२) चिञ्चाभल्लातक वटी (रस तंत्रसार)—

योगघटक—नई इमली का गूदा (लवण रहित) और भिलावा शुद्ध (ग्रन्थकार ने शुद्ध नहीं लिखा है) दोनों को समभाग मिलाकर गोली बनाने योग्य होने तक कूटते रहें, झड़बेरी के समान गोलियां बना लें।

मात्रा—१ गोली से २ गोली तक दिन में दो तीन बार मठे से दें अथवा जल से भी दे सकते हैं।

विशेष गुण—उपदंश या फिरङ्ग के विष से उत्पन्न अर्दितवात, कोष्ठ व शिरागत वायु को यह वटी नियमित सेवन से नष्ट करती है, साधारण वात रोगों में भी उत्तम लाभकारी है। इसमें पथ्यापथ्य व्यवस्था नहीं लिखी है।

सावधानी—भल्लातक वात कफ प्रकृति रोगियों को अनुकूल पड़ता है। पित्त प्रकृति वालों को शोथ कण्डू छाले विसर्प आदि उपद्रव हो जाते हैं, दो दिन दवा सेवन से गुदा व मूत्र मार्ग में शोथ या दाह हो, तो तत्काल बन्द कर देनी चाहिए और घृत नारियल जल व गिरी के सेवन करना चाहिये। गर्भिणी मोहलाओं को तथा बालकों को यह गोली न दें। इस गुटी के सेवन से वात रोग तथा अन्य जठरगत वात रोग नष्ट होते हैं। इस योग में शुद्ध व अशुद्ध दोनों प्रकार का भिलावा मिलाकर प्रयोग किया है। अशुद्ध भिलावा तीव्र व उपद्रव करने वाला है।

(३) वातहर गुटिका (रसतन्त्र सार सि० प्र० सं०)—

योग निर्माण—भिलावा शुद्ध ५ तोले, पीपलामूल पीपल अकरकरा, सोंठ व माल कांगनी बीज प्रत्येक १-१ तोले, सबको बारीक पीसकर ५ तोले पीसकर ५ तोले गुड़ मिलाकर झड़बेरी के समान गोलियां दिन में २ बार शुद्ध घृत से लें।

विशेष गुण—यह वटी सन्धिवात, अर्दित, गठिया, उरुस्तम्भ कमर का दर्द, पक्षाघात, आदि वात रोगों को नष्ट करती है, जठरगत सभी प्रकार के वात रोगों को दूर करती है।

सावधानी—गर्भवती स्त्रियों व बालकों को यह वटी न दें। यदि दो दिन प्रयोग से शोथ व दाह हो तो यह दवा न सेवन करें। यह योग सभी प्रकार के वात रोगों को दूर करता है। सेवन में पेट साफ रखें घृत सेवन करें।

अपथ्य—खटाई, रूखी वस्तुएं, विष्टम्भी, वातकारक चावल दही आदि सेवन न करें।

(४) हरिद्रा मोदक (कल्पित पाक)—

निर्माण विधि—कच्ची हरी हल्दी १ किलो छीलकर कद्दूकस से घिसकर ५०० ग्राम शुद्ध घृत में भून लें, घी में भुना आटा गेहूं का ५०० ग्राम, तगर ५०० ग्राम मिला लें। इसमें बादाम मिगी ५० ग्रा., चिरौंजी ५० ग्रा., असगन्ध नागौरी ५० ग्राम सोंठ ५० ग्राम (शुद्ध घृत में भुनी) मिलाकर घी के हाथों से १-१ छटांक के मोदक बनालें। मात्रा—१-१ मोदक प्रातः तथा रात्रि में गर्म दूध से लें। पहिले १ लड्डू से

गुण—यह मोदक अत्यन्त बलवीर्य वर्धक तथा सभी प्रकार के वात रोगों को नष्ट करता है, धातु क्षीणता व शीत विकार से उत्पन्न कटिशूल, पृष्ठशूल, मन्यास्तम्भ, अर्दित आदि वात व्याधियों में लाभ करता है।

अपथ्य—दही मट्ठा, चावल, मटर, गोभी, विष्टम्भी मौसम, सभी प्रकार की खटाइयां, अरवी, भिण्डी, केला।

(५) मेंथी के लड्डू (स्वकल्पित)—वात रोग नाशक

योग घटक—प्रधान वस्तु मेंथी दाना ५०० ग्राम बारीक पिसवाकर गेहूं का आटा ५०० ग्राम, शतावरी ५० ग्राम, असगन्ध नागौरी ५० ग्रा. कौंच के बीज काले ५० ग्रा., सोंठ ५० ग्रा. सूक्ष्म चूर्ण कर मिलालें। सबको १ किलो शुद्ध घृत में भूनकर १ किलो तगार मिलाकर लड्डू ५०-५० ग्राम के बनालें, १-१ लड्डू प्रातः तथा रात्रि में गर्म पानी या गर्म दूध से लें। इससे सभी प्रकार के वात रोग नष्ट होते हैं।

सावधानी—यदि लड्डुओं से भूख कम जाय तो दवा की मात्रा आधी करदें, कब्ज नहीं रहना चाहिये।

(६) घृतकुमारी पाक (चिकित्सा पथ्य)—वात रोग नाशक ग्वार पाठे का गूदा ३ किलो शुद्ध घृत १ किलो लोहे की कढ़ाई में डालकर पकावें। गूदा जलने पर गेहूं का आटा तीन पाव (७५० ग्राम) डालकर भून लें और १ किलो तगार डालकर पाक बनालें। मात्रा—२-२ तोले।

(७) इसी प्रकार वातव्याधिहर पाकों में—एरण्ड पाक शुण्ठी पाक, अश्वगन्धापाक, शतावरी पाक, सुरंजबीरी पाक, बादाम पाक आदि का विधिवत् ... न ... १-१ तोला प्रातः सायं उष्ण दुग्ध से सेवन करें। दूसरे तीसरे दिन पेट साफ करने के लिये त्रिफला चूर्ण या ... चूर्ण ६ माशे अवश्य सेवन करें।

(८) लहसुन को पीसकर ३ माशे, १॥ तोले मक्खन या शुद्ध घी में मिलाकर प्रातः सेवन करे, जाठराग्नि दीप्त होने पर घी या मक्खन १ छटांक तक सेवन कर सकते हैं। इससे थोड़े दिनों में ठीक हो जाता है।

(९) दशमूल का क्वाथ २॥ तोले आधा सेर पानी में पका २॥ छटांक शेष रहने पर २-२ गोलियां योगराज गुग्गुलु की प्रातः सायं सेवन करें, शीत ऋतु में ... गोली प्रातः सायं सेवन करे। यदि कब्ज रहता हो तो दश... के काढ़े में १ तोले शुद्ध अण्डी का तेल एक समय मिला... ठण्डे पानी का प्रयोग न करे। यह वातरोगों में आशा... लाभ करता है।

(१०) गृध्रसी रोग हर योग (भैषज्य रत्नावली) शुद्ध अण्डी का तेल १ तोले से २॥ तोले तक प्रातः ताजे गोमूत्र से एक महीने या ४० दिन पर्यन्त पीवे, ... वा अन्न पान का परित्याग करे, ठण्ड से बचें, वेदना स्थान पर विषगर्भ तेल या महामाषादि तैल की मालिश तथा सेंक करे।

द्वितीय योग—सम्भालू के पत्तों का १ छटांक आधा सेर जल में मृदु अग्नि से पकावें। चौथाई शेष पर प्रातः पान करें। इससे न जाने ... गृध्रसी रोग हो जाता है। एक मास तक दवा सेवन ... करे, प्रातः सायं दोनों समय लें। साथ में सिंहनाद गुग्गुलु अथवा योगराज गुग्गुलु २-२ गोलियां सेवन करे। अ... लाभ होगा, पीड़ा स्थान पर नारायण तैल को दो ... मालिश करे। शीतातपपान से बचें।

(११) शिलाजतु (सूर्यतापी)—वात रोग नाशक प्रमेहारि—प्रायः चिकित्सकीय अनुभव में पाया जा... जिन वात रोगियों को प्रमेह मधुमेह स्वप्नमेह आदि सम्बन्धी रोग होते हैं उन्हें उत्तम वात रोगहर ...

बहुत समय तक सेवन कराने पर भी रोग निवृत्ति नहीं होती, । ऐसे रोगियों को—सूर्यतापी या बलाई शिलाजीत ४-४ रत्ती प्रातः तथा रात्रि में सेवन कराने से शीघ्र लाभ होता है । मात्रा—४ रत्ती से ६ रत्ती तक (वयस्क के लिए) उष्णदूध २ तो. अथवा दशमूल के २ तोले क्वाथ में घोल कर पीवें, ऊपर से शेष दूध या क्वाथ को पीवें, इस प्रकार ४१ दिन सेवन करने से सभी प्रकार के हठी वात रोग नष्ट होते हैं और शुक्रगत निर्बलता भी दूर होती है ।

शिलाजतु में पथ्यापथ्य—सर्वप्रथम उदर शुद्धि वमन और विरेचन देकर करें अथवा दशमूल क्वाथ में शुद्ध अण्डी का तैल २ तोले मिलाकर पीने से भी पेट साफ हो जाता है । शीतल पदार्थ: विदाही, विष्टम्भी सभी प्रकार की खटाइयों का परित्याग करें । वातल पदार्थों को सर्वथा छोड दें । शुद्ध घृत, गोदुग्ध, तैले पक्व पदार्थ, गेहूं, करेला, सैंजना, मेथीपत्र तथा बीज, बथुआ शाक, लहसन, अदरख, हींग, सोंठ, पीपल, अजवायन आदि वात नाशक पदार्थ सेवन करें ।

(१५) समीरपंन्नगर रस (रस तन्त्रसार)—

समस्त वायुरोगों पर शीघ्र प्रभावकारी एवं वात रोगों का समूलोन्मूलन करने वाला यह तीव्र रस है— चिकित्सक की देख रेख में ही इसका प्रयोग करना चाहिये ।

योग घटक व निर्माण—शु० पारद, शु० गन्धक, शु० संखिया, शु० मैनसिल और शुद्ध हरिताल बराबर को लेकर कज्जली बनावें, इसमें तुलसी स्वरस की ३ दिन तक भावनायें दें; शुष्क होने पर कपड मिट्टी की गई आतसी शीशी में भर कर ५० से ६० घण्टे की अग्नि बालु का यन्त्र में दें । पुनः स्वाङ्ग शीतल होने पर तेजस्वी कृष्ण वर्ण कठोर समीरपन्नग शीशी के गले से निकाल लें।

गुणधर्म—यह तीव्र वातनाशक उग्रवीर्य प्रभावशाली रस है, समस्त वात रोगों का शमन करता है ।

मात्रा— १ चावल १ रत्ती तक अदरख स्वरस में या बने हुए ताम्बूल में दें, प्रातः तथा रात्रि में ।

सावधानी—यदि उष्णता, रूक्षता: शुष्कता, शिरोर्ति व चकराहट प्रतीत हों तो मात्रा कम करके उपद्रवों को शांत करें, दुग्ध घृत का सेवन करें

विशेष—समीर पन्नग रस को ताम्रस्थ भी बनाते हैं— गुणधर्म समान हैं गलस्थ विशेष प्रभावशाली है ।

(१३) वृहद् वात चिन्तामणिरस (भारत भैषज्य र०, भै० र०)—

निर्माण विधान—स्वर्ण भस्म ३ माशे, रजत भस्म २ माशे, अभ्र भस्म २ माशे, लोह भस्म ५ माशे, प्रवाल भस्म ३ माशे, मुक्ताभस्म ३ माशे, रस सिन्दूर ७ माशे, सबको खरल में डाल घृतकुमारी स्वरस की भावना देकर १-१ रत्ती की गोलियां बनावें । मात्रा—१-१ गोली अदरख पान शहद में प्रातः सायं सेवन करें ।

सत्वर लाभ होता है, साथ ही दशमूलारिष्ट २-२ तोले भोजनोपरान्त पिलादें ।

अपथ्य—शीतल, अम्ल, विष्टम्भी, वातवर्धक, तथा मिष्टान्न आदि का सेवन, दही मठा आदि का भी त्याग करना चाहिए ।

(१४) प्रताप लंकेश्वर रस—प्रसूतिवात नाशक—(भैष० सार संग्रह)

निर्माण विधान—शुद्ध पारद, अभ्रक भस्म, शुद्ध गंन्धक, शु० बरसनाभ सभी द्रव्य प्रत्येक १-१ तो०, काली मिर्च चूर्ण ३ तो० लोह भस्म ४ तो० शङ्ख भस्म ८ तो० आरने कण्डे की राख १६ तो०, इन द्रव्यों में से पारद व गंधक की कज्जली बनाकर शेष द्रव्य सूक्ष्म चूर्ण मिलाकर घोटें और अदरख के स्वरस की भावना देकर ३-३ रत्ती की गोलियां बनालें ।

मात्रा—१-१ गोली प्रातः सायं अदरख के स्वरस में मिलाकर दें । रोग की उग्रता में मात्रा बढ़ाकर दे सकते हैं ।

विशेष गुण—प्रसूताओं का ज्वर, सन्निपात शिरोर्ति सर्वाङ्ग पीड़ा, मन्यास्तम्भ, वात प्रकोप से दांतों का बन्ध होना अर्थात् प्रसूता के सभी वायु विकार इससे तत्काल शांत होते हैं यह सैकड़ बार का अनुभूत है ।

स्वानुभव—हमारे औषधालय में अरणे कण्डे (जंगली उपले) की राख १६ तो. के बदले १॥ तो. ही डालते हैं, क्योंकि 'कला' सोलहवें को कहते हैं न कि सोलह गुने को । इस प्रकार यह रस तीव्र बनता है। अतएव इसकी मात्रा—

—शेषांश पृष्ठ ३५१ पर देखें ।

अर्दित वात रोगों पर प्रभावकारी औषधि योग

प्राणाचार्य हर्षुल मिश्र प्रवीण, बी.ए. आनर्स, आयुर्वेद प्रवीण, आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेद रत्न
भूतपूर्व विभागीय आयुर्वेद निरीक्षक, रायपुर ।

वातरोगनाशक अनुभूत योग

(१) अंगाघात तथा पक्षाघात नाशक अनुभूत योग—**हर्षुल अंगघातांतक वटक**—द्रव्य—भिलावे की गिरी का चूर्ण, अश्वगन्ध नागौरी का चूर्ण, छिलका रहित मेंथी बीज का चूर्ण प्रत्येक ५–५ तो. (घृत पक्व), इन्द्रवधूटी (मखमली लाल कीड़ा) पैर और मूड़ रहित, अजवायन चूर्ण के साथ सूर्यताप में शुष्क किया हुआ ६० नग । सब द्रव्यों को पत्थर के खरल में डालकर लगातार १२ घण्टे मर्दन करें। फिर गोघृत और मधु के योग से सानकर ६० वटक बनालें । प्रातःसायं एक एक छटांक सुखोष्ण गो दुग्ध के साथ सेवन करें । बच्चों को १/४ वटक से १/२ वटक तक सेवन करावें । इस हर्षुल अंगघातान्तक वटक के सेवन से लकवा एक माह के अन्दर आराम हो जाता है ।

(२) **हर्षुल पक्षाघात नाशक वटक**—धोई हुई छाया में सुखायी गई नवीन फसल की उत्तम श्रेणी की भांग १ तो., शु० भिलावा १ तो., भिलावे की मींगी ३ तो., चारफल की मींगी (चिरौंजी) ४ तो. कालीमिर्च १॥ तो., उत्तम नवीन छुआरा गुठली रहित २४ नग, दालचीनी असली ६ माशा, लवंग २६ नग के बीज, हिंगुल भस्म २ माशा । हिंगुल भस्म को छोड़ शेष सभी द्रव्यों का महीन कपड़छन चूर्ण तैयार कर लें, फिर हिंगु भस्म के साथ खरल में डालकर १२ घण्टे तक अविराम गति से खूब मर्दन करें । पानी सम द्रव्य मिलाकर एक रूप हो जाय, तब उसमें थोड़ा गोघृत और मधु मिलाकर २४ वटक बनावें । १ वटक प्रातः सायं गर्म दूध से सेवन करावें तो पक्षाघात के रोगी को औषधि सेवन के दिन से लाभ प्रतीत होने लगेगा । १२ दिन में सन्तोषजनक लाभ होगा । ६० दिन के सेवन से रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जाएगा बशर्ते रोग बहुत पुराना न हो ।

(३) पक्षाघात मे सन्यास या बेहोशी की हालत में 'हर्षुलप्राण संयोजना वटी' एक सफल औषधि है—द्रव्य—योगेन्द्र रस, शु० कुचला, सर्पगन्धा चूर्ण, गोमेद रत्न भस्म कुंकुम घनसार, कस्तूरी नेपाली असली प्रत्येक २-२ तो., खुरासानी वच, सफेद सरसों चूर्ण, लवंग, जायफल, दालचीनी हिंगुल भस्म मल्ल सिंदूर संगयशब भस्म संग अकीक भस्म प्रत्येक १–१ तो. सबको अलग अलग महीन पीस कर फिर सबको एक में मिलाकर पत्थर के चिकने खरल में डाल और ताम्बूल पत्र स्वरस की भावना देकर ५–५ रत्ती की गोलियां बनाले। गोलिया छाया मे सुखाकर कांच वर्नियों में भर एक डाट लगाकर सुरक्षित रखी जाय ।

मात्रा—बच्चों को आधी गो. बड़ों को १ गो. ।

अनुपान—बच्चों को मातृ दुग्ध वा मधु, बड़ों को दशमूल का सुखोष्ण काढ़ा २॥ तो. की मात्रा में प्राणसंयोना वटी के साथ पिलाना चाहिए ।

गुण—इसके सेवन करने से १२ घण्टे के अन्दर लकवा रोगी सन्निपातज मूर्च्छा का रोगी बराबर होश में आ जाता है । १५ दिन में लकवा के रोगी की वन्द जवान खुल जाती है । इसी औषधि के सेवन से पहिले सप्ताह से रोगी के शिथिल अङ्गों में ताकत आना प्रारम्भ हो जाता है । ६० दिन में रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जाता है । यदि इसका प्रयोग लकवा के प्रारम्भ होते ही किया जाता है । पुराने लकवे में भी यह सफल औषधि है, परन्तु शिथिल अङ्गों में ताकत और ऊर्जा सम्पूर्णतः

...वे में ६ माह लग जाते हैं। इस औषधि के साथ नीचे ...का तेल की मालिश अनिवार्य रूप से करना चाहिये। ...प्राण संयोजना वटी, सन्धिवात, सन्धिस्तम्भ, बाहु-...म्भ पादस्तंभ, कटिस्तंभ, गृध्रसीवात, सुषुम्नास्तंभ, ...तजशिरःशूल, उरुस्तंभ, अन्तरायाम, बाह्यायाम, अप-...नक (टिटनस), हिस्टेरिया, अंगशैथिल्य तथा पोलियो ...इलिटिस पर भी तत्काल लाभकारी सिद्ध हुई है।

(४) हपुल वात रुक् मोचन तैल—१ पाव अशुद्ध ...सनाग को २ सेर गोमूत्र में डुबाकर १ हांडी में रख ...। १ पाव अशुद्ध कुचला को भी २ सेर गोमूत्र में ...बाकर एक हांडी में रख दो। १० दिन के बाद वत्स-...नाभ और कुचला को कुचलकर या पीसकर उसी गोमूत्र ...घोल दो। जितना गोमूत्र हो, उसके बराबर उसी ...डी में अलसी या सरसों का तेल डालो। फिर हांडी ...अग्निताप पर चढ़ाकर तैल पाक विधि से तैल सिद्ध ...र लो। यह सिद्ध तैल १ सेर, तिखाड़ी घास का तैल ... तो., दालचीनी तैल २॥ तो., करौंदा बीज गिरी ... २॥ तो., मालकांगनी तैल १० तो. सबको मिलाकर ...काँच की बरनी में भरकर रख दो। इसकी मालिश लकवा सन्धिवात, अंगस्तंभ, गृध्रसी, चोटमोच के दर्द, ...गिकात पीड़ा अवश्य दूर होती है।

(५) स्कंध शोष, भुजाशोष, मांसपेशी शोष तथा ...सपेशी शैथिल्य पर अनुभूत योग—वरियारी (महाबला ...ली फूल वाली) के मूल का चूर्ण २ तो. पानी ३२ तो., ...नों को एक हांडी में डालकर उसे अग्निताप पर रख ...र काढ़ा करें। जब ४० तो. काढ़ा शेष रह जाय तब ...में २ माशा सेंधानमक मिलाकर छान दें। हपुल ...ामृत लोह की १ गोली मुंह में रखकर उपरोक्त वरि-...री का क्वाथ नित्य प्रातःकाल पीवें। इस हपुल षडा-...मृत लोह और वरियारी के क्वाथ का सेवन प्रति माह ... दिन के हिसाब से ६३ दिन सेवन करें, तो अंगशोष ...सपेशी शोष, मांसपेशी शैथिल्य अवश्य दूर होता है।

हपुल षडामृत लोह

द्रव्य—कांतलोह (जलतर), मण्डूर भस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म, रौप्यमाक्षिक भस्म, लाल कसीस भस्म, पूर्ण चन्द्रोदय स्वर्ण सहित प्रत्येक १-१ तो.। सब द्रव्यों को खरल में डालकर क्रमशः कृष्ण भांगरे के स्वरस, सरफोंका पत्र स्वरस, अमृता स्वरस, वरियारी स्वरस तथा जंगली चेंच पत्र के स्वरस प्रत्येक २०-२० तो. की भावना लगातार देकर ३-३ रत्ती की गोलियां बनालें। इसे वरियारी के क्वाथ के साथ सेवन करने से अंगशोष, अंगशैथिल्य आराम होते हैं तथा सुखोष्ण गोदुग्ध के साथ सेवन करने से पाण्डु (रक्ताल्पता) दूर होकर बल रक्त वीर्य बढ़ता है। शर्करा मिश्रित मूलीपत्र स्वरस के साथ सेवन करने से कामला (पीलिया) मिटता है। पुनर्नवा स्वरस और मधु के साथ सेवन करने से केवल (दूध का आहार करने पर शोथ रोग, वृक्क शोथ, यकृत शोथ, आन्त्रशोथ मिटता है।

(६) जिह्वास्तंभ पर हपुल सुवाचा लेप—सफेद सरसों का चूर्ण अकरकरा चूर्ण छोटी पिप्पली चूर्ण वचा चूर्ण दालचीनी चूर्ण लवंग चूर्ण प्रत्येक १-१ तो. सत मेंथा पिपरेंटा ३ माशे। सबको खरल में डालकर अच्छा घोटकर मिश्रण तैयार कर लें। फिर इसे १ माशा की मात्रा में शहद के साथ मिलाकर जीभ पर नित्य प्रातः सायं मर्दन करें। साथ ही अनुवासन वस्ति अथवा ग्लिसरीन सिरंज लगाकर रोगी का मल विसर्जन नित्य करवाया करें। इस लेप के प्रयोग से ३ दिन से लेकर १५ दिन के भीतर बच्चा बोलने लगता है। इस उपचार के साथ प्राण संयोजना वटी का सेवन अनिवार्य रूप से करना चाहिए।

(७) ग्रीवास्तम्भ भुजास्तंभ जङ्घास्तंभ पर अनुभूत उपचार—मदार के पत्तों पर सरसों का तेल लगाकर उन्हें अग्निताप दिखाकर उनको उपर्युक्त सीमित अंगों का नित्य १५ मिनिट तक सेककर उन्हीं पत्तों को पीड़ित अंग पर चिपकाकर गर्म वस्त्र से आवृत कर देना चाहिए। इससे निःसन्देह स्तंभ पीड़ा मिटती है।

(८) हपुल अरुकवाता—गृध्रसी तथा जटिल वात रोगनाशक अनुभूत योग—मकरध्वज मल्लसिंदूर प्रवाल पंचामृत वंग भस्म कान्त लोह भस्म नाग भस्म हरितवर्ण प्रत्येक १-१ तो. सन के बीज का घनसार निर्गुण्डी मूल घनसार एरण्ड मूल घनसार सर्पगन्धा घनसार सब

४-४ तो. शु० पारा गन्धक की समभाग कज्जली २ तो. शु० कुचला ६ तो.। सब द्रव्यों को खरल में डालकर मैथी पत्र स्वरस, निर्गुण्डी पत्र स्वरस की भावना देकर ४-४ रत्ती की गोलियां बनालें। मात्रा—१ गो. । अनुपान— गर्म गोदुग्ध) समय-प्रातः सायं दिन में १२ घण्टे के अन्तर से २ बार सेवन करावें।

गुण—गृध्रसी (सायटिका), सन्धिवात, लकवा, अंग स्तंभ, अंग शैथिल्य, अपतन्त्रक, अन्तरायाम, बाह्यायाम, आक्षेपक, पोलियो माइलिटिस, लकवा आदि सभी वात रोगों पर शीघ्र लाभकारी औषधि है।

(९) अपतन्त्रक, अपतानक, बाह्यायाम, अन्तरायाम, अंग शैथिल्य नाशक अनुभूत योग (हर्षुल स्नायूर्जा वटी)—

द्रव्य—दशमांश हिंगुल द्वारा ६० पुट की हुई सफेद संखिया दशमांश द्वारा ६० पुट दी हुई शत प्रतिशत भस्म की हुई कान्त लौह भस्म, हरताल योगेन जारित दशपुटी वंग भस्म (जलतर) चन्द्रोदय रस प्रत्येक १-१ तो कुंकुम घनसार शु० कुचला काला धत्तूर बीज सन के बीजों का घनसार २-२ तो.। सबको खरल में डाल कर निर्गुण्डी स्वरस में घोटकर ४-४ रत्ती की गोलियां बनालें। बालिग व्यक्तियों को १ से २ गो. तक रोग के वेगानुसार अद्रक स्वरस वा नागरबेल पत्र (पान) के स्वरस में मिलाकर चबावें। दश वर्ष से कम उम्र के बच्चों को १/४ से १/२ गो. तक मातृदुग्ध वा गर्म गो दुग्ध में दें। अद्रक स्वरस वा पान स्वरस के अभाव में मधु वा गोदुग्ध के अनुपान से भी दिया जा सकता है। उपर्युक्त रोगों के अतिरिक्त यह हर्षुल स्नायूर्जा वटी, गृध्रसी और लकवा में भी लाभ करती है। लकवे की मूर्च्छा में इस स्नायूर्जा वटी के साथ प्राण संयोजनी वटी का प्रयोग बड़ा चमत्कारिक असर दिखाता है। ८ दिन का बेहोश लकवा का रोगी १२ घण्टे में होश में आया है। यह दोनों योग सेरीब्रल मलेरिया के बेहोश रोगी को भी १२ घण्टे में होश में ला देते हैं। ये दोनों योग सम्मिलित रूप से देने से मृगी हिस्टेरिया आक्षेपक तक आराम हो जाते हैं। अर्दित और जिह्वास्तंभ भी ३ दिन से १५ दिन की अवधि में पूर्णतः मिट जाते हैं।

(१०) क्रोष्टु शीर्ष पर अत्यन्त सफल और अनुभूत योग हर्षुल सन्धि रुकन्तक वटी—महिषाक्ष शु० स्वच्छ चमकदार पीले रंग का गुग्गुल ६ तो. अमृता सत्व सहित सम्पूर्ण रस को सुखाकर बनाया हुआ चूर्ण बड़ी हरड़ (३ से ४ तो. वजन वाली) के छिलके का चूर्ण बहेड़ा के छिलके का चूर्ण बड़े पीले रंग के आँवलों के छायाशुष्क गूदा ३-३ तो. अण्डी की मिंगी ६ तो. अजवायन भिलावा घी और मधु के कल्क के संपुट में रखकर १२ घण्टे अधोर्ध्व अग्निताप में जारित हिंगुल भस्म ३ तो. लकड़ी की ऊखल में घनकूटा से सब द्रव्य एकरूप बारीक चूर्ण होने तक कूटें फिर थोड़ा-२ गोघृत छोड़ते जांय और कूटते जांय। अब शहद के योग से १-१ ग्रा.के वटक बना प्रातः सायं १-१ वटक गर्म गोदुग्ध के साथ सेवन करें। इससे क्रोष्ठुशीर्षक सन्धिस्तंभ सन्धिपीड़ा आदि वात रोग अवश्य नष्ट होते हैं। ★

पृष्ठ ३४८ का शेषांश

१॥-१॥ रत्ती की गोलियां (आर्द्रक स्वरस से) बनाकर अदरख स्वरस में ही देते हैं।

(४५) पुनर्नवादि गुग्गुलु (शार्ङ्गधर) वातरोग नाशक—

योग घटक—पुनर्नवा, हरड़, गिलोय का चूर्ण १-१ छटांक का सूक्ष्म चूर्ण बना; शु० गुग्गुलु ४ छटांक मिला कर २ तो० अण्डी का तेल मिला कूटें, ४-४ रत्ती की गोलियां बनाकर सुखा लें। मात्रा—१ गोली से ४ गोली तक दो बार गर्म दूध या दशमूल क्वाथ से दें।

विशेष गुण—जब वातव्याधि में शोथ होजाय, सर्वाङ्ग धातुगत वात, मन्यास्तम्भ, वात पीड़ायें; पाँडु जन्य शोथ आदि समस्त वात वेदनाओं को नष्ट करता है।

अपथ्य—दही मट्ठा, खटाई काविज चीजें चावल आदि वात कारक वस्तुयें नहीं खानी चाहिए। इस गुग्गुलु के अतिरिक्त योगराज गुग्गुलु, सिंहनादगुग्गुलु, महायोगराज गुग्गुलु त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु, पथ्यादि गुग्गुलु, चन्द्रप्रभा गुग्गुलु सप्तविंशति गुग्गुलु आदि अनेक गुग्गुलों का विस्तृत वर्णन वातरोगों के नाश के लिये किया गया है। ✤

★ प्राणाचार्य श्री हर्षुल मिश्र आयु० प्रवीण ★

कविराज बी०एस० प्रेमी एम.ए.एम. एस., ए २/८ तिब्बिया कालेज करोल बाग, नई दिल्ली--५

१. अपतन्त्रक—शु. पारद १ तो., शु. गंधक १ तो., (कज्जली) कुपीलु सत्व ५ माशा. सुवर्ण भस्म ४ मा. ब्राह्मीचूर्ण २ तो. वैक्रान्त भस्म ५ माशा।

निर्माण विधि—उक्त द्रव्यों को प्रथम खरल में भली प्रकार घोट पीस कर पिष्ट करलें। फिर दशमूल के दुगने क्वाथ में भावना देकर २-२ र. की गोलियां बनालें।

सेवन विधि—प्रातः एक गोली रास्ना के पानी से दोपहर के बाद एक गोली किसी भी मीठे स्वरस से तथा रात्रिको एक गोली गरम मीठे दूध से खावें।

२. योषापस्मार हिस्टेरिया—रस सिन्दूर १ तो., त्रैलोक्य चिन्तामणि रस ३ माशा, वातकुलान्तक रस ७ माशा, मुक्तापिष्टी २ माशा, अभ्रक भस्म ५ माशा—पूर्ण योग २ तो. ४ माशा।

निर्माण-विधि—एक पाव अश्वगंधा के क्वाथ को खरल में डालें। फिर उसमें रस सिन्दूर डालकर दो घण्टे तक भावना, तदनन्तर शेष द्रव्यों को डाल घुटाई करें। अन्त में २-२ रत्ती की गोलियां बनाकर छाया शुष्क करलें।

सेवन-विधि प्रतिदिन सूर्योदय से पूर्व गोलियां ब्राह्मी के जल से तथा रात्रिको चन्द्रोदय के पश्चात २ गोली दूध से देवें। अमावस्या तथा प्रतिपदा को यह औषधि सेवन नहीं करनी। बीस वर्ष तक का रोग स्थाई नष्ट होता है।

३. धनुर्वात—मल्ल चन्द्रोदय ५ माशा, वात कुलान्तक रस ५ माशा, स्वर्ण भस्म ३ माशा, रसराज रस ४ माशा मृ० कस्तूरी भैरव रस २ मा., अश्वगंधा चूर्ण २ तोला अभ्रक भस्म शतपुटी ५ माशा—पूर्ण योग ५ तो.।

निर्माण-विधि—दस तो. कंघी के ताजा स्वरस में उक्त सभी द्रव्यों को मिलाकर दृढ़ भावना देवें। शुष्क हो जाने पर रक्त एरण्ड के ताजे समभाग अमलतास के पुष्पों के स्वरस की देकर २-२ रत्ती की वटी बनालें।

सेवन-विधि—प्रतिदिन के १२ बजे, शाम के छः बजे और रात के दो बजे २-२ वटी दूध से ४० दिन लेवें।

४. पक्षाघात (अधरङ्ग)—रसराज रस, वातकुलान्तक रस, एकांगवीर रस, त्रैलोक्य चिन्तामणि रस, हरवल्लभ रस ये सब ६-६ माशा, त्रयोदशांग गुग्गुलु १० माशा।

निर्माण-विधि—२५० तो० दशमूल क्वाथ में उक्त सभी द्रव्य घोटकर कल्क बनालें। तदनन्तर २५० तो. रसोन स्वरस में उसे घोल दें और मृदु अग्नि पर पाचन करें। घनीभूत होजाने पर सिल पर इतना घोटें कि वटी बन जाये किन्तु अंगुलियों पर लेश मात्र भी न चिपके। तदनन्तर ४-४ रत्ती की वटीं बना लें।

सेवन विधि—अधरङ्ग में तथा एकांगघात सर्वांग अथवा अधरङ्ग वात रोग में प्रातः एक गोली चित्रक के जल के साथ, दोपहर को एक वटी दूध के साथ, रात्रि को एक वटी दशमूल के क्वाथ के साथ देनी चाहिए।

५. अर्दित - चन्द्रोदय रस, सुवर्ण समीरपन्नग रस, महावात विध्वंस रस, वात कुलान्तक रस ये सब ६-६ माशे, लौहभस्म शतपुटी, अभ्रकभस्म शतपुटी, शृंग भस्म तीनों ४-४ माशे। एक पाव रास्नादि क्वाथ में उक्त द्रव्यों को मिलाकर दृढ़ भावना देवें। गाढ़ा हो जाने पर

लशुन का ताजा स्वरस मिलाकर पुनः दृढ़ मर्दन करें। अन्त में चार चार रत्ती की वटी बनालें।

सेवन विधि—प्रतिदिन प्रातः दोपहर सायं और रात्रि को १-१ वटी दूध अथवा ब्राह्मी क्वाथ से सेवन करें। पूर्ण सफल है। असाध्य लकवा भी स्वस्थ हो जाता है।

६. विश्वाची (भुजा का दर्द)—एकांगवीर रस ५ माशे, सुवर्ण समीरपन्नग रस ५ माशे, वृ. वातचिंतामणि ५ माशे, रस राज रस ५ माशे, त्रैलोक्य चिन्तामणि रस ४ माशे, एरण्ड पाक ४ तोले।

निर्माण विधि—२५० तो. विदारी कन्द का ताजा स्वरस अथवा क्वाथ में उक्त द्रव्यों को मृदु अग्नि पर पकावें। गाढ़ा होने पर खरल में घोटकर ४-४ रत्ती की गोलियां बनालें। प्रतिदिन १-१ वटी गरम दूध के साथ २४ घण्टों में ४ बार सेवन करें।

७. जिह्वा स्तम्भ—सुवर्ण भस्म, अभ्रक भस्म सौपुटी, लोह भस्म सौपुटी, मोती पिष्टी, पुखराज पिष्टी, महावात विध्वंस रस, एकांगवीर रस, मल्ल चन्दोदय ये सब ६-६ माशे, त्रयोदशांग गुग्गुलु १ तो., कुचला सत्व ४ माशा।

निर्माण विधि—सभी द्रव्यों को आधा सेर अंगूरों के स्वरस में अथवा द्राक्षा के एक सेर क्वाथ में घोट कर ४-४ रत्ती की गोलियां बनालें।

सेवन विधि—६-६ घण्टे के बाद १-१ गोली गरम दूध से ४ मास तक सेवन करें।

विशेष कथन—यह प्रयोग मन्यास्तम्भ (गर्दन का लकवा) तथा हनुस्तम्भ पर भी शत प्रतिशत सफल है।

८. मूक रोग (वाणी का लकवा)—गूंगापन, मिमियाना (मर्द का जनानी वाणी में बोलना और नारी का मर्दानी आवाज बोलना आदि) पर योग—महावातविध्वंसन रस १ तो. कृष्ण चतुर्मुख रस ५ मा. सुवर्ण भस्म ७ मा. ब्राह्मी घनसत्व २ तो. शङ्खपुष्पी सत्व २तो. गोघृत १२ तो. कालीमिर्च ६ तो.।

निर्माण विधि—सर्व प्रथम गोघृत को पिघला कर, उसमें कालीमिर्च का सत मिश्रित कर दें, फिर शेष सभी घटक १—१ करके मिश्रित करके खरल में घुटाई करें। जब कुछ गाढ़ापन आजाये तब उसे मृदु अग्नि पर थोड़ा शुष्क करें। थोड़ा ढीलापन रह जाये तो उतार शीतल कर किसी चौड़े मुख के कांच पात्र में सुरक्षित रक्खें।

सेवन विधि—प्रातः सूर्योदय से पूर्व २ ग्रा. दवा धारोष्ण दूध से, रात्रि को पके हुए दूध से सेवन करें।

विशेष उपयोग—यह दवा कण्ठ को सुरीला करने में पूर्णरूप से सफल है। बैठी हुई आवाज को तुरन्त खोल देता है। हकलाने की बीमारी को समूल नष्ट करता है।

९. गृध्रसी—महावातविध्वंसन रस १० ग्रा., त्रैलोक्य चिन्तामणि रस ५ ग्रा., समीर पन्नग रस ५ ग्रा., अभ्रक भस्म शतपुटी ७ ग्रा., लोह भस्म शतपुटी ७ ग्रा., सुवर्ण ४ ग्रा., वैक्रान्त भस्म ४ ग्रा., मोती पिष्टी ४ ग्रा., अकीक पिष्टी १० ग्रा., प्रवाल पिष्टी १० ग्रा., मल्ल सिंदूर १० ग्रा., कुचला सत्व ५ ग्रा., धत्तूर बीज शुद्ध ५ ग्रा., ताम्रभस्म रक्त वर्ण ५ ग्रा.। खरल में डाल एरण्ड तैल समभाग में घुटाई करे। जब गोली बनाने योग्य होजाये तब ४—४ रत्ती की वटियां बना कर छाया में सुखा लें।

सेवन विधि—बालकों को आधी—आधी वटी प्रातः सायं दूध के साथ देवें। युवकों को पूरी वटी दोनों समय दूध से देवें। बृद्ध पुरुषों को प्रथम दिन एक ही समय एक ही वटी गरम दूध से देवें। फिर चौथे दिन इसी क्रम से सदा लेते रहें।

विशेष कथन—यह दवा शक्ति का स्रोत होता है। नपुंसकता तथा यौवन की भयङ्कर भूलें इसके सेवन से समूल नष्ट होती हैं। समस्त वात रोगों को तुरन्त शमन करने में अचूक है।

१०. संधिवात, तूनी प्रतितूनी, शिरो ग्रह कम्पवात, पादहर्ष पर—एरण्डघन सत्व, त्रिफला घनसत्व, सत्व शिलाजतु, त्रिकटु क्षार, अपामार्ग क्षार, मुष्कक (मोरवा) क्षार, ये सब ५—५ तोले, गुग्गुलु १० तोले, अभ्रक भस्म ५ तोले, लोह भस्म ५ तोले, रजत भस्म, माणिक्य भस्म, मल्ल सिंदूर, मोतीपिष्टी—ये पांचो २-२ तोले।

एक सेर एरण्ड का ताजा स्वरस लेकर खरल में डालें और ऊपर लिखी दवायें एक एक करके मिलाते चलें और घोटते चलें। अन्त में एक एक माशा की वटी बना सुखा कर रख लें। प्रतिदिन एक—एक वटी विषम मात्रा में मधु और घृत के साथ खाकर ऊपर से किसी मीठे फल का रस एक छटांक पीवें।

कंडरा गत वात—एक रोगी पत्रक

डा० रामनिवास शर्मा, डिप्टी डाइरेक्टर आफ आयुर्वेद (आन्ध्र प्रदेश), हैदराबाद।

आन्ध्र प्रदेश के डिप्टी डाइरेक्टर (आयुर्वेद) डा० श्रीयुत रामनिवास जी शर्मा ने चिकित्सक जिस तरह चिकित्सा करता है उसे उसी रूप में प्रस्तुत किये जाने की भावना से यह रोगी पत्रक प्रेषित कर कृतार्थ किया है। बड़ी स्नायु कण्डरा कहलाती है। शरीर में इनकी संख्या १६ है—

महत्यः स्नायवः प्रोक्ताः कण्डरास्तु षोडश।

गृध्रसी कण्डरागत वात का ही परिणाम कहा गया है। स्नायु स्थित वात स्तम्भकारी लक्षण उत्पन्न करता है— स्नायु प्राप्तः स्तम्भकम्पौ शूलमाक्षेपणं तथा।

बाह्याभ्यन्तरायामादि व्याधियां स्नायु स्थित वात के कारण ही होती हैं। चरक ने कहा है—

स बाह्याभ्यन्तरायामं खल्लीं कौब्ज्यमथापिवा।
सर्वांगैकांग रोगाश्च कुर्यात्‌स्नायुगतोऽनिलः॥

प्रस्तुत सामग्री में दक्षिण में प्रचलित सिद्ध सम्प्रदाय का योग भी प्राप्त किया गया है। वास्तव में सिद्ध सम्प्रदाय तमिल भाषा में लिखा हुआ आयुर्वेद ही है जो कुछ स्थानीय विशेषताओं और आवश्यकताओं को साथ लिये हुये है।

—वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'

नाम—श्रीमती पुष्पा
पति का नाम—आर० डी० राजवाडी
आयु—४० लिंग—स्त्री जाति—हिन्दू
निवास—बसन्त सिनेमा के सामने, काची गुड़ा—हैदराबाद
व्यवसाय—गृह कार्य
चिकित्सा आरम्भ तिथि—१६ मई १९८३
निदान—वात व्याधि
कंडरा गत वात
चिकित्सा अवसान तिथि—३१ अगस्त १९८३

मुख्य लक्षण—

लगभग गत एक वर्ष से चलना, फिरना, उठना, बैठना बन्द। पंजे की कण्डरायें कठिन। कटि से पंजे तक पीड़ा। आकुंचन प्रसारण में अधिक कष्ट। पांव की पेशियां कठिन।

परिवार—चार सन्तान। एक लड़का ४-५ वर्ष की आयु से शिशु पक्षाघात से पीड़ित। माता, पिता तथा पति स्वस्थ।

सामान्य इतिहास—लगभग २-२॥ वर्ष पूर्व कटि प्रदेश में सामान्य वेदना प्रारम्भ हुई। धीरे धीरे बढ़कर नीचे पंजे तक पहुँच गई। पहले कभी कभी उदर शूल तथा आध्मान रहता था। भोजन में कोई विशिष्ट पदार्थ खाने की आदत नहीं है।

पूर्ववृत्त—कष्टार्तव, उदरशूल। २-२॥ वर्ष पूर्व से चलने में कुछ रुकावट, कभी कभी कटि शूल, पृष्ठ शूल। इससे पूर्व होमियो चिकित्सा की गई।

वर्तमान रोग इतिहास—लगभग एक वर्ष से चलना, फिरना, उठना, बैठना असम्भव है। कटि से पंजे तक वेदना। कण्डरायें तथा पेशियां कठिन। गति करने पर अधिक पीड़ा।

वर्तमान स्थिति—कटि से पंजे तक वेदना, गति करने मे असमर्थ। गति करने पर अधिक पीड़ा। स्पर्श में पेशियां तथा कन्दरायें उभरी हुई तथा कठिन। रोगी दिन रात एक ही स्थान पर पांव सिकोड़े बैठी या लेटी रहती है। मलमूत्र विसर्जन पलंग पर ही करना पड़ता है।

११ मई ८३—

(१) शिवनार अमिरतम १५० मिग्राम, पिप्पली चूर्ण १ ग्राम। प्रातः सायं २ बार मधु+आर्द्रक स्वरस से।

(२) पलाश पुष्प और अमरबेल के कषाय से द्रोणी अवगाहन सवेरे स्नान से पूर्व।

पथ्यापथ्य—सुपाच्य भोजन। भोजन में लहसुन का अधिक प्रयोग। चिकित्सा अवधि में इमली तथा खट्टे पदार्थ अपथ्य।

३० मई ८३—

जानु तथा गुल्फ की गतियों में प्रगति, वेदना में कमी। कभी कभी द्रव मल प्रवृत्ति। चिकित्सा पूर्ववत्

१४-६-८३—रोगी प्रयत्न से पांव पसारने में समर्थ। द्रव मल प्रवृत्ति। हाथ पांव की गति में प्रगति।

पूर्व औषधियां बन्द कर निम्न चिकित्सा चालू की—

(१) वात राक्षस १५० मिग्राम, पिप्पली चूर्ण १ ग्रा. प्रातः सायं २ बार मधु+आर्द्रक स्वरस से।

अवगाह स्वेद बन्द कर दिया।

२८-६-८३—

प्रगति शिथिल

वात राक्षस बन्द कर दिया तथा पुनः पहली औषधि आरम्भ की।

(१) शिवनार या अमिरतम १५० मिग्रा., पिप्पली चूर्ण १ ग्रा.। प्रातःसायं २ बार मधु+आर्द्रक स्वरस से

(२) पलाश पुष्प+अमरबेल कषाय से अवगाह स्वेद।

६-७-८३—

रोगी को सहारा देकर खड़ा किया गया। कटि, जानु, गुल्फ में वेदना कम। गतियों में प्रगति।

चिकित्सा पूर्ववत्।

१५-७-८३—रोगी सहारे से १०—२० कदम चलने में समर्थ। बैठे बैठे घर के सामान्य काम करने में समर्थ।

चिकित्सापूर्ववत्

३०-७-८३—रोगी लकड़ी के सहारे १०-१५ मिनट धीरे धीरे चलने में समर्थ। कटि तथा पंजे में वेदना नहीं है। अधिक चलने पर कटि में कम्प। घर के काम करने में समर्थ।

परामर्श—

पूर्व चिकित्सा बन्द कर दी।

रोगी को योगराज गुग्गुलु २—२ गोली सवेरे शाम दूध या गर्म पानी से लेने का परामर्श दिया गया।

गर्म पानी से स्नान।

खट्टे तथा वातल पदार्थ अपथ्य।

शिवसार अमिरतम (तमिल नाडु में सिद्ध सम्प्रदाय के वैद्यों का प्रसिद्ध प्रयोग)—

पारद, गन्धक, वत्सनाभि, शुण्ठी, मरिच, पिप्पली, मैनशिल, टंकण। सब १-१ भाग, मरिच ७ भाग।

सबको मिलाकर सूक्ष्म चूर्ण बनाकर प्रयोग करें।

मात्रा—१०० से २०० ग्राम। अनुपान—मधु+आर्द्रक स्वरस। कृमि दंश में इसे नस्य के रूप में प्रयोग करते हैं। अपथ्य—खट्टे पदार्थ तथा अति लवण।

वात राक्षस

(आन्ध्र के वैद्यों में प्रसिद्ध प्रयोग)

सन्दर्भ ग्रन्थ—वैद्य चिन्तामणि (तेलुगु)

रस कर्पूर, गन्धक, कान्तलौह भस्म, अभ्रक भस्म, ताम्र भस्म। सब समान भाग मिलाकर। श्वेत पुनर्नवा, गुडूची, चित्रक, तुलसी, शुण्ठी, मरिच और पिप्पली। इनमें प्रत्येक के स्वरस या कषाय की ३-३ भावना देकर लघुपुट देकर प्रयोग करें। मात्रा—१०० से २०० मिग्रा.।

अनुपान—मधु+आर्द्रक स्वरस से।

अपथ्य—वातल पदार्थ तथा अल्प लवण रस प्रधान द्रव्य।

★ डा० आर० एन० शर्मा, उपनिदेशक आयुर्वेद आन्ध्र प्रदेश ★

डा० भागचन्द जैन आयु० वृह०, आयु०रत्न, आयु०वाच०
जनता आयुर्वेद औषधालय, परकोटा वार्ड, सागर (म०प्र०)

※❦※
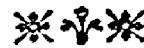
१. धनुर्वात—

सैंधव नोन मिलाइये, अर्क दूध के संग ।
ग्रीवा में मर्दन करें, धनुर्वात करि भंग ।।
लहसुन कली सेर परमान, गोपय सेर पच्चीस बखान ।
बासन मेलि अग्नि औटाय, दोय सेर घृत देय मिलाय ।।
याको खोवा करै बनाय, पीछे गुड़ को पागु कराय ।
मिरचैं पाउ पिपरैं पाउ, शुण्ठी पाउ बांटि छन वाउ ।।
यह चूरण खोवा में धरै, पुनि गुड़ पगाय काढ़ो करै ।
गोली पांच टंक परमान, प्रात सांझ दो दीजै खान ।।
धनुर्वात चौरासी वायु, मृगी वात पुनि जाय विलाय ।
पुष्ट देह अधिकारी करै, वात व्यथा सब तनु की हरै ।।

२. मन्मथ वात रोग—

ऊंची टेढ़ी नारि हो, पाछे को फिर जाहि ।
मुख से उगिलै लार सो, मन्मथ कहिये ताहि ।।
वच अजवाइनि सोंठि पुनि कुटकी कूट मंगाय ।
ककई सुरही वृहत्त दो औषधि सब समल्याय ।।
काढ़ो औटि विशेष करि—प्यावै रोज प्रभात ।
तीन दिवस के योग ते—नाशै मन्मथ वात ।।

३. कटि स्तम्भी वात—

अंड कटाई बेल जड़ मुरहारी मंगवाय ।
असगंध मोथा हरड़ पुनि और खिरहटी ल्याय ।।
बहुरि आंवले जड़सहित काढ़ो करै बनाय ।
कटि अस्तम्भी वात सो या औषधि ते जाय ।।

४. पक्षाघात वात—

अण्डी घुंघची घोल लै घमिरा को रंग लेय ।
रसलै कसई तूमरी और धतूरो देय ।।
बहुरि सहजनों रस कहौं वच तामें दे डारि ।
घाये में लेपन करो पक्षाघात को टारि ।।

५. सन्धिक वात—

गुरवै करुई पाढ़ जड़ नीब शतावरि जान ।
मुरहारी पुनि सहजनों जड़ ककही की आन ।।
टंक अढ़ाई प्रति समय, काढ़ो करो सुजान ।
तीन दिना के योग ते, सन्धिक को अवसान ।।

६. शङ्ख वात—

भारंगी वच सोंठि पुनि चित्रक सैंधव नोन ।
घुँघची पुष्कर मूल लै, मुरहारी संग तौन ।।
अजया मूत्र मंगाय कै मिलै लेप धरि देय ।
शङ्ख वात ता देह ते, तुरति विदा करि देय ।।

७. रांघन वात—

करिहांके जड़ते सबै एक पांव में पीर ।
रांघन तासों कहत हैं वरणी औषधि बीर ।।
सैंधव महुआ सारलै ग्वारि रेणुका सोय ।
अण्डी वाय विडंग पुनि राई ल्यावै टोय ।।
मूल गोखरू मैनहर अरसी निर्बक मूल ।
सब सम बांटै लेप करि रांघन रहै न मूल ।।

गृध्रसी वात (साइटिका) पर हमारे प्रयोग

(१) अरणी के बीजों को छीलाकर छिलके दूर कर गिरी को दूध में पीसकर पियो । इससे कमर का दर्द और गृध्रसी रोग शान्त हो जाता है ।

(२) दशमूल, खिरैंटी, रास्ना, गिलोय और सोंठ, इनको कुल २ तो. लेकर काढ़ा पकालो । जब पक जाय, छानकर उसमें १ या २ तो. अरण्डी का तैल मिलाकर

पियो। इनके पीने से गृध्रसी का लंगड़ापन, खंज और पंगु रोग को आराम हो जाता है।

(३) अगर नितम्ब से पैर तक बेकार हो जाय तो आप आध सेर कायफल लाकर महीन पीस छान लो। फिर सरसों का तैल १ सेर लेकर एक लोहे की कढ़ाई में चढ़ा दो और नीचे खूब मन्दी आंच लगाओ। जब आग लगने लगे उसमें पिसा हुआ कायफल थोड़ा थोड़ा डालते रहो, चलाते रहो। ४ घण्टे में सारा कायफल डाल दो। इसके बाद तेल को उतार कर कपड़े में छान लें। रोग ठीक हो जाता है।

(४) अरण्डी की जड़, बेलगिरी, बड़ी कटेरी और छोटी कटेरी इनको हुलहुल २ तो. लेकर ३२ तो. जल में औटाओ। जब ४ तो. पानी रह जाय उसे छान लो। उसमें काला नमक मिलाकर पीसो। इसके पीने से वंक्षण शूल, बस्तिशूल और बहुत पुराना गृध्रसी रोग भी ठीक हो जाता है।

(५) आध पाव गौमूत्र और २ तो. अरण्डी का तैल एकत्र मिला लो। छोटी पीपरों का चूर्ण १ माशा खाकर ऊपर से गौमूत्र और तैल को पीलो। इससे बहुत पुरानी गृध्रसी में आराम हो जाता है।

(६) अडूसा, जमालगोटे की जड़ और अमलतास का गूदा सब १-१ तो. इन तीनों को आध सेर जल में औटाओ। जब आध पाव पानी रह जाय उसे नीचे उतार कर छान लो फिर उसमें १ तो. अरण्डी का तैल मिलाकर पियो। इस नुस्खे के १५ दिन पीने से गृध्रसी रोग ठीक हो जाता है।

(७) निर्गुण्डी या संभालू के २ तो. पत्ते को लेकर डेढ़ पाव पानी में खूब मन्दी आँच पर औटाओ, जब चौथाई पानी रह जाय मल छानकर पीओ। इस काढ़े के ११ दिन पीने से असाध्य गृध्रसी ठीक हो जाती है।

(८) रास्ना ४ तो. और शुद्ध गूगल ५ तो. इन दोनों को मिलाकर घी देकर कूटो और गोलियां बना लो। इन गोलियों के सेवन करने से असाध्य से असाध्य गृध्रसी रोग ठीक हो जाता है।

वैद्य निर्मल कुमार जैन
४८, लाखा भवन, पुरानी चरहाई, जबलपुर।

(१) लहशुन चूर्ण—सूखा लहशुन ४०० ग्राम, सेंधानमक, काला नमक, बिड्नमक, सोंठ, कालीमिर्च, लेंडी पीपल, हींग। सब ६-६ माशा। हीरा हींग को आप पहिले भून लें। हींग में घी डालकर भूनना चाहिये। उसके बाद सब काष्ठ औषधों को कूट पीसकर कपड़छन करके तैयार कर लें। उसके बाद उसमें हींग मिला लें। बस चूर्ण तैयार है।

मात्रा—३ ग्राम है। इसको प्रातःसायं पानी के साथ लेना चाहिए।

(२) लहसुन को साफ करके २-२ कली पानी के साथ निगलना चाहिए।

(३) शुद्ध कुचला चूर्ण (विष मुष्टिका) आधी-आधी रत्ती सुबह शाम मुनक्का के साथ (मुनक्का १ कच्चा लेकर उसका बीज निकाल करके उसमें आधी रत्ती दवा भर कर गोली बनालें) लेकर ऊपर से दूध पीना चाहिए या फिर खाली कैंपसूल में दवा भर कर ऊपर से ढक्कन बन्द करके १-१ कैंपसूल सुबह शाम को लेकर ऊपर के दूध लें।

(४) योगराज गुग्गुलु १ गोली तथा विष तुण्डिका वटी (झण्डू) सिल्वर कोटिड १ वटी प्रातःसायं दूध से साथ लेना चाहिए।

(५) शु० अश्वगन्धा चूर्ण तथा शु० मेथी १००-१०० ग्राम लेकर उसको कूट पीस तैयार करके गुड़ मिलाकर लड्डू बना लें। लड्डू १-१ तोला के हों। सुबह शाम लेकर ऊपर से दूध पीवें।

—शेषांश पृष्ठ ३५८ पर देखें।

कवि० पं० हरिवल्लभ मन्नूलाल द्विवेदी सिलाकारी
शास्त्री, आयु० वृह०, आ० भूषण
स्वामी निरंजन निवास, चकराघाट, सागर म०प्र०

***

१. वात वल्लभ रस—

द्रव्य—शु० कुचला चूर्ण, कस्तूरी, मल्ल सिन्दूर, लौह भस्म ६-६ माशा, अभ्रक भस्म, शु० शिलाजीत १-१ तो.

विधि—अश्वगन्धा, शतावरी, बला चतुष्टय, सोंठ, त्रिफला, सबको समान भाग लेकर कूटकर द्रव्य से षोडष गुने पानी में क्वाथ करना, अष्टमांश शेष रहने पर छानकर इस क्वाथ की १०-१२ भावना देकर खूब मर्दन कर शीशी में भर कर रख लें। मात्रा—२ से ४ रत्ती तक अवस्थानुसार प्रयुक्त करना चाहिए।

अनुपान—मलाई, मधु, घृत, दूध, अश्वगन्धावलेह।

अवधि—तीन सप्ताह से डेढ़ या दो मास तक रोग एवं रोगी की अवस्थानुसार।

गुण—समस्त वात व्याधियों वात-कफ प्रधान रोगों तथा अशक्तता पर अनुपान भेद से विशेष लाभप्रद है।

२. वात वल्लभ वटिका—

द्रव्य—शु० कुचला १ तो., शु० गुग्गुलु ५ तो.।

विधि—अश्वगन्ध और सुण्ठी दोनों समभाग लेकर कूटकर क्वाथ कर लेना। इस गाढ़े क्वाथ में दोनों द्रव्यों को खूब घोटकर मूंग बराबर वटिका बनाकर सुखाकर शीशी में सुरक्षित रक्खें।

मात्रा—१ से ४ वटिका तक आयु और रोगी की अवस्थानुकूल न्यूनाधिक। अनुपान—घृत, मलाई, पर्याप्त औटाया हुआ मिश्री मिश्रित दुग्ध। अवधि—रोग के नवीन अथवा जीर्णावस्थानुसार सेवन।

गुण—वात वेदना विनाशक, नाड़ी मण्डल की निर्बलता, नपुंसकता, मन्दाग्नि, दौर्बल्यता को दूर कर स्फूर्तिदायक है।

३. वातारि वटी—

द्रव्य—रूमीमस्तगी और शु० अफीम दोनों समान भाग लेना। विधि—दोनों द्रव्यों को एक कटोरी में डालकर कटोरी को अग्नि पर गर्म कर चने के प्रमाण वटी बनाकर छाया शुष्क कर शीशी में रक्खें।

मात्रा—२-२ वटी। अनुपान—दूध। दिन में ३ बार।

गुण—वातजन्य अंगपीड़ा, गृध्रसी, वात व्याधि विनाशक।

४. वात वल्लभ तैल—

द्रव्य—रक्तविजार, हरतार की जड़, रासना, रतनजोत १-१ तो., कौआ ठोंडी ५ तो. तिली का तैल १/२ सेर

विधि—सर्वप्रथम कौआठोड़ी को तेल में उबाल पश्चात् चारों द्रव्यों को कूट उबाल छानकर शीशी में भरलें इसके अभ्यंग से सर्वांगवात ३-४ दिन में नष्ट होता है।

नोट—रक्तविजोरा तथा हरतार-कौन से पौधे हैं इनको लेखक ने स्पष्ट नहीं किया है। —दाऊदयाल गर्ग

५. वातारि तैल—

मालकांगनी, रौसा, तारपीन एवं सरसों का तैल, चारों १००-१०० ग्राम, देशी कपूर २० ग्राम को पीस कर सबको मिलालें।

गुण—वात व्याधि विनाशक और अंग पीड़ा निवारक, न्यूमोनिया में पसलियों पर मालिश करना, पार्श्व पीड़ानाशक है। अंग्रेजी के स्लोन्स लिनीमेंट से श्रेष्ठ है। ✶

✵ पृष्ठ २५७ का शेषांश ✵

(६) वातशामक तैल—शु० सरसों का तैल ५०० ग्राम, स्लोन्स लिनिमेन्ट १० ग्राम, अमृतधारा १० ग्राम, शु० साफ तारपीन का तैल ३० ग्राम, दालचीनी का तैल १० ग्राम, लौंग का तैल १० ग्राम, इलायची का तैल १० ग्राम। इन सबको सरसों के तैल में मिलाकर १० मिनट तक खूब हिलालें। बस तैयार है। जब प्रयोग करना हो तो आप पहिले एक अलग शीशी में बन्द दवा वाला तैल निकाल करके दूसरी शीशी में सरसों का तैल मिला लें। तब प्रयोग करना चाहिए। इस तैल से घुटने का दर्द, कमर का दर्द, पैर का दर्द, पीठ का दर्द ठीक हो जाता है। बहुत ही कारगर तैल है। ✵

वातव्याधियों में

प्रभावकारी वनौषधियाँ

श्री दयाशंकर शुक्ल वैज्ञानिक, राष्ट्रीय वनस्पति अनुसन्धान संस्थान, लखनऊ ।

त्रिस्कन्ध आयुर्वेद का चिकित्सात्मक स्कन्ध औषधस्कन्ध कहलाता है। वृहद्‌त्रयी में प्रायः वनस्पतियों द्वारा ही चिकित्सा वर्णित है। एक वनस्पति व्यवस्था किसी सीमा तक अधिक वैज्ञानिक, सरल एवं सस्ती है। इससे वनस्पतिशास्त्र के आधारभूत रस—वीर्य—विपाकादि सिद्धान्तों का भी क्रियात्मक ज्ञान होता है। पूर्णरूपेण परीक्षित वनस्पति (औषधि) अमृततुल्य (विज्ञातममृतं तथा) कही गई है। जो औषधियां वैज्ञानिक विधि से गवेषित नहीं हुई हैं उन पर अनुसन्धान करने वाले वैज्ञानिक श्री दयाशंकर जी शुक्ल इस उत्तम लेख के लेखक हैं। आपने वातव्याधियों पर प्रभावकारी वनस्पतियों का सारणी द्वारा वर्णन कर इसे अधिकाधिक बोधगम्य बनाने का प्रयास किया है। —श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'।

क्रमां.	हिन्दी का नाम	वनस्पति का नाम	खानदान या वर्ग	औषधि गुण	उपयोग में लाया जाने वाला भाग
१	अश्वगन्ध	विथेनिया सोम्नीफेरा	सोलेनेसी	उष्ण मधुर, बृंहणीय, बल्य, रसायन, वृष्य, वातहर, शोथहर	जड़ व पत्ती
२	मुलहठी	ग्लिसिराइजाग्लेब्रा	लेगूमिमोसी	मधुर, शीतल, स्नेहन, बल्य, वृष्य, स्वर्य, शोथहर, नेत्र्य	जड़ का चूर्ण
३	पिप्पली	पाइपर लांगम	पाइपरेसी	रसायन, सुगन्धि, पाचक, उष्ण, वातहर और कफघ्न है।	फल—सोंठ व पीपली से सिद्ध तेल की मालिश गृध्रसी, कटिशूल व अधोशाखाघात में लाभप्रद
४	गजपीपली	सिण्डाप्सस आफीसिनेलीस	अरेसी	फल—वृष्य, सुगन्धिकारक, वातहर, कृमिनाशक, उत्तेजक, पाचक एवं बल्य है	फल का लेप आमवात, सन्धिवात आदि में करते हैं
५	धतूरा	धतूरा मेटल	सोलेनेसी	वेदनाहर, उद्वेष्टननिरोधी, संज्ञानाशक व शोथहर है।	बीज, पत्ती व जड़ अण्डशोथ, आमगत सन्धिशोथ, आध्मान, फुफ्फुसावरण शोथ एवं गृध्रसी आदि में पत्तों के क्वाथ से सेक या पत्तों का बन्धन

क्रमां.	हिन्दी का नाम	वनस्पति का नाम	खानदान या वर्ग	औषधि गुण	उपयोग में लाया जाने वाला भाग
६	तुलसी	ओसीमम सैंक्टम	लेवीएटी	उष्ण, रूक्ष, कफ निःसारक, शीतहर, वातहर, दीपन, स्वेदजनन, कृमिघ्न, दुर्गन्धनाशक व प्रतिपशक हैं	पत्ती व उसका रस
७	मेंथी	ट्राइगोनेल्ला फोनमग्रेक्स	पैपीलियोनेसी	स्निग्ध, सुगन्धि, वातानुलोमक, अग्निदीपक आध्मानहर, वल्य, वृष्ण, वातहर, दुग्धवृद्धिकर व शोथघ्न	बीज व पत्ती
८	अजवायन	ट्रेकीस्पर्मम अमी	अम्बेलीफेरी	पाचक, उष्ण, उद्वेष्ठन, निरोधी, उत्तेजक, वल्य, कृमिघ्न, आध्मान, वातहर	बीज व पत्ती
९	चोबचीनी	स्माइलेक्स चाइना	लिलिएसी	स्वेदल, स्नेहन, उत्तेजक, रसायन, रक्तशोधक, वश्य, वाजीकरण, फिरंगहर, वातरक्तनाशक	जड़
१०	वायविडंग	इम्बेलिया राइब्स	मिर्सिनेसी	कृमिघ्न, वातानुलोमन, वातहर, दीपन, पाचन, वातनाड़ी संस्थान के लिए वल्य, रक्तशोधक, आनुलोमिक व रसायन	फल, पत्ती व जड़ की छाल
११	ज्योतिष्मती	सिलास्ट्रस पैनीकुलेटस	सिलस्ट्रेसी	उष्ण, स्वेदजनन, उत्तेजक, स्मृतिवर्धक, वातहर, वातनाड़ी वल्य व त्वक्दोषहर है	बीज, पत्ती व बीजों से निकला हुआ तेल
१२	भिलावा	सेमीकार्पस एनाकार्डिएसी	एनाकार्डियम	वाजीकर, वातहर, वातनाड़ी वल्य	पका फल व बीज से निकाला तेल
१३	अगर	एक्वेलेरिया एगलोचा	थाईमेलिएसी	उष्णवीर्य, सुगन्धि, उत्तेजक, वातनाड़ी संस्थान के लिए उत्तेजक वाजीकर, वातानुलोमक, शीत, वात व कफ को नष्ट करने वाला	लकड़ी (फफूद द्वारा निर्मित)
१४	गूगल	वाल्सेमोडेन्ड्रान-मुकुल	वर्सरेसी	रसायन, त्रिदोषघ्न, वृष्य, वल्य. स्नेहन, वातानुलोमक आमाशयोत्तेजक दीपन वातहर वातनाड़ी संस्थान के लिए पुष्टिकारक, उत्तेजक शोथघ्न	गूगल (रालदार गोंद)
१५	दालचीनी	सिनामोमम जिनिक्स	लारेसी	उष्ण, सुगन्धि वातानुलोमक दीपन पाचन वातहर वेदनाहर व्रणशोधक एवं व्रणरोपक	पत्ती व दालचीनी (छाल)
१६	पान	पाइपर बीटल	पाइपरेसी	दीपन, पाचन, श्लेष्मघ्न, वातहर, सुगन्धित	पत्ती
१७	पाढ़ल	स्टेरियोस्पर्मम स्वावियोलेन्स	विग्नोनिरसी	छाल कफघ्न, वातहर, अधोभाग होषहर, शोथरह त्रिदोषघ्न व विषघ्न	छाल
१८	सोना पाढ़ा (श्योनाक)	ओरोक्जाइलम इण्डिकम	,,	वेदनास्थापन, दीपन, वातहर स्तम्भन, व्रजरोपण व शोथहर	मूल व छाल
१९	एरण्ड रेडी	रिसिनस कमुनिय	यूफोर्बिएसी	सौम्य स्रंसन स्तन्यजनन दाह शामक वातहर	तेल (बीज) व मूल
२०	सहजन (सहिंजन)	मोरिन्गा टेरिगोस्पर्मा	मोरिंगेसी	मूल की छाल उष्ण कटु दीपन पाचन उत्तेजक	जड़ (छाल) पत्ती तेल (बीज)

क्र०	हिन्दी नाम	वानस्पतिक नाम	खानदान या वर्ग	औषधीय गुण	उपयोग में आया जाने वाला भाग
२१	करंज	पोन्गामिया ग्लेब्रा	लेगुमिनोसी	वातानुलोमक वातहर शोथहर व व्रणदोषनाशक। इसका उपयोग विषम ज्वर सूतिका ज्वर शूल श्वास वातविकार शोथ व व्रण आदि में किया जाता है।	बीज
२२	अफसंतीन	आर्टीमिजिया अब्सीन्थियम	कम्पोजिटी	इसका उपयोग यकृत शोथ, जीर्ण ज्वर, वातरोग, कृमि व आर्तव-दोष में किया जाता है।	सम्पूर्ण पौधा
२३	कायपुटी काजुपुट	मेलाल्यूका, ल्यूकोडेण्ड्रान	मिर्टेसी	इसका तेल वातानुलोमक कफनिः-सारक एवं प्रतिक्षोभक है। इसका बाह्य प्रयोग संधिशोथादि, दन्द शूल में करते हैं।	तेल (पत्तों से निकाला जाता है।)
२४	बृद्ध पीलु	साल्वेडोरा ओलवा इडीस।	साल्वडोरेसी	पत्ते वातनाशक फल उष्ण दीपन; वातहर, बीजों का तेल स्वेदजनन उत्तेजक होने के कारण पुराने संधिरोगों में देते हैं।	पत्ती पुष्प व बीजों से निकाला हुआ तेल।
२५	विधारा, वृद्धदारु	आइपोमिया वाइलोवा	कन्वोल्वूनेसी	इसकी जड़ आमवात व संधिशोथ में लाभप्रद है। शोथहर वेदना स्थापक वातहर है।	जड़ व पत्ती
२६	घावपत्ता (समुद्र शोख)	आर्जीरिया स्वेशिओसा	कन्वोल्यूलेसी	आमवात व वात विकारों में इसकी जड़ लाभप्रद है। आमवात व संधि शोथ में इसकी पत्ती उपयोगी है।	जड़ व पत्ती।
२७	हल्दी	क्रुकु मा लांगा	जिन्जिबरेसी	उष्ण उत्तेजक रक्त शोधक शोथहर वातहर विषघ्न व व्रण के लिये।	जड हल्दी।
२८	आमा हल्दी	कुकु मा आमादा	जिन्जिबरेसी	यह वातानुलोमक शीतल दीपन पाचन वग्राही है।	जड (आमा हल्दी)
२९	गोखरू	ट्रिबुलस टेरेस्ट्रीस	जाइगो फाइलेसी	शीतल स्नेहन शोथहर वातहर वल्य वृष्य व वेदनास्थापन है।	फल
३०	निगुण्डी सम्मालू	वाइटेक्स निगुण्डी	बर्वीनेसी	कटु तिक्त कषाय उष्ण वेदनास्थापन वातहर शोधघ्न वल्य रसायन है।	पत्तों का क्वाथ व पत्तों से सेंकते हैं
३१	केंवाच (कौंच)	म्युकेनापुरिएन्स	लेगुमिनोसी	बीजपसेप्टिक उत्तेजक वातशामक व वाजीकर होते हैं। जड़ वात-नाड़ियों के लिए वल्य उत्तेजक व मूत्र जनन है।	बीज व जड़
३२	गंध प्रसा-रणी	पिडेरिया फिटीवा	रुबिएसी	उष्ण तिक्त वृष्य वल्य गुरु वात शामक है। वात विकारों में इसके तेल का सम्पूर्ण आंतरिक प्रयोग बहुत लाभदायक है।	आमवात, वातरक्त व संधिविकार में वाह्य आभ्यन्तर प्रयोग।

★ श्री दयाशंकर शुक्ल ★

वात व्याधियों में प्रभावकारी वनौषधियां

वैद्य हर्षवर्धन शास्त्री आयु०, इन्द्रभवन, पचकुइया मार्ग, आगरा ।

वैद्य श्री हर्षवर्धन जी आगरा के प्रसिद्ध वैद्य श्री डा० रणवीर सिंह जी के सुयोग्य उत्साही पुत्र हैं । इसी अप्रेल माह में आप विवाह के बन्धन में बंधे हैं इस हेतु धन्वन्तरि परिवार आपको बधाई प्रदान करता है । अपने पिता के समान ही आपके लेख भी विषय की समुचित जानकारी प्रदान करने वाले तथा व्यर्थ की उहापोह से परे होते हैं । आशा है कि पाठक लाभान्वित होंगे । —दाऊदयाल गर्ग ।

आयुर्वेद शास्त्रों में वात रोग नाशक बहुत सी वनौषधियों का वर्णन मिलता है। निघण्टुकारों ने भी अनेक वात नाशक वनौषधियों का संग्रह किया है। इसी प्रकार विभिन्न प्रान्तों उद्यानों व वनों में प्राप्त होने वाली तत्तद्देशीय ग्रामीण पुरुषों द्वारा वातरोगघ्न रूप में प्रयुक्त होने वाली नानाविध औषधियां हैं परन्तु उन सबका उल्लेख न करते हुए कुछ प्रभावशाली सुलभ वात व्याधिहर अनभूत औषधियों का ही यहां दिग्दर्शन किया जा रहा है ।

१. अश्वगन्धा (असगन्ध)—

नाम—हिन्दी में—असगन्ध, असगन्धना गौरी, ढोरगुञ्ज, बं० अश्वगन्धा, म० आसगन्ध, गु० आकन्ध, आखसन्धु, अं० विण्टल चेरी (Wintel cherry)

परिचय—असगन्ध दो प्रकार की मिलती है। इनमें नागौरी असगन्ध श्रेष्ठ और विशेष गुणकारी है । दूसरी असगन्ध के १॥-२॥ फुट तक बड़े, फैले हुये कुछ लम्बे गोल पत्र वाली गुञ्जा के समान लाल फलवाली जहां तहां जंगलों व बगीचों के आस पास पैदा हुई मिलती है । इसका क्षुप सदा ही हराभरा रहता है । इसका नागौरी असगन्ध से न्यून गुण है। इसका पञ्चाङ्ग काम आता है ।

अश्वगन्धा चूर्ण—नागौरी असगन्ध की जड़ों को सूक्ष्मचूर्ण करके ६-६ माशा गर्म दूध से प्रातः तथा रात्रि में सेवन करें। ४२ दिन सेवन करने से सभी प्रकार के वात रोगों में लाभ होता है। यह वाजीकरण, वीर्य पुष्टिकारक मांसल व वृहण है । यह वयस्क की मात्रा है । बालक
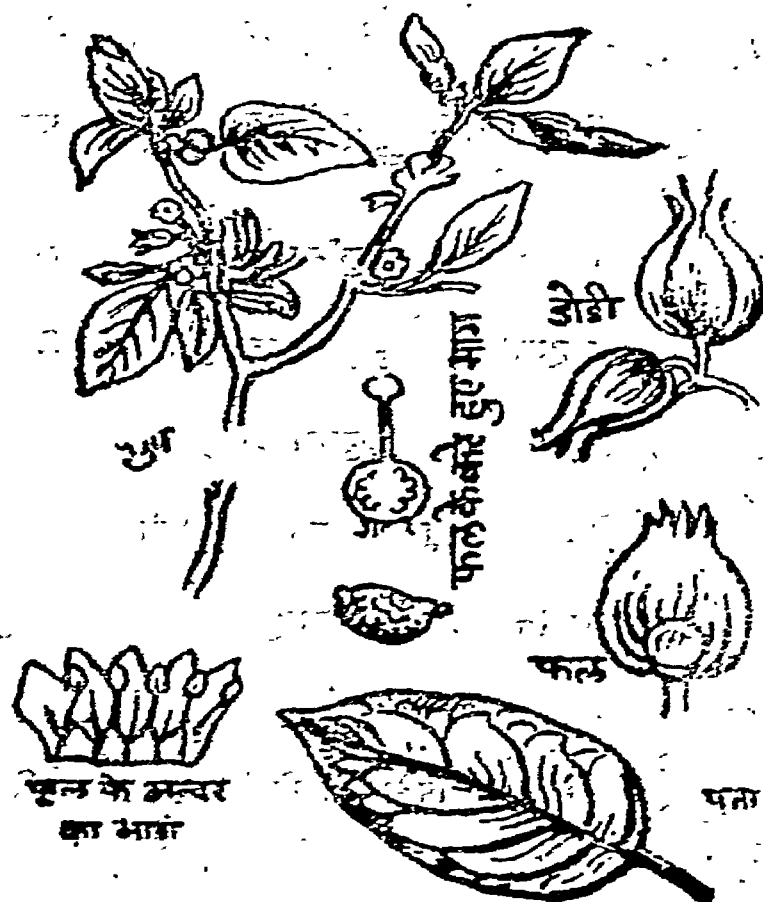
असगन्ध—Withania Somnifers

को अवस्थानुसार १ से ३ माशा तक दो बार देनी चाहिये।

हृदयगत वायु रोग में—

पिवेदुष्णाम्भसा पिष्टामश्वगन्धाम् (भावप्रकाश)— उष्ण जल से ३-३ माशा असगन्ध का चूर्ण तीन बार ४-४ घण्टे बाद सेवन करे।

अश्वगन्धादि चूर्ण—विश्वाची, गृध्रसी, कटिशूल आदि वातरोगों पर अनुभूत—अनेक रोगियों को लाभ हुआ है।

योग घटक द्रव्य—असगंध नागौरी १०० ग्राम, सुरञ्जान मीठी २०० ग्राम, सौंठ १०० ग्राम, विधारा की जड़ १०० ग्राम, वायविडंग १०० ग्राम। औषधियों को कूटछान कर ६ माशा से १ तोला तक गर्मदूध या पानी से लें। यह योग शीघ्र ही वायुरोग को नष्ट करता है। कम से कम ४१ दिन अवश्य सेवन करे। रोग यदि पुराना या बलवान उपद्रवकारी हो तो अधिक दिन तक सेवन करें।

अश्वगन्धारिष्ट—वातरोग पर प्रभावकारी—देशी असगंध (साधारण) का पञ्चाङ्ग लेकर बारीक काट कर थोड़ा सुखाकर ५ किलो, पानी ५० लिटर दशमूल २॥ किलो महुये के फूल २॥ किलो, इनको औटाकर
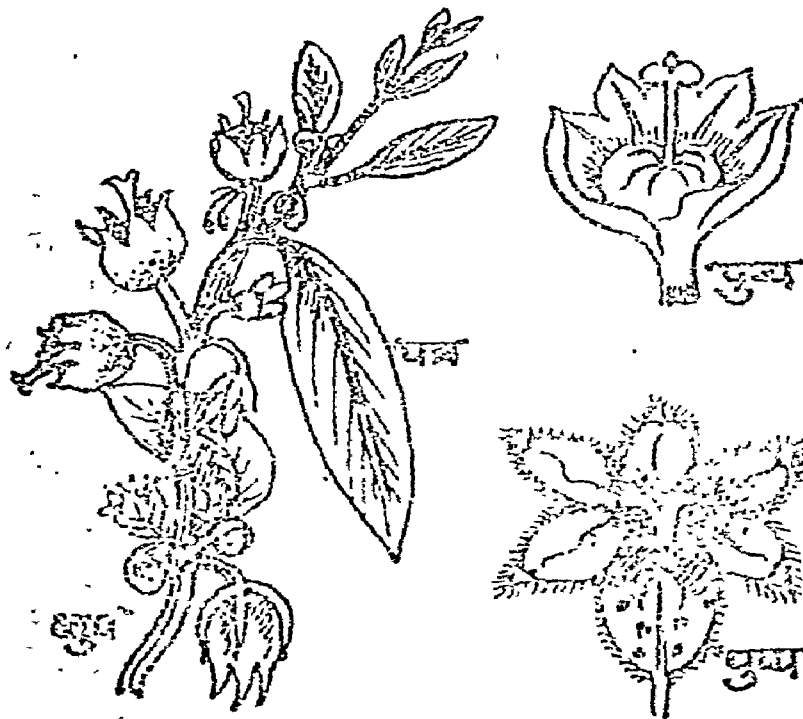
असगन्ध—Withania Coagulans

चौथाई शेष रहने पर अरिष्ट विधि से संधान करें। गुड़ शहद प्रक्षेप भी यथाविधि डालें। १॥ मास पश्चात् छान कर रखलें। इसका मुख्य उपादान असगंध है। अभाव में नागौरी असगंध भी ले सकते हैं। यह अरिष्ट समस्त वातरोगों पर अच्छा लाभ करता है।

अश्वगंधा घृत, अश्वगंधा दुग्ध, अश्वगन्धा तैल तथा अश्वगन्धा लेप भी अन्तः प्रयोग और बाह्य प्रयोगों से वायुरोगों को नष्ट करते हैं।

अश्वगन्धा के विशेषगुण—असगन्ध उष्णवात कफ को नष्ट करने वाली, बल वीर्य को बढ़ाने वाली है। दोनों प्रकार की असगन्ध वात रोगों को नष्ट करती है।

२. कट्फल (कायफल)—

परिचय—यह मध्यमवर्गीयवृक्ष हिमालयपर्वत के उन्नत भूमिभागों मे पाया जाता है। चकरौता, मंसूरीपर्वत माला, लैन्सडौन, चोलसैण आदि गढ़वाल जिले के शीतल स्थानों में तथा नैनीताल अल्मोड़ा जिले की अधित्यकाओं में उत्पन्न होता है। इसकी छाल विशेषरूप में काम आती है। इसके फल भी खट्टे मीठे गुलाबी रंग के आते हैं। पर्वतीय भाषा में 'काफल' नाम से इन्हें जानते हैं।

वातरोग नाशक—कायफल वायु और कफ नाशक है। भाव प्रकाश निघण्टु तथा अन्य निघण्टुओं में वात कफ-हर बताया है यथा—

कट्फल=वात कफ ज्वरान्। हन्ति—॥हरी-वर्ग।
कट्फलःकफवातघ्नः—॥धन्वन्तरि नि० ॥

कायफल का तेल—कायफल की छाल ५०० ग्राम कूट कर २॥ लिटर गोमूत्र में भिगो कर पकावें। आधा रहने पर छान लें, आधा किलो तिली का तेल डालकर शनैः २ पकावें, खरपाक कर उतार कर लाल कांच की शीशी में भरें। इसकी मालिश से सभी प्रकार के वायु के दर्द शान्त होते हैं।

कट्फलादि नस्य—इसके छिलके का कपड़छन चूर्ण सूंघने से बहुत छींक आती है और मन्यास्तम्भ, शिरःशूल, शीत विकार एवं वातज शूल नष्ट होते हैं।

वातप्रसूत—में शिरोर्ति कटि शूल स्कन्धशूल शीताङ्गता तथा उद्वेष्टन आदि उपद्रव होते हैं। इनमें कायफल

का तेल तथा चूर्ण का मर्दन भी वात प्रसूत के उपद्रवों को तत्काल शान्त करता है।

फलों का प्रयोग—वातश्लेष्म कष्ट में कायफलों का सेवन करने से न्यूमोनियां पसलियों की पीड़ा आध्यमान आदि दूर होता है। सूखे फलों का चूर्ण ३-३ माशे मधु या चाय के साथ ४-५ वार लें। रोग की तीव्रता में ६-६ माशे चूर्ण उष्ण जल से देना चाहिये।

३. निर्गुण्डी (सम्भालू नीले फूल का)—

संस्कृत नाम—निर्गुण्डी नाल पुष्पी शेफाली आदि हि० सम्भालु सेंतुआर, बं० नील निशिन्दा, म० काली निर्गुण्डी, गु० काला फूलना नगोड़, ले० वीटेक्स नेगुण्डो (Vitex nergundo)।

परिचय सम्भालू के वृक्ष वहुत बड़े नहीं होते, भारत के प्रत्येक प्रान्त में वनों उपवनों पर्वतों व जलीय प्रदेशों में मिलते हैं। इसके पत्रों के मलने से तीव्र गन्ध आती है फूल नीले व बीज (फल) छोटे गोल होते हैं। यह सदा बहार पेड़ है।

विशेष गुण—'वातघ्नश्लेष्म प्रशमनी'—ध० निघण्टु श्लेष्मशोथसमीरार्ति प्रदराध्मानहारिणी। रा. निघ. एरण्ड तेल निर्गुण्डी स्वरसे—पीत्वा कटिप्रदेशस्थं वातं जित्वा० (वैद्य मनोरमा)

गृध्रसी रोग—निर्गुण्डी के पत्तों का क्वा शीघ्र लाभ करता है—गदनिग्रहकारने

फालिका द्रव्यैः क्वाथःमृद्वग्नि परिपाचितः।
दुर्वारं गृध्रसी रोगं पीत मात्रः प्रणा शर्मेत्॥

इसी प्रकार सन्धिक वात रोगों में भी सम्भालू के मूल का क्वाथ शीघ्र लाभकारी है॥ राज मार्तण्ड॥

अपना अनुभव—सम्भालु के पत्तों का स्वरस पकाकर घनसत्व बनालें और २-२ रत्ती की गोलियां वात रोगों के निवारण के लिये ६ गोली ३-३ घण्टे वाद पानी से लें। इससे वात ज्वर, वातजशूल नष्ट होते हैं। वाष्प (भपारा) देने से सर्वांग पीड़ा, एकांग पीड़ा, कटिशूल, जानु शूल, पादशूल, शिरःशूल आदि का नाश होता है।

परिषेक—संभालू के पत्तों को पानी में उवाल कर पीड़ा स्थानों का परिषेक करें, अर्थात् उष्ण क्वाथ से सेक व ढाल करे। यह सारी विधि निर्वात स्थान पर करनी चाहिए अन्यथा हानि हो सकती है।

४. वाराही कन्द (गेंठी या सुअर कन्द)

वाराहीकन्द, वाराही, गुण्ठी नाम संस्कृत में हैं, हिन्दी में इसे गेंठी, मदन मस्त व सूअरकन्द कहते हैं।

परिचय—यह कन्द पर्वतीय स्थलों, जलीय प्रदेशों तथा बीजों के द्वारा अन्य स्थानों पर भी उत्पन्न होता है। इसके कन्द के चारों ओर लम्बे वाल जैसी जड़ होने से इसे वाराहीकन्द कहते हैं। इसकी लता फैलती है। पान जैसे पत्ते गोल २ छोटे फल लगते हैं। यह कन्द कडुआ तथा मीठा दो प्रकार का मिलता है वर्षा के पश्चात् शीत ऋतु में इसका कन्द ग्रहण करते हैं। यह सुअरों को अति प्रिय है, जंगलों में वाराहीकन्द को शूकर ढूंढ २ कर खाजाते हैं। वराहवत कन्द पर वाल होने से तथा वराह का इष्ट कन्द होने से भी यह वाराही कन्द कहा जाता है।

विशेष गुण—यह वल वीर्य वर्धक पौष्टिक तथा वात नाशक है। इसके कन्द को पानी में उवाल कर छिलका छील लें। पतले दल बना कर उवालें और इसमें छनी हुई काष्ठ भस्म डाल १२ घंटे पश्चात् पानी से धोकर सेवन करें। यह ऋषि मुनियों का कन्द भोजन है। वैसे गेंठी के कन्द को सुखा कर चूर्ण बनालें और ६ माशे से १॥ तो. तक प्रातः सायं गर्म दूध से सेवन करें। यह वात रोग में पथ्य है, सभी प्रकार के दर्दों को शांत करता है।

आयुः शुक्राग्निकृत मेहं कुष्ठानिलापहा।
कुष्ठं मेहं त्रिदोषं च कफं वातं कृमींस्तथा॥

इस प्रकार निघण्टु रत्नाकर में इसे वातनाशक कहा है। इसका सूक्ष्म चूर्ण १-१ तो. प्रातः सायं दूध से लेने पर रसायन का कार्य करता है। यह शोढल आचार्य का कथन है।

५. पाठा (कडुई पाढ़)

इसे संस्कृत में पाठा, अम्वष्ठा आदि नामों से जाना जाता है, हिन्दी में पाढ़, कडुई पाढ़, पाठी आदि नाम हैं।

परिचय—पाढ़ छोटी व वड़ी भेद से दो प्रकार की है। यह भारत में सभी वनों पहाड़ों और जंगली मैदानी भागों में मिलती है। इसकी लता होती है, पत्ते गोल फल पकने पर रक्त वर्ण, पुरानी होने पर मोटी जड़ कड़वे स्वाद वाली होती है। इसकी जड़ औषधोपयोगी है।

अम्बष्ठादि तेल—वाह्य प्रयोग मर्दन आदि से वात पीड़ायें शोथ, आमवात आदि वात रोग नष्ट होते हैं। यह तेल शास्त्रोक्त है, पाठा की जड़ का सूक्ष्म चूर्ण व मटर के बराबर वटी सेवन से वात प्रसूत रोग नष्ट होता है। १-१ वटी दिन में ३ बार उष्ण जल से लें। अन्य वात रोगों में भी वटी व चूर्ण लाभप्रद व पीडाहर हैं।

पाठा उष्ण होने से वात नाशक तथा त्रिदोषनाशक है। इसको राज निघण्टु में "त्रिदोष शमनी" कहा है।

६. वृद्ध दारुक (विधारा, ताम्रेश्वर)

संस्कृत में—वृद्धादारुक आवेगी छागान्त्री, हिन्दी में विधारा बंधारा तथा दक्षिण प्रान्त में ताम्वेश्वर ताम्रेश्वर नामों से जाना जाता है।

परिचय—विधारा की लता प्रायः सभी वन उपवनों में मिल जाती है। इसकी लता मोटी घुमावदार त्रिकोनी और बहुत मोटी व लम्बी होती है। इसके फूल लाल व नील श्वेताभ होते हैं फलों में भूरे व कृष्ण वर्ण वीज निकलते हैं। पत्ते चौड़े व गुलाई लिये लम्बे होते हैं।

विशेष गुण—यह विधारा मूल व तने के रूप में वात रोग व आम वात को नष्ट करता है। इसका चूर्ण ही विशेषरूप से प्रयुक्त होताहै। बीजों का चूर्ण भी वातनाशक व आम शोधक है। वातज पीड़ा पर शोथ व आमवात की पीड़ा में विधारा के पत्तों पर अण्डी का तेल लगा सेक कर बांधने से पीड़ा शांत होती है। इसके पत्तों व पञ्चांग की उष्णवाष्प देने से वात रोगी की वेदना शांत होती है।

धन्वन्तरि निघण्टु, शोढलाचार्य, चक्रदत्त, चरक सं० आदि में विधारा को "कफवातजित" "शोथान-रोग जित्" "उरुस्तम्भहर" क्रौष्टुशीर्ष वात रोग नाशक लिखा है, अनुभव में भी उक्तगुण सत्य सिद्ध हुए हैं।

७. वचा (वच)

संस्कृत नाम—वचा उग्रगन्धा गोलमो षड् ग्रन्था, हिन्दी में वच घुड़वच घारवच आदि नाम हैं।

विशेष गुण—वच अत्यन्त उष्ण और वातनाशक है। यह वामक बुद्धिवर्धक उन्माद, अपस्मार आदि वात प्रधान रोगों को सेवन, धूपन, उपनाह, परिषेक लेप आदि से नष्ट करता है। भूत बाधाओं में उपयोग अत्यधिक है।

८ एरण्ड (अण्डी का पत्र व बीज)

एरण्ड देशी के दो भेद हैं लाल व श्वेत। इनमें रक्त एरण्ड विशेष गुणकारी है। इसकी जड़, छाल, पत्ते और फल (मिगी) विशेषतः वात रोग नाशक हैं, अण्डी की जड़ का क्वाथ व त्वचा का कषाय वात व्याधियों व उदरस्थ आम को नष्ट करते हैं। इसके पत्तों को तैलाक्तकर सेक करके बांधने से समस्त वात वेदनायें शीघ्र शांत होती हैं। इसके बीजों का तेल (शुद्ध) पीने व लेप करने से आमवात व वात रोगों को समूल नष्ट करता है।

९. धतूरा—विष है। इसका प्रयोग सावधानी से करना चाहिए। आंखों व मुख द्वारा घातक है। धतूरे के शुद्ध बीज विभिन्न रसों में मिलाये जाते हैं। इसके पत्तों का स्वरस तथा पञ्चांग का क्वाथ महा विषगर्भ तैल व वातहर तैलों के घटक हैं। इसके पत्तों को सेक कर बांधने से वात पीडायें नष्ट होती हैं। धतूरा भी कृष्ण, श्वेत, रक्त, पीत भेद से चार प्रकार का प्राप्त होता है।

१०—अर्क (आक अकव्वा)

आक का पञ्चांग औषध कार्य में प्रयुक्त होता है। यह अत्यन्त वातनाशक है। इसको उपविषों में गिना है अतः वैद्य की देखरेख में प्रयोग करें। इसके फूलों व फूलों की डोडी से पाचक दीपक वातानुलोमक गोलिया बनाई जाती हैं। मूल अलर्क विषनाशक है अगदों व वात नाशक तैलों में इसका प्रयोग होता है। पत्तों का सेक कर बांधना आध्मान व वेदनाशामक है। श्वेत व रक्त भेद से अर्क दो प्रकार का है श्वेत अधिक गुणकारी है।

११. मधूक वृक्ष (महुआ)—इसके बीजों का तेल मर्दन व भक्षण से अत्यन्त वातनाशक है। महुए के फूलों के सेवन से भी वात व्याधि का शमन होता है उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों व बिहार के जंगलों में यह वन्यवृक्ष बहुतायत से पाया जाता है। इस वृक्ष का सर्वांग वातनाशक है।

वात रोगों में गुग्गुलु

डा० (कु) कृष्णा देवी शर्मा

ऋगुवेद एवं आयुर्वेद साहित्य में लगभग १८०० वनस्पतियों का उल्लेख है। गुग्गुलु का वेदों में भी वर्णन हुआ है। डा० कु० कृष्णाकुमारी देवी शर्मा ने मेरे आग्रह पर यह परमोपयोगी लेख विशेषांक हेतु प्रेषित किया है। वेदोक्त ज्ञान की हमारी समझ को पहले से गहरी एवं स्पष्टतर बनाने के लिए अन्वीक्षा (प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा—चक्र०) की परमावश्यकता है। ऐसे कार्यों में हानि की संभावना नहीं होती— नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतोभयात् ॥

इस प्रशस्त पथ पर कु० कृष्णाकुमारी देवी सतत अग्रसर हैं।

मानवता का कष्ट देखकर दुःखी हुई जब नारी।
करुणोपेत हृदय से होती सेवा की तैयारी ॥

—वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'

* *

भारतीय आयुर्वेदिक चिकित्सक वर्षों के अनुसन्धान के बाद इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि गुग्गुलु वातज विकारों को नष्ट करने वाली औषधियों में अपना प्रमुख स्थान रखता है। वातज विकारों को यह क्यों व कैसे नष्ट करता है यह जानने से पूर्व इसका नाम स्वरूप आदि का जानना अति आवश्यक है।

पर्याय—आयुर्वेद के विभिन्न ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद विभिन्न आचार्यों में गुग्गुलु के जो विभिन्न नाम प्राप्त हुए हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

संस्कृत में—

(१) गुग्गुलु—१. 'गुडति रक्षति वातरोगाद् इति गुग्गुलु' जो व्याधियों से रक्षा करे (वात रोगों से रक्षा करे) उसे गुग्गुलु कहते हैं।

२. गुग्गुलु शरीर बल को हर लेने वाले रोगों से बचाता है।

(२) देवधूप—देवताओं के धूप में प्रयुक्त होने वाला होने से इसे देवधूप नाम दिया गया है।

(३) कौशिक—१. 'कोशे भवः कौशिकः' इसकी उत्पत्ति वृक्ष के कोशों में होती है अतः इसे कौशिक कहा गया है।

२. गुग्गुलु का नाम 'कौशिक' उल्लू के नाम का पर्याय है क्योंकि बहुधा उल्लू के घोंसले इन वृक्षों पर अधिक होते हैं।

(४-५) कुम्भी-कुम्भ—वृक्ष के कुम्भाकार कोश से निकलने के कारण इसे यह नाम दिये गये हैं।

(६) उलूखल—१. वृक्ष के उलूखाकार (ऊखल जैसे आकार के) कोश से निकलने के कारण इसे उलूखल नाम दिया गया है।

२. उलूख नाम उल्लू का है अतः उलूक के सब पर्याय गुग्गुलु के पर्याय हैं।

(७) पुर—औषधियों में श्रेष्ठ होने से अर्थात् रोगों को हटाने के लिए यह अग्रगमन शील है अतः इसे पुर कहते हैं।

(८) पलङ्कष—'पल मांस कषति हि नास्ति' स्थूलता को कम करने वाला (लेखन) होने के कारण इसे यह पर्याय दिया गया है।

(९) महिषाक्ष—भैंस की आंख के समान कृष्णवर्ण होने से महिषाक्ष कहा गया है।

(१०) जटायु, (११) देवेष्टा, (१२) शिवा, (१३)

घिन, (१४) शिव रूप, (१५) शिवधूप, (१६) दुर्गा, (१७) वायुघ्न—वातनाशक होने से इसे वायुघ्न कहा गया है।

लैटिन—कॅमिफोरा मुकुल (Commifora Mukul)

अंग्रेजी नाम—गम गुग्गुलु (Gum Guggul)

हिन्दी नाम—गूगल, गुग्गुल

वर्ग—गुग्गुलु कुल (वर्सेरेसी)

आचार्य चरक ने इसे 'संज्ञास्थापन वर्ग' में रखा है।

आचार्य सुश्रुत ने इसे 'एलादि वर्ग' में स्थान दिया है।

परिचय—

इसके वृक्ष राख जैसे रंग के और कांटे युक्त टेढ़ीमेढ़ी टहनियां होने के कारण गुल्म जैसे दिखाई देते है। यह प्रायः ६–६ फीट ऊंचे होते हैं। यह बारहों मास जीवित रहते हैं। इस वृक्ष के किसी भी हिस्से को तोड़ने से उसमें एक प्रकार की सुगन्ध निकलती है।

तना—६ इन्च से १ फुट तक का व्यास का होता है।

शाखायें—इसके वृक्ष पर लम्बी, छोटी, टेढ़ी-मेढ़ी, कांटेदार अनेक शाखायें होती हैं।

छाल—इसकी शाखाओं की डण्डियों पर से हमेशा भूरे रंग का पतला छिलका उतरता हुआ दिखाई देता है। उस छिलके के नीचे छाल का रंग हरा होता है।

पत्र—पत्र मोटे, छोटे होते हैं। ये सर्दियों में झड़ जाते हैं। वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में पुनः नये पत्र निकल आते हैं।

पत्र-क्रम (Phyllotaxis)—एकान्तरित तथा पत्र कोणोभुत संयुक्त होते हैं।

आकार-प्रकार—पत्र संयुक्त-नीम के पत्र के समान संयुक्त होते हैं। इनमें ३-३ पत्रक होते हैं जो चिकने, चमकदार, अभिलाट्वाकार अग्र की ओर का तट नीम की पत्तियों की भांति दंतुर होता है।

पत्र-वृन्त (Petiol)—पत्रक प्रायः अवृन्त (Sessile) होता है या बहुत छोटे वृन्त पर लगे होते हैं।

पत्रपृष्ठ (Surfaces)—चिकने, चमकीले, दलदार मोटे होते हैं।

पुष्प—छोटे, रक्तवर्ण के, ४–५ दलयुक्त, वृन्तरहित
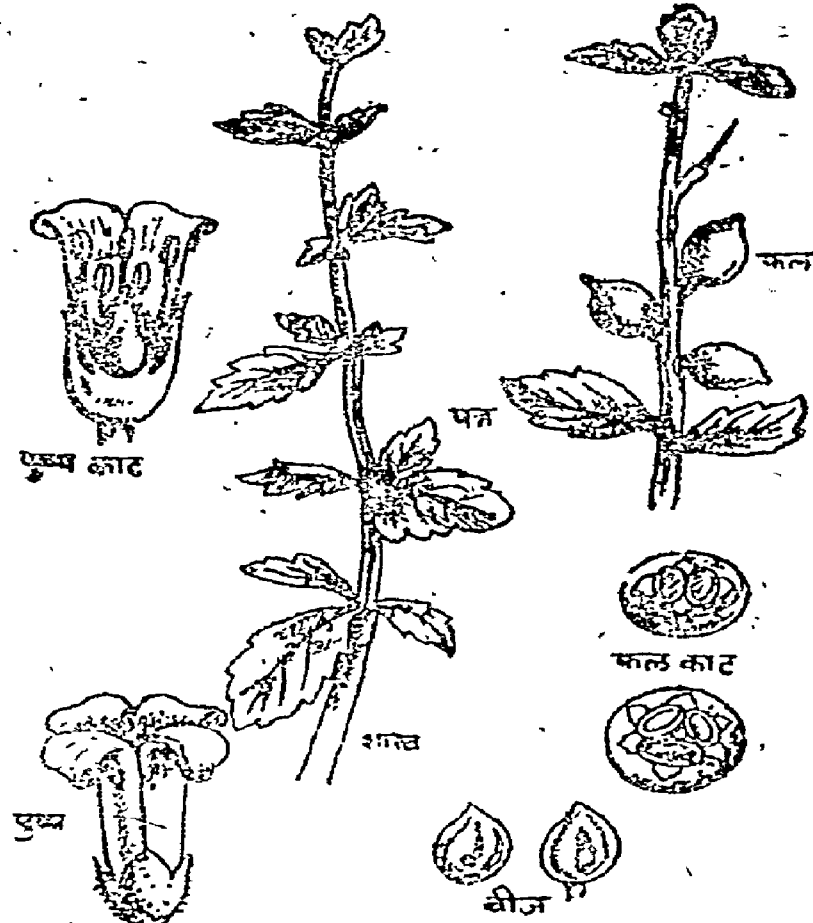
प्रायः होते हैं। कई कई पुष्प के गुच्छकों (Fescicles) में निकलते हैं।

दलपत्र (Petals)—संख्या में ४–५ भूरापन लिये हुये लाल रंग के होते हैं।

पुंकेशर (Stamens)—संख्या में ८–१० होते हैं।

कुक्षि (Stigma)—प्रायः द्विखण्डीय होता है।

फल (Drupe)—चिकने व चमकदार होते हैं। इनका रंग भूरा व लाल होता है। यह लम्बगोल, मांसल तथा पकने पर रक्त रंग के होते हैं।

निर्यास (गोंद)—ग्रीष्म या शीत या शिशिर ऋतु में सूर्य की गर्मी पाकर गुग्गुलु के काण्ड से अपने आप तथा चीरा लगाने से काफी मात्रा में चिकना रस निकल कर जड़ की पार्श्ववर्ती बालू एवं मिट्टी में आकर संचित हो जाता है। कभी कभी यह पुराने वृक्षों के तनों की कोटर में भी आकर संचित हो जाता है। यही गूगल कहलाता है।

निर्यास स्वरूप—यह निर्यास गाढ़ा सुगन्धित अनेक वर्ण का थक्कों में छोटे या बड़े जमाव के रूप में (अनियमित कणों के रूप में) प्राप्त होता है। यह अग्नि में जलने लगता है, धूप मे पिघल जाता है और जब गर्म जल में डाला जाता है तब दुग्ध के समान हो जाता है।

भेद—वर्ण के आधार पर निम्न ५ भेद मिलते हैं—

१. महिपाक्ष (कृष्ण)—भौंरा या स्रोताञ्जन के समान कृष्ण वर्ण का होता है।

२. महानील (नील)—यह अत्यन्त नील वर्ण का होता है।

३. कुमुद (कपिश)—कुमुद पुष्प की आभा के समान वर्ण वाला होता है।

४. पद्म (रक्तवर्ण)—माणिक्य के समान वर्ण होता है।

५. कनक (पीतवर्ण)—सोने के समान वर्ण होता है।

प्रथम और अन्तिम (महिपाक्ष और कनक) गुग्गुल मनुष्यों में उपयोगी होता है और शेष पशु चिकित्सार्थ उपयोगी होते हैं।

व्यवहार के आधार पर कण (कनक) गूगल और भैंसा (महिपाक्ष) गूगल—ये दो भेद ही प्राप्त होते हैं। बाजार में भी यही दो जातियां मिलती हैं।

१. कण गूगल—यह रक्तिमायुक्त पीले रंग के गोल दाने होते हैं। यह भैंसा गूगल से नर्म होता है।

२. भैंसा गूगल—इसका वर्ण हरापनयुक्त पीला होता है।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा—

उत्तम गूगल—वह है जो चमकीला, चिपकने वाला (चिमचोड़), नरम, मधुरगन्धि, कुछ पीला और तिक्त हो और पानी में शीघ्र घुल जावे तथा लकड़ी, रेत और मिट्टी रहित हो। धूप में पिघलता है तथा गर्म जल में डालने पर दूध के समान घोल बनता है।

धूपन करने पर यह सुगन्धित गन्ध बिखेरता है।

सदैव नवीन गूगल का ही व्यवहार करें।

अग्राह्य गूगल—उपर्युक्त गुणों से रहित होता है।

उत्पत्ति स्थान—इसके वृक्ष प्राय: पथरीले या रेतीले भूमि प्रदेश में होते हैं। अरब, अफ्रीका, बिलूचिस्तान तथा भारत के राजस्थान, कच्छ, काठियावाड़, मैसूर, बङ्गाल, असम, सिलहट में इसके स्वयंजात पौधे हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें ऑलियो गम रेजिन है। (ऑलियो-तैल, गम-गोंद, रेजिन-राल है)। इसमें जो सुगन्धि होती है वह इसमें स्थित तैल के कारण होती है।

गूगल को शुद्ध करने की विधि—

एक सेर त्रिफला और आधा सेर गिलोय में १० सेर पानी डाल १२ घण्टे भिगोकर आग पर चढ़ादें। जब आधा पानी रहे तो छानकर कढ़ाई में भर कर आग पर चढ़ाना चाहिए। कढ़ाई के दोनों कुन्दों में एक बांस का डंडा पिरोकर उस डंडे में नमे कपड़े की पोटली में एक सेर उत्तम कण गूगल भर कर उस पोटली को उस डंडे पर बांध देना चाहिये जिससे वह पोटली उस पानी के अन्दर लटकती रहे। नीचे हलकी-२ आंच देनी चाहिये। थोड़ी देर में वह सब गूगल उस पोटली में से निकल कर कढ़ाई में चला जावेगा और उसका मैल कपड़े में रह जावेगा तब उस कपड़े को निकाल कर फेंक देना चाहिये। तत्पश्चात उस कढ़ाई को उतार कर उसके पानी को दूसरी कढ़ाई में धीरे-धीरे निथार लेवें और नीचे जो कचरा मिट्टी जमा हो उसे भी फेंक दें और साफ काढ़े को लेकर आग पर चढ़ा देवें। कौंचे से चलाता जावे ताकि कढ़ाई के पेंदे में चिपके नहीं। जब वह क्वाथ गाढ़ा हो जावे तब हाथ पर घी लगा कर उसकी गोलियां बना लें। यही शुद्ध गूगल है। हर एक प्रयोग में इसी गूगल को डालें।

(व० चं०)

गूगल के गुण—

गुण—पुराना गूगल—लघु रूक्ष तीक्ष्ण, विशद, सूक्ष्म, सर, सुगन्धित।

नवीन गूगल—स्निग्ध पिच्छिल

रस—तिक्त कटु, मधुर कषाय

विपाक—कटु

वीर्य—उष्ण

प्रभाव—त्रिदोषहर

वीर्य कालावधि—२० वर्ष तक

मात्रा—४-४ ग्राम प्रयोज्य अङ्ग—निर्यास

वातज विकारों में गूगल का स्थान—

यद्यपि गूगल (गुग्गुलु) त्रिदोषहर है परन्तु अपने

स्निग्ध व पिच्छिल गुण और उष्ण वीर्य के कारण प्रमुख रूप से वातशामक होने से वेदनास्थापन, वात हर और नाड़ी बल्य के रूप में कार्य करता है।

गूगल वेदना-स्थापन के रूप में—'वेदना' शब्द सामान्य अनुभूति के लिये आयुर्वेद में प्रयुक्त किया गया है। यह दो प्रकार की होती है–एक सुखात्मक और दूसरी दुःखात्मक। इनमें दुःखात्मक वेदना को शांत कर सुखात्मक वेदना को स्थापित करने वाले द्रव्य वेदना स्थापन कहलाते हैं। शरीर की सभी संज्ञाओं का संवहन और चेष्टाओं का प्रवर्तन वायु के द्वारा होता है किन्तु वायु का प्रकोप जब होता है तब ये संज्ञायें अत्यधिक होकर वेदना का रूप ग्रहण करती हैं इसलिये वेदना शरीर के किसी भी अंग में बिना वात के नहीं हो सकती। अतः गूगल अपने गुणों के कारण वेदना स्थापन द्रव्यों में प्रमुख सर्वोत्तम औषधि है। (द्र० वि०)

गूगल वातहर के रूप में—यदि "वातहर" शब्द का अर्थ किया जावे तो केवल वायु (पवन) के दोषों को हरने वाला ही नहीं, बल्कि ज्ञान तन्तुओं और गति तन्तुओं के दोषों को नष्ट करके उनका सुधार करना–यह भी वातहर शब्द के अन्तर्गत आता है। अतः गूगल वातहर और वेदनास्थापन होने से वात रोगों में आशीर्वाद की तरह कार्य करता है।

गूगल नाड़ीबल्य के रूप में—गूगल मस्तिष्क के तन्तुओं का पोषण करता है। जिन वात व्याधियों में मज्जा-तन्तु (Nerves) कमजोर पड़ जाते हैं उनकी गति मन्द हो जाती है। उस वात व्याधि में गूगल अपना बहुत ही चमत्कारिक प्रभाव दिखाता है। अपने वातहर गुण के कारण गूगल बिगड़े हुए और दुर्बल पड़े हुये तन्तुओं (Nerves) को शक्ति देता है। मस्तिष्क के यह तन्तु सारे शरीर में फैले हुए रहते हैं विशेष कर बड़े-२ मर्म स्थानों में इनका जाल सा बिछा हुआ रहता है उदाहरण के लिये स्त्रियों का गर्भाशय इन तन्तुओं से व्याप्त रहता है अतः गूगल की गर्भस्थान पर बहुत अच्छी क्रिया होती है जिसके परिणामस्वरूप स्त्रियों के ऋतुदोष सुधारने में और उसको सन्तानोत्पत्ति के योग्य बनाने में गूगल बहुत सहायक होता है।

प्रायः जीर्ण व्याधियों में कुछ डाक्टर व वैद्य कुचला के प्रयोग की बहुत तारीफ करते हैं। इस बात में कोई संदेह नहीं कि कुचला वास्तव में एक बहुत अच्छा 'नरह्वाइन टानिक' है परन्तु यह बात भी सदैव ध्यान में रखनी चाहिये कि कुचला एक विष है। कुचला को निरन्तर २-३ मास तक खाने से जिन्हें वात व्याधि या धनुर्वात नहीं है उनको हानि होने का भय रहता है लेकिन गूगल को यदि २-४ वर्ष निरन्तर सेवन किया जावे तो किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं होती। (व० च०)

नाड़ी संस्थान व गूगल—अतः गूगल वातशामक होने के कारण स्थापन और नाड़ी बल्य होने से शरीर के समस्त संस्थानों को उत्तेजना व शक्ति प्रदान करता है तथा मुख्यतः कफ वातिक विकारों में, नाड़ी दौर्बल्य, नाड़ी शूल, संधिवात, आमवात, गृध्रसी अर्दित पक्षाघात, कटिशूल आदि समस्त वात व्याधियों के लिये सर्व प्रसिद्ध औषधि है।

पाचन संस्थान व गूगल (पाचन संस्थान के अन्तर्गत वातानुलोमन के रूप में गूगल)—महास्रोत में जब प्रकुपित वायु प्रतिलोम (ऊर्ध्वगामी) होकर विबन्ध तथा विबन्ध सम्बन्धी अन्य विकार उत्पन्न करती है तब इसके प्रयोग से पाचन संस्थान को उत्तेजना मिलती है क्योंकि गूगल स्निग्ध खर होने से (इस गुण के अपने अधोगामी स्वभाव से) अनुलोमन होने के कारण वात नाड़ियों एवं पेशियों को प्रभावित कर आमाशय में उत्पन्न मलभूत वायु को बाहर निकाल कर विबन्ध, आनाह, शूल, कोष्ठगत दुर्गन्धित वायु को वातार्श आदि पाचन सम्बन्धी वातज विकारों को नष्ट करती है।

दीपन के रूप में—आयुर्वेदानुसार "सर्वदा सर्व भावानां सामान्यं वृद्धि कारणम्।" सिद्धान्त के अनुसार कटु तिक्त सूक्ष्म व उष्ण होने से दीपन के रूप में मन्दाग्नि की स्थिति में लाभदायक है।

आधुनिक दृष्टि से गूगल नाड़ी बल्य व नाड़ी उत्तेजक होने से प्राणदा नाड़ी (Vagus Nerve) को शक्ति प्रदान कर उत्तेजित करता है जिससे आमाशय रस का स्राव बढ़ जाता है। Vagus Nerve के स्रावक सूत्रों की उत्तेजना से जो स्राव होता है उसे क्षुधारस कहते हैं।

★ डा० (कु०) कृष्णा देवी शर्मा ★

इसी से भूख लगती है। इस प्रकार गूगल दीपन के रूप में कार्यकर होता है।

रक्तवह संस्थान व गूगल—रक्तवह संस्थान के अन्तर्गत हृद्य के रूप में गुग्गुल का प्रयोग किया जाता है।

आयुर्वेद दृष्टिकोण से—वात, पित्त और कफ—इन तीनों का विशिष्ट स्थान हृदय है। प्राणवायु साधक पित्त और अवलम्बक कफ का स्थान हृदय बताया गया है। प्राणवायु (आक्सीजन) हृदय में विशेष रूप से रहता है। इसमें तनिक भी कमी होने से हृत्पेशी ठीक कार्य नहीं कर सकती। प्राणवायु के उचित परिमाण में रहने पर हृदयस्थ साधक पित्त व हृदयस्थ अवलम्बक कफ हृदय का विश्राम व परिश्रम के समय हृदय को आवश्यक शक्ति प्रदान करता है। इसका क्षय होने पर श्वास कष्ट, शोथ, वातरक्त आदि अनेक वातिक विकार उत्पन्न होते हैं।

आधुनिक दृष्टिकोण से—हृदय की क्रियाओं का नियमन नाड़ी केन्द्रों के द्वारा होता है। दो केन्द्र हृत्कार्य का नियन्त्रण करते हैं—एक रोधक और दूसरा वर्धक।

रोधक केन्द्र प्राणदा नाड़ी परसांवेदनिक (Parasympathetic) के द्वारा हृदय की गति को कम करता है तथा वर्धक केन्द्र सांवेदनिक (Sympathetic) सूत्रों द्वारा उसकी गति को बढ़ाता है। इस प्रकार दोनों केन्द्रों के परस्पर विरोध एवं सहयोग से हृत्कार्य का नियमन होता रहता है। (ड० वि०)

अतः गुग्गुल अपने त्रिदोष हर प्रभाव के कारण हृदयस्थ तीनों दोषों (प्राणवायु, साधकपित्त और अवलम्बक कफ) को नियमित कर तथा नाड़ी बल्य, नाड़ी उत्तेजक होने से नाड़ियों को शक्ति प्रदान कर और अपने उष्ण वीर्य से ऊष्मा उत्पन्न कर हृदय को कार्यकारी शक्ति प्रदान करता है।

शोथहर के रूप में गुग्गुल—स्वप्रकोपक कारणों से दूषित हुआ वायु दूषित रक्त, पित्त और कफ को उत्तान शिराओं में लेजाकर वहां उनमें अवरुद्ध त्वचा और मांस के बीच में आश्रित रक्त सहित तीनों ही दोषों के संचय से उभार उत्पन्न करता है इसे शोथ कहते हैं। इस प्रकार शोथ त्रिदोषक होता है किन्तु वायु की प्रधानता रहती है। गूगल अपने त्रिदोषहर प्रभाव तथा उष्ण वीर्य के कारण शोथहर होता है।

गर्भाशय व गूगल—गूगल सर्वोत्तम वातशामक वेदना स्थापन, उष्ण वीर्य तथा नाड़ी बल्य, नाड़ी उत्तेजक होने से गर्भाशय के दुर्बल हुए तन्तुओं (Nerves) को शक्ति प्रदान करता है जिसके परिणामस्वरूप गूगल स्त्रियों में कष्टार्तव, रजोरोध आदि में ऋतुदोष सुधारने में और उनको सन्तानोत्पत्ति योग्य बनाने में बहुत अच्छा कार्य करता है।

गूगल के उपयोग (बाह्य उपयोग)—

(१) दर्द में—गूगल के लेप से हर अंग का दर्द और खिचावट दूर होती है। (व. च.)

(२) शीतजन्य अंग वेदना में—गूगल को शुण्ठी के साथ पानी में पीस कर गर्म कर गर्म-गर्म लेप करते हैं और ऊपर सेंकते भी हैं। (ध. व. वि.)

(३) सिर दर्द में—इसे पान के रस में पीस कर लेप करने से सिर का दर्द दूर हो जाता है।

(४) कटिशूल—गूगल को पानी में पका कर मोटा लेप कर ऊपर से पट्टी बांध देते हैं। (व. च.)

(५) वातज अर्श में—गूगल की धूनी देने से व लेप करने से अर्श में लाभ होता है।

(६) फोड़ों में—प्रारम्भिक अवस्था में इसके लेप करने से फोड़े बैठ जाते हैं। (ध० व० वि०)

गूगल के आभ्यन्तर उपयोग—

१. उरुस्तम्भ में—गोमूत्र के साथ उत्तम गूगल का सेवन करना चाहिये। (सु. चि.)

२. गृध्रसी में—गूगल ५ तोला और रास्ना ४ तो. को मर्दन कर मोदक बनाकर देने से गृध्रसी रोग दूर होता है। (चक्रदत्त)

३. स्नायुशूल (Neuralgia) में—गूगल का प्रयोग आश्चर्यजनक प्रभाव दिखाता है।

★ बाल रोगों में गुग्गुल ★
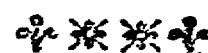
वातव्याधि नाशक शास्त्रीय गुग्गुलु प्रयोग

वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य

१. योगराज गुग्गुलु—

चित्रक, पीपरामूल, अजवायन, काला जीरा, वायबिडंग, अजमोद, सफेद जीरा, देवदारु, चव्य, छोटी इलायची, सेंधानमक, कूठ, रास्ना, गोखरू, धनियां, त्रिफला, नागरमोथा, त्रिकटु, दालचीनी, खश, यवक्षार, तालीसपत्र, तेजपात सबका चूर्ण कर चूर्ण के समान मात्रा में गुग्गुलु मिलाकर घी के साथ भलीभांति कूटकर मिलाकर मटर के समान वटी बनालें। —भैषज्य रत्नावली

मात्रा—२ से ४ वटी तक दिन में २ बार।

अनुपान—आमवात में-रास्नादि क्वाथ से
उरुस्तम्भ में—गोमूत्र से
आध्मान में—जम्भीरी द्राव से
वातरक्त में—गिलोय के क्वाथ से
शूल में—मूली स्वरस से
अन्य वात रोगों में—रास्नादि क्वाथ से

इस योगराज गुग्गुलु को अमृतोपम योग कहा गया है। अन्य कई रोगों को नष्ट करने के साथ यह अग्नि, तेज, बल आदि को भी बढ़ाता है—

अग्निञ्चकुरुते दीप्तं तेजोवृद्धिं बलं तथा।
वातरोगाञ्जयत्येषु सन्धिमज्जगतानपि ॥

२. महायोगराज गुग्गुलु—

सोंठ, पीपल, चव्य, पीपलामूल, चित्रक, भुनी हींग, अजमोद, सरसों, जीरा, काला जीरा, रेणुक बीज, इन्द्रजौ, पाढल, वायविडंग, गजपीपल, कुटकी, अतीस, वच, भारंगी और मूर्वा ये २० औषधियां १-१ तो. लेना। त्रिफला ४० तो., शु. गुग्गुलु ६० तो., बंग भस्म, रजत भस्म नाग भस्म लोह भस्म अभ्रक भस्म मण्डूर भस्म रससिंदूर सब ४-४ तो. लें। पहले गूगलको जल में मिलाकर गरम करना। जब गूगल अवलेह जैसा हो जाय तब काष्ठादि औषधियों का कपड़छन चूर्ण डालें। फिर भस्मों को मिलावें और पत्थर की खरल में थोड़ा थोड़ा घी मिलाकर कूटें। जब गोली बांधने लायक मुलायम हो जाय तब मटर के समान गोलियां बनालें। —शारंगधर संहिता

मात्रा—१-२ वटी दिन में २ बार।

यह रसायन गुग्गुलु विशेषतः रस, आम, यकृत्, प्लीहा, आंत्र, हृदय और सन्धिस्थानों पर कार्य करता है। आमवात, पक्षाघात, आक्षेपक, खल्ली, गृध्रसी, मन्यास्तम्भ, हनुग्रह, वातरक्त आदि वातरोगों पर महायोगराज गुग्गुलु का कार्य विशेष होता है। किन्तु इन रोगों की जीर्णावस्था में ही यह उपयुक्त है। इस गुग्गुलु प्रयोग में पाचन, दीपन, योगवाही, रसायन, धातुपोषक औषधियों का सम्मिश्रण है। अतः यह केवल वातशामक ही नहीं अपितु त्रिदोषहर कहा गया है।

३. कैशोर गुग्गुलु—

अशुद्ध महिषाक्ष गुग्गुलु पोटली में बांधकर लटका दें। हरड़ बहेड़ा और आँवला प्रत्येक ६४-६४ तो. और जौकुट की हुई गीली गिलोय १२८ तो. मिलाकर कढ़ाही में ४ गुना पानी में पकाना। बार बार कलछी से चलाते रहना। जब पानी चतुर्थांश शेष रहे तब गूगल की पोटली में रहे हुये कचरे को फेंक देना और पानी को छानकर पुनः कढ़ाई में पकावें। जब पानी गाढ़ा होने लगे और गूगल की सुगन्ध आने लगे तब नीचे उतार लें। शीतल होने पर हरड़ बहेड़ा आंवला सोंठ मिर्च पीपल और वायविडंग प्रत्येक २-२ तो., निसोथ और दन्तीमूल १-१ तो. और सूखी गिलोय ४ तो. लेकर सबका महीन चूर्ण करके मिलाना। पश्चात् ३२ तो. गोघृत मिलाकर ४-४ रत्ती की गोलियां बनालें। —चक्रदत्त

मात्रा—१ से ४ वटी तक दिन में २ बार

उपयोग—यह नवीन वातरक्त तथा क्रोष्टुक शीर्षक

आदि को नष्ट करता है। कुष्ठ दुष्टव्रण की यह प्रसिद्ध औषधि है। वृद्धावस्था में प्रायः धमनी काठिन्य रोग हो जाता है, वहां कैशोर गुग्गुलु देना चाहिए।

४. त्रयोदशांग गुग्गुलु—लहसुन असगन्ध हाऊबेर गिलोय शतावरी गोखरू विधारा रास्ना सौंफ कचूर अजवाइन और सोंठ सभी ४-४ तो. तथा शु० गुग्गुलु ४८ तो. घृत २४ तो. इन सबको एकत्र भलीभांति मिलाकर १-१ माशा की गोलियाँ बनालें। —भैषज्य रत्नावली

मात्रा—१ से ३ वटी दिन में २ बार यूष कदुष्ण पानी अथवा दूध से सेवन करें।

उपयोग—कटिग्रह गृध्रसी मन्यास्तम्भ हनुग्रह बाहुपृष्ठ जानु पाद अस्थि सन्धि मज्जा तथा स्नायुगत वात रोगों को नष्ट करने में अद्वितीय है। यह जीर्ण गृध्रसी पर विशेष लाभकारी है। कफावृत्त वातव्याधि में यह हितकारक है।

५. अमृता गुग्गुलु—गुडूची १ प्रस्थ (७६८ ग्राम) पुनर्नवा त्रिफला गुग्गुलु सब १-१ प्रस्थ सबको दरकुटा कर ६ द्रोण (१२ कि० २८८ ग्राम) पानी में पकाकर चतुर्थांशावशेष उतार कर छानकर पुनः आग पर रख पकावें। पक जाने पर उष्ण रहते ही इसमें दन्ती चित्रक छोटी पीपल सोंठ त्रिफला गुडूची दालचीनी विडंग २-२ तो. निशोथ १ तो. इन सबका चूर्ण कर मिला देना चाहिए। १-१ माशा की गोलियाँ बनावें। —चक्रदत्त

मात्रा—१-२ वटी यथोचित अनुपान से

उपयोग—वातरक्त आमवात उरुस्तम्भ आदि में।

६. सिंहनाद गुग्गुलु—त्रिफला क्वाथ १२ तो. एरण्ड तैल १६ तो. सबको एकत्र कर लोहे की कड़ाई में पकावें। —चक्रदत्त

मात्रा—१-३ ग्राम

उपयोग—त्रिदोषहर जरापलितहर तथा रसायन है। खंज पंगुता वातरक्त आमवात आदि वातरोग इससे मिटते हैं। कोष्ठ में आम का संचय होने से शूल मलावरोध अरुचि प्रवाहिका आदि रोगों का प्रादुर्भाव होने लगता है ऐसी स्थिति में सिंहनाद गुग्गुलु शोधन कर लाभ पहुँचाता है।

७. पुनर्नवादि गुग्गुलु—पुनर्नवा की जड़ ५ सेर एरण्ड मूल ५ सेर सोंठ ६४ तो. को अधकुटा करके २० सेर पानी में क्वाथ बनावें, चौथाई शेष रहने पर छान लें फिर उसमें गूगल ६४ तो. डालकर पुनः गाढ़ा पाक कर लें। फिर उसमें निशोथ २० तो. दन्ती ४ तो. गिलोय ८ तो. त्रिफला ६ तो. त्रिकटु ६ तो. चित्रक २ तो. सेंधव शु. भिलावा वायविडंग ४-४ तो. स्वर्णमाक्षिक भस्म २ तो. पुनर्नवा ४ तो. के मिलित सूक्ष्म चूर्ण का प्रक्षेप देकर १-१ माशे की गोलियां बनालें। —भैषज्य रत्नावली

मात्रा—१ से ३ वटी दिन में २ बार

उपयोग—वातरक्त गृध्रसी जङ्घा ऊरु त्रिकसन्धि का वात एवं आमवात आदि रोगों में लाभ करता है।

८. शिवा गुग्गुलु—हरड़ बहेड़ा आंवला, प्रत्येक ३२ तो. के चूर्ण को १२ सेर पानी में क्वाथ कर चौथाई रहने पर उसमें शु० गुग्गुलु ३२ तो. एरण्ड ३२ तो. गन्धक ६ तो. मिलाकर गाढ़ा कर लें। फिर उसमें रास्ना विडंग कालीमिर्च पीपल दन्ती सोंठ देवदारु प्रत्येक १-१ तो. का मिलित चूर्ण डालकर ४-४ रत्ती की गोलियां बनालें। —भैषज्य रत्नावली

मात्रा—१ वटी से ४ वटी तक दिन में २ बार

उपयोग—

आमवाते कटिशूले गृध्रसी क्रोष्टु शीर्षके।
न चान्यदस्ति भैषज्यं यथायं गुग्गुलुः स्मृतः॥

९. वातारि गुग्गुलु—एरण्ड तैल गन्धक त्रिफला तथा शु० गुग्गुलु—प्रत्येक समान भाग में मिश्रित कर कूट लें और १ माशा प्रमाण की गोलियां बनालें। —भैषज्य रत्नावली

मात्रा—१-२ गोली दिन में २ बार

उपयोग—आमवात, कटिशूल, गृध्रसी, खंज, पंगुत्व, शोथयुक्त, वातरक्त, दाहयुक्त, क्रोष्टु शीर्षक आदि वात रोगों का शमन करता है।

१०. रास्नादि गुग्गुलु—रास्ना, अमृता, एरण्डमूल, देवदारु, सोंठ आदि बराबर लेकर इन सबके बराबर शु० गुग्गुलु मिलाकर ४-४ रत्ती की गोलियां बनाकर रख लेवें। —योग रत्नाकर

मात्रा—१-२ गोली उष्ण पानी से सेवन करें।

उपयोग—वातव्याधि, शिरोरोग, नाड़ीव्रण एवं भगन्दर रोगों में लाभदायक है।

११. निर्गुण्डी गुग्गुलु—निर्गुण्डी की जड़ का चूर्ण तथा गुग्गुलु समभाग लेवें, फिर घृत से मर्दन कर १-१ कर्ष की गोलियाँ बना लेवें। १-१ बटी घृत के साथ सेवन करायें और स्निग्ध तथा उष्ण भोजन करें। इससे सभी वात व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। —रसेन्द्रसार सं.

१२. गुग्गुलु कल्प—

शु० गुग्गुलु को प्रातः १ मास पर्यन्त त्रिफला, दारु हरिद्रा, पटोलपत्र अथवा कुशा के क्वाथ से अथवा गोमूत्र से अथवा क्षारोदक से अथवा उष्ण पानी से सेवन करने पर और इसके पाचन के पश्चात् मुद्गादि यूप तथा दुग्धाहार करने से सब प्रकार के वात रोग विशेषतः आढ्यवात, कोष्ठगत वात, सन्धिगत वात और अस्थिगत वात का शमन होता है। इसके अतिरिक्त उदावर्त, गुल्म, प्रमेह, भगन्दर, कुष्ठादि रोग भी नष्ट होते हैं। इसे अग्निबलानुसार सेवन करें। —सुश्रुत संहिता चि० ५

१३. गुग्गुलु लौह रसायन—१॥ सेर गुग्गुलु लेकर त्रिफला, असन, खैर, गिलोय, पुनर्नवा, भांगरा व गोखरू के ३। सेर क्वाथ में मिला अवलेह के समान पाक सिद्ध कर उसमें यथोचित मात्रा में शहद, घृत, मिश्री मिला लें। इसके सेवन से सन्तर्पण होकर वातरोग नष्ट होते हैं तथा कान्ति व बुद्धि की यथेष्ठ वृद्धि होती है।

—वंगसेन संहिता

गूगल के प्रयोग में ध्यान रखने योग्य—

(१) गुग्गुलु वटी के सदैव सूक्ष्म टुकड़े कर ही काम में लेनी चाहिये। क्योंकि कठिन होने से बिना पचे ही निकल जाने की सम्भावना रहती है।

(२) गुग्गुलु सेवन के समय गोदुग्ध, घृत, शाल्योदन आदि स्निग्ध पोषक आहार का सेवन करना चाहिए। इसी प्रकार अभ्यङ्ग मर्दनादि भी हितावह है।

(३) अम्लरस, तीक्ष्ण अन्नपान, पित्तवर्धक द्रव्य, व्यायाम, आतप, अधिक चलना, व्यवाय, दिवा शयन, रात्रि जागरण, क्रोध आदि का गुग्गुलु सेवन करने वाले व्यक्ति को परित्याग करना चाहिए।

(४) गुग्गुलु बालकों को स्वल्प मात्रा में ही देना चाहिए। गर्भावस्था में इसका प्रयोग अनिष्टकारक है।

(५) रक्तपित्त, उष्णवात सर्वसर रक्तार्श दाह पित्तजन्य शिरःशूल आदि रोगों में यह लाभदायक नहीं है।

(६) इसके मिथ्यायोग से यकृत् प्लीहा तथा फुफ्फुसों को हानि पहुंचती है। हानि के निवारणार्थ कतीरा गोंद और केशर का प्रयोग करना चाहिये।

(७) यह स्मरण रहे कि चिरकाल तक गुग्गुलु सेवन करने से इसकी प्रबल मात्रा शरीर में पहुँचकर कार्य करती है। तभी रोगी की दशा में परिवर्तन होकर लाभ होता है। प्रारम्भ में थोड़ी मात्रा के प्रयोग से ही पूर्ण लाभ की आशा की जाना उपयुक्त नहीं है।

महारास्नादि क्वाथ

रास्ना ३ तो., धमासा, खरैटी, अरण्डी की जड़, देवदारु, कचूर, वच, अडूसे के पत्ते, सोंठ, हरड़, चव्य, नागरमोथा, सांठ की जड़, गिलोय, विधारा, सौंफ, गोखरू, असगन्ध, अतीस, अमलतास का गूदा, शतावर, पीपल, पियावांसा, धनियां, छोटी कटेरी और बड़ी कटेरी, ये सब १-१ तो. मिलाकर जौकुट चूर्ण करना। २॥ तोः चूर्ण का क्वाथ करके आधा आधा दिन में दो बार पिलाना। सोंठ अथवा पीपल का चूर्ण अथवा अरण्डी का तेल अथवा योगराज गुगल के साथ में लें। सब प्रकार के वात रोग, सर्वाङ्ग वायु, कम्पवात, अर्धाङ्ग वात, गृध्रसी (कमर, जङ्घादि स्थानों में फिरती वात), आमवात, अन्त्रवृद्धि, पक्षाघात, अपतानक, कुब्जवात, मूत्राशय और वीर्याशय में रज वायु, अफरा, स्त्रियों के योनि दोष तथा वन्ध्या दोष इत्यादि को नाश करता है।

—शार्ङ्गधर संहिता।

★ वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' ★

भल्लातक (भिलावा)

डा० रामचन्द्र शाकल्य, शासकीय औषधालय, मु० पो० रूपादेह, त० सिवनी मालवा (होशंगाबाद) म०प्र०

※—※—※

सन् १९६० की बात है। जब मैं मध्यप्रदेश के जिला नरसिंहपुर में गोरखपुर औषधालय में था। यह आदिवासियों का पहाड़ी कस्बा बस्ती वाला गाँव है। यहां पर मुझे भिलावे की मालायें बिकते और खाते देखा गया। यह आदिवासियों के लिए काजू—किशमिश हैं। खाने में मीठे स्वादिष्ट लगते हैं तथा यह भी देखा गया है कि किसी के चोट लगी (भीतरी) कोई नस तड़की या दर्द हुआ अर्थात् वात प्रधान व्याधियों में लोग भिलावे की टोपी निकाल कर उस स्थान पर लगा लेते हैं और व्याधि तुरन्त ठीक हो जाती है इन्जेक्शन इसके आगे कुछ भी नहीं है। इस प्रकार इसका रस ठीक जगह पर लगा नहीं कि मर्ज तुरन्त ठीक हो जाता है। कई आदिवासी इसका तेल भी निकालकर उपयोग करते हैं। इस प्रकार भिलावा वहां का काजू—किशमिश व आशुफलदायी औषधि माना जाता है। वास्तव में देखा जावे तो भिलावा एक अति उग्र वनस्पति है और संखिया या कुचले से भी अधिक विषैला माना जाता है। भिलावा पित्तवर्धक एवं वात कफघ्न मुख्य है। ये अति तीक्ष्ण व्यवायी है एवं आशुफलदायक है। इसका यदि सावधानीपूर्वक उपयोग करें तो लाभ अतिशीघ्र मिलता है और नुकसान कुछ भी नहीं होता है। शुद्धिकरण से भिलावे निर्दोष हो जाते हैं और उसके गुणों में कोई फर्क नही आता है। चूंकि भिलावा पित्तवर्धक है इसलिए पित्त प्रकृति के लोगों को, पित्तज विकारों में और गरम ऋतु में इसका उपयोग नहीं करना चाहिए। विशेष रूप से भिलावा वात प्रकृति वालों के काफी अनुकूल होता है और वात प्रकृति वालों को बीमारी में निःसन्देह अमृत है। भलावे के सेवनकाल के दरम्यान खट्टा, चटपटा, नमकीन आहार नहीं लेना चाहिए। धूप में घूमना, गरम पानी से स्नान वर्जित है। घी, दूध जैसी स्निग्ध खुराक लेना लाभदायक है।
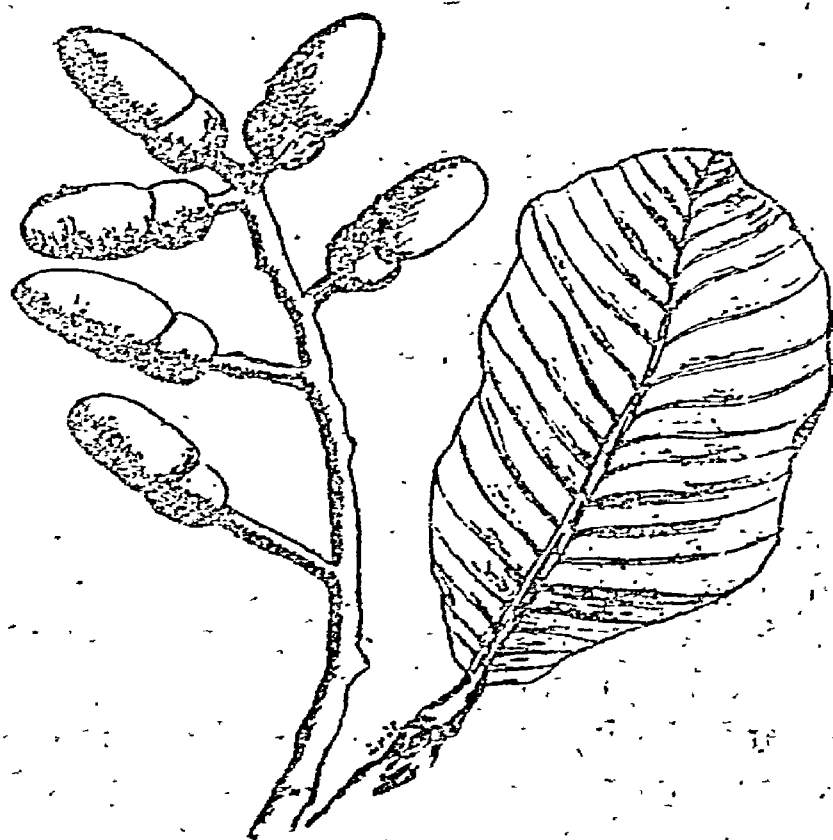
यदि भिलावा शरीर में लग जाता है तो वह उपड़ आता है और चकत्ते पड़ जाते हैं। पूरे शरीर में खुजली चलती है। गुप्तेन्द्रियों पर विशेष खुजली चलती है। यदि इस प्रकार की खुजली चलने लगे तो भिलावा बिल्कुल बन्द कर उसका प्रतिद्रव्य खोपरा खाने को देना चाहिए। भिलावे के सेवन के दरम्यान रोगी को निम्न मिश्रण देते रहना चाहिए—

२५ ग्राम खोपरा + २५ ग्राम तिल + ५० ग्राम शक्कर।

★:※:★

बाल-व्याधि नाशक कुछ चमत्कारी वनौषधियां

वैद्य तुलजाशंकर श्रीमाली, वैद्य ओंकारेश्वर श्रीमाली, लोसिंग (उदयपुर) राजस्थान

ओषधीर्नामरूपाभ्यां जायते ह्यजपा वने ।
अविपाश्चैव गोपाश्च ये चान्ये वनवासिनः ।।

एवंविध व्यक्तियों के संपर्क में आकर वनौषधि ज्ञान को बढ़ाने की आवश्यकता है। उत्साह एवं कर्मठता जब अनुभव से सुसंस्कृत होती है तो नवीन उपलब्धि हो ही जाती है। उत्साही एवं भावनाशील श्री श्रीमालीद्वय की इस ओर प्रवृत्ति एक आदर्श प्रस्तुत कर रही है। औषधियां सदैव मातैव हितकारिणी हैं। श्रीयुत श्रीमाली जी इनकी शरण में जाकर प्राप्त अमृतपय से आर्त को स्वस्थ बनाने हेतु प्रयत्नरत हैं। इस ग्रन्थ रूपी अमृतघट को भरने में आपने समुचित योगदान दिया है। एतदर्थ आप धन्यवाद के पात्र हैं। आपका एक लेख "तूनी-प्रतितूनी" नामक रोग पर भी प्रकाशित हुआ है। —वैद्य गोपीनाथ पारीक

—खरैटी या बला—

Sida Cordifolia (सिडा कोर्डिफोलिया)

यह वर्ष जीवी झाड़ीनुमा पौधा होता है। इसके पत्ते १।। इन्च से २ इन्च लम्बे एवं गोलाकार होते हैं, जिनकी आकृति हृदय से मिलती जुलती सी होती है। हल्के पीले रंग के इसके फूल वर्षा ऋतु में आते हैं, मगर

फल बहुत छोटे होते हैं, जिनमें राई के समान बीज निकलते हैं। औषधि प्रयोग में इसके बीज, पत्ते व जड़ काम में लिये जाते हैं।

गुण दोष और प्रभाव—खरैटी कड़वी, मीठी, पित्तातिसार को नष्ट करने वाली, वल्य वीर्यवर्द्धक कामोद्दीपक और वात तथा पित्त को नष्ट करने वाली है। इसका फल कसैला-मधुर, शीतवीर्य और पचने में स्वादिष्ट होता है। यह भारी स्तम्भक और रुधिर विकार को दूर करने वाला है। गले के रोग, खूनी बवासीर, क्षय और पागलपन में यह लाभदायक सिद्ध हुई है।

पार्यायिक ज्वरों में कम्पनयुक्त ज्वर में इसका विशेष उपयोग अद्रक स्वरस के साथ किया जाता है। श्वेत प्रदर और बहुमूत्र रोग में इसकी जड़ को दूध के साथ प्रयोग किया जाता है। नाड़ी संस्थान के रोगों में भी अन्य औषधियों के साथ बला का उपयोग है।

मुंह के पक्षाघात और जंघा के स्नायुशूल में इसकी मूलत्वक में तिल मिलाकर देते हैं। स्टेवर्ड के अनुसार (मतानुसार) इसके बीज कामोद्दीपक होते हैं, तथा सुजाक उदरशूल और मरोड़ की दस्तों में भी इसके बीज लाभप्रद होते हैं। डा. वामन गणेश देसाई के मतानुसार इसकी मूलत्वक को दूध और मधु के साथ सुजाक और प्रदर रोगों में देने से लाभ होता है। व्रण रोपक भी है। सुजाक की बीमारी में इसके पञ्चांग का शीत निर्यास १-१ औंस की मात्रा में दिन में २-३ बार दिया जाता है।

इससे पसीना और पेशाव होकर रोग में लाभ होता है।

पक्षाघात, अर्दित, स्नायु मंडल के समस्त रोगों में बला के पंचांग से बनाया हुआ शीत निर्यास स्नायु मंडल के साथ मूत्राशय सम्वन्धी वीमारियों को भी दूर करता है। तथा मूंग के साथ इसकी जड़ का क्वाथ बनाकर देते हैं। इसकी जड़ से बनाये तैल की मालिश करते हैं।

एक चमत्कारिक अनुभूत वनौषधि

वाय सांकल

वाय सांकल नाम की यह वनस्पति परोपजीवी जाति की गुच्छेदार एक लता है, जो प्रायः पुरानी बैर या सालर नामक वृक्ष की शाखा के कोटर, रंध्र आदि से उत्पन्न होती है। इसकी मूल के वाद प्रत्येक १ और २ इञ्च के बाद गन्ने और वांस की संधियों की भांति जोड़ होते हैं एवं प्रत्येक जोड़ से २-३ शाखा अलग होकर पुनः एक दो इञ्च बढ़कर शाखा-प्रशाखा के रूप में बढ़ती बंटती जाती है। प्रारम्भ का मूल गोल हरे रंग का होता है। नूतन शाखा इन्द्रयव की भांति दोनों सिरों पर नुकीले तथा मध्य में कुछ चौड़ाई में मोटे होते हैं। प्रायः ३-४ फिट से अधिक लम्बाई में अब तक देखा नहीं गया है। छोटी-२ कड़ियों की सांकल शरीर के जोड़ों (हड्डियों के जोड़) सदृशाकार होने तथा वातनाशक होने के कारण ही संभवतः इसका नाम वाय सांकल रखा गया है एवं आदिवासी भील इसका वात व्याधियों में खासकर संधिवात में अधिक उपयोग करते हैं। ग्रामीण भाषा में इसे वाय सांकल कहते हैं।

उत्पत्ति स्थान—राजस्थान के उदयपुर क्षेत्र के बीहड़ वनों में झाड़ल, कुम्भलगढ़ और जरगा के घने जंगलों में कहीं-२ इसके दर्शन हुए हैं।

उपयोग—ग्रामीण क्षेत्र के आदिवासी भाईयों से इसकी जानकारी पाने के बाद गठियावायु से आक्रांत ३ रोगियों को वाय सांकल सूखी का कपड़छन चूर्ण १-१ तोला ५०० ग्राम दूध में उबाल कर ३ दिन मात्र देने से पर्याप्त लाभ मिला। कटि शूल, सर्वांगशूल के कई रोगियों को पिलाई गई है। वातव्याधि की अचूक औषधि है।

सांभर बेल

डा० रामचन्द्र शाकल्य, शा० आयु० औषधालय, रूपादेह (होशंगाबाद) म०प्र०

मध्य प्रदेश के सुप्रसिद्ध हिन्दू तीर्थ स्थल श्री ओंकारेश्वर में प्राप्त वहां के पहाड़ों, जंगलों से एकत्र की गई आदिवासियों द्वारा यह वनौषधि जोकि श्री ओंकारेश्वर में बेलपत्र फूल नारियल-प्रसाद बेचने वालों द्वारा दुकानों पर आपको सहज हीं थोड़े से मूल्य में प्राप्त हो जाती है। भारत के कोने कोने से भक्तगण तीर्थयात्री भगवान महादेव श्री ओंकारेश्वर के दर्शन करने माँ नर्मदा जी में स्नान करने आते ही रहते हैं। वे प्रायः इसे भी प्रसाद के रूप में साथ में खरीदकर ले जाते हैं। यह वनौषधि वात रोग के लिए अद्भुत आशुगुणकारी रामबाण सिद्ध हुई है।

विधि—साँभर बेल को लेकर सरौते से छोटे-२ टुकड़े करलें। उन्हें सुखाकर इमामदस्ते में कूट लें और कपड़छन कर एक शीशी में रख लें। औषधि तैयार है।

अनुपान—गाय का दूध मात्रा—चवन्नी भर समय—सिर्फ प्रातःकाल ७ दिन

प्रयोग ऋतु—सिर्फ गर्मियो में अर्थात् कुंआर चैत्र वैशाख ज्येष्ठ।

परहेज—दही अचार बन्द परहेज समय—सिर्फ १४ दिन

गुण—यह सभी प्रकार के वात रोगों में रामबाण है। इससे रींघन वायु दर्द, सभी वाय आदि हमेशा के लिए नष्ट होते हैं। चाहे कितना भी पुराना वातरोग हो इससे निश्चय ही नष्ट होता है।

निर्मल आयु० संस्थान के आगामी प्रकाशन

※ सङ्कट कालीन-चिकित्सा ※

—की प्रस्तावित विषय सूची—

प्रथम खण्ड—आर्ष ग्रन्थों में संकटकालीन चिकित्सा, संकटकालीन चिकित्सा के सिद्धांत, 'आयुर्वेद में संकटकालीन व आकस्मिक आशुगुणकारी चिकित्सा नहीं है।' एक भ्रामक प्रचार का भण्डाफोड़, आकस्मिक व्याधियों की परीक्षा विधियां, आकस्मिक व्याधियों में प्रयुक्त द्रव्य और उनकी कर्म-प्रक्रिया, आकस्मिक व्याधियों में प्रयुक्त औषध के सुष्टु निर्माण का प्राशस्त्य, संकटकाल में हृदय संरक्षण की महत्ता एवं उसकी व्यवस्था।

द्वितीय खण्ड—आकस्मिक रोग–शरीर की सांघातिक अवस्थायें एवं उनकी चिकित्सा, आघातज व्रण, घातिक आघातों के प्रकार एवं उनकी चिकित्सा, शिरोभिघात, अस्थि भग्न के प्रकार–लक्षण–उपद्रव–चिकित्सा, चीन–अर्वाचीन प्लास्टर विधि, अस्थि संधिच्युति तथा मोच के प्रकार एवं चिकित्सा, व्रण बन्धन (बैण्डेज) धि, अचैतन्यता (मूर्च्छा)–कारण-पहचान-उपचार, आक्षेप (Convulsion) कारण-निवारण, अलर्जी–कारण और वारण, चिन्तारोग (Anxiety Neurosi) कारण-निवारण, विषाद रोग (Depress on) कारण-निवारण। ता का आध्यात्म-उपचार। विषभक्षण निदान-चिकित्सा तथा चिकित्सक और कानून व्यवस्था।

प्रमुख दंश—सर्प, श्वान, बिच्छू, मधु मक्खी, बर्र-ततैया आदि, अवस्थायें-निदान एवं चिकित्सा।

प्रमुख दुर्घटनायें—डूबना, दमघुटना, बिजली गिरना, बिजलीजन्य स्तब्धता, पाला मारना, सर्वाङ्ग शैत्य, लगना, उपवास, अनशन, गर्मी से थकान आदि।

विशेष दुर्घटनायें—सूचीवेध प्रतिक्रिया, सूचीवेध काल में सूई टूटना। अनुपयुक्त स्थान में सूचीवेध।

युद्धकालीन दुर्घटनायें—आक्रमणकालीन दुर्घटनायें, हवाई हमला, अश्रु गैस आदि चिकित्सा।

शरीर में बाह्य वस्तुयें (Foreign Bodies in the Body)—नाक, आंख, कान, मुख, भोजन नलिका, श्वासनलिका में बाह्य वस्तु का फंसना, इन्जेक्शन सूईयां, कांटा धंसना आदि।

धनुष टङ्कार (Tetanus)—कारण, पहिचान, तात्कालिक उपचार, चिकित्सा। दाह—अग्निदग्ध, बिजली रासायनिक पदार्थों से दाह, कारण, निदान, चिकित्सा। रक्तस्राव—स्थान भेद से रक्तस्राव के प्रकार, लक्षण, ान एवं चिकित्सा। विभिन्न शूलों के सामान्य कारण, लक्षण एवं चिकित्सा।

तृतीय खण्ड—प्रमुख रोगों की सङ्कटकालीन अवस्थायें, निदान एवं चिकित्सा।

श्वसन संस्थान—दमा, महाश्वास, सान्तर श्वसन, श्वासावरोध, तीव्र हिक्का, प्ल्यूरिसी, न्यूमोनियां, यंत्रशोथ आदि की सङ्कटकालीन अवस्थायें एवं चिकित्सा। ऊर्ध्वजत्रु रोगों की तात्कालिक चिकित्सा।

रक्तवह संस्थान—उच्च रक्तचाप, हीन रक्तचाप, सदमा, हृदयशूल, हृदयाघात आदि चिकित्सा।

पाचन संस्थान—अर्श, आन्त्रपुच्छ शोथ, आमाशयिक व्रण, पित्ताश्मरी, जलोदर, बद्धगुदोदर आदि।

मूत्रवह संस्थान—अनैच्छिक मूत्रस्राव, मधुमेह कोमा, मूत्राशय प्रदाह, वृक्कशोथ, वृक्काश्मरी आदि–२।

वातनाड़ी संस्थान—अपस्मार, मृगी, अनिद्रा, पक्षाघात, नाड़ीशूल, आधाशीशी, स्नायु रोग आदि–२।

चतुर्थ खण्ड—स्त्री रोगों की संकटकालीन अवस्थायें, निदान एवं चिकित्सा; बालरोगों की संकटकालीन अवस्थायें एवं चिकित्सा; संक्रामक रोगों तथा विभिन्न ज्वरों व विषय मूर्च्छा से अवशिष्ट रोग-विवेचन।

पंचम खण्ड—आयुर्वेद, एलोपैथी, होम्योपैथी, यूनानी, प्राकृतिक एवं योग चिकित्सा पद्धतियों के जीवन-चामत्कारिक योग-प्रयोग एवं उपचार विधियां, स्वानुभूत प्रयोग एवं अनुभूत चिकित्सा आदि-आदि।

अपने विद्वतापूर्ण लेख १५ अगस्त १९८४ तक निम्न पते पर भेजने की महती कृपा करें—

आयुर्वेद चक्रवर्ती कवि० डा० गिरिधारीलाल मिश्र

अधीक्षक—केदारमल आयुर्वेद हास्पीटल, तेजपुर-७८४००१ (असम)

मुद्रक—आदर्श प्रेस, रघुवीरपुरी, अलीगढ़ : श्रीगोपाल प्रिन्टिङ्ग प्रेस, डिब्बा गली, अलीगढ़।

प्रकाशक :

निर्मल आयुर्वेद संस्थान

अलीगढ़